श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला–१५

श्रीमद् राजचंद्र

जो एकको जानता है वह सबको जानता है,
जो सबको जानता है वह एकको जानता है।
—निर्ग्रंथ प्रवचन

द्वितीय खंड

अनुवादक
हंसराज जैन

परमश्रुतप्रभावक-मंडल
श्रीमद् राजचंद्र आश्रम
अगास

श्रीमद् राजचन्द्र विचाररत्न

ॐ जिनाय नमः

जिन सो ही है आतमा, अन्य होई सो कर्म।
कर्म कटे सो जिन वचन, तत्त्वज्ञानीको मर्म॥
व्यवहारसें देव जिन, निहचेसें है आप।
एहि वचनसें समज ले, जिनप्रवचनकी छाप॥

—संस्मरणपोथी १-१४

पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसें, सब आगमभेद सुउर बसें।
वह केवलको बीज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाई दिये॥

—आंक २६५

बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात।
सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे साक्षात्॥
पायाकी ए बात है, निज छंदनको छोड़।
पिछे लाग सत्पुरुषके, तो सब बंधन तोड़॥

—आंक २५८

उस 'परमसत्' को 'परमज्ञान' कहें, चाहे तो 'परमप्रेम' कहें और चाहे तो 'सत्-चित्-आनंदस्वरूप' कहें, चाहे तो 'आत्मा' कहें, चाहे तो 'सर्वात्मा' कहें, चाहे तो एक कहें, चाहे तो अनेक कहें, चाहे तो एकरूप कहें, चाहे तो सर्वरूप कहें, परन्तु सत् सत् ही है। और वही इस सब प्रकारसे कहने योग्य है, कहा जाता है, सब यही है, अन्य नहीं

—आंक २०९

सत्पुरुषमें ही परमेश्वर बुद्धि, इसे ज्ञानियोंने परम धर्म कहा है; और यह बुद्धि परम दीनताको सूचित करती है, जिससे सर्व प्राणियोंके प्रति अपना दासत्व माना जाता है और परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह 'परम दीनता' जब तक आवृत रहती है तब तक जीवकी योग्यता प्रतिबंधयुक्त होती है।

—आंक २५४

जिन्हें कुछ प्रिय नहीं, जिन्हें कुछ अप्रिय नहीं, जिनका कोई शत्रु नहीं, जिनका कोई मित्र नहीं, जिन्हें मान-अपमान, लाभ-अलाभ, जन्म-मरण आदि द्वन्द्वोंका अभाव होकर जो शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थित हुए हैं, स्थित होते हैं और स्थित होंगे उनका अति उत्कृष्ट पराक्रम सानंदाश्चर्य उत्पन्न करता है।

—आंक ८३३

दुःखकी निवृत्ति सभी जीव चाहते हैं, और दुःखकी निवृत्ति, जिनसे दुःख उत्पन्न होता है ऐसे राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषोंकी निवृत्ति हुए बिना होना संभव नहीं है। उन राग आदि

की निवृत्ति एक आत्मज्ञानके सिवाय दूसरे किसी प्रकारसे भूतकालमें नहीं हुई, वर्तमानकालमें नहीं होती, भविष्यकालमें नहीं हो सकती, ऐसा सभी ज्ञानीपुरुषोंको भासित हुआ है।

—आंक ३७५

प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये शब्द समझने योग्य हैं। पुरुषार्थ किये बिना प्रारब्धकी खबर नहीं पड़ सकती, प्रारब्धमें होगा वह होगा यों कहकर बैठ रहनेसे काम नहीं चलता। निष्काम पुरुषार्थ करना। प्रारब्धका समपरिणामसे वेदन करना—भोग लेना, यह महान् पुरुषार्थ है।

—उपदेश नोंध—१९

इतना हो तो मैं मोक्षकी इच्छा नहीं करता—सारी सृष्टि सत्‌शीलका सेवन करे, नियमित आयु, नीरोग शरीर, अचल प्रेमी प्रमदा, आज्ञाकारी अनुचर, कुलदीपक पुत्र, जीवनपर्यंत बाल्यावस्था और आत्मतत्त्वका चिन्तन।

—वचनामृत—४०

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदात्री भूमिका है। मन ही बंध और मोक्षका कारण है। मन ही सर्व संसारकी मोहनीरूप है। इसके वशमें हो जानेपर आत्मस्वरूपको पाना लेश मात्र दुष्कर नहीं है।

—शिक्षापाठ—६८

अल्प आहार, अल्प विहार, अल्प निद्रा, नियमित वाचा, नियमित काया और अनुकूल स्थान, ये मनको वश करनेके उत्तम साधन हैं।

—आंक २५—४

वास्तविक सुख यदि जगतकी दृष्टिमें आया होता तो ज्ञानीपुरुषोंसे नियत किया हुआ मोक्ष-स्थान ऊर्ध्व लोकमें नहीं होता; परन्तु यह जगत ही मोक्ष होता।

—आंक २०५

जो छूटनेके लिए ही जीता है वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य निःशंक अनुभवका है। बंधनका त्याग करनेसे छूटा जाता है, ऐसा समझने पर भी उसी बंधनकी वृद्धि करते रहना, उसमें अपना महत्त्व स्थापित करना और पूज्यताका प्रतिपादन करना, यह जीवको बहुत भटकानेवाला है।

—आंक १७६

विषयसे जिसकी इंद्रियाँ आर्त्त हैं उसे शीतल आत्मसुख, आत्मतत्त्व कहाँसे प्रतीतिमें आये?
जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि।
हे आर्यजनो! इस परम वाक्यका आत्मभावसे आप अनुभव करें।

—आंक ८३२

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

श्रीमद् राजचंद्र

छः अवस्था

प्रकाशकीय

'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रन्थ गुजरातीमें सं० २००७ में इसी आश्रमसे प्रकाशित किया गया था। इसके पहले देवनागरी लिपिमें इस ग्रन्थका जो संस्करण निकला था उसका हिन्दी अनुवाद पं० जगदीशचंद्र शास्त्री एम० ए० ने किया था, जो श्री परमश्रुतप्रभावक-मंडल, बम्बई द्वारा सं० १९४४ (सन् १९३८) में प्रकाशित हुआ था।

उस हिन्दी संस्करणकी सभी प्रतियाँ बिक जानेसे और माँग बनी रहनेसे जिज्ञासुओंकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिए 'श्रीमद् राजचंद्र' के नवीन हिन्दी संस्करणका प्रकाशन अत्यावश्यक था। तथा आश्रमका उपर्युक्त गुजराती संस्करण संशोधित एवं परिवर्धित होनेसे उसके दूसरे नये अनुवादकी विशेष आवश्यकता प्रतीत होती थी।

प्रसंगवशात् पं० परमेष्ठीदास जैनका आश्रममें आना हुआ। उनकी भावना और उत्साहको देखकर अनुवादका काम उन्हें सौंपा गया। उन्होंने आंक ३७५ तक अनुवाद किया। फिर अपनी शारीरिक अस्वस्थताके कारण वे स्वेच्छासे अनुवादकी जिम्मेदारीसे मुक्त हो गये। उसी अरसेमें संयोगवश श्री हंसराजजी जैनका परिचय हुआ, और अनुवादको पूरा करनेके लिए उनसे कहा गया, जिसे उन्होंने सहर्ष एवं सोत्साह मान्य कर लिया, और दृढ़ निष्ठा एवं बड़े परिश्रमसे यथासंभव शीघ्र ही पूरा कर दिया। जिसके लिए वे सचमुच अत्यंत धन्यवादके पात्र हैं। संस्कृतमें एम० ए० होनेसे उनका संस्कृत भाषाका ज्ञान तो अच्छा है ही, वे जैनधर्म तथा दर्शनसे भी भलीभाँति परिचित हैं। वे हैं तो पंजाबी, परन्तु वे बरसोंसे गुजरातमें रह रहे हैं, और उन्होंने अनेक गुजराती पुस्तकोंका हिन्दी अनुवाद भी किया है। इसलिए उनका गुजराती भाषाका ज्ञान भी प्रशस्त है। उनकी बड़ी दिलचस्पी और कड़ी मेहनतका यह फल है कि जिज्ञासु एवं पिपासु पाठकोंकी सेवामें यह अनुवाद प्रस्तुत करनेका सद्भाग्य हमें प्राप्त हुआ है, जिसका श्रेय उन्हींको है।

आश्रमके एक सहयोगी श्री साधुराम चौधरी एम०ए० ने वहीं रहकर प्रूफ देखने आदिमें बड़ी तत्परता और उत्साह प्रदर्शित किये हैं, जिसके लिए उनको धन्यवाद देना योग्य है।

यह अत्यंत खेदका विषय है कि शीघ्र मुद्रण और प्रकाशनकी उत्कंठाके कारण त्रुटियाँ और अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। आशा है कि सहृदय पाठक उनके लिए हमें क्षमा करेंगे, और जो अन्य त्रुटियाँ ध्यानमें आये उनकी सूचना देकर आभारी करें।

'श्रीमद् राजचंद्र' के हिन्दी संस्करणके लिए वांकानेरके स्वर्गस्थ श्री केशवलाल लीलाधर गाँधीकी इच्छानुसार उनके सुपुत्र श्री हसमुखलाल के० गाँधीने अपने पिताजीकी स्मृतिमें छः हजार रुपयेकी सहायता प्रदान करनेकी उदारता की है, जिसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। तथा भावनगरके 'मेहता फेब्रिक्स' के श्री लीलाचंद विमलचंद, श्री चंपालाल, श्री वसंतराज इत्यादि सद्गृहस्थोंकी ओरसे भी एक हजार रुपयेकी सहायता मिली है, जिसके लिए उन सबके हम कृतज्ञ हैं।

हमारी कामना है कि इस आत्मश्रेयसाधक ग्रन्थका विनय एवं विवेकपूर्वक उपयोग मुमुक्षु बन्धुओंको आत्मानंदकी साधनामें सहायक सिद्ध हो।

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम
अगास
चैत्र वदी ५, सं० २०३०

संतसेवक
रावजीभाई छ० देसाई

नम्र निवेदन

'श्रीमद् राजचंद्र' शब्द व्यक्ति और कृति दोनोंका बोधक है, श्रीमद् राजचंद्र जन्मसे महान् हैं और उनकी आध्यात्मिकता जन्मसिद्ध है। श्रीमद्जी नीति एवं न्यायसे सांसारिक कार्य करते हुए आत्मविकासकी पराकाष्ठा तक पहुँचे हैं, यह उनके जीवनकी एक अनोखी अनुकरणीय विशेषता है। श्रीमद्जीने खुद ही अपने संस्कार, विचार और आचार अपनी विविध रचनाओं—मुख्यतः मुमुक्षुओंको लिखे गये पत्रोंमें अति स्पष्टता एवं सुदृढ़तासे प्रदर्शित किये हैं। धर्म और अध्यात्म जीवन है, इस सनातन सत्यके श्रीमद्जी एक ज्वलंत तथा अनुपम उदाहरण हैं अर्थात् वे धर्ममूर्ति एवं अध्यात्ममूर्ति हैं। उन्होंने अपनी अलौकिक स्मृति, प्रज्ञा आदि अनेकविध शक्तियोंका उपयोग लौकिक ऐश्वर्यकी प्राप्ति या सिद्धिके लिए नहीं किया है, किन्तु आत्मिक ऐश्वर्यकी सिद्धिके लिए किया है। और इसके लिए उन्होंने अपनी देहकी भी आहुति देकर मनुष्यदेहकी सार्थकताका एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका जीवन गृहस्थ तथा साधु दोनोंके लिए प्रेरक एवं उत्साह-वर्धक है। उनकी कृति ही उनके जीवनका दर्पण है। यदि उन्होंने 'आत्मसिद्धि' की भाँति संपूर्ण आत्मकथा लिखी होती तो वह भी एक अपूर्व देन होती। उनके जीवनको जानने और समझनेके लिए इन आंकोंका तो अध्ययन, मनन और निदिध्यासन करना ही चाहिये:—३०, ५०, ७७, ७८, ८२, ८३, ८९, (समुच्चय वयचर्या), ११३, १२६, १२८, १३३, १५७ (दैनंदिनी) के ७ व १३, १६१, १६२, १६३, १७०, २४७, २५५, २६४, ३२२, ३२९, ३३४, ३३९, ३९८, ५८६, ६८०, ७०८, ७३८ (अपूर्व अवसर) ९५१, ९५४, ९६० (संस्मरणपोथी—१ का ३२ (धन्य रे दिवस आ अहो,) ।

३३ वर्षके जीवनका दिग्दर्शन

जन्म—संवत् १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णिमा, रविवार रातको २ बजे ववाणिया गाँव (काठियावाड़) में, **नामपरिवर्तन**—चौथे वर्षमें प्यारा नाम लक्ष्मीनंदन बदलकर रायचंद; **जातिस्मरणज्ञान**—७वें वर्षमें बबूलके पेड़ पर; **शिक्षा**—७वें से ११वें वर्ष तक, गुजराती ७ श्रेणि; **लेखन-प्रवृत्ति**—८वें वर्षमें ही कविता करनेका श्रीगणेश, ५००० कडियाँ, ९वें वर्षमें संक्षिप्त रामायण और महाभारत काव्य; 'स्वदेशीओने विनंति' (स्वदेशियोंको विनती) 'श्रीमंत जनोने शिखामण' (श्रीमंतोंको सिखावन), 'हुन्नरकळा वधारवा विषे' (हुनरकला बढ़ानेके विषयमें) 'आर्यप्रजानी पड़ती' (आर्यप्रजाकी अधोगति), 'स्त्रीनीतिबोध' आदि सामाजिक और देशोन्नति-विषयक अनेक काव्य; **अवधान**—१६वेंसे १९वें वर्ष तक, सं० १९४२ में मुंबईमें शतावधान; **विवाह**—१९वें वर्षमें—सं० १९४३ माघ सुदी १२, गृहस्थजीवन लगभग १२ साल; **व्यापार**—२२वें वर्षमें श्री रेवाशंकर जगजीवनदासके साझेमें मुंबईमें जवाहरातका व्यवसाय, व्यापारी जीवन लगभग ११ साल; **सम्यग्दर्शन** (आत्मज्ञान)—२३वें वर्षमें (१९४७), तभीसे कल्पित एवं आध्यात्मिक प्रगतिमें महत्त्वहीन ज्योतिषका त्याग; **कंचनकामिनीत्याग**—मुनि शिष्योंके सामने ३२ वें वर्षमें (सं० १९५६); **परमश्रुतप्रभावक-मंडल**—सं० १९५६ में स्थापना; **अस्वस्थता**—विशेषतः सं० १९५६ में उनकी शरीरप्रकृति अधिक बिगड़ने लगी; देहाध्यास किंवा शरीरमोहको नामशेष करनेके लिए अपथ्य आहार भी किया। युवावस्थामें उनका वजन १३२ पौंड था, जो कम होते-होते ६५ पौंड हो गया।

समाधिमरण—सं० १९५७ चैत्र वदी पंचमी मंगलवार, दिनके २ बजे राजकोटमें, वजन ४५ पौंड।

श्रीमद्‌जी समय-समयपर अपने प्रवृत्तिमय जीवनसे निवृत्ति लेने और सत्संग करनेके लिए वड़वा (खंभात) चरोतर, काविठा राळज, उत्तरसंडा, नडियाद, खेडा, नरोडा, ईडर आदि स्थलोंमें जाया करते थे और कभी-कभी गुप्तरूपसे भी रहते थे। उसी दौरान एक बार अगास भी पधारे थे।

'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रन्थ भी अपने ढंगका एक मौलिक एवं अद्वितीय ग्रन्थ है। लगभग पन्द्रह बरस पहले मुझे इस पढ़नेका सद्‌भाग्य प्राप्त हुआ था। तब मुझे यह प्रतीत हुआ था कि आत्म दशाका चित्रण जैसा इसमें है वैसा अन्यत्र मिलना मुश्किल है। इसका भाषान्तर करते हुए मेरी प्रतीति सुदृढ़ हो गयी है। जिन्हें अध्यात्मकी प्यास है उन्हें इस ग्रन्थका विशेषत: आत्मदशा दर्शक आंकोंका वारंवार स्वाध्याय करना चाहिये ताकि वे आत्म-विकासके पथ पर अग्रसर हो सके।

यह ग्रन्थ एक संकलन है। इसकी कुल आंक-संख्या ९६० है, जिसमें लगभग ८०० तो पत्र हैं। संभवतः पत्र-साहित्यमें यह बेजोड़ है। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) मुमुक्षुओंको लिखे गये पत्र; (२) स्वतंत्र काव्य; (३) मोक्षमाला, भावनाबोध, आत्मसिद्धिशास्त्र, ये तीन स्वतंत्र ग्रन्थ; (४) मुनि-समागम, प्रतिमासिद्धि आदि स्वतंत्र लेख; (५) पुष्पमाला, बोधवचन, वचनामृत, महानीति आदि स्वतंत्र बोधवचन मालाएँ; (६) 'पंचास्तिकाय ग्रन्थका गुजराती भाषान्तर; (७) श्रीरत्नकरंड श्रावकाचारमेंसे तीन भावनाओंका अनुवाद, तथा स्वरोदयज्ञान, द्रव्यसंग्रह, दशवैकालिक आदि ग्रंथोंमेंसे कुछ गाथाओंका भाषान्तर, आनन्दघन चौबीसीमेंसे कुछ एक स्तवनोंका अर्थ; (८) वेदांत और जैनदर्शन संबंधी नोंधें; (९) सं० १९४६ की दैनंदिनी आदि श्रीमद्‌जीके लेख आंक १ से ९५५ पृष्ठ ७५६ तक दिये गये हैं। आंक ७१८ में आत्मसिद्धिशास्त्रकी गाथाओंका संक्षिप्त विवेचन श्री अंबालालभाईने किया है, जिसे श्रीमद्‌जी देख गये हैं। उस विवेचनके साथ श्रीमद्‌जीका खुद लिखा हुआ किन्हीं गाथाओंका विस्तृत विवेचन भी दिया गया है। पृष्ठ ७५७ से पृष्ठ ८९८ तक उपदेशनोंध, उपदेशछाया, व्याख्यानसार १ और २ दिये गये हैं, जो मुमुक्षुओंकी नोंधोंपर आधारित हैं। पृष्ठ ८९९ से पृष्ठ ९५१ तक आभ्यंतर-परिणामावलोकन दिया गया है, जिसमें श्रीमद्‌जीकी स्वयं लिखित तीन संस्मरण-पोथियाँ हैं।

अनुवाद

'श्रीमद् राजचंद्र' के सं० २००७ (सन् १९५१) में प्रकाशित गुजराती संस्करणका यह हिन्दी अनुवाद है। पं० परमेष्ठीदास जैनने आंक ३७१ (३३२ पृष्ठ) तक अनुवाद किया था, और मैंने अपना अनुवाद आंक ३७६ (३३३ पृष्ठ) से शुरू किया था। कुछ एक मासके बाद मुझे विचार आया कि अनुवाद शैलीकी एकरूपताकी दृष्टिसे पूर्वकृत अनुवादको भी फिरसे करना ठीक होगा। श्री रावजीभाई देसाईकी अनुमतिसे उसे भी किया गया है। अनुवाद मुख्यत: शाब्दिक है। संयति धर्म, पंचास्तिकाय आदि प्रकरणोंके अनुवादमें मूल ग्रन्थोंके अनुसार कुछ संशोधन भी किया गया है। सामान्यत: श्रीमद्‌जी द्वारा प्रयुक्त संस्कृत शब्दोंको ज्यों का त्यों रहने दिया है। परन्तु आशयको ध्यानमें रखकर कहीं कहीं मूल संस्कृत शब्द बदलने पड़े हैं, जैसे कि 'जिज्ञासा' के लिए 'अभिलाषा', 'जिज्ञासु' के लिए 'अभिलाषी', 'लक्ष' के लिए 'ध्यान', 'ज्ञानीदृश्य' के लिए 'ज्ञानीदृष्ट', 'साध्य' के लिए 'सिद्ध', 'अवश्य' के लिए 'आवश्यकता', 'दुर्लभ' के लिए 'दुष्कर', 'अनुभव' के लिए

नम्र निवेदन

'श्रीमद् राजचंद्र' शब्द व्यक्ति और कृति दोनोंका बोधक है, श्रीमद् राजचंद्र जन्मसे महान् हैं और उनकी आध्यात्मिकता जन्मसिद्ध है। श्रीमद्‌जी नीति एवं न्यायसे सांसारिक कार्य करते हुए आत्मविकासकी पराकाष्ठा तक पहुँचे हैं, यह उनके जीवनकी एक अनोखी अनुकरणीय विशेषता है। श्रीमद्‌जीने खुद ही अपने संस्कार, विचार और आचार अपनी विविध रचनाओं—मुख्यतः मुमुक्षुओंको लिखे गये पत्रोंमें अति स्पष्टता एवं सुदृढ़तासे प्रदर्शित किये हैं। धर्म और अध्यात्म जीवन है, इस सनातन सत्यके श्रीमद्‌जी एक ज्वलंत तथा अनुपम उदाहरण हैं अर्थात् वे धर्ममूर्ति एवं अध्यात्ममूर्ति हैं। उन्होंने अपनी अलौकिक स्मृति, प्रज्ञा आदि अनेकविध शक्तियोंका उपयोग लौकिक ऐश्वर्यकी प्राप्ति या सिद्धिके लिए नहीं किया है, किन्तु आत्मिक ऐश्वर्यकी सिद्धिके लिए किया है। और इसके लिए उन्होंने अपनी देहकी भी आहुति देकर मनुष्यदेहकी सार्थकताका एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका जीवन गृहस्थ तथा साधु दोनोंके लिए प्रेरक एवं उत्साह-वर्धक है। उनकी कृति ही उनके जीवनका दर्पण है। यदि उन्होंने 'आत्मसिद्धि' की भाँति संपूर्ण आत्मकथा लिखी होती तो वह भी एक अपूर्व देन होती। उनके जीवनको जानने और समझनेके लिए इन आंकोंका तो अध्ययन, मनन और निदिध्यासन करना ही चाहिये:—३०, ५०, ७७, ७८, ८२, ८३, ८९, (समुच्चय वयचर्या), ११३, १२६, १२८, १३३, १५७ (दैनंदिनी) के ७ व १३, १६१, १६२, १६३, १७०, २४७, २५५, २६४, ३२२, ३२९, ३३४, ३३९, ३९८, ५८६, ६८०, ७०८, ७३८ (अपूर्व अवसर) ९५१, ९५४, ९६० (संस्मरणपोथी—१ का ३२ (धन्य रे दिवस आ अहो,) ।

३३ वर्षके जीवनका दिग्दर्शन

जन्म—संवत् १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णिमा, रविवार रातको २ बजे ववाणिया गाँव (काठियावाड़) में, **नामपरिवर्तन**—चौथे वर्षमें प्यारा नाम लक्ष्मीनंदन बदलकर रायचंद; **जातिस्मरणज्ञान**—७वें वर्षमें बबूलके पेड़ पर; **शिक्षा**—७वें से ११वें वर्ष तक, गुजराती ७ श्रेणि; **लेखन-प्रवृत्ति**—८वें वर्षमें ही कविता करनेका श्रीगणेश, ५००० कड़ियाँ, ९वें वर्षमें संक्षिप्त रामायण और महाभारत काव्य; 'स्वदेशीओने विनंति' (स्वदेशियोंको विनती) 'श्रीमंत जनोने शिखामण' (श्रीमंतोंको सिखावन), 'हुन्नरकळा वधारवा विषे' (हुनरकला बढ़ानेके विषयमें) 'आर्यप्रजानी पड़ती' (आर्यप्रजाकी अधोगति), 'स्त्रीनीतिबोध' आदि सामाजिक और देशोन्नति-विषयक अनेक काव्य; **अवधान**—१६वेंसे १९वें वर्ष तक, सं० १९४२ में मुंबईमें शतावधान; **विवाह**—१९वें वर्षमें—सं० १९४३ माघ सुदी १२, गृहस्थजीवन लगभग १२ साल; **व्यापार**—२२वें वर्षमें श्री रेवाशंकर जगजीवनदासके साझेमें मुंबईमें जवाहरातका व्यवसाय, व्यापारी जीवन लगभग ११ साल; **सम्यग्दर्शन** (आत्मज्ञान)—२३वें वर्षमें (१९४७), तभीसे कल्पित एवं आध्यात्मिक प्रगतिमें महत्त्वहीन ज्योतिषका त्याग; **कंचनकामिनीत्याग**—मुनि शिष्योंके सामने ३२ वें वर्षमें (सं० १९५६); **परमश्रुतप्रभावक-मंडल**—सं० १९५६ में स्थापना; **अस्वस्थता**—विशेषतः सं० १९५६ में उनकी शरीरप्रकृति अधिक बिगड़ने लगी; देहाध्यास किंवा शरीरमोहको नामशेष करनेके लिए अपथ्य आहार भी किया। युवावस्थामें उनका वजन १३२ पौंड था, जो कम होते-होते ६५ पौंड हो गया।

समाधिमरण—सं० १९५७ चैत्र वदी पंचमी मंगलवार, दिनके २ बजे राजकोटमें, वजन ४५ पौंड।

श्रीमद्जी समय-समयपर अपने प्रवृत्तिमय जीवनसे निवृत्ति लेने और सत्संग करनेके लिए वड़वा (खंभात) चरोतर, काविठा राळज, उत्तरसंडा, नडियाद, खेडा, नरोडा, ईडर आदि स्थलोंमें जाया करते थे और कभी-कभी गुप्तरूपसे भी रहते थे। उसी दौरान एक बार अगास भी पधारे थे।

'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रन्थ भी अपने ढंगका एक मौलिक एवं अद्वितीय ग्रन्थ है। लगभग पन्द्रह वरस पहले मुझे इस पढ़नेका सद्भाग्य प्राप्त हुआ था। तब मुझे यह प्रतीत हुआ था कि आत्म दशाका चित्रण जैसा इसमें है वैसा अन्यत्र मिलना मुश्किल है। इसका भाषान्तर करते हुए मेरी प्रतीति सुदृढ़ हो गयी है। जिन्हें अध्यात्मकी प्यास है उन्हें इस ग्रन्थका विशेषतः आत्मदशा दर्शक आंकोंका वारंवार स्वाध्याय करना चाहिये ताकि वे आत्म-विकासके पथ पर अग्रसर हो सके।

यह ग्रन्थ एक संकलन है। इसकी कुल आंक-संख्या ९६० है, जिसमें लगभग ८०० तो पत्र हैं। संभवतः पत्र-साहित्यमें यह बेजोड़ है। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) मुमुक्षुओंको लिखे गये पत्र; (२) स्वतंत्र काव्य; (३) मोक्षमाला, भावनाबोध, आत्मसिद्धिशास्त्र, ये तीन स्वतंत्र ग्रन्थ; (४) मुनि-समागम, प्रतिमासिद्धि आदि स्वतंत्र लेख; (५) पुष्पमाला, बोधवचन, वचनामृत, महानीति आदि स्वतंत्र बोधवचन मालाएँ; (६) 'पंचास्तिकाय ग्रन्थका गुजराती भाषान्तर; (७) श्रीरत्नकरंड श्रावकाचारमेंसे तीन भावनाओंका अनुवाद, तथा स्वरोदयज्ञान, द्रव्यसंग्रह, दशवैकालिक आदि ग्रंथोंमेंसे कुछ गाथाओंका भाषान्तर, आनन्दघन चौवीसीमेंसे कुछ एक स्तवनोंका अर्थ; (८) वेदांत और जैनदर्शन संबंधी नोंधें; (९) सं० १९४६ की दैनंदिनी आदि श्रीमद्जीके लेख आंक १ से ९५५ पृष्ठ ७५६ तक दिये गये हैं। आंक ७१८ में आत्मसिद्धिशास्त्रकी गाथाओंका संक्षिप्त विवेचन श्री अंबालालभाईने किया है, जिसे श्रीमद्जी देख गये हैं। उस विवेचनके साथ श्रीमद्जीका खुद लिखा हुआ किन्हीं गाथाओंका विस्तृत विवेचन भी दिया गया है। पृष्ठ ७५७ से पृष्ठ ८९८ तक उपदेशनोंध, उपदेशछाया, व्याख्यानसार १ और २ दिये गये हैं, जो मुमुक्षुओंकी नोंधोंपर आधारित हैं। पृष्ठ ८९९ से पृष्ठ ९५१ तक आभ्यंतर-परिणामावलोकन दिया गया है, जिसमें श्रीमद्जीकी स्वयं लिखित तीन संस्मरण-पोथियाँ हैं।

अनुवाद

'श्रीमद् राजचंद्र' के सं० २००७ (सन् १९५१) में प्रकाशित गुजराती संस्करणका यह हिन्दी अनुवाद है। पं० परमेष्ठीदास जैनने आंक ३७५ (३३२ पृष्ठ) तक अनुवाद किया था, और मैंने अपना अनुवाद आंक ३७६ (३३३ पृष्ठ) से शुरू किया था। कुछ एक मासके बाद मुझे विचार आया कि अनुवाद शैलीकी एकरूपताकी दृष्टिसे पूर्वकृत अनुवादको भी फिरसे करना ठीक होगा। श्री रावजीभाई देसाईकी अनुमतिसे उसे भी किया गया है। अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है। संयति धर्म, पंचास्तिकाय आदि प्रकरणोंके अनुवादमें मूल ग्रन्थोंके अनुसार कुछ संशोधन भी किया गया है। सामान्यतः श्रीमद्जी द्वारा प्रयुक्त संस्कृत शब्दोंको ज्यों का त्यों रहने दिया है। परन्तु आशयको ध्यानमें रखकर कहीं कहीं मूल संस्कृत शब्द वदलने पड़े हैं, जैसे कि 'जिज्ञासा' के लिए 'अभिलाषा', 'जिज्ञासु' के लिए 'अभिलाषी', 'लक्ष' के लिए 'ध्यान', 'ज्ञानीदृश्य' के लिए 'ज्ञानीदृष्ट', 'साध्य' के लिए 'सिद्ध', 'अवश्य' के लिए 'आवश्यकता', 'दुर्लभ' के लिए 'दुष्कर', 'अनुभव'के लिए

'अनुभवसिद्ध' इत्यादि शब्दोंका उपयोग किया गया है। फिर यह भी कोशिश की गयी है कि गुजराती शब्दोंके लिए वैसे या मिलते-जुलते हिन्दी शब्द रखे जायें।

मैंने अनुवादकी यथार्थता एवं शुद्धताके लिए भरसक प्रयत्न किया है। श्रीमद्जीके आशयको समझनेके लिए समय-समयपर श्री रावजीभाई देसाई, श्री कंचनभाई परीख, श्री बाबूलाल जैन, श्री साधुराम चौधरी आदिसे परामर्श करता रहा हूँ। फिर भी भाषाकी प्राचीनता, शैलीकी विलक्षणता और विषयकी तात्त्विकतासे अपेक्षित यथार्थता एवं शुद्धताके बाधित तथा दूषित हो जानेकी पूरी-पूरी संभावना है। आशा है कि सहृदय पाठक उसके लिए मुझे क्षमा करेंगे और त्रुटियोंकी ओर ध्यान दिलाकर मुझे आभारी करेंगे।

श्री रावजीभाई और श्री कंचनभाई दोनोंने मेरे नमूनेके अनुवादको परखा और मान्य किया, जिससे अनुवाद करनेका मुझे शुभ अवसर मिला। इसलिए मेरे अनुवादका श्रेय मुख्यतः उन्हींको है।

अनुवादकी यथार्थता एवं शुद्धताके संबंधमें विचार-विमर्श करनेके लिए श्री कंचनभाईको अनेक बार कष्ट देना पड़ा है, जिसके लिए क्षमायाचनापूर्वक उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

'श्रीमद् राजचंद्र' के गूढ एवं संदिग्ध स्थलोंके समझनेमें उपर्युक्त महाशयों और अन्य अनेक बंधुओंने मेरी बहुत सहायता की है। उन सबका मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। मैंने मुख्यतः संस्कृत तथा प्राकृत अवतरणोंके संशोधनमें श्रद्धेय पं० बेचरदास दोशी, पं० लालचंद भगवानदास गांधी और श्री दलसुखभाई मालवणियासे सहायता ली है, जिसके लिए उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

श्रीमद् राजचंद्र आश्रम
अगास
ता० ७-१२-७३

हंसराज जैन

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

३०वाँ वर्ष

३१वाँ वर्ष

३२वाँ वर्ष

३४वाँ वर्ष

●

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०४	७	रावजीभाईके	रवजीभाईके
५०४	८	रह	रहे
५०४	१४	लगाना	लाना
५०८	२६	निचार	विचार
५८५	१६	व्योरेका	ब्योरेका
५९२	८	योगके	भोगके
५९३	१७	देखते हुए	देखते हुए सम्यग्दर्शन
५९३	२८	जैनमार्ग	जैनमार्गमें
६१३	७	जिनदशा	निजदशा
६२३	१३	गर्मके	गर्भके
६२४	१०	भाषित	भासित
६२७	१६	कतृत्व	कर्तृत्व
६३५	३४	आत्मा	आत्मता
६३७	१०	शिष्यधर्म	शिष्यधर्मसे
६३८	३७	नषिध	निषेध
६४०	२२	कर्तय	कर्तव्य
६४१	५	आसोज	आसोज वदी
६५३	१०	मुद्ध	शुद्ध
६६३	२०	यथार्थ	अयथार्थ
६६६	९	आता है।	आता है, अथवा शुष्क ज्ञानी होनेका अवसर आता है।
६७१	३४	केवल	केवली
६९९	१६	मनसुख	मनसुख पुरुषोतम
६७४	३१	स्यात् नास्ति,	स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति
६७५	३५	अनत	अनंत
६८१	३६	पापास्त्ररूप	पापास्रवरूप
७००	३	लल्लुभाई	लहराभाई
७०१	८	कुछ	शुद्ध
७१६	३४	निनृत्तिके	निवृत्तिके
७१९	७	पाए।	पाए तो बहुत है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२०	२०	शवि	शनि
७२१	१९	ज्ञाणे	ज्ञाणं
७२४	३०	पुरुष	पुरुष अप्रमत्ततासे
७२५	९	अशक्त	अशक्य
७२६	१०	ईदर	ईडर
७२८	२०	करणावाला	करुणावाला
७३२	९	बताना	बतायी
७३३	७	पत्र-व्यवहार	प्रवृत्ति-व्यवहार
७३५	९	अभिन्न	अनादि
७३९	२०	नियम	विनय
७५०	१३	ब्राह्मणज्ञ	ब्राह्मणत्व
७५५	५	अतर्मुख	अंतर्मुख
७५५	३१।३४	योग	योग्य
७५६	१६	सुदी १	सुदी ११॥
७६०	१४	वीतरागमार्ग	वीतरागमार्गमें
७६४	६	कभी	कमी
७६५	१३	सत्तर	सत्तावन
७६९	२५	महान्	नो महान्
७७८	२९	प्राप्त	प्राप्ति
७८७	२६	तादाम्य	तादात्म्य
७९२	२५	घटता हैं।	घटता है।
७९५	३०	दोष	रोष
७९८	४	कहनेसे	करनेसे
८००	३०	आये	न आये
८०९	२३	भांति	भ्रांति
८१५	७	हो	न हो
८१७	१८	शत्शास्त्ररूपी	सत्शास्त्ररूपी
८१८	१२	आत्म	आत्मा
८२०	१६	निर्वद	निर्वैर
८२४	२७	स्वरूपस्थितिका	स्वरूपस्थिरताका
,,	,,	‘स्वरूपस्थिति’	‘स्वभावस्थिति’
८२६	६	अज्ञान तो	अज्ञानीके
८२९	१२	और	आरे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३१	७	अपेक्षासे	अपेक्षासे बंध है और सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षासे
८३४	२९,३०	आरा	चारा
,,	३५	ढँढ़	ढेंढ़
,,	,,	६९	५४
८४१	१७	माना	भाता
८४२	१२	सुप्रीति	सुप्रतीति
८४७	१७	वृत्तको	वृत्तिको
८४९	१	सकता	सकना
,,	२१	भेदता	मंदता
८५०	९	अभाव	जमाव
८५५	११	अविरति है।	अविरति है। वह अविरतिपना बारह प्रकारका है।
८५९	१	सिद्धांतरूपी	सिद्धांत सूत्ररूपी
८६१	३४	अंशमें	अंशमें समझमें
८६३	८	इत्यादिका	इत्यादिकी
८७२	२३	सिद्धि	ऋद्धि
८७५	३४	ध्यान	ध्यान
८७८	८	संभात	खंभात
८७९	२६	अध्यात्मरूपसे	अध्यात्मरूपसे संस्कृतमें
८८१	१४	अल्प	विषम
८८१	१५	सम्यक्मार्ग	विषम मार्ग
८८३	२४	भूल	भूल है और उससे यद्यपि ज्ञानमें अंतर नहीं है तो भी भूल
८८६	१२	बनासीदास	बनारसीदास
८८९	३४	स्वामीकार्तिकने	स्वामीकार्तिककी
८९०	२०	मंगल मुक्किट्ठं	मंगलमुक्किट्ठं
८९५	१४	शास्त्र परिज्ञाके	शस्त्रपरिज्ञाके
८९७	२२	जहाजसे	जहाजके
९००	५	और	और तीसरी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९००	७	हुआ	मालूम होता है।
,,	९	पृष्ठ	पृष्ठ छोड़
९०२	१०	जीवका	जीवकी
,,	१८	प्राणेन्द्रिय	घ्राणेन्द्रिय
,,	२२	इंद्रियोमें	इंद्रियोंसे
९१०	२३	प्रात्त	प्राप्त
९११	३	रेगेगी	रंगेगी
९१८	२४	प्रवृत्ति	प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम प्रकारसे प्रवृत्ति
९२२	२८	हैंतु	हेतु
९२९	७	सर्वप्रकाशता	सर्वप्रकाशकता
९२९	२४	अपेक्षासे	किस अपेक्षासे
९३०	१५	करना	न करना
९३६	२४	परद्रव्यसे	परद्रव्यसे मुक्त
८४०	२०	व्यवहारसे	व्यवहार
९४५	२१	ध्यान हैं	ध्यान करते हैं।
,,	३२	सर्व द्रव्यसे	सर्व परद्रव्यसे
९४६	४	[८५८]	[७५८]
,,	८	निर्विकल्प	निर्विकल्प द्रष्टा
,,	१६	एकांतसे	एकांतसे घटित होता है
९४७	२७	श्रेत्र	क्षेत्र
,,	३३	बुःख	दुःख
९४८	१०	प्रमाण	प्रमाद
९४९	१७	अनंतपर्यंतकी	अंतपर्यंतकी
९५०	१८	[७८१]	[७७९]
,,	१९	पडिपुणं	पडिपुण्णं
,,	२३	उठ्ठाए	उट्ठाए
,,	३०	है।	है। इस मार्गमें स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाण पाते हैं, और सब दुःखोंका अंत करते हैं।

२८वाँ वर्ष

[४४८] ५३३ मुंबई, कार्तिक सुदी १, १९५१

मतिज्ञानादिके प्रश्नोंके विषयमें पत्र द्वारा समाधान होना कठिन है। क्योंकि उन्हें विशेष पढ़नेकी या उत्तर लिखनेकी प्रवृत्ति अभी नहीं हो सकती।

महात्माके चित्तकी स्थिरता भी जिसमें रहनी कठिन है, ऐसे दुषमकालमें आप सबके प्रति अनुकंपा करना योग्य है, यह विचारकर लोकके आवेशमें प्रवृत्ति करते हुए आपने प्रश्नादि लिखने-रूप चित्तमें अवकाश दिया, इससे मेरे मनको संतोष हुआ है।

निष्कपट दासानुदास भावसे०

•

[४४९] ५३४ मुंबई, कार्तिक सुदी ३, बुध, १९५१

श्री सत्पुरुषको नमस्कार

श्री सूर्यपुरस्थित, वैराग्यचित्त, सत्संगयोग्य श्री लल्लुजीके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे जीवनमुक्तदशाके इच्छुक श्री ...का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष विनती कि आपके लिखे हुए तीन पत्र थोड़े थोड़े दिनोंके अंतरसे मिले हैं।

यह जीव अत्यंत मायाके आवरणसे दिशामूढ हुआ है, और उस योगसे उसकी परमार्थदृष्टि उदयमें नहीं आती। अपरमार्थमें परमार्थका दृढाग्रह हुआ है; और उससे बोध प्राप्त होनेके योगसे

भी उसमें बोधका प्रवेश हो, ऐसा भाव स्फुरित नहीं होता, इत्यादि जीवकी विषम दशा कहकर प्रभुके प्रति दीनता प्रदर्शित की है कि 'हे नाथ ! अब मेरी कोई गति (मार्ग) मुझे दिखायी नहीं देती। क्योंकि मैंने सर्वस्व लुटा देने जैसा योग किया है, और सहज ऐश्वर्य होते हुए भी, प्रयत्न करनेपर भी, उस ऐश्वर्यसे विपरीत मार्गका ही मैंने आचरण किया है। उस उस योगसे मेरी निवृत्ति कर, और उस निवृत्तिका सर्वोत्तम सदुपायभूत जो सद्गुरुके प्रति शरणभाव है, वह उत्पन्न हो, ऐसी कृपा कर,' ऐसे भावके बीस दोहे हैं, जिनमें प्रथम वाक्य 'हे प्रभु ! हे प्रभु ! क्या कहूँ ? दीनानाथ दयाल' है। वे दोहे आपके स्मरणमें होंगे। उन दोहोंकी विशेष अनुप्रेक्षा हो, वैसा करेंगे तो वह विशेष गुणाभिव्यक्तिका हेतु होगा।

उनके साथ दूसरे आठ त्रोटक छंद अनुप्रेक्षा करनेयोग्य है, जिनमें इस जीवको क्या आचरण करना बाकी है, और जो जो परमार्थके नामसे आचरण किये हैं वे अब तक वृथा हुए, और उन आचरणमें जो मिथ्याग्रह है उसे निवृत्त करनेका बोध दिया है, वे भी अनुप्रेक्षा करते हुए जीवको पुरुषार्थ विशेषके हेतु हैं।

'योगवासिष्ठ' का पढ़ना पूरा हुआ हो तो थोड़ा समय उसका अवकाश रखकर अर्थात् अभी फिरसे पढ़ना बन्द रखकर 'उत्तराध्ययनसूत्र' को विचारियेगा, परंतु उसे कुलसंप्रदायके आग्रहार्थको निवृत्त करनेके लिए विचारिये। क्योंकि जीवको कुलयोगसे जो संप्रदाय प्राप्त हुआ होता है, वह परमार्थरूप है कि नहीं ? ऐसा विचार करते हुए दृष्टि आगे नहीं चलती और सहजमें उसे ही परमार्थ मानकर जीव परमार्थ चूक जाता है। इसलिए मुमुक्षुजीवका तो यही कर्तव्य है कि जीवको सद्गुरुके योगसे कल्याणकी प्राप्ति अल्पकालमें हो, उसके साधन, वैराग्य और उपशमके लिए 'योगवासिष्ठ', 'उत्तराध्ययनादि' विचारणीय है, तथा प्रत्यक्ष पुरुषके वचनकी निराबाधता, पूर्वापर अविरोधिता जाननेके लिए विचारणीय हैं।

आ० स्व० प्रणाम

•

[४५०] ५३५ मुंबई, कार्तिक सुदी ३, बुध, १९५१

आपको दो चिट्ठियाँ लिखी थीं, वे मिली होंगी। हमने संक्षेपमें लिखा है। अभिन्नभावसे लिखा है। इसलिए कदाचित् उसमें कुछ आशंकायोग्य नहीं है। तो भी संक्षेपके कारण समझमें न आये, ऐसा कुछ हो तो पूछनेमें आपत्ति नहीं है।

श्रीकृष्ण चाहे जिस गतिको प्राप्त हुए हों, परंतु विचार करनेसे वे आत्मभाव-उपयोगी थे, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। जिन श्रीकृष्णने कांचनकी द्वारिकाका, छप्पन करोड़ यादवों द्वारा संग्रहीतका, पंचविषयके आकर्षक कारणोंके योगमें स्वामित्व भोगा, उन श्रीकृष्णने जब देहको छोड़ा है तब क्या स्थिति थी, वह विचार करने योग्य है; और उसे विचारकर इस जीवको अवश्य आकुलतासे मुक्त करना योग्य है। कुलका संहार हुआ है, द्वारिकाका दाह हुआ है, उसके शोकसे शोकवान अकेले वनमें भूमिपर आधार करके सो रहे हैं, वहाँ जराकुमारने जब बाण मारा, उस समय भी जिन्होंने धीरताको अपनाया है, उन श्रीकृष्णकी दशा विचारणीय है।

•

[४५१] ५३६ मुंबई, कार्तिक सुदी ४, गुरु, १९५१

आज एक पत्र प्राप्त हुआ है, और उस संबंधमें यथाउदय समाधान लिखनेका विचार करता हूँ, और वह पत्र तुरत लिखूँगा।

मुमुक्षुजीवको दो प्रकारकी दशा रहती है, एक 'विचारदशा' और दूसरी 'स्थितप्रज्ञदशा'। स्थितप्रज्ञदशा विचारदशाके लगभग पूरी हो जानेपर अथवा संपूर्ण होनेपर प्रगट होती है। उस स्थितप्रज्ञदशाकी प्राप्ति इस कालमें कठिन है; क्योंकि कालमें आत्मपरिणामके लिए व्याघातरूप योग प्रधानरूपसे रहता है, और इससे विचारदशाका योग भी सद्गुरु और सत्संगके अंतरायसे प्राप्त नहीं होता; वैसे कालमें कृष्णदास विचारदशाकी इच्छा करते हैं, यह विचारदशा प्राप्त होनेका मुख्य कारण है, और ऐसे जीवको भय, चिंता, पराभव आदि भावमें निजबुद्धि करना योग्य नहीं है, तो भी धीरतासे उनके लिए समाधान होने देना, और निर्भय चित्त रखवाना योग्य है।

•

[४५३ + ४५२] ५३७ मुंबई, कार्तिक सुदी ७, शनि, १९५१

श्री सत्पुरुषको नमस्कार

श्री स्थंभतीर्थवासी मुमुक्षुजनोंके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे···का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो, विशेष विनती कि मुमुक्षु अंबालालका लिखा हुआ एक पत्र आज प्राप्त हुआ है।

कृष्णदासके चित्तकी व्यग्रता देखकर आप सबके मनमें खेद रहता है, वैसा होना स्वाभाविक है। यदि हो सके तो 'योगवासिष्ठ' ग्रंथ तीसरे प्रकरणसे उन्हें पढ़वाइये अथवा श्रवण करवाइये; और प्रवृत्तिक्षेत्रसे जैसे अवकाश मिले तथा सत्संग हो वैसे करें। दिनभरमें वैसा अधिक समय अवकाश लिया जा सके, उतना ध्यान रखना योग्य है।

सब मुमुक्षुभाइयोंकी समागमकी इच्छा है, ऐसा लिखा, उसका विचार करूँगा। मार्गशीर्ष-मासके पिछले भागमें पौष मासके आरंभमें बहुत करके वैसा योग होना संभव है।

कृष्णदासको चित्तके विक्षेपकी निवृत्ति करना योग्य है। क्योंकि मुमुक्षुजीवको अर्थात् विचारवान जीवको इस संसारमें अज्ञानके सिवाय दूसरा कोई भय नहीं होता। एक अज्ञानकी निवृत्ति करनेकी जो इच्छा है, उसके सिवाय विचारवान जीवको दूसरी इच्छा नहीं होती, और पूर्वकर्मके बलसे वैसा कोई उदय हो, तो भी विचारवानके चित्तमें संसार कारागृह है, समस्त लोक दुःखसे आर्त्त है, भयाकुल है, रागद्वेषके प्राप्त फलसे जलता है; ऐसा विचार निश्चयरूप ही रहता है; और ज्ञानप्राप्तिका कुछ अंतराय है, इसलिए यह कारागृहरूप संसार मुझे भयका हेतु है और लोकका प्रसंग करना योग्य नहीं है, यही एक भय विचारवानके लिए योग्य है।

महात्मा श्री तीर्थंकरने निर्ग्रंथको प्राप्तपरिषह सहन करनेकी बारंबार सूचना दी है। उस परिषहके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए अज्ञानपरिषह और दर्शनपरिषह ऐसे दो परिषहोंका प्रतिपादन किया है, कि किसी उदययोगकी प्रबलता हो और सत्संग एवं सत्पुरुषका योग होनेपर भी जीवकी अज्ञानके कारणोंको दूर करनेकी हिम्मत न चल सकती हो, आकुलता आ जाती हो, तो भी धीरता रखना, सत्संग एवं सत्पुरुषके योगका विशेषातिविशेष आराधन करना; तो अनु-

क्रमसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी; क्योंकि निश्चय जो उपाय है, और जीवको निवृत्त होनेकी बुद्धि है, तो फिर अज्ञान निराधार हो जानेपर किस तरह रह सकता है? एक मात्र पूर्वकर्मके योगके सिवाय वहाँ उसे कोई आधार नहीं है। वह तो जिस जीवको सत्संग एवं सत्पुरुषका योग हुआ है और पूर्वकर्मनिवृत्तिका प्रयोजन है, उसका क्रमशः दूर होने ही योग्य है, ऐसा विचारकर वह मुमुक्षुजीव उस अज्ञानसे होनेवाली आकुलता-व्याकुलताको धीरतासे सहन करे, इस तरह परमार्थ कहकर परिषह कहा है। यहाँ हमने उन दोनों परिषहोंका स्वरूप संक्षेपमें लिखा है। इस परिषहका स्वरूप जानकर, सत्संग एवं सत्पुरुषके योगसे, जिस अज्ञानसे आकुलता होती है वह निवृत्त होगा, ऐसा निश्चय रखकर, यथाउदय जानकर, धीरता रखनेका भगवान तीर्थंकरने कहा है, परंतु वह धीरता ऐसे अर्थमें नहीं कही है, कि सत्संग एवं सत्पुरुषका योग होनेपर प्रमाद हेतुसे विलंब करना, वह धीरता है और उदय है, यह बात भी विचारवान जीवको स्मृतिमें रखनी योग्य है।

श्री तीर्थंकरादिने वारंवार जीवोंको उपदेश दिया है; परंतु जीव दिशामूढ रहना चाहता है, वहाँ उपाय नहीं चल सकता। वारंवार ठोंक-ठोंककर कहा है कि यदि यह जीव इस एक उपदेशको समझे तो मोक्ष सहज है, नहीं तो अनंत उपायोंसे भी नहीं है। और यह समझना भी कुछ विकट नहीं है, क्योंकि जीवका जो सहज स्वरूप है मात्र वही समझना है; और वह कुछ दूसरेके स्वरूपकी बात नहीं है कि कदाचित् वह छुपाये कि न बताये, जिससे समझमें न आ सके। अपने आपसे अपने आप गुप्त रहना किस तरह हो सकता है? परंतु स्वप्नदशामें न होने योग्य ऐसी अपनी मृत्युको भी जीव देखता है, वैसे अज्ञानदशारूप स्वप्नयोगसे यह जीव अपनेको, जो अपने नहीं हैं, ऐसे दूसरे द्रव्योंमें निजरूपसे मानता है; और यही मान्यता ही संसार है, यही अज्ञान है, यही नरकादि गतिका हेतु है, यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, देहका विकार है, यही पुत्र, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्रादि भावकी कल्पनाका हेतु है; और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज मोक्ष है, और इसी निवृत्तिके लिए सत्संग, सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं; और वे साधन भी जीव यदि अपने पुरुषार्थको छिपाये विना उनमें लगाये, तभी सिद्ध होते हैं। अधिक क्या कहें? इतनी संक्षिप्त थोड़ी बात यदि जीवमें परिणाम पा ले तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्रज्ञान आदिसे छुट्टी पाये, इसमें कुछ संशय नहीं है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

•

[४५४] ५३८ मुंबई, कार्तिक सुदी ९, बुध, १९५१

दो पत्र प्राप्त हुए हैं।

मुक्त मनसे स्पष्टीकरण किया जाये ऐसी आपकी इच्छा रहती है, उस इच्छाके कारण ही मुक्त मनसे स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका, और अब भी उस इच्छाका निरोध करनेके सिवाय आपके लिए दूसरा कोई विशेष कर्तव्य नहीं है। हम मुक्त मनसे स्पष्टीकरण करेंगे, ऐसा जानकर इच्छाका निरोध करना योग्य नहीं है, परंतु सत्पुरुषके संगके माहात्म्यकी रक्षाके लिए उस इच्छा-को शान्त करना योग्य है, ऐसा विचारकर शांत करना योग्य है। सत्संगकी इच्छासे ही यदि संसारके प्रतिबंधके दूर होनेकी स्थितिके सुधारकी इच्छा रहती हो तो भी अभी उसे जाने देना योग्य है; क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि वारंवार आप जो लिखते हैं, वह कुटुम्बमोह है, संक्लेश-परिणाम है, और असाता न सहन करनेकी किसी भी अंशमें बुद्धि है और जिस पुरुषको वह बात

किसी भक्तजनने लिखी हो, तो उससे उसका रास्ता निकालनेके बदले ऐसा होता है, कि ऐसी निदानबुद्धि जब तक रहे तब तक सम्यक्त्वका रोध रहे सही, ऐसा विचारकर बहुत बार खेद हो जाता है; उसे आपको लिखना योग्य नहीं है।

●

[४५५] ५३९ मुंबई; कार्तिक सुदी १४, सोम, १९५१

सर्व जीव आत्मरूपसे समस्वभावी हैं, दूसरे पदार्थमें जीव यदि निजबुद्धि करे तो परिभ्रमणदशा प्राप्त करता है, और निजमें निजबुद्धि हो तो परिभ्रमणदशा दूर होती है। जिसके चित्तमें ऐसे मार्गका विचार करना आवश्यक है, उसको, जिसकी आत्मामें वह ज्ञान प्रकाशित हुआ है, उसकी दासानुदासरूपसे अनन्य भक्ति करना ही परम श्रेय है। और उस दासानुदास भक्तिमानकी भक्ति प्राप्त होनेपर जिसमें कोई विषमता नहीं आती, उस ज्ञानीको धन्य है। उतनी सर्वांगदशा जब तक प्रगट न हुई हो तब तक आत्माकी कोई गुरुरूपसे आराधना करे, वहाँ पहले उस गुरुपनेको छोड़कर उस शिष्यमें अपनी दासानुदासता करना योग्य है।

●

५४० मुंबई, कार्तिक सुदी १४, सोम, १९५१

विषम संसाररूप
बंधनका छेदन करके जो पुरुष
चल निकले उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम है।

आज आपका एक पत्र प्राप्त हुआ है।

सुदी पंचमी और छठके पीछे यहाँसे विदाय होकर मेरा वहाँ आना होगा, ऐसा लगता है। आपने लिखा कि विवाहके काममें पहलेसे आप पधारे हों, तो कितने विचार हो सकें। उस संबंधमें ऐसा है कि ऐसे कार्योंमें मेरा चित्त अप्रवेशक होनेसे, और वैसे कार्योंका माहात्म्य कुछ है नहीं ऐसा निश्चय होनेसे मेरा पहलेसे आना कुछ वैसा उपयोगी नहीं है। जिससे रेवाशंकरभाईका आना ठीक समझकर वैसा किया है।

रूईके व्यापारके विषयमें कभी कभी करनेरूप साधन आप पत्र द्वारा लिखते हैं। उस विषयमें एक बारके सिवाय स्पष्टीकरण नहीं लिखा; इसलिए आज इकट्ठा लिखा है। आड़तका व्यवसाय उत्पन्न हुआ उसमें कुछ इच्छाबल और उदयबल था। परन्तु मोतीका व्यवसाय उत्पन्न होनेमें तो मुख्य उदय बल था। बाकी व्यवसायका अभी उदय मालूम नहीं होता। और व्यवसायकी इच्छा होना यह तो असम्भव जैसी है।

श्री रेवाशंकरभाईसे आपने रुपयेकी माँग की थी, वह पत्र भी मणि तथा केशवलालके पढनेमें आये उस तरह उनके पत्रमें रखा था। यद्यपि वे जानें इसमें कोई दूसरी बाधा नहीं है, परन्तु जीवको लौकिक भावनाका अभ्यास विशेष बलवान है, इससे उसका क्या परिणाम आया और हमने उस विषयमें क्या अभिप्राय दिया ? उसे जाननेकी उनकी आतुरता विशेष हो तो वह भी योग्य नहीं। अभी रुपयेकी व्यवस्था करनी पड़े उस लिये आपके व्यवसायके सम्बन्धमें हमने कदाचित् न कहा होगा, ऐसा विना कारण उनके चित्तमें विचार आये। और अनुक्रमसे हमारे प्रति व्यावहारिक बुद्धि विशेष हो जाये, वह भी यथार्थ नहीं।

जीजीबाका लग्न माघ मासमें होगा कि नहीं ? इस संबंधमें ववाणियासे हमारे जाननेमें कुछ नहीं आया, तथा मैंने इस विषयमें कोई विशेष विचार नहीं किया है। ववाणियासे खबर मिलेगी तो आपको यहाँसे रेवाशंकरभाई कि केशवलाल सूचित करेंगे। अथवा रेवाशंकरभाईका विचार माघ मासका होगा तो वे ववाणिया लिखेंगे, और आपको भी सूचित करेंगे। उस प्रसंग पर आना कि न आना, इसका पक्का फैसला अभी चित्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसे बहुत वक्त है और अभीसे उसके लिए विचार सूझ आये, ऐसा होना कठिन है। तीन वर्षसे उस तरफ जाना नहीं हुआ, जिससे श्री रावजीभाईके चित्तमें तथा माताजीके चित्तमें, जाया न जाये तो अधिक खेद रह, यह मुख्य कारण उस तरफ आनेमें है। तथा हमारा आना न हो तो भाई-बहनोंको भी खेद रहे, यह दूसरा कारण भी उधर आनेके विचारको बलवान करता है। और बहुत करके आना होगा, ऐसा चित्तमें लगता है। हमारा चित्त पौष मासके आरंभमें यहाँसे निकलनेका रहता है, और बीचमें रुकावट हो तो **प्रवृत्तिसे** आयी हुई कुछ **थकावटकी** विश्रांतिके समय हो। परंतु कितना ही कामकाज ऐसा है कि निर्धारित दिनोंसे कुछ अधिक दिन जानेके बाद यहाँसे **छूटा** जा सकेगा।

आप अभी किसीको व्यापार-रोजगारकी प्रेरणा करते हुए इतना ध्यान रखें कि जो उपाधि आपको खुद करनी पड़े उस उपाधिका उदय आप लगाना चाहते हैं। और फिर उससे निवृत्ति चाहते हैं। यद्यपि चारों तरफके आजीविकादि कारणोंसे उस कार्यकी प्रेरणा करनेकी आपके चित्तमें उदयसे स्फुरणा होती होगी तो भी उस संबंधी चाहे जैसी घबराहट होनेपर भी धीरतासे विचार कर कुछ भी व्यापार-रोजगारकी प्रेरणा करना या लड़कोंको व्यापार करानेके विषयमें भी सूचना लिखना। क्योंकि अशुभ उदयको इस तरह दूर करनेका प्रयत्न करते हुए बल प्राप्त करने जैसे हो जाता है।

आप हमें यथासंभव व्यावहारिक बात कम लिखें ऐसा जो हमने लिखा उसका हेतु मात्र इतना ही है कि हम इतना व्यवहार करते हैं, उस विचारके साथ दूसरे व्यवहारको सुनते-पढ़ते आकुलता हो जाती है। आपके पत्रमें कुछ निवृत्तिवार्ता आये तो अच्छा, ऐसा रहता है। और फिर आपको हमें व्यावहारिक बात लिखनेका कोई हेतु नहीं है, क्योंकि वह हमारे मुँह पर है; और कदाचित् आप घबराहटको शान्त करनेके लिए लिखते हों तो उस प्रकारसे वह लिखी नहीं जाती। बात आर्त्तध्यानकेरूप जैसी लिखी जाती है। जिससे हमें बहुत संताप होता है। यही विनती।

प्रणाम

●

[४५८] ५४१ सं० १९५१

ज्ञानीपुरुषोंका समय-समयमें अनंत संयमपरिणाम वर्धमान होता है, ऐसा सर्वज्ञने कहा है, यह सत्य है। वह संयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे ब्रह्मरसके प्रति स्थिरता होनेसे उत्पन्न होता है।

●

[४६१] ५४२ मुंबई, कार्तिक सुदी १५, मंगल, १९५१

श्रीसोभागभाईको मेरा यथायोग्य कहियेगा।

उन्होंने श्री ठाणांगसूत्रकी एक चौभंगीका उत्तर विशेष समझनेके लिए माँगा था, उसे संक्षेपमें यहाँ लिखा है—

अभी व्यवसाय विशेष है। कम करनेका अभिप्राय चित्तसे खिसकता नहीं है। और अधिक होता रहता है।

आ० स्व० प्रणाम

●

[४६४] ५४६ मुंबई, मार्गशीर्ष वदी ३, शुक्र, १९५१

प्र०—जिसका मध्य नहीं, अर्ध नहीं, अछेद्य, अभेद्य इत्यादि परमाणुकी व्याख्या श्री जिनने कही है, तो इसमें अनंत पर्याय किस तरह हो सकें? अथवा पर्याय यह एक परमाणुका दूसरा नाम होगा? या किस तरह? इस प्रश्नवाला पत्र आया था। उसका समाधान:—

प्रत्येक पदार्थके अनंत पर्याय (अवस्थाएँ) हैं। अनंत पर्यायके बिना कोई पदार्थ नहीं हो सकता, ऐसा श्री जिनका अभिमत है, और वह यथार्थ लगता है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ समय समयमें अवस्थांतरता पाता हुआ होना चाहिए, ऐसा प्रत्यक्ष दिखायी देता है। क्षण-क्षणमें जैसे आत्मामें संकल्प-विकल्प परिणति होकर अवस्थांतर हुआ करता है, वैसे परमाणुमें वर्ण, गंध, रस, रूप अवस्थांतरता पाते हैं, वैसी अवस्थांतरता पानेसे उस परमाणुके अनंत भाग हुए, यह कहना योग्य नहीं है; क्योंकि वह परमाणु अपनी एकप्रदेशक्षेत्रावगाहिताका त्याग किये बिना उस अवस्थांतरको प्राप्त होता है। एकप्रदेशक्षेत्रावगाहिताके वे अनंत भाग नहीं हो सकते। एक समुद्र होनेपर जैसे उसमें तरंगें उठती हैं, और वे तरंगें उसीमें समाती हैं, तरंगरूपसे उस समुद्रकी अवस्थाएँ भिन्न भिन्न होती रहनेसे भी समुद्र अपने अवगाहक क्षेत्रका त्याग नहीं करता, और कुछ समुद्रके अनंत भिन्न भिन्न टुकड़े नहीं होते, मात्र अपने स्वरूपमें वह रमण करता है, तरंगता यह समुद्रकी परिणति है, यदि जल शांत हो तो शांतता यह उसकी परिणति है, कुछ भी परिणति उसमें होनी ही चाहिए। वैसे वर्णगंधादि परिणाम परमाणुमें बदलते रहते हैं, परंतु उस परमाणुके कुछ टुकड़े होनेका प्रसंग नहीं होता, अवस्थांतरताको प्राप्त होता रहता है। जैसे सोना कुंडलाकारको छोड़कर मुकुटाकार होता है वैसे परमाणु, इस समयकी अवस्थासे दूसरे समयकी कुछ अंतरवाली अवस्थाको प्राप्त होता है। जैसे सोना दोनों पर्यायोंको सेवन करता हुआ सोना ही है, वैसे परमाणु भी परमाणु ही रहता है। एक पुरुष (जीव) बालकपन छोड़कर युवा होता है, युवत्व छोड़कर वृद्ध होता है, परंतु पुरुष वहीका वही रहता है, वैसे परमाणु पर्यायोंको प्राप्त होता है। आकाश भी अनंत पर्यायी है और सिद्ध भी अनंत पर्यायी है, ऐसा जिनका अभिप्राय है, वह विरोधी नहीं लगता, प्रायः मेरी समझमें आता है परंतु विशेषरूपसे लिखनेका न हो सकनेसे आपको यह बात विचार करनेमें कारण हो, ऐसे ऊपर ऊपरसे लिखा है।

चक्षुमें जो निमेषोन्मेषकी अवस्थाएँ हैं, वे पर्याय हैं। दीपककी जो चलनस्थिति वह पर्याय है। आत्माकी संकल्प-विकल्प दशा कि ज्ञानपरिणति, वह पर्याय है। उसी तरह वर्ण, गंध आदि परिणामोंको प्राप्त होना परमाणुके पर्याय हैं। यदि वैसा परिणमन न होता हो तो यह जगत ऐसी विचित्रताको प्राप्त न कर सके, क्योंकि एक परमाणुमें पर्यायता न हो तो सर्व परमाणुओंमें भी न हो। संयोग-वियोग, एकत्व-पृथक्त्व इत्यादि परमाणुके पर्याय हैं और वे सब परमाणुमें हैं। यदि वे भाव समय समयपर उसमें परिणमन पाते रहें तो परमाणुका व्यय (नाश) न हो, जैसे कि निमेषोन्मेषसे चक्षुका नाश नहीं होता।

●

[४६५] ५४७ मोहमयी क्षेत्र, मार्गशीर्ष वदी ८, बुध, १९५१

यहाँसे निवृत्त होनेके बाद प्रायः ववाणिया अर्थात् इस भवके जन्म-ग्राममें साधारण व्यावहारिक प्रसंगसे जानेका कारण है। चित्तमें अनेक प्रकारसे उस प्रसंगसे छूट सकनेका विचार करते हुए छूटा जा सके यह भी संभव है, तथापि बहुतसे जीवोंको अल्प कारणमें कदाचित् विशेष असमाधान होनेका संभव रहे, जिससे अप्रतिबंधभावको विशेष दृढ़ करके जानेका विचार रहता है। वहाँ जानेपर, कदाचित् एक माससे विशेष समय लग जानेका संभव है, शायद दो मास भी लग जायें। उसके बाद फिर वहाँसे लौटकर इस क्षेत्रकी तरफ आना पड़े, ऐसा है; फिर भी यथासंभव बीचमें दो एक मास एकान्त जैसा निवृत्तियोग हो सके तो वैसा करनेकी इच्छा रहती है; और वह योग अप्रतिबंधरूपसे हो सके, इसका विचार करता हूँ।

सर्व व्यवहारसे निवृत्त हुए विना चित्त ठिकानेपर न आये, ऐसे अप्रतिबंध—असंगभावका चित्तमें बहुत विचार किया होनेसे उसी प्रवाहमें रहना होता है। परंतु उपार्जित प्रारब्ध निवृत्त होनेपर वैसा हो सके, इतना प्रतिबंध पूर्वकृत है, आत्माकी इच्छाका प्रतिबंध नहीं है। सर्व सामान्य लोकव्यवहारकी निवृत्तिसंबंधी प्रसंगके विचारको दूसरे प्रसंगपर बताना रखकर, इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेमें विशेष अभिप्राय रहता है; वह भी उदयके सामने नहीं हो सकता। तो भी अहोनिश यही चिन्तन रहता है, तो वह कदाचित् थोड़े समयमें होगा ऐसा लगता है। इस क्षेत्रके प्रति कुछ द्वेष परिणाम नहीं है, तथापि संगका विशेष कारण है। प्रवृत्तिके प्रयोजनके विना यहाँ रहना कुछ आत्माके लिए वैसे लाभका कारण नहीं है, ऐसा जानकर, इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विचार रहता है। प्रवृत्ति भी निजबुद्धिसे किसी भी प्रकारसे प्रयोजनभूत नहीं लगती, तथापि उदयके अनुसार प्रवृत्ति करनेके ज्ञानीके उपदेशको अंगीकार करके उदय भोगनेका प्रवृत्तियोग सहन करते हैं।

आत्मामें ज्ञानद्वारा उत्पन्न हुआ यह निश्चय बदलता नहीं है कि सर्वसंग बड़ा आस्रव है; चलते, देखते और प्रसंग करते हुए समय मात्रमें यह निजभावका विस्मरण करा देता है, और यह बात सर्वथा प्रत्यक्ष देखनेमें आयी है, आती है, और आ सकने जैसी है, इसलिए अहोनिश उस बड़े आस्रवरूप सर्वसंगमें उदासीनता रहती है, और वह दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए परिणामको प्राप्त करती रहती है, वह उससे विशेष परिणामको प्राप्त करके सर्वसंगसे निवृत्ति हो, ऐसी अनन्य कारण योगसे इच्छा रहती है।

यह पत्र प्रथमसे व्यावहारिक आकृतिमें लिखा गया हो ऐसा कदाचित् लगे, परंतु इसमें यह सहज मात्र नहीं है। असंगताका, आत्मभावनाका मात्र अल्प विचार लिखा है।

आ० स्व० प्रणाम

●

[४६६] ५४८ मुंबई, मार्गशीर्ष वदी ९, शुक्र, १९५१

परम स्नेही श्री सोभाग,

आपके तीन पत्र आये हैं। एक पत्रमें दो प्रश्न लिखे थे, जिनमेंसे एकका समाधान नीचे लिखा है।

ज्ञानीपुरुषका सत्संग होनेसे, निश्चय होनेसे और उसके मार्गका आराधन करनेसे जीवके दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम कि क्षय होता है, अनुक्रमसे सर्व ज्ञानकी प्राप्ति होकर जीव कृतकृत्य होता है; यह बात प्रगट सत्य है। परन्तु उससे उपार्जित प्रारब्ध भी भोगना नहीं पड़ता, ऐसा

सिद्धांत नहीं हो सकता। केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसे वीतरागको भी उपार्जित प्रारब्धरूप ऐसे चार कर्म भोगने पड़े हैं, तो उससे कम भूमिकामें स्थित जीवोंको प्रारब्ध भोगना पड़े, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। जैसे सर्वज्ञ वीतरागको, घनघाती चार कर्मोंका नाश हो जानेसे वे भोगने नहीं पड़ते हैं, और उन कर्मोंके पुनः उत्पन्न होनेके कारणोंकी स्थिति उस सर्वज्ञ वीतरागमें नहीं है; वैसे ज्ञानीका निश्चय होनेसे जीवको अज्ञानभावसे उदासीनता होती है, और उस उदासीनताके कारण भविष्यकालमें उस प्रकारका कर्म उपार्जन करनेका मुख्य कारण उस जीवको नहीं होता। क्वचित् पूर्वानुसार किसी जीवको विपर्यय-उदय हो, तो भी वह उदय अनुक्रमसे उपशांत एवं क्षीण होकर, जीव ज्ञानीके मार्गको पुनः प्राप्त करता है, और अर्धपुद्गलपरावर्तनमें अवश्य संसार-मुक्त हो जाता है। परंतु समकिती जीवको, कि सर्वज्ञ वीतरागको, कि किसी अन्य योगी कि ज्ञानी-को ज्ञानकी प्राप्तिके कारण उपार्जित प्रारब्ध भोगना न पड़े कि दुःख न हो, ऐसा सिद्धांत नहीं हो सकता। तो फिर हम—आपको सत्संगका मात्र अल्प लाभ हो तो सर्व संसारी दुःख निवृत्त होने चाहिए, ऐसा मानें तो फिर केवल ज्ञानादि निरर्थक होते हैं; क्योंकि यदि उपार्जित प्रारब्ध बिना भोगे नष्ट हो जाये तो फिर सब मार्ग मिथ्या ही ठहरे। ज्ञानीके सत्संगसे अज्ञानीके सत्संगकी रुचि मंद हो जाये, सत्यासत्यका विवेक हो, अनंतानुबंधी क्रोधादिका नाश हो, अनुक्रमसे सब रागद्वेषका क्षय हो जाय, यह सब कुछ होना संभव है, और ज्ञानीके निश्चय द्वारा यह अल्पकालमें अथवा सुगमतासे हो, यह सिद्धांत है। तथापि जो दुःख इस प्रकारसे उपार्जित किया है कि अवश्य भोगे बिना नष्ट न हो, वह तो भोगना ही पड़ेगा, इसमें कुछ संशय नहीं है। इस विषयमें अधिक समा-धानकी इच्छा हो तो समागममें हो सकता है।

मेरी आंतरवृत्ति ऐसी है कि परमार्थ-प्रसंगसे किसी मुमुक्षुजीवको मेरा प्रसंग हो तो वह अवश्य मुझसे परमार्थके हेतुकी ही इच्छा करे तो ही उसका श्रेय हो, परंतु द्रव्यादि कारणकी कुछ भी इच्छा रखे अथवा वैसे व्यवसायके लिए वह मुझे सूचित करे, तो फिर अनुक्रमसे वह जीव मलिन वासनाको प्राप्तकर मुमुक्षुताका नाश करे, ऐसा मुझे निश्चय रहता है। और इसी कारणसे जब बहुत बार आपकी तरफसे कोई व्यावहारिक प्रसंग लिखनेमें आया है तब आपको उपालंभ देकर सूचित भी किया था कि आप अवश्य यही प्रयत्न करें कि मुझे वैसे व्यवसायके लिए न लिखें, और मेरी स्मृतिके अनुसार आपने उस बातको स्वीकार भी किया था, परंतु तदनुसार थोड़े समय तक ही हुआ। अब फिर व्यवसायके संबंधमें लिखना होता है। इसलिए आजके मेरे पत्रको विचार कर आप उस बातका अवश्य विसर्जन कर दें, और नित्य वैसी वृत्ति रखें तो अवश्य हितकारी होगी। और मुझे ऐसा प्रतीत होगा कि आपने मेरी आंतरवृत्तिको उल्लासका कारण अवश्य दिया है।

दूसरा कोई भी सत्संगके प्रसंगमें ऐसा करता है तो मेरा चित्त बहुल विचारमें पड़ जाता है या घबरा जाता है, क्योंकि परमार्थका नाश करनेवाली यह भावना इस जीवके उदयमें आयी। आपने जब जब व्यवसायके विषयमें लिखा होगा, तब तब मुझे प्रायः ऐसा ही हुआ होगा। तथापि आपकी वृत्तिमें विशेष अंतर होनेके कारण चित्तमें कुछ घबराहट कम हुई होगी। परंतु अभी तत्कालके प्रसंगसे आपने भी लगभग उस घबराहट जैसी घबराहटका कारण प्रस्तुत किया है ऐसा चित्तमें रहता है।

जैसे रवजीभाईके कुटुंबके लिए मुझे व्यवसाय करना पड़ता है वैसे आपके लिए मुझे करना हो तो भी मेरे चित्तमें अन्यभाव न आये। परंतु आप दुःख सहन न कर सकें तथा मुझे व्यवसाय

वतायें, यह वात किसी तरह श्रेयरूप नहीं लगती; क्योंकि रवजीभाईको वैसी परमार्थ इच्छा नहीं है और आपको है, जिससे आप इस बातमें अवश्य स्थिर हों, इस वातका अवश्य निश्चय रखिये।

[1]यह पत्र कुछ अधूरा है, जो प्रायः कल पूरा होगा।

●

[८७४-१९] ५४९

माकुभाई इत्यादिको जो उपाधि कार्य करनेमें अधीरतासे, आर्त्त जैसे परिणामसे, दूसरेकी आजीविकाका भंग होता है, उसे जानते हुए भी, राजकाजमें अल्प कारणमें विशेष संबंध करना योग्य नहीं, यह हो ऐसा कारण होनेपर भी, जिसमें तुच्छ ऐसे द्रव्यादिका भी विशेष लाभ नहीं है, फिर भी उसके लिए वारवार लिखना हो, यह क्या योग्य है? आप जैसा पुरुष वैसे विकल्पको शिथिल न कर सके, तो इस दुषमकालमें कौन समझकर शान्त रहेगा?

कितने ही प्रकारसे निवृत्तिके लिए और सत्समागमके लिए वह इच्छा रखते हैं, यह बात ध्यानमें है; तथापि वह इच्छा यदि अकेली ही हो तो इस प्रकारकी अधीरता आदि होने योग्य न हो।

माकुभाई इत्यादिको भी अभी उपाधिके संबंधमें लिखना योग्य नहीं है। जैसे हो वैसे देखते रहना, यही योग्य है। इस विषयमें जितना उलाहना लिखना चाहिए उतना नहीं लिखा है, तथापि विशेषतासे इस उलाहनेको विचारियेगा।

●

[४६७] ५५० मुंबई, मार्गशीर्ष वदी ११, रवि, १९५१

परम स्नेही श्री सोभाग,

कल आपका लिखा एक पत्र प्राप्त हुआ है। [2]यहाँसे परसों एक पत्र लिखा है वह आपको प्राप्त हुआ होगा। तथा उस पत्रका पुनः पुनः विचार किया होगा, अथवा विशेष विचार कर सकें तो अच्छा।

वह पत्र हमने संक्षेपमें लिखा था, इससे शायद आपके चित्तके समाधानका पर्याप्त कारण न हो, इसलिए उसमें अन्तमें लिखा था कि यह पत्र अधूरा है, जिससे बाकी लिखना अगले दिन अर्थात् पिछले दिन यह पत्र लिखनेकी कुछ इच्छा होनेपर भी अगले दिन अर्थात् आज लिखना ठीक है, ऐसा लगनेसे पिछले दिन पत्र नहीं लिखा था।

परसोंके दिन लिखे हुए पत्रमें जो गंभीर आशय लिखा है, वह विचारवान जीवकी आत्माका परम हितैषी हो, ऐसा आशय है। हमने आपको यह उपदेश बहुत बार सहज सहज किया है, फिर भी आजीविकाके कष्टक्लेशसे आपने उस उपदेशका बहुत बार विसर्जन किया है, अथवा हो जाता है। हमारे प्रति माँ-बाप जितना आपका भक्तिभाव है, इसलिए लिखनेमें बाधा नहीं है, ऐसा मानकर तथा दुःख सहन करनेकी असमर्थताके कारण हमारेसे वैसे व्यवहारकी याचना आप द्वारा दो प्रकारसे हुई है—एक तो किसी सिद्धियोगसे दुःख मिटाया जा सके, ऐसे आशयकी, और दूसरी याचना किसी व्यापाररोजगार आदिकी। आपकी दोनों याचनाओंमेंसे एक भी

---

१. आंक ५५०

२. आंक ५४८।

हमारे पास की जाय, यह आपकी आत्माके हितके कारणको रोकनेवाला, और अनुक्रमसे मलिन वासनाका हेतु हो; क्योंकि जिस भूमिकामें जो उचित नहीं हैं, वह जीव उसे करे तो उस भूमिकाका उस द्वारा सहजमें त्याग हो जाये, इसमें कुछ संदेह नहीं है। आपकी हमारे प्रति निष्काम भक्ति होनी चाहिए, और आपको चाहे जितना दुःख हो, फिर भी उसे धीरतासे भोगना चाहिए। वैसा न हो सके तो भी हमें तो उसकी सूचनाका एक अक्षर भी नहीं लिखना चाहिए; यह आपके लिए सर्वांग योग्य है। और आपको वैसी ही स्थितिमें देखनेकी जितनी मेरी इच्छा है, और उस स्थितिमें जितना आपका हित है, वह पत्र कि वचनसे हमसे बताया नहीं जा सकता। परन्तु पूर्वके किसी वैसे ही उदयके कारण आपको वह बात विस्मृत हो गयी, जिससे हमें फिर सूचित करनेकी इच्छा रहा करती है।

उन दो प्रकारकी याचनाओंमें प्रथम बतायी हुई याचना तो किसी भी निकटभवीको करनी योग्य नहीं है, और अल्पमात्र हो तो भी उसका मूलसे छेदन कर डालना उचित है; क्योंकि लोकोत्तर मिथ्यात्वका वह सबल बीज है, ऐसा तीर्थंकरादिका निश्चय है, वह हमें तो सप्रमाण लगता है। दूसरी याचना भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि वह भी हमें परिश्रमका हेतु है। हमें व्यवहारका परिश्रम देकर व्यवहार निभाना, यह इस जीवकी सद्वृत्तिका बहुत ही अल्पत्व बताता है; क्योंकि हमारे लिए परिश्रम उठाकर आपको व्यवहार चला लेना पड़ता हो तो वह आपके लिए हितकारी है, और हमारे लिए वैसे दुष्ट निमित्तका कारण नहीं है; ऐसी स्थिति होनेपर भी हमारे चित्तमें ऐसा विचार रहता है कि जब तक हमें परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार उदयमें हो तब तक स्वयं उस कार्यको करना, अथवा व्यावहारिकसंबंधी आदि द्वारा करना, परंतु मुमुक्षु पुरुषको तत्संबंधी परिश्रम देकर तो नहीं करना; क्योंकि वैसे कारणसे जीवकी मलिन वासनाका उद्भव होना संभव है। कदाचित् हमारा चित्त शुद्ध ही रहे, ऐसा है, तथापि काल ऐसा है कि यदि हम उस शुद्धिको द्रव्यसे भी रखें तो सन्मुख जीवमें विषमता उत्पन्न न हो, और अशुद्ध वृत्तिवान जीव भी तदनुसार बरताव कर परम पुरुषोंके मार्गका नाश न करे। इत्यादि विचारमें मेरा चित्त रहता है। तो फिर जिसका परमार्थ-बल कि चित्तशुद्धिता हमारेसे कम हो उसे तो वह मार्गणा प्रबलतासे रखनी उचित है, यही उसके लिए बलवान श्रेय है, और आप जैसे मुमुक्षुपुरुषको तो अवश्य वैसा वर्तन करना योग्य है। क्योंकि आपका अनुकरण सहज ही दूसरे मुमुक्षुओंके हिताहितका कारण हो सके। प्राण जाने जैसी विषम अवस्थामें भी आपको निष्कामता ही रखनी योग्य है, ऐसा हमारा विचार, आपको आजीविकासे चाहे जैसे दुःखोंकी अनुकंपाके प्रति जाते हुए भी मिटता नहीं है, प्रत्युत अधिक बलवान् होता है। इस विषयमें विशेष कारण बताकर आपको निश्चय करानेकी इच्छा है, और वह होगा ऐसा हमें निश्चय रहता है।

इस प्रकार आपके और दूसरे मुमुक्षुजीवोंके हितके लिए मुझे जो योग्य लगा वह लिखा है। इतना लिखनेके बाद अपनी आत्माके लिए उस संबंधमें मेरा अपना कुछ दूसरा भी विचार रहता है, जिसे लिखना योग्य न था, परन्तु आपकी आत्माको कुछ दुःख देने जैसा हमने लिखा है तब उस लिखनेको योग्य समझकर लिखा है। वह इस प्रकार है कि जब तक परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार मेरा उदयमें हो तब तक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु कि सत्पात्र जीवकी तथा अनुकंपायोग्यकी, उसे बताये बिना, हमसे जो कुछ भी सेवाचाकरी हो सके, उसे द्रव्यादि पदार्थसे भी करना, क्योंकि ऐसा मार्ग ऋषभ आदि महापुरुषोंने भी कहीं कहीं जीवकी गुण निष्पन्नताके लिए माना है; यह हमारा निजका विचार है, और ऐसे आचरणका सत्पुरुषके

लिए निषेध नहीं है, किन्तु किसी तरह कर्तव्य है। यदि वह विषय कि वह सेवाचाकरी मात्र सन्मुख जीवके परमार्थको रोधक होते हों तो सत्पुरुषको भी उनका उपशमन करना चाहिए।

असंगता होने कि सत्संगके योगका लाभ प्राप्त होनेके लिए आपके चित्तमें ऐसा रहता है कि केशवलाल, त्रंबक इत्यादिसे गृहव्यवहार चलाया जा सके तो मुझसे छूटा जा सकता है। आप दूसरी तरह उस व्यवहारको छोड़ सकें, वैसा कुछ कारणोंसे नहीं हो सकता, यह बात हम जानते हैं, फिर भी आपको उसे बारबार लिखना योग्य नहीं हैं, ऐसा जानकर उसका भी निषेध किया है। यही विनती।

प्रणाम

●

[४६८] ५५१ मुंबई, मार्गशीर्ष, १९५१

श्री सोभाग,

श्री जिन आत्मपरिणामकी स्वस्थताको समाधि और आत्मपरिणामकी अस्वस्थताको असमाधि कहते हैं, यह अनुभवज्ञानसे देखते हुए परम सत्य है।

अस्वस्थ कार्यकी प्रवृत्ति करना और आत्मपरिणामको स्वस्थ रखना, ऐसी विषम प्रवृत्ति श्री तीर्थंकर जैसे ज्ञानीसे होना कठिन कही है, तो फिर दूसरे जीवके विषयमें यह बात संभवित करना कठिन हो, इसमें आश्चर्य नहीं है।

किसी भी परपदार्थके विषयमें इच्छाकी प्रवृत्ति है, और किसी भी परपदार्थके वियोगकी चिंता है, इसे श्री जिन आर्त्तध्यान कहते हैं, इसमें संदेह करना योग्य नहीं है।

तीन वर्षके उपाधियोगसे उत्पन्न हुआ जो विक्षेपभाव उसे मिटानेका विचार रहता है। जो प्रवृत्ति दृढ़ वैराग्यवान चित्तको बाधा कर सके ऐसी है, वह प्रवृत्ति यदि अदृढ़ वैराग्यवान जीवको कल्याणके सन्मुख न होने दे तो इसमें आश्चर्य नहीं है।

संसारके विषयमें जितनी सारपरिणति मानी जाय उतनी आत्मज्ञानकी न्यूनता श्री तीर्थंकरने कही है।

परिणाम जड होता है ऐसा सिद्धांत नहीं है, चेतनको चेतनपरिणाम होता है और अचेतनको अचेतनपरिणाम होता है, ऐसा जिनने अनुभव किया है। कोई भी पदार्थ परिणाम कि पर्याय विना नहीं होता, ऐसा श्री जिनने कहा है और वह सत्य है।

श्री जिनने जो आत्मानुभव किया है, और पदार्थके स्वरूपका साक्षात्कार करके जो निरूपण किया है, वह सर्व मुमुक्षुजीवोंको परम कल्याणके लिए निश्चय करके विचार करने योग्य है। जिन द्वारा कहे हुए सर्व पदार्थोंके भाव एक आत्माको प्रगट करनेके लिए है, और मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति दोकी होती है—एक आत्मज्ञानीकी और एक आत्मज्ञानीके आश्रयवानकी, ऐसा श्री जिनने कहा है।

आत्मा श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुभवके योग्य है, ऐसी एक वेदकी श्रुति है; अर्थात् यदि एक यही प्रवृत्ति करनेमें आये तो जीव संसारसागर तरकर पार पाये ऐसा लगता है। बाकी तो मात्र किसी श्री तीर्थंकर जैसे ज्ञानीके विना यह प्रवृत्ति करते हुए सबको कल्याणका विचार करना, उसका निश्चय होना और आत्मस्वस्थता होना दुष्कर है। यही विनती।

●

[४६९] ५५२ मुंबई, मार्गशीर्ष, १९५१

श्री सायलास्थित उपकारशील श्री सोभागके प्रति,

ईश्वरेच्छा बलवान है, और कालकी भी दुःषमता है। पूर्वकालमें जाना था और स्पष्ट प्रतीति स्वरूप था कि ज्ञानीपुरुषको सकामतासे भजते हुए आत्माको प्रतिबन्ध होता है, और बहुत बार परमार्थदृष्टि मिटकर संसारार्थदृष्टि हो जाती है। ज्ञानीके प्रति ऐसी दृष्टि होनेसे पुनः सुलभ-बोधिता पाना कठिन पड़ता है, ऐसा जानकर कोई भी जीव सकामतासे समागम न करे, इस प्रकारसे आचरण होता था। आपको तथा श्री डुंगर इत्यादिको इस मार्गसंबंधी हमने कहा था, परन्तु हमारे दूसरे उपदेशकी भाँति किसी प्रारब्धयोगसे उसका तत्काल ग्रहण नहीं होता था। हम जब उस विषयमें कुछ कहते थे, तब पूर्वकालके ज्ञानियोंने आचरण किया है, ऐसे प्रकारादिसे प्रत्युत्तर कहने जैसा होता था। हमें उससे चित्तमें बड़ा खेद होता था कि यह सकामवृत्ति दुःषम-कालके कारण ऐसे मुमुक्षुपुरुषमें रहती है, नहीं तो उसका स्वप्नमें भी सम्भव न हो। यद्यपि उस सकामवृत्तिसे आप परमार्थदृष्टि भूल जायें, ऐसा संशय नहीं होता था। परन्तु प्रसंगोपात्त परमार्थ-दृष्टिके लिए शिथिलताका हेतु होनेका सम्भव दिखायी देता था। परन्तु उसकी अपेक्षा बड़ा खेद यह होता था कि इस मुमुक्षुके कुटुंबमें सकामबुद्धि विशेष होगी, और परमार्थदृष्टि मिट जायेगी, अथवा उत्पन्न होनेकी सम्भावना दूर हो जायेगी, और इस कारणसे दूसरे भी बहुतसे जीवोंके लिए वह स्थिति परमार्थकी अप्राप्तिमें हेतुभूत होगी, फिर सकामतासे भजनेवालेकी वृत्तिको हमारे द्वारा कुछ शान्त किया जाना कठिन है। इसलिए सकामी जीवोंको पूर्वापर विरोधबुद्धि हो अथवा परमार्थ-पूज्यभावना दूर हो जाये, ऐसा जो देखा था, वह वर्तमानमें न हो, विशेष उपयोग होनेके लिए यह सहज लिखा है। पूर्वापर इस बातका माहात्म्य समझमें आये और अन्य जीवोंका उपकार हो, वैसा विशेष ध्यान रखियेगा।

●

[४७०] ५५३ मुंबई, पौष सुदी १, शुक्र, १९५१

एक पत्र प्राप्त हुआ है। यहाँसे निकलनेमें लगभग एक महीना होगा, ऐसा लगता है। यहाँ-से निकलनेके बाद समागमसम्बन्धी विचार रहता है और श्री कठोरमें इस बातकी अनुकूलता आनेका अधिक संभव रहता है, क्योंकि उसमें विशेष प्रतिबन्ध होनेका कारण मालूम नहीं होता।

प्रायः श्री अम्बालाल उस समय कठोर आ सकें, इसके लिए उन्हें सूचित करूँगा।

हमारे आनेके बारेमें अभी किसीको कुछ बतानेका कारण नहीं है, तथा हमारे लिए कोई दूसरी विशेष व्यवस्था करनेका भी कारण नहीं है। सायण स्टेशनपर उतर कर कठोर आया जाता है, और वह लंबा रास्ता नहीं हैं, जिससे वाहन इत्यादिकी हमें कुछ जरूरत नहीं है। और कदाचित् वाहनका अथवा कुछ कारण होगा तो श्री अंबालाल उसकी व्यवस्था कर सकेंगे।

कठोरमें भी वहाँके श्रावकों इत्यादिको हमारे आनेके बारेमें कहनेका कारण नहीं है; तथा ठहरनेके स्थानकी कुछ व्यवस्था करनेके लिए उन्हें सूचित करनेका कारण नहीं है। इसके लिए जो सहजमें उस प्रसंगमें हो जायेगा उससे हमें बाधा नहीं होगी। श्री अंबालालके सिवाय कदाचित् दूसरे कोई मुमुक्षु श्री अंबालालके साथ आयेंगे, परन्तु उनके आनेका भी कठोर या सूरत या सायण-में पता न चले, यह हमें ठीक लगता है, क्योंकि इस कारण कदाचित् हमें भी प्रतिबंध हो जाये।

हमारी यहाँ स्थिरता है, तब तक हो सके तो पत्र, प्रश्न आदि लिखियेगा। साधु श्री देव-करणजीको आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो।

जिस प्रकारसे असंगतासे आत्मभाव सिद्ध हो उस प्रकारसे प्रवृति करना यही जिनकी आज्ञा है। इस उपाधिरूप व्यापारादि प्रसंगसे निवृत होनेका वारंवार विचार रहा करता है, तथापि उसका अपरिपक्व काल जानकर उदयवश व्यवहार करना पडता है। परन्तु उपर्युक्त जिनकी आज्ञाका प्रायः विस्मरण नहीं होता। और आपको भी अभी तो उसी भावनाके विचारनेको कहते हैं।

आ० स्व० प्रणाम

●

५५४ मुंबई, पौष सुदी १०, १९५१

श्री अंजारग्राममें स्थित परम स्नेही श्री सोभागके प्रति,

श्री मोहमयी भूमिसे····आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य प्राप्त हो। विशेष आपका पत्र मिला है। चत्रभुजके प्रसंगमें लिखते हुए आपने ऐसा लिखा है कि 'काल जायेगा और कहनी रहेगी', यह आपको लिखना योग्य न था। जो कुछ शक्य है उसे करनेमें मेरी विषमता नहीं है, परन्तु वह परमार्थसे अविरोधी हो तो हो सकता है, नहीं तो हो सकना बहुत कठिन पड़ता है, अथवा नहीं हो सकता, जिससे 'काल जायगा और कहनी रहेगी', ऐसा यह चत्रभुजसंबंधी प्रसंग नहीं है, परन्तु वैसा प्रसंग हो तो भी बाह्य कारणपर जानेकी अपेक्षा अन्तर्धर्मपर प्रथम जाना यह श्रेयरूप है, इसका विसर्जन होने देना योग्य नहीं है।

रेवाशंकरभाईके आनेसे लग्नप्रसंगमें जैसे आपके और उनके ध्यानमें आये वैसे करनेमें आपत्ति नहीं है। परन्तु इतना ध्यान रखनेका है कि बाह्य आडंबर जैसा कुछ चाहना ही नहीं कि जिससे शुद्ध व्यवहार कि परमार्थको बाधा हो। रेवाशंकरभाईको यह सूचना देते हैं, और आपको भी यह सूचना देते हैं। इस प्रसंगके लिए नहीं परन्तु सर्व प्रसंगमें यह बात ध्यानमें रखने योग्य है। द्रव्यव्ययके लिए नहीं, परन्तु परमार्थके लिए।

हमारा कल्पित माहात्म्य कहीं भी देखा जाये ऐसा करना, कराना कि अनुमोदन करना हमें अत्यन्त अप्रिय है। बाकी ऐसा भी है कि परमार्थकी रक्षा करके किसी जीवको संतोष दिया जाये तो वैसा करनेमें हमारी इच्छा है। यही विनती।

प्रणाम

●

[४७१] ५५५ मुंबई, पौष सुदी १०, रवि, १९५१

प्रत्यक्ष कारागृह होनेपर भी उसका त्याग करना जीव न चाहे, अथवा अत्यागरूप शिथिलताका त्याग न कर सके, अथवा त्यागवुद्धि होनेपर भी त्याग करते करते कालव्यय किया जाये, इन सब विचारोंको जीव किस तरह दूर करे? अल्पकालमें वैसे किस तरह हो? इस विषयमें उस पत्रमें लिखनेका हो तो लिखियेगा। यही विनती।

●

५५६ मुंबई, पौष वदी २, रवि, १९५१

परम पुरुषको नमस्कार

श्री मोरबीस्थित परम स्नेही श्री सोभागभाई,

कल एक पत्र प्राप्त हुआ था, तथा एक पत्र आज प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मरससंबंधी नडियादवासीके विषयमें लिखी हुई बात जानी है; तथा समकितकी सुगमता शास्त्रमें अत्यंत कही है, वह वैसी ही होनी चाहिए, इस संबंधमें जो लिखा उसे पढ़ा है। तथा त्याग अवसर है, ऐसा लिखा उसे भी पढ़ा है। प्रायः माघ सुदी दूजके बाद समागम होगा, और तब उसके लिए जो कुछ पूछने योग्य हो वह पूछियेगा।

अभी जो महान् पुरुषके मार्गके विषयमें आपके एक पत्रमें लिखा गया है, उसे पढ़कर बहुत संतोष होता है।

आ० स्व० प्रणाम

●

[४७३-२] ५५७ मुंबई, पौष वदी ९, शनि, १९५१

वेदांत जगतको मिथ्या कहता है, इसमें असत्य क्या है ?

●

[४७३- १] ५५८ मुंबई, पौष वदी १०, रवि, १९५१

विषम संसारबंधनका छेदनकर जो चल निकले,
उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम।

माघ सुदी एकम दूजको शायद निकला जाये तो भी रास्तेमें तीन दिन लग सकते हैं, परंतु माघ सुदी दूजको निकलना संभव नहीं है। सुदी पंचमीको निकलना संभव है। बीचमें तीन दिन होंगे, वह विवशतासे रुकनेका कारण है। प्रायः सुदी पंचमीको निवृत्त होकर सुदी अष्टमीको ववाणिया पहुँचा जा सके ऐसा है; इसलिए बाह्य कारण देखते हुए लीमडी आना संभव नहीं है; तो भी कदाचित् लौटते हुए एक दिनका अवकाश मिल सकता है। परंतु आंतर कारण भिन्न होनेसे वैसा करनेका अभी किसी प्रकारसे चित्तमें नहीं आता है। वढवाण स्टेशनपर केशवलालकी या आपकी मुझे मिलनेकी इच्छा हो तो उसे रोकते हुए मन असंतोषको प्राप्त होता है, तो भी अभी रोकनेका मेरा चित्त रहता है; क्योंकि चित्तकी व्यवस्था यथायोग्य नहीं होनेसे उदय प्रारब्धके बिना दूसरे सब प्रकारोंमें असंगता रखना योग्य लगता है; वह यहाँ तक कि जिनकी पहचानका प्रसंग है वे भी अभी भूल जायें तो अच्छा, क्योंकि संगसे उपाधि निष्कारण बढ़ती रहती है, और वैसी उपाधि सहन करने योग्य जैसा अभी मेरा चित्त नहीं है। निरुपायताके सिवाय कुछ भी व्यवहार करनेका चित्त अभी मालूम नहीं होता; और जो व्यापार-व्यवहारकी निरुपायता है, उससे भी निवृत्त होनेकी चिंता रहा करती है। तथा चित्तमें दूसरेको बोध देने योग्य जितनी योग्यता अभी मुझे नहीं लगती है; क्योंकि जब तक सर्व प्रकारके विषम स्थानकोंमें समवृत्ति न हो तब तक यथार्थ आत्मज्ञान कहा नहीं जाता, और जब तक वैसा हो तब तक तो निज अभ्यासकी रक्षा करना योग्य है, और अभी उस प्रकारकी मेरी स्थिति होनेसे मैं ऐसे बरतता हूँ, वह क्षमायोग्य है, क्योंकि मेरे चित्तमें अन्य कोई हेतु नहीं है।

लौटते वक्त श्री वढवाणमें समागम करनेका मुझसे हो सकेगा तो पहिलेसे आपको लिखूँगा, परंतु मेरे समागममें आपका आना होनेसे मेरा वढवाण आना हुआ था, ऐसा उस प्रसंगके कारण दूसरोंके जाननेमें आये तो वह मुझे योग्य नहीं लगता, तथा आपने व्यावहारिक कारणसे समागम

किया है ऐसा कहना अयथार्थ है, जिससे यदि समागम होनेका मुझसे लिखा जाये तो जैसे बात अप्रसिद्ध रहे वैसे कीजियेगा, ऐसी विनती है।

तीनोंके पत्र अलग लिख सकनेकी अशक्तिके कारण एक पत्र लिखा है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

●

[८७४-९] ५५९ मुंबई, पौष वदी ३०, शनि, १९५१

श्री वीरमगामस्थित शुभेच्छासंपन्न भाई सुखलाल छगनलालके प्रति,

समागममें आपकी इच्छा है और तदनुसार करनेमें सामान्यत: बाधा नहीं है, तथापि चित्तके कारण अभी अधिक समागममें आनेका ध्यान नहीं होता। यहाँसे माघ सुदी १५ को निवृत्त होना संभव मालूम होता है, तथापि उस समय रुकने जितना अवकाश नहीं है, और उपर्युक्त मुख्य कारण है उसका, तो भी यदि कोई बाधा जैसी नहीं होगी तो स्टेशनपर मिलनेके लिए आगेसे आपको लिखूँगा। मेरे आनेकी खबर विशेष किसीको अभी नहीं दीजियेगा, क्योंकि अधिक समागममें आनेकी उदासीनता रहती है।

आत्मस्वरूपसे प्रणाम

●

[४७४] ५६० मुंबई, पौष, १९५१

ॐ

यदि ज्ञानीपुरुषके दृढ़ाश्रयसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षपद सुलभ है, तो फिर क्षण क्षणमें आत्मोपयोगको स्थिर करना योग्य है, ऐसा जो कठिन मार्ग है वह ज्ञानीपुरुषके दृढ़ आश्रयसे प्राप्त होना क्यों सुलभ न हो? क्योंकि उस उपयोगकी एकाग्रताके विना तो मोक्षपदकी उत्पत्ति है नहीं। ज्ञानीपुरुषके वचनका दृढ़ आश्रय जिसे हो जाये उसे सर्व साधन सुलभ हो जायें, ऐसा अखंड निश्चय सत्पुरुषोंने किया है। तो फिर हम कहते हैं कि इन वृत्तियोंका जय करना योग्य है, उन वृत्तियोंका जय क्यों न हो सके? इतना सत्य है कि इस दुषमकालमें सत्संगकी समीपता कि दृढ़ आश्रय विशेष चाहिए और असत्संगसे अत्यंत निवृत्ति चाहिए, तो भी मुमुक्षुके लिए तो यही योग्य है कि कठिनसे कठिन आत्मसाधनकी ही प्रथम इच्छा करे कि जिससे सर्व साधन अल्पकालमें फलीभूत हो जायें।

श्री तीर्थंकरने तो यहाँ तक कहा है कि जिस ज्ञानीपुरुषकी दशा संसारपरिक्षीण हुई है उस ज्ञानीपुरुषको परंपरा कर्मबंध संभवित नहीं है, तो भी पुरुषार्थको मुख्य रखना चाहिए कि जो दूसरे जीवके लिए भी आत्मसाधन-परिणामका हेतु हो।

'समयसार'मेंसे जो काव्य लिखा है, उस तथा दूसरे सिद्धांतोंके लिए समागममें समाधान करना सुगम होगा।

ज्ञानीपुरुषको आत्मप्रतिबंधरूपसे संसारसेवा न हो परंतु प्रारब्धप्रतिबंधरूपसे हो ऐसा होने पर भी उससे निवृत्तिरूप परिणामको प्राप्त करे, ऐसी ज्ञानीकी रीति होती है; जिस रीतिका आश्रय करते हुए आज तीन वर्षोंसे विशेषत: वैसा किया है और उसमें अवश्य आत्मदशाको भुलाने जैसा संभव रहे, वैसे उदयको भी भरसक समपरिणामसे सहन किया है। यदि उस सहन करनेके कालमें

सर्वसंगनिवृत्ति किसी तरह हो तो अच्छा, ऐसा सूझता रहा है; तो भी सर्वसंगनिवृत्तिसे जो दशा रहनी चाहिए वह दशा उदयमें रहे तो अल्पकालमें विशेष कर्मकी निवृत्ति हो जाये, ऐसा समझकर यथा-शक्य उस प्रकारसे किया है। परंतु अब मनमें यों रहा करता है कि इस प्रसंगसे अर्थात् सकल गृहवाससे दूर न हुआ जा सके तो भी व्यापारादि प्रसंगसे निवृत्त, दूर हुआ जाये तो अच्छा। क्योंकि आत्मभावसे परिणाम प्राप्त करनेमें जो दशा ज्ञानीकी चाहिए वह दशा इस व्यापार-व्यवहारसे मुमुक्षुजीवको दिखायी नहीं देती। इस प्रकार जो लिखा है उस विषयमें अब कभी कभी विशेष विचारका उदय होता है। उसका जो परिणाम आये सो ठीक। यह प्रसंग लिखा है, उसे अभी लोगोंमें प्रगट होने देना योग्य नहीं है। माघ सुदी दूजको उस तरफ आनेकी संभावना रहती है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

●

[४७५] ५६१ मुंबई, माघ सुदी २, रवि, १९५१

श्री भावनगरस्थित शुभेच्छासंपन्न भाई कुंवरजी आणंदजीके प्रति।

चित्तमें कुछ भी विचारवृत्ति परिणत हुई है, यह जानकर हृदयमें आनंद हुआ है।

असार और क्लेशरूप आरंभ-परिग्रहके कार्यमें रहते हुए यदि यह जीव कुछ भी निर्भय कि अजागृत रहे तो बहुत वर्षोंका उपासित वैराग्य भी निष्फल जाये ऐसी दशा हो जाती है, ऐसे निश्चयको नित्य प्रति यादकर निरुपाय प्रसंगमें कांपते हुए चित्तसे विवशतासे प्रवृत्ति करना योग्य है, इस बातका, मुमुक्षुजीवसे कार्य-कार्यमें, क्षण-क्षणमें और प्रसंग-प्रसंगमें ध्यान रखे बिना मुमुक्षुता रहनी दुष्कर है; और ऐसी दशाका वेदन किये बिना मुमुक्षुता भी संभव नहीं है। मेरे चित्तमें आजकल यह मुख्य विचार रहता है। यही विनती।

रायचंदके प्रणाम

●

[४७६] ५६२ मुंबई, माघ सुदी ३, सोम, १९५१

जिस प्रारब्धको भोगे बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अंत तक आत्मार्थका त्याग करना न चाहे, इतनी भिन्नता ज्ञानीमें होती है, ऐसा जो महापुरुषोंने कहा है वह सत्य है।

●

[४७८] ५६३ मुंबई, माघ सुदी ८, रवि, १९५१

पत्र प्राप्त हुआ है। विस्तारसे पत्र लिखना शक्य नहीं है, जिसके लिए चित्तमें कुछ खेद होता है, तथापि प्रारब्धोदय समझकर समता रखता हूँ।

आपने पत्रमें जो कुछ लिखा है, उस पर बारंबार विचार करनेसे, जागृति रखनेसे, जिनमें पंचविषयादिके अशुचिस्वरूपका वर्णन किया हो ऐसे शास्त्रों तथा सत्पुरुषोंके चरित्रोंका विचार करनेसे और कार्य कार्यमें ध्यान रखकर प्रवृत्ति करनेसे जो कोई उदासभावना होनी योग्य है वह होगी।

रायचंदके प्रणाम

●

५६४ मुंबई, माघ सुदी ८, रवि, १९५१

यहाँ इस बार तीन वर्षोंसे अधिक प्रवृत्तिके उदयको भोगा है। और वहाँ आनेके बाद भी थोड़े दिन कुछ प्रवृत्तिका संबंध रहे, इससे अब उपरामता प्राप्त हो तो अच्छा, ऐसा चित्तमें रहता है। दूसरी उपरामता अभी होना कठिन है, कम संभव है। परंतु आपका तथा श्री डुंगर इत्यादिका समागम हो तो अच्छा, ऐसा चित्तमें रहता है। इसलिए आप श्री डुंगरको सूचित कीजियेगा और वे ववाणिया आ सकें ऐसा कीजियेगा।

किसी भी प्रकारसे ववाणिया आनेमें उन्हें कल्पना करना योग्य नहीं है। अवश्य आ सकें ऐसा कीजियेगा।

रायचंदके प्रणाम

●

[४७९] ५६५ मुंबई, फागुन सुदी १२, शुक्र, १९५१

जिस प्रकार बंधनसे छूटा जाये, उस प्रकार प्रवृत्ति करना, यह हितकारी कार्य है। बाह्य परिचयका विचार कर कर निवृत्त करना, यह छूटनेका एक प्रकार है। जीव इस बातका जितना विचार करेगा उतना ज्ञानीपुरुषके मार्गको समझनेका समय समीप आयेगा।

आ० स्व० प्रणाम

●

[४८०] ५६६ मुंबई, फागुन सुदी १३, १९५१

अशरण इस संसारमें निश्चित बुद्धिसे व्यवहार करना जिसे योग्य प्रतीत न हो और उस व्यवहारके संबंधको निवृत्त करते हुए तथा कम करते हुए विशेषकाल व्यतीत हो जाया करता हो, तो उस कामको अल्पकालमें करनेके लिए जीवको क्या करना योग्य है? समस्त संसार मृत्यु आदिके भयसे अशरण है, वह शरणका हेतु हो ऐसी कल्पना करना मृगतृष्णा जैसा है। विचार कर कर श्री तीर्थंकर जैसोंने भी उससे निवृत्त होना, छूटना यही उपाय खोजा है, उस संसारका मुख्य कारण रागबन्धन तथा द्वेषबन्धन सब ज्ञानियोंने स्वीकार किया है। उसकी आकुलतासे जीवको निजविचार करनेका अवकाश प्राप्त नहीं होता, अथवा हो तो ऐसे योगसे उस बन्धनके कारणसे आत्मवीर्य प्रवृत्ति नहीं कर सकता, और यह सब प्रमादका हेतु हैं, और वैसे प्रमादसे लेशमात्र समय काल भी निर्भय कि अजागृत रहना, यह इस जीवकी अतिशय निर्बलता है, अविवेकता है, भ्रांति है, और उसे दूर करनेमें अत्यन्त कठिन मोह है।

समस्त संसार दो प्रवाहोंसे बह रहा है, रागसे और द्वेषसे। रागसे विरक्त हुए बिना द्वेषसे छूटा न जाये, और जो रागसे विरक्त हो उसे सर्वसंगसे विरक्त हुए बिना व्यवहारमें रहकर विराग (उदास) दशा रखनी एक भयंकर व्रत है। यदि केवल रागका त्याग करके व्यवहारमें प्रवृत्ति की जाये तो कितने ही जीवोंकी दयाका, उपकारका और स्वार्थका भंग करने जैसा होता है, और वैसा विचार कर यदि दया उपकारादिके कारण कुछ रागदशा रखते हुए चित्तमें विवेकीको क्लेश भी हुये बिना रहना नहीं चाहिए, तब उसका विशेष विचार किस प्रकारसे करना?

●

[४८१] ५६७ मुंबई, फागुन सुदी १५, १९५१

श्री वीतरागको परम भक्तिसे नमस्कार

दो तार, दो पत्र तथा दो चिट्ठियाँ मिले हैं। श्री जिन जैसे पुरुषने जो गृहवासमें प्रतिबंध नहीं किया है, वह प्रतिबंध न होनेके लिए, आना कि पत्र लिखना नहीं हुआ, उसके लिए अत्यंत दीनतासे क्षमा चाहता हूँ। संपूर्ण वितरागता न होनेसे इस प्रकार बरताव करते हुए अंतरमें विक्षेप हुआ है, जिस विक्षेपको भी शान्त करना योग्य है, इस प्रकार ज्ञानीने मार्ग देखा है।

आत्माका जो अंतर्व्यापार (अंतरपरिणामकी धारा) है वह, बंध तथा मोक्षकी (कर्मसे आत्माका बंधना और उससे आत्माका छूटना) व्यवस्थाका हेतु है, मात्र शरीरचेष्टा बंध-मोक्षकी व्यवस्थाका हेतु नहीं है। विशेष रोगादिके योगसे ज्ञानीपुरुषकी देहमें भी निर्बलता, मंदता, म्लानता, कंप, स्वेद, मूर्च्छा बाह्य विभ्रमादि दिखायी देते हैं; तथापि जितनी ज्ञान द्वारा, बोध द्वारा, वैराग्य द्वारा आत्माकी निर्मलता हुई है, उतनी निर्मलता द्वारा ज्ञानी उस रोगका अंतरपरिणामसे वेदन करता है और वेदन करता है और वेदन करते हुए कदाचित् बाह्य स्थिति उन्मत्त देखनेमें आये तो भी अंतरपरिणामके अनुसार कर्मबंध अथवा निवृत्ति होती है। आत्मा जहाँ अत्यंत शुद्ध निजपर्यायका सहज स्वभावसे सेवन करे वहाँ--

(अपूर्ण)

●

[७५०-२] ५६८ मुंबई, फागुन, १९५१

आत्मस्वरूपका निर्णय होनेमें अनादिसे जीवकी भूल होती आ रही है, जिससे अब हो, इसमें आश्चर्य नहीं लगता।

सर्व क्लेशसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका, आत्मज्ञानके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। सद्विचारके बिना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्संग-प्रसंगसे जीवका विचारबल प्रवृत्ति नहीं करता, इसमें किंचित्मात्र संशय नहीं है।

आत्मपरिणामकी स्वस्थताको श्री तीर्थंकर 'समाधि' कहते हैं।

आत्मपरिणामकी अस्वस्थताको श्री तीर्थंकर 'असमाधि' कहते हैं।

आत्मपरिणामकी सहज स्वरूपसे परिणति होनेको श्री तीर्थंकर 'धर्म' कहते हैं।

आत्मपरिणामकी कुछ भी चपल परिणति होनेको श्री तीर्थंकर 'कर्म' कहते हैं।

श्री जिन तीर्थंकरने जैसा बंध एवं मोक्षका निर्णय कहा है, वैसा निर्णय वेदांतादि दर्शनमें दृष्टिगोचर नहीं होता, और श्री जिनमें जैसा यथार्थवक्तृत्व देखनेमें आता है वैसा यथार्थवक्तृत्व दूसरेमें देखनेमें नहीं आता।

आत्माके अंतर्व्यापार (शुभाशुभ परिणामधारा) के अनुसार बंध-मोक्षकी व्यवस्था है, वह शारीरिकचेष्टाके अनुसार नहीं है। पूर्वकालमें उत्पन्न किये हुए वेदनीय कर्मके उदयके अनुसार रोगादि उत्पन्न होते हैं, और तदनुसार निर्बल, मंद, म्लान, उष्ण, शीत आदि शरीरचेष्टा होती है।

विशेष रोगके उदयसे अथवा शारीरिक मंद बलसे ज्ञानीका शरीर कंपित हो, निर्बल हो, म्लान हो, मंद हो, रौद्र लगे, उसे भ्रमादिका उदय भी रहे; तथापि जिस प्रकारसे जीवमें बोध एवं

वैराग्यकी वासना हुई होती है उस प्रकारसे उस रोगका; जीव उस उस प्रसंगमें प्रायः वेदन करता है।

किसी भी जीवको अविनाशी देहकी प्राप्ति हुई हो, यह देखा नहीं, जाना नहीं तथा संभव नहीं; और मृत्युका आना आवश्यक है, ऐसा प्रत्यक्ष निःसंशय अनुभव है। ऐसा होनेपर भी यह जीव उस बातको वारंवार भूल जाता है, यह बड़ा आश्चर्य है।

जिस सर्वज्ञ वीतरागमें अनंत सिद्धियाँ प्रगट हुई थीं उस वीतरागने भी इस देहको अनित्य भावी देखा है, तो फिर दूसरे जीव किस प्रयोगसे देहको नित्य बना सकेंगे?

श्री जिनका ऐसा अभिप्राय है कि प्रत्येक द्रव्य अनंत पर्यायवाला है। जीवके अनंत पर्याय हैं और परमाणुके भी अनंत पर्याय हैं। जीव चेतन होनेसे उसके पर्याय भी चेतन हैं, और परमाणु अचेतन होनेसे उसके पर्याय भी अचेतन हैं। जीवके पर्याय अचेतन नहीं और परमाणुके पर्याय सचेतन नहीं, ऐसा श्री जिनने निश्चय किया है तथा वैसा ही योग्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थके स्वरूपका भी विचार करते हुए वैसा प्रतीत होता है।

जीवके विषयमें, प्रदेशके विषयमें, पर्यायके विषयमें; तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदिके विषयमें यथाशक्ति विचार करना। जो कुछ अन्य पदार्थका विचार करना है वह जीवके मोक्षके लिए करना है, अन्य पदार्थके ज्ञानके लिए नहीं करना है।

◎

[५०३] ५६९ मुंबई, फागुन वदी ३, १९५१

श्री सत्पुरुषोंको नमस्कार

सर्व क्लेशसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान है। विचारके विना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्संग तथा असत्प्रसंगसे जीवका विचारबल प्रवृत्त नहीं होता, इसमें किंचित् मात्र संशय नहीं है।

आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसंगका बल घटता है, सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है। असत्संगका बल घटनेसे आत्मविचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है। आत्म-विचार होनेसे आत्मज्ञान होता है, और आत्मज्ञानसे निजस्वभावस्वरूप, सर्व क्लेश एवं सर्व दुःखसे रहित मोक्ष प्राप्त होता है, यह बात सर्वथा सत्य है।

जो जीव मोहनिद्रामें सोते हैं वे अमुनि हैं, निरंतर आत्मविचारपूर्वक मुनि तो जाग्रत रहते हैं। प्रमादीको सर्वथा भय है, अप्रमादीको किसी तरह भय नहीं है, ऐसा श्री जिनने कहा है।

सर्व पदार्थके स्वरूपको जाननेका हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना ही है। यदि आत्मज्ञान न हो तो सर्व पदार्थोंके ज्ञानकी निष्फलता है।

जितना आत्मज्ञान हो उतनी आत्मसमाधि प्रगट हो।

किसी भी तथारूप योगको पाकर जीवको एक क्षण भी अंतर्भेद जागृति हो जाये तो उससे मोक्ष विशेष दूर नहीं है।

अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना जीवसे मोक्ष दूर है।

यदि कोई आत्मयोग हो जाये तो इस मनुष्यताका मूल्य किसी तरह नहीं हो सकता। प्रायः

मनुष्यदेहके विना आत्मयोग नहीं होता, ऐसा जानकर अत्यंत निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है।

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्यपरिचयसे पीछे हटे तो सहजमें अभी उसे आत्म-योग प्रगट हो। असत्संग-प्रसंगका घिराव विशेष है, और यह जीव उससे अनादिकालका हीनसत्त्व हो जानेसे अवकाश प्राप्त करनेके लिए अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिए यथासंभव सत्संगका आश्रय करे तो किसी तरह पुरुषार्थ योग्य होकर विचार दशाको प्राप्त करे।

जिस प्रकारसे इस संसारकी अनित्यता, असारता अत्यंतरूपसे भासित हो उस प्रकारसे आत्मविचार उत्पन्न हो।

अव इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्त्ति हुआ करती है, और छूटे विना जो कुछ भी काल बीतता है, वह इस जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है।

जनकादि उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावमें रहते थे, ऐसे आलंबनके प्रति कभी भी वुद्धि नहीं होती। श्री जिन जैसे जन्मत्यागी भी छोड़कर चल निकले, ऐसे भयके हेतुरूप उपाधि-योगकी निवृत्ति यह पामर जीव करते-करते हुए काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा, ऐसा भय जीवके उपयोगमें रहता है, क्योंकि ऐसा ही कर्तव्य है।

जो रागद्वेषादि परिणाम अज्ञानके विना संभवित नहीं होते, वे रागद्वेषादि परिणाम होनेपर भी, जीवन्मुक्तताको सर्वथा मानकर जीव जीवन्मुक्तदशाकी आसातना करता है, ऐसे प्रवृत्ति करता है। रागद्वेषपरिणामकी सर्वथा क्षीणता ही कर्तव्य है।

जहाँ अत्यंत ज्ञान हो वहाँ अत्यंत त्याग संभव है। अत्यंत त्याग प्रगट हुए विना अत्यंत ज्ञान न हो, ऐसा श्री तीर्थंकरने स्वीकार किया है।

आत्मपरिणामसे जितना अन्य पदार्थके तादात्म्य-अध्यासको जो निवृत्त करना, उसे श्री जिन त्याग कहते हैं।

उस तादात्म्य-अध्यास निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिए इस वाह्य प्रसंगका त्याग भी उपकारी है, कार्यकारी है। बाह्य प्रसंगके त्यागके लिए अंतरत्याग नहीं कहा है, ऐसा है; तो भी इस जीवको अंतरत्यागके लिए बाह्य प्रसंगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारी मानना योग्य है।

नित्य छूटनेका विचार करते हैं और जैसे वह कार्य तुरत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार एवं जाप अभी तथारूप नहीं है, शिथिल है; इसलिए अत्यंत विचार और उस जापका उग्रतासे आराधन करनेका अल्पकालमें योग करना योग्य है, ऐसा रहा करता है।

प्रसंगसे कुछ परस्परके संवंध जैसे वचन इस पत्रमें लिखे हैं, उनके विचारमें स्फुरित हो आनेसे स्वविचार वल वढ़नेके लिए और आपके पढ़ने-विचारनेके लिए लिखे हैं।

जीव, प्रदेश, पर्याय तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदिके विषयमें तथा रसकी व्यापकता-के विषयमें क्रमपूर्वक समझना योग्य होगा।

आपका यहाँ आनेका विचार है, तथा श्री डुंगरका आना संभव है, यह लिखा उसे जाना है। सत्संगयोगकी इच्छा रहा करती है।

●

[४८२] ५७० मुंबई, फागुन वदी ५, शनि, १९५१

श्री डरबनस्थित सुज्ञ भाई श्री मोहनलालके प्रति,

पत्र एक मिला है। ज्यों ज्यों उपाधिका त्याग होता है, त्यों त्यों समाधिसुख प्रगट होता है। ज्यों ज्यों उपाधिका ग्रहण होता है त्यों त्यों समाधिसुखकी हानि होती है। विचार करें तो यह बात प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है। यदि इस संसारके पदार्थोंका कुछ भी विचार किया जाये, तो उसके प्रति वैराग्य आये विना न रहे, क्योंकि मात्र अविचारके कारण उसमें मोहबुद्धि रहती है।

'आत्मा है', 'आत्मा नित्य है', आत्मा कर्मका कर्त्ता है', 'आत्मा कर्मका भोक्ता है', 'उससे वह निवृत्त हो सकती है', और 'निवृत्त हो सकनेके साधन हैं', ये छः कारण जिसे विचारपूर्वक सिद्ध हो जाये, उसे विवेकज्ञान अथवा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति मानना, ऐसा श्री जिनने निरूपण किया है, मुमुक्षुजीवको उस निरूपणका विशेषरूपसे अभ्यास करना योग्य है।

पूर्वकालके किसी विशेष अभ्यास बलसे इन छः कारणोंका विचार उत्पन्न होता है, अथवा सत्संगके आश्रयसे उस विचारके उत्पन्न होनेका योग होता है।

अनित्य पदार्थके प्रति मोहबुद्धि होनेके कारण आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, अव्याबाध समाधिसुख भानमें नहीं आता है। उसकी मोहबुद्धिमें जीवको अनादिसे ऐसी एकाग्रता चली आती है कि उसका विवेक करते करते जीवको अकुलाकर पीछे लौटना पड़ता है, और उस मोहग्रंथिका छेदन करनेका समय आनेसे पहले उस विवेकको छोड़ देनेका योग पूर्व कालमें बहुत बार हुआ है; क्योंकि जिसका अनादिकालसे अभ्यास है वह, अत्यंत पुरुषार्थके विना, अल्पकालमें छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए पुनः पुनः सत्संग, सत्शास्त्र और अपनेमें सरल विचारदशा करके उस विषयमें विशेष श्रम करना योग्य है कि जिसके परिणाममें नित्य शाश्वत सुखस्वरूप आत्मज्ञान हो कर स्वरूपका आविर्भाव होता है। इसमें प्रथमसे उत्पन्न होनेवाला संशय, धैर्य और विचारसे शांत होता है। अधीरतासे अथवा टेढ़ी कल्पना करनेसे मात्र जीवको अपने हितका त्याग करनेका वक्त आता है, और अनित्य पदार्थका राग बना रहनेके कारण पुनः पुनः संसारपरिभ्रमणका योग रहा करता है।

कुछ भी आत्मविचार करनेकी इच्छा आपको रहा करती है, ऐसा जानकर बहुत संतोष हुआ है। उस संतोषमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है। मात्र आप समाधिके मार्गपर चढ़ना चाहते हैं, इसलिए संसारक्लेशसे निवृत्त होनेका आपको प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकारका संभव देखकर स्वाभावतः संतोष होता है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

●

[४८३] ५७१ मुंबई, फागुन वदी ५, शनि, १९५१

अधिकसे अधिक एक समयमें १०८ जीव मुक्त हो, इससे विशेष न हो; ऐसी लोकस्थिति जिनागममें स्वीकृत है, और प्रत्येक समयमें एक सौ आठ एक सौ आठ जीव मुक्त होते रहते हैं, ऐसा मानें तो इस परिमाणसे तीनों कालमें जितने जीव मोक्ष प्राप्त करें, उतने जीवोंकी जो अनंत संख्या हो, उसकी अपेक्षा संसारनिवासी जीवोंकी संख्या जिनागममें अनंत गुनी निरूपित की है। अर्थात् तीनों कालमें मुक्तजीव जितने हों उनकी अपेक्षा संसारमें अनंत गुने जीव रहें, क्योंकि उनका परिमाण इतना अधिक है, और इसलिए मोक्षमार्गका प्रवाह बहते रहते हुए भी `संसारमार्गका

उच्छेद हो जाना संभव नहीं है, और इससे बंध-मोक्षकी व्यवस्थामें विपर्यय नहीं होता। इस विषयमें अधिक चर्चा समागममें करेंगे तो बाधा नहीं है।

जीवकी बंध-मोक्षकी व्यवस्थाके विषयमें संक्षेपमें पत्र लिखा है। इस प्रकारके जो जो प्रश्न हों वे वे समाधान हो सकने जैसे हैं, कोई फिर अल्पकालमें और कोई फिर विशेष कालमें समझे अथवा समझमें आये, परन्तु इन सबकी व्यवस्थाका समाधान हो सकने जैसा है।

सबकी अपेक्षा अभी विचार करने योग्य बात तो यह है कि उपाधि तो की जाये और सर्वथा असंगदशा रहे, ऐसा होना अत्यंत कठिन है; और उपाधि करते हुए आत्मपरिणाम चंचल न हो, ऐसा होना असंभवित जैसा है। उत्कृष्ट ज्ञानीको छोड़कर हम सबको तो यह बात अधिक ध्यानमें रखने योग्य है कि आत्मामें जितनी असंपूर्ण असमाधि रहती है अथवा रह सकने जैसी हो, उसका उच्छेद करना।

●

[४८४] ५७२ मुंबई, फागुन वदी ७, रवि, १९५१

सर्व विभावसे उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्यायका सहजरूपसे आत्मा सेवन करे, उसे श्री जिनने तीव्रज्ञानदशा कही है। जिस दशाके आये विना कोई भी जीव बंधनमुक्त नहीं होता, ऐसा सिद्धांत श्री जिनने प्रतिपादित किया है, जो अखंड सत्य है।

किसी ही जीवसे इस गहन दशाका विचार हो सकना योग्य है, क्योंकि अनादिसे अत्यंत अज्ञान दशासे इस जीवने जो प्रवृत्ति की है, उस प्रवृत्तिको एकदम असत्य, असार समझकर, उसकी निवृत्ति सूझे ऐसा होना बहुत कठिन है। इसलिए जिनने ज्ञानीपुरुषका आश्रय करनेरूप भक्ति मार्गका निरूपण किया है, कि जिस मार्गके आराधनसे सुलभतासे ज्ञानदशा उत्पन्न होती है।

ज्ञानीपुरुषके चरणमें मनको स्थापित किये विना यह भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता, जिससे जिनागममें पुनः पुनः ज्ञानीकी आज्ञाके आराधन करनेका स्थान स्थानपर कथन किया है। ज्ञानी-पुरुषके चरणमें मनका स्थापित होना पहिले तो कठिन पड़ता है, परन्तु वचनकी अपूर्वतासे, उस वचनका विचार करनेसे तथा ज्ञानीको अपूर्व दृष्टिसे देखनेसे मनका स्थापित होना सुलभ होता है।

ज्ञानीपुरुषके आश्रयमें विरोध करनेवाले पंच विषयादि दोष हैं। उन दोषोंके आनेके साधनों-से भरसक दूर रहना, और प्राप्तसाधनमें भी उदासीनता रखना, अथवा उन उन साधनोंमेंसे अहंबुद्धिको दूरकर, उन्हें रोगरूप समझकर प्रवृत्ति करना योग्य है। अनादि दोषका ऐसे प्रसंगमें विशेष उदय होता है। क्योंकि आत्मा उस दोषको नष्ट करनेके लिए अपने सन्मुख लाती है कि वह स्वरूपांतर करके उसे आकर्षित करता है, और जागृतिमें शिथिल करके अपनेमें एकाग्र बुद्धि करा देता है। वह एकाग्र बुद्धि इस प्रकारकी होती है कि, 'मुझे इस प्रवृत्तिसे वैसी विशेष बाधा नहीं होती, मैं अनुक्रमसे उसे छोड़ूँगा, और करते हुए जागृत रहूँगा,' इत्यादि भ्रांतदशाको वह दोष कर डालता है; जिससे जीव उस दोषका संबंध नहीं छोड़ता, अथवा वह दोष बढ़ता है, उसका ध्यान उसे नहीं आ सकता।

इस विरोधी साधनका दो प्रकारसे त्याग हो सकता है—एक, उस साधनके प्रसंगकी निवृत्ति, दूसरा, विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना।

विचारपूर्वक तुच्छता समझनेके लिए प्रथम उस पंचविषयादिके साधनकी निवृत्ति करना अधिक योग्य है, क्योंकि उससे विचारका अवकाश प्राप्त होता है।

उस पंचविषयादिके साधनकी सर्वथा निवृत्ति करनेके लिए जीवका बल न चलता हो, तब क्रम-क्रमसे, अंश-अंशसे उसका त्याग करना योग्य है; परिग्रह तथा भोगोपभोगके पदार्थोंका अल्प परिचय करना योग्य है। ऐसा करनेसे अनुक्रमसे वह दोष मंद पड़े और आश्रयभक्ति दृढ़ हो, तथा ज्ञानीके वचन आत्मामें परिणमित होकर, तीव्रज्ञानदशा प्रगट होकर जीवन्मुक्त हो जाये।

जीव कभी ऐसी बातका विचार करे, इससे अनादि अभ्यासका बल घटना कठिन हो, परंतु दिन-प्रतिदिन, प्रसंग-प्रसंगमें और प्रवृत्ति-प्रवृत्तिमें पुनः-पुनः विचार करे, तो अनादि अभ्यासका बल घटकर अपूर्व अभ्यासकी सिद्धि होकर सुलभ आश्रयभक्तिमार्ग सिद्ध हो। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

•

[४८५] ५७३ मुंबई, फागुन वदी ११, शुक्र, १९५१

जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंसे समस्त संसार अशरण है। जिसने सर्व प्रकारसे संसारकी आस्था छोड़ दी है, वही आत्मस्वभावको प्राप्त हुआ है, और निर्भय हुआ है। विचारके विना वह स्थिति जीवको प्राप्त नहीं हो सकती, और संगके मोहसे पराधीन इस जीवको विचार प्राप्त होना दुष्कर है।

आ० स्व० प्रणाम

•

[४८६] ५७४ मुंबई, फागुन, १९५१

यथासंभव तृष्णा कम करनी चाहिए। जन्म, जरा, मरण किसके है? कि जो तृष्णा रखता है, उसके जन्म, जरा, मरण हैं। इसलिए तृष्णाको भरसक कम करते जाना।

•

[४८७] ५७५ मुंबई, फागुन, १९५१

जब तक यथार्थ निज स्वरूप संपूर्ण प्रकाशित हो तब तक निज स्वरूपके निदिध्यासनमें स्थिर रहनेके लिए ज्ञानीपुरुषके वचन आधारभूत हैं, ऐसा परम पुरुष श्री तीर्थंकरने कहा है, वह सत्य है। बारहवें गुणस्थानमें रहनेवाली आत्माको निदिध्यासनरूप ध्यानमें श्रुतज्ञान अर्थात् ज्ञानीके मुख्य वचनोंका आशय वहाँ आधारभूत है, ऐसा प्रमाण जिनमार्गमें वारंवार कहा है। बोधबीजकी प्राप्ति होनेपर, निर्वाणमार्गकी यथार्थ प्रतीति होनेपर भी उस मार्गमें यथास्थित स्थिति होनेके लिए ज्ञानीपुरुषका आश्रय मुख्य साधन है; और वह ठेठ पूर्ण दशा होने तकका है; नहीं तो जीवको पतित होनेका भय है, ऐसा माना है। तो फिर अपने आप अनादिसे भ्रांत जीवको सद्गुरुके योगके विना निज स्वरूपका भान होना अशक्य है, इसमें संशय क्यों हो? जिसे निज स्वरूपका दृढ़ निश्चय रहता है, ऐसे पुरुषको प्रत्यक्ष जगतव्यवहार वारंवार चुका देनेवाले प्रसंग प्राप्त कराता है, तो फिर उससे न्यूनदशामें चुका जाये, इसमें आश्चर्य क्या है? अपने विचारके बलसे, सत्संग-सत्शास्त्रके आधारसे रहित प्रसंगमें यह जगतव्यवहार विशेष बल करता है, और तब वारंवार श्री सद्गुरुका माहात्म्य और आश्रयका स्वरूप तथा सार्थकता अत्यंत अपरोक्ष सत्य दिखायी देते हैं।

•

[४८८] ५७६ मुंबई, चैत्र सुदी ६, सोम, १९५१

आज एक पत्र आया है। यहाँ कुशलता है। पत्र लिखते लिखते अथवा कुछ कहते कहते वारंवार चित्तकी अप्रवृत्ति होती है, और कल्पितका इतना अधिक माहात्म्य क्या है? कहना क्या? जानना क्या? सुनना क्या? प्रवृत्ति क्या? इत्यादि विक्षेपसे चित्तकी उसमें अप्रवृत्ति होती है; और परमार्थसंबंधी कहते हुए, लिखते हुए उससे दूसरे प्रकारके विक्षेपकी उत्पत्ति होती है, जिस विक्षेपमें मुख्य इस तीव्र प्रवृत्तिके निरोधके विना उसमें, परमार्थकथनसे भी अप्रवृत्ति अभी श्रेयभूत लगती है। इस कारणके विषयमें पहिले एक सविस्तर पत्र लिखा है, इसलिए यहाँ विशेष स्फूर्ति होनेसे यहाँ लिखा है।

मोतीके व्यापार आदिकी प्रवृत्ति अधिक न करनेका हो सके तो ठीक है, ऐसा जो लिखा वह यथायोग्य है; और चित्तकी इच्छा नित्य ऐसी रहा करती है। लोभहेतुसे वह प्रवृत्ति होती है कि नहीं? ऐसा विचार करते हुए लोभका निदान प्रतीत नहीं होता। विषयादिकी इच्छासे प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता; तथापि प्रवृत्ति होती है, इसमें संदेह नहीं। जगत कुछ लेनेके लिए प्रवृत्ति करता है, यह प्रवृत्ति देनेके लिए होती होगी ऐसा लगता है। यहाँ जो यह लगता है वह यथार्थ होगा कि नहीं? उसके लिए विचारवान पुरुष जो कहे वह प्रमाण है, यही विनती।

रायचंदके प्रणाम

●

[४८९] ५७७ मुंबई, चैत्र सुदी १३, १९५१

अभी यदि किन्हीं वेदांतसंबंधी ग्रंथोंका अध्ययन तथा श्रवण करनेका रहता हो तो उस विचारका विशेष विचार होनेके लिए थोड़ा वक्त श्री 'आचारांग', 'सूयगडांग' तथा 'उत्तराध्ययन' को पढ़ने एवं विचार करनेका हो सके तो कीजियेगा।

वेदांतके सिद्धांतमें तथा जिनके आगमके सिद्धांतमें भिन्नता है, तो भी जिनके आगमको विशेष विचारका स्थान मानकर वेदांतका पृथक्करण होनेके लिए वे आगम पढने विचारने योग्य हैं। यही विनती।

●

[८७४–३] ५७८ मुंबई, चैत्र सुदी १४; शनि, १९५१

मुंबईमें आर्थिक तंगी विशेष है। सट्टेवालोंको बहुत नुकसान हुआ है। आप सबको सूचना है कि सट्टे जैसे रास्तेको न अपनाया जाये, इसका पूरा ध्यान रखियेगा। माताजी तथा पिताजीको पादप्रणाम

रायचंदके यथायोग्य।

●

५७९ मुंबई, चैत्र सुदी १५, १९५१

श्री सायलास्थित परम स्नेही श्री सोभागके प्रति;

मोरबीसे लिखा हुआ एक पत्र मिला है। यहाँसे रविवारको एक चिट्ठी मोरबी लिखी है। वह आपको सायलामें मिली होगी।

श्री डुंगरके साथ इस तरफ आनेका विचार रखा है। उस विचारके अनुसार आनेमें श्री डुंगरको भी कोई विक्षेप न करना योग्य है; क्योंकि यहाँ मुझे विशेष उपाधि अभी तुरत न रहे, ऐसा संभव है। दिन तथा रातका बहुतसा भाग निवृत्तिमें बिताना हो तो मुझसे अभी वैसा हो सकता है।

परम पुरुषकी आज्ञाके निर्वाहके लिए तथा बहुतसे जीवोंके हितके लिए आजीविकादि संबंधी आप कुछ लिखते हैं, अथवा पूछते हैं, उनमें मौन जैसा बरताव होता है, उस विषयमें दूसरा कोई हेतु नहीं है, जिससे मेरे वैसे मौनके लिए चित्तमें अविक्षेपता रखियेगा, और अत्यंत प्रयोजनके विना अथवा मेरी इच्छा जाने विना उस विषयमें मुझे लिखने या पूछनेका न हो तो अच्छा। क्योंकि आपको और मुझे ऐसी दशामें रहना विशेष आवश्यक है, और उस आजीविकादिके कारणसे आपको विशेष भयाकुल होना भी योग्य नहीं है। मुझपर कृपा करके इतनी बात तो चित्तमें दृढ़ की जा सकती है। बाकी किसी तरह कभी भी भेदभावकी बुद्धिसे मौन धारण करना मुझे सूझे, ऐसा संभवित नहीं है, ऐसा निश्चय रखिये। इतनी सूचना देनी भी योग्य नहीं है, तथापि स्मृतिमें विशेषता आनेके लिए लिखा है।

आनेका विचार करके तिथि लिखियेगा। जो कुछ पूछना-करना हो वह समागममें पूछा जाये तो बहुतसे उत्तर दिये जा सकें। अभी पत्र द्वारा अधिक लिखना नहीं हो सकता।

डाकका समय हो जानेसे यह पत्र पूरा करता हूँ। श्री डुंगरको प्रणाम कहियेगा। और हमारे प्रति लौकिक दृष्टि रखकर, आनेके विचारमें कुछ शिथिलता न करें, इतनी विनती करें।

आत्मा सबसे अत्यंत प्रत्यक्ष है, ऐसा परम पुरुष द्वारा किया हुआ निश्चय भी अत्यन्त प्रत्यक्ष है। यही विनती।

आज्ञाकारी रायचंदके प्रणाम

५८० मुंबई, चैत्र वदी ५, रवि, १९५१

कितने ही विचार बतानेकी इच्छा रहा करती होनेपर भी किसी उदयके प्रतिबंधसे वैसा हो सकनेमें बहुतसा समय व्यतीत हुआ करता है। इसलिए विनती है कि आप जो कुछ भी प्रसंगोपात्त पूछने अथवा लिखनेकी इच्छा करते हों तो वैसा करनेमें मेरी तरफका प्रतिबंध नहीं हैं, ऐसा समझकर लिखने अथवा पूछनेसे न रुकियेगा। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

[४९०] ५८१ मुंबई, चैत्र वदी ८, बुध, १९५१

चेतनका चेतन पर्याय हो, और जडका जड पर्याय हो, यही पदार्थकी स्थिति है। प्रत्येक समयमें जो जो परिणाम होते हैं वे वे पर्याय हैं। विचार करनेसे यह बात यथार्थ लगेगी।

अभी कम लिखना बन पाता है, इसलिए बहुतसे विचार बताये नहीं जा सकते हैं, तथा बहुतसे विचारोंका उपशम करनेरूप प्रकृतिका उदय होनेसे किसीके पास स्पष्टतासे कहना नहीं हो सकता। अभी यहाँ इतनी अधिक उपाधि नहीं रहती, तो भी प्रवृत्तिरूप संग होनेसे तथा क्षेत्र

उत्तापरूप होनेसे थोड़े दिनके लिए यहाँसे निवृत्त होनेका विचार होता है। अब इस विषयमें जो हो वह ठीक है। यही विनती।

प्रणाम

[४९१] ५८२ मुंबई, चैत्र वदी ८, १९५१

आत्मवीर्यके प्रवर्तन और संकोच करनेमें बहुत विचारपूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है।

श्री भावनगरस्थित शुभेच्छासंपन्न भाई कुँवरजी आणंदजीके प्रति,

विशेष विनती है कि आपका लिखा हुआ एक पत्र प्राप्त हुआ है। उस तरफ आनेके संबंधमें नीचे लिखी स्थिति है—

लोगोंको संदेह हो इस प्रकारके बाह्य व्यवहारका उदय है। और वैसे व्यवहारके साथ बलवान निर्ग्रंथ पुरुष जैसा उपदेश करना, वह मार्गका विरोध करने जैसा है; और ऐसा जानकर तथा उस जैसे दूसरे कारणोंका स्वरूप विचारकर प्रायः जिससे लोगोंको संदेहका हेतु हो वैसे प्रसंगमें मेरा आना नहीं होता। कदाचित् कभी कोई समागममें आता है, और कुछ स्वाभाविक कहना-करना होता है, इसमें भी चित्तकी इच्छित प्रवृत्ति नहीं है। पूर्वकालमें यथास्थित विचार किये बिना जीवने प्रवृत्ति की, उससे ऐसे व्यवहारका उदय प्राप्त हुआ है, जिससे बहुत बार चित्तमें शोक रहता है। परंतु यथास्थित समपरिणामसे वेदन करना योग्य है, ऐसा समझकर प्रायः वैसी प्रवृत्ति रहती है। फिर आत्मदशाके विशेष स्थिर होनेके लिए असंगतामें ध्यान रहा करता है। इस व्यापारादिके उदय-व्यवहारसे जो जो प्रसंग होते हैं, उनमें प्रायः असंग परिणामवत् प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उनमें सारभूत कुछ नहीं लगता। परंतु जिस धर्म व्यवहारके प्रसंगमें आना होता है, वहाँ उस प्रवृत्तिके अनुसार व्यवहार करना योग्य नहीं है। तथा दूसरे आशयका विचारकर प्रवृत्ति की जाये तो उतनी सामर्थ्य अभी नहीं है, इसलिए वैसे प्रसंगमें प्रायः मेरा आना कम होता है; और इस क्रमका बदलना अभी चित्तको जचता नहीं है। फिर भी उस तरफ़ आनेके प्रसंगमें वैसा करनेका कुछ भी विचार मैंने किया था, तथापि उस क्रमको बदलते हुए दूसरे विषम कारणोंका आगे जाकर संभव होगा ऐसा प्रत्यक्ष दीखनेसे क्रम बदलने संबंधी वृत्तिका उपशम करना योग्य लगनेसे वैसा किया है। इस आशयके सिवाय चित्तमें दूसरा आशय भी उस तरफ़ अभी नहीं आनेके संबंधमें है; परंतु किसी लोकव्यवहाररूप कारणसे आनेके विचारका विसर्जन नहीं किया है।

चित्तपर अधिक दबाव डालकर यह स्थिति लिखी है, उसपर विचारकर जो कुछ आवश्यक जैसा लगे तो कदाचित् रतनजी भाईसे स्पष्टता करें। मेरे आने न आनेके विषयमें यदि कुछ बात न कह सकें तो वैसा करनेकी विनती है।

वि० रायचंदके प्रणाम

[४९२] ५८३ मुंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

एक आत्मपरिणतिके सिवाय दूसरे जो विषय हैं उनमें चित्त अव्यवस्थिततासे रहता है, और वैसी अव्यवस्थितता लोकव्यवहारके प्रतिकूल होनेसे लोकव्यवहार करना रुचता नहीं है, और छोड़ना नहीं पाता; यह वेदना प्रायः दिनभर वेदनमें आती रहती है।

खानेमें, पोनेमें, बोलनेमें, शयनमें लिखनेमें या दूसरे व्यावहारिक कार्योंमें जैसा चाहिए वैसे भावसे प्रवृत्ति नहीं की जाती और उनके प्रसंगोंके बने रहनेसे आत्मपरिणतिका स्वतन्त्र प्रगटरूपसे अनुसरण करनेमें विपत्ति आया करती है, और इस विषयका क्षण क्षणमें दुःख रहा करता है।

अचलित आत्मरूपसे रहनेकी स्थितिमें ही चित्तेच्छा रहती है, और उपर्युक्त प्रसंगोंकी आपत्तिके कारण कितना ही उस स्थितिका वियोग रहा करता है, और वह वियोग मात्र परेच्छासे रहा करता है, स्वेच्छाके कारणसे नहीं रहा, यह एक गम्भीर वेदना क्षण क्षणमें हुआ करती है।

इसी भवमें और थोड़े ही समय पहले व्यवहारके विषयमें भी स्मृति तीव्र थी। वह स्मृति अब व्यवहारके विषयमें क्वचित् ही मंदरूपसे रहती है। थोड़े ही समय पहले अर्थात् थोड़े वर्षों पहले वाणी बहुत बोल सकती थी, वक्तारूपसे कुशलतासे प्रवृत्ति कर सकती थी, वह अब मंदरूपसे अव्यवस्थासे प्रवृत्ति करती है। थोड़े वर्ष पहले, थोड़े समय पहले लेखनशक्ति अति उग्र थी; आज क्या लिखना वह सूझते सूझते दिनके दिन व्यतीत हो जाते हैं, और फिर भी जो कुछ लिखा जाता है, वह इच्छित या योग्य व्यवस्थावाला नहीं लिखा जाता, अर्थात् एक आत्मपरिणामके सिवाय दूसरे सर्व परिणामोंके विषयमें उदासीनता रहती है। और जो कुछ किया जाता है वह जैसा चाहिए वैसे भानके सौवें अंशसे भी नहीं होता। जैसे तैसे और जो सो किया जाता है। लिखनेकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा वाणीकी प्रवृत्ति कुछ ठीक है; जिससे आपको कुछ पूछनेकी इच्छा हो, जाननेकी इच्छा हो, उसके विषयमें समागममें कहा जा सकेगा।

कुंदकुंदाचार्य और आनंदघनजीको सिद्धांतसंबंधी ज्ञान तीव्र था। कुंदकुंदाचार्यजी तो आत्मस्थितिमें बहुत स्थित थे।

जिन्हें नामका दर्शन हो, वे सब सम्यग्ज्ञानी नहीं कहे जा सकते। विशेष अब फिर।

[८७४-२] ५८४ मुंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

"[1]जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभा वरे।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषायअभा वरे॥"

विचारवानके लिए संगसे व्यतिरिक्तता परम श्रेयरूप है।

---

[४९३] ५८५ मुंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

"[1]जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी, तेमज जीवस्वभाव रे।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे॥"

सत्संग नैष्ठिक श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति नमस्कारपूर्वक,

सहज द्रव्यके अत्यन्त प्रकाशित होनेपर अर्थात् सर्व कर्मोंका क्षय होनेपर ही असंगता कही है और सुखस्वरूपता कही है। ज्ञानीपुरुषके वे वचन अत्यन्त सत्य हैं; क्योंकि सत्संगसे उन वचनोंका प्रत्यक्ष, अत्यन्त प्रगट अनुभव होता है।

---

१. भावार्थ—जिस तरह स्फटिक रत्नकी निर्मलता होती है, उसी तरह जीवका स्वभाव है। जिन वीरने प्रबल कषायके अभावरूप धर्म प्रकाशित किया है।

निर्विकल्प उपयोगका लक्ष्य स्थिरताका परिचय करनेसे होता है। सुधारस, सत्समागम, सत्शास्त्र, सद्विचार और वैराग्य-उपशम ये सब उस स्थिरताके हेतु हैं।

०

[४९४] ५८६ मुंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

ॐ

अधिक विचारका साधन होनेके लिए यह पत्र लिखा है।

पूर्णज्ञानी श्री ऋषभदेवादि पुरुषोंका भी प्रारब्धोदय भोगनेपर क्षय हुआ है, तो हम जैसोंको वह प्रारब्धोदय भोगना ही पड़े इसमें कुछ संशय नहीं है। मात्र खेद इतना होता है कि हमें ऐसे प्रारब्धोदयमें श्री ऋषभदेवादि जैसी अविषमता रहे इतना बल नहीं है, और इसलिए प्रारब्धोदयके होनेपर वारंवार उससे अपरिपक्वकालमें छूटनेकी कामना हो आती है, कि यदि इस विषम प्रारब्धो-दयमें कुछ भी उपयोगकी यथातथ्यता न रही तो फिर आत्मस्थिरता होते हुए भी और अवसर खोजना होगा; और पश्चात्तापपूर्वक देह छूटेगी; ऐसी चिन्ता अनेक बार हो आती है।

यह प्रारब्धोदय मिटकर निवृत्तिकर्मका वेदन करनेरूप प्रारब्धका उदय होनेका आशय रहा करता है, परन्तु वह तुरत अर्थात् एकसे डेढ़ वर्षमें हो जाये ऐसा तो दिखायी नहीं देता; और पल पल वीतना कठिन पड़ता है। एकसे डेढ़ वर्षके बाद प्रवृत्तिकर्मका वेदनरूप उदय सर्वथा परिक्षीण होगा, ऐसा भी नहीं लगता, कुछ उदय विशेष मंद पड़ेगा, ऐसा लगता है।

आत्माकी कुछ अस्थिरता रहती है। गत वर्षका मोतीसंबंधी व्यापार लगभग पूरा होने आया है। इस वर्षका मोतीसंबंधी व्यापार गत वर्षकी अपेक्षा लगभग दुगुना हुआ है। गत वर्ष जैसा उसका परिणाम आना कठिन है। थोड़े दिनोंकी अपेक्षा अभी ठीक है; और इस वर्ष भी उसका गत वर्ष जैसा नहीं तो भी कुछ ठीक परिणाम आयेगा, ऐसा संभव रहता है। परन्तु वहुतसा वक्त उसके विचारमें व्यतीत होने जैसा होता है, और उसके लिए शोक होता है, कि यह एक परिग्रहकी कामनाका वलवान प्रवर्तन जैसा होता है, उसे शांत करना योग्य है; और कुछ करना पड़े ऐसे कारण रहते हैं। अब जैसे तैसे करके उस प्रारब्धोदयका तुरत क्षय हो तो अच्छा है, ऐसा मनमें बहुत बार आया करता है।

यहाँ जो आड़त और मोतीसंबंधी व्यापार है, उससे मेरा छूटना हो सके अथवा उसका बहुत प्रसंग कम हो जाये, वैसा कोई रास्ता ध्यानमें आये तो लिखियेगा। चाहे तो इस विषयमें समागममें विशेषतासे कहा जा सके तो कहियेगा। यह बात ध्यानमें रखियेगा।

लगभग तीन वर्षसे ऐसा रहा करता है कि परमार्थसंबंधी कि व्यवहारसंबंधी कुछ भी लिखते हुए कंटाला आ जाता है; और लिखते लिखते कल्पित जैसा लगनेसे वारंवार अपूर्ण छोड़ देना पड़ता है। जिस समय चित्त परमार्थमें एकाग्रवत् हो तब यदि परमार्थसंबंधी लिखना अथवा कहना हो तो वह यथार्थ कहा जाये, परन्तु चित्त अस्थिरवत् हो, और परमार्थसंबंधी लिखना कि कहना किया जाये तो वह उदीरणा जैसा हो, तथा उसमें अन्तर्वृत्तिका यथातथ्य उपयोग न होनेसे, वह आत्म-बुद्धिसे लिखा कि कहा न होनेसे कल्पितरूप कहा जाये; जिससे तथा वैसे दूसरे कारणोंसे परमार्थ-संबंधी लिखना तथा कहना वहुत कम हो गया है। इस स्थलपर सहज प्रश्न होगा कि चित्त अस्थिरवत् हो जानेका हेतु क्या है? परमार्थमें जो चित्त विशेष एकाग्रवत् रहता था उस चित्तके परमार्थमें अस्थिरवत् हो जानेका कुछ भी कारण होना चाहिए। यदि परमार्थ संशयका हेतु लगा हो तो वैसा हो सके, अथवा कोई तथाविध आत्मवीर्य मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदयके वलसे वैसा

हो। इन दो हेतुओंसे परमार्थका विचार करते हुए, लिखते हुए कि कहते हुए चित्त अस्थिरवत् रहे। उसमें प्रथम कहे हुए हेतुका होना सम्भव नहीं है। मात्र दूसरा कहा हुआ हेतु सम्भवित है। आत्मवीर्य मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदय होनेसे उस हेतुको दूर करनेका पुरुषार्थ होनेपर भी कालक्षेप हुआ करता है; और वैसे उदय तक वह अस्थिरता दूर होना कठिन है। और इसलिए परमार्थ-स्वरूप चित्तके विना उस संबंधी लिखना, कहना कल्पित जैसा लगता है, तो भी कितने ही प्रसंगोंमें विशेष स्थिरता रहती है। व्यवहारसंबंधी कुछ भी लिखते हुए वह असारभूत और साक्षात् भ्रांति-रूप लगनेसे उस संबन्धी जो कुछ लिखना कि कहना है वह तुच्छ है, आत्माके लिए विकलताका हेतु है, और जो कुछ लिखना, कहना है वह न कहा हो तो भी चल सकने जैसा है। इसलिए जब तक वैसा रहे तब तक तो अवश्य वैसा करना योग्य है; ऐसा समझकर बहुतसी व्यावहारिक बातें लिखने, करने और कहनेकी आदत चली गयी है। मात्र जो व्यापारादि व्यवहारमें तीव्र प्रारब्धोदयसे प्रवृत्ति है, वहाँ कुछ प्रवृत्ति होती है। यद्यपि उसकी भी यथार्थता प्रतीत नहीं होती।

श्री जिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे छूटनेकी वारंवार शिक्षा दी है; और उस संयोगका विश्वास परम ज्ञानीके लिए भी कर्तव्य नहीं है, ऐसा निश्चल मार्ग कहा है। उन श्री जिन वीतराग-के चरणकमलमें अत्यंत नम्र परिणामसे नमस्कार है।

जो प्रश्न आजके पत्रमें रखे हैं उनका उत्तर समागममें पूछियेगा। दर्पण, जल, दीपक, सूर्य और चक्षुके स्वरूपपर विचार कीजियेगा, तो केवलज्ञानसे पदार्थ प्रकाशित होते हैं, ऐसा जिनने कहा है, उसे समझनेमें कुछ साधन होगा।

●

[४९५] ५८७ मुंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

'केवलज्ञानसे पदार्थ किसी प्रकार दिखायी देते हैं?' इस प्रश्नका उत्तर विशेष करके समागममें समझनेसे स्पष्ट समझा जा सकता है, तो भी संक्षेपमें नीचे लिखा है—

जैसे दिया जहाँ जहाँ होता है, वहाँ वहाँ प्रकाशकरूपसे होता है, वैसे जहाँ जहाँ ज्ञान होता है वहाँ वहाँ प्रकाशकरूपसे होता है। जैसे दियेका सहज स्वभाव ही पदार्थप्रकाशक होता है वैसे ज्ञानका सहज स्वभाव भी पदार्थप्रकाशक है। दिया द्रव्यप्रकाशक है, और ज्ञान द्रव्य, भाव दोनोंका प्रकाशक है। दियेके प्रकाशित होनेसे उसके प्रकाशकी सीमामें जो कोई पदार्थ होता है वह सहज ही दिखायी देता है; वैसे ज्ञानकी विद्यमानतासे पदार्थ सहज ही देखा जाता है। जिसमें यथातथ्य और संपूर्ण पदार्थ सहज देखे जाते हैं, उसे 'केवलज्ञान' कहा है। यद्यपि परमार्थसे ऐसा कहा है कि केवलज्ञान भी अनुभवमें तो मात्र आत्मानुभवकर्त्ता है, व्यवहारनयसे लोकालोक प्रकाशक है। जैसे दर्पण, दिया, सूर्य और चक्षु पदार्थप्रकाशक हैं, वैसे ज्ञान भी पदार्थप्रकाशक है।

●

[४९६] ५८८ मुंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

ॐ

श्री जिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे छूटनेकी वारंवार शिक्षा दी है, और उस संयोगका विश्वास परमज्ञानीके लिए भी कर्तव्य नहीं है, ऐसा अखंडमार्ग कहा है, उन श्री जिन वीतरागके चरणकमलमें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार।

आत्मस्वरूपका निश्चय होनेमें जीवकी अनादिसे भूल होती आयी है। समस्त श्रुतज्ञान-स्वरूप द्वादशांगमें सबसे प्रथम उपदेश योग्य 'आचारांगसूत्र' है; उसके प्रथम श्रुतस्कंधमें प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशके प्रथम वाक्यमें जो श्री जिनने उपदेश किया है, वह सर्व अंगोंका, सर्व श्रुतज्ञानका सारस्वरूप है, मोक्षका वीजभूत है, सम्यक्त्वस्वरूप है। उस वाक्यके प्रति उपयोग स्थिर होनेसे जीवको निश्चय होगा कि ज्ञानीपुरुषके समागमकी उपासनाके विना जीव स्वच्छंदसे निश्चय करे, तो वह छूटनेका मार्ग नहीं है।

सर्व जीवोंका परमात्मत्व है, अर्थात् सभी जीवोंका स्वभाव परमात्मस्वरूप है। इसमें संशय नहीं है, तो फिर श्री देवकरणजी अपनेको परमात्मस्वरूप मानें तो यह बात असत्य नहीं है। परंतु जव तक वह स्वरूप यथातथ्य प्रगट न हो, तब तक मुमुक्षु, जिज्ञासु रहना अधिक उपयुक्त है, और उस रास्तेसे यथार्थ परमात्मस्वरूप प्रगट होता है। जिस मार्गको छोड़कर प्रवृत्ति करनेसे उस पदका भान नहीं होता, तथा श्री जिन वीतराग सर्वज्ञ पुरुषोंकी आसातना करनेरूप प्रवृत्ति होती है। दूसरा कुछ मतभेद नहीं है।

मृत्युका आना अवश्य है।

आ० स्व० प्रणाम

•

[४९७] ५८९ मुंबई; चैत्र वदी १३, १९५१

आपको वेदांत ग्रंथ पढ़नेका तथा उस प्रसंगकी वातचीत सुननेका प्रसंग रहता हो तो उसे पढ़नेसे तथा सुननेसे जीवमें वैराग्य और उपशम वर्धमान हो वैसा करना योग्य है। उसमें प्रतिपादन किये हुए सिद्धांतका यदि निश्चय होता हो तो करनेमें बाधा नहीं है, तथापि ज्ञानीपुरुषके समागम और उपासनासे सिद्धांतका निश्चय किये विना आत्मविरोध होना संभव है।

•

[४९८] ५९० मुंबई, चैत्र वदी १४, १९५१

चारित्र (श्री जिनके अभिप्रायमें क्या है ? उसे विचारकर समवस्थित होना।) दशासंवंधी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवमें स्वस्थता उत्पन्न होती है। उस विचार द्वारा उत्पन्न हुई चारित्रपरिणाम स्वभावरूप स्वस्थताके विना ज्ञान निष्फल है, ऐसा जिनका अभिमत है वह अव्यावाध सत्य है।

तत्संवंधी अनुप्रेक्षा वहुत वार रहनेपर भी चंचल परिणतिके हेतु उपाधियोगके तीव्र उदय-रूप होनेसे चित्तमें प्रायः खेद जैसा रहता है, और उस खेदसे सिथिलता उत्पन्न होकर विशेष नहीं कहा जा सकता। वाकी कुछ वतानेके विपयमें तो चित्तमें वहुत वार रहता है। प्रसंगोपात्त कुछ विचार लिखें, उसमें आपत्ति नहीं है। यही विनती।

•

[४९९] ५९१ मुंबई, चैत्र, १९५१

विपयादि इच्छित पदार्थ भोगकर उनसे निवृत्त होनेकी इच्छा रखना और उस क्रमसे प्रवृत्ति करनेसे आगे जाकर विपयमूर्च्छाका उत्पन्न होना संभव न हो, ऐसा होना कठिन है; क्योंकि ज्ञानदशाके विना विपयकी निर्मूलता होना संभव नहीं। मात्र उदयके विपय भोगनेसे नष्ट होते हैं, परंतु यदि ज्ञानदशा न हो तो उत्सुक परिणाम, विपयका आराधन करते हुए, उत्पन्न हुए

विना न रहे; और उससे विषय पराजित होनेके बदले विशेष वर्धमान हो। जिन्हें ज्ञानदशा है वैसे पुरुष विषयाकांक्षासे अथवा विषयका अनुभव करके उससे विरक्त होनेकी इच्छासे उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, और यदि ऐसे प्रवृत्ति करने जायें तो ज्ञानपर भी आवरण आना योग्य है। मात्र प्रारब्धसंबंधी उदय हो अर्थात् छूटा न जा सके, इसीलिए ज्ञानीपुरुषकी भोगप्रवृत्ति है। वह भी पूर्वपश्चात् पश्चात्तापवाली और मंदमें मंद परिणामसंयुक्त होती है। सामान्य मुमुक्षुजीव वैराग्यके उद्भवके लिए विषयका आराधन करने जाय तो प्रायः उसका बंधा जाना संभव है; क्योंकि ज्ञानीपुरुष भी उन प्रसंगोंको बड़ी मुश्किलसे जीत सके हैं; तो फिर जिसकी मात्र विचारदशा है ऐसे पुरुषकी सामर्थ्य नहीं कि वह विषयको इस प्रकारसे जीत सके।

●

[५०४] ५९२ मुंबई, वैशाख सुदी, १९५१

सायलास्थित आर्य श्री सोभागके प्रति,

पत्र मिला है।

श्री अंबालालसे सुधारससंबंधी बातचीत करनेका अवसर आपको प्राप्त हो तो कीजियेगा।

जो देह पूर्ण युवावस्थामें और संपूर्ण आरोग्यमें दिखायी देती हुई भी क्षणभंगुर है, उस देहमें प्रीति करके क्या करें?

जगतके सर्व पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके प्रति सर्वोत्कृष्ट प्रीति है, ऐसी यह देह वह भी दुःखका हेतु है, तो दूसरे पदार्थोंमें सुखके हेतुकी क्या कल्पना करना?

जिन पुरुषोंने वस्त्र जैसे शरीरसे भिन्न है, वैसे आत्मासे शरीर भिन्न है, ऐसा देखा है, वे पुरुष धन्य हैं।

दूसरेकी वस्तुका अपनेसे ग्रहण हुआ हो, जब यह मालूम हो कि वह दूसरेकी है, तब उसे दे देनेका ही कार्य महात्मा पुरुष करते हैं।

दुषमकाल है इसमें संशय नहीं है।

तथारूप परमज्ञानी आप्तपुरुषका प्रायः विरह है।

विरले जीव सम्यग्दृष्टि प्राप्त करें, ऐसी कालस्थिति हो गयी है। जहाँ सहजसिद्ध आत्मचारित्रदशा रहती है ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करना कठिन है, इसमें संशय नहीं है।

प्रवृत्ति विराम पाती नहीं, विरक्ति बहुत रहती है।

वनमें अथवा एकांतमें सहजस्वरूपका अनुभव करती हुई आत्मा सर्वथा निर्विषय रहे ऐसा करनेमें सर्व इच्छा रुकी है।

●

[५०५] ५९३ मुंबई, वैशाख सुदी १५, बुध, १९५१

आत्मा अत्यंत सहज स्वस्थता प्राप्त करे यही श्री सर्वज्ञने सर्व ज्ञानका सार कहा है।

अनादिकालसे जीवने निरंतर अस्वस्थताकी आराधना की है, जिससे स्वस्थताकी ओर आना उसे दुर्गम पड़ता है। श्री जिनने ऐसा कहा है कि यथाप्रवृत्तिकरण तक जीव अनंत बार आया है, परंतु जिस समय ग्रंथिभेद होने तक आना होता है तब क्षोभ पाकर फिर संसारपरिणामी होता रहा है। ग्रंथिभेद होनेमें जो वीर्यगति चाहिए, उसके होनेके लिए जीवको नित्यप्रति सत्समागम, सद्विचार और सद्ग्रंथका परिचय निरंतररूपसे करना श्रेयभूत है।

इस देहकी आयु प्रत्यक्ष उपाधियोगमें व्यतीत होती जा रही है। इसके लिए अत्यंत शोक होता है, और उसका यदि अल्पकालमें उपाय न किया तो हम जैसे अविचारी भी थोड़े समझना।

जिस ज्ञानसे कामका नाश हो उस ज्ञानको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो।

आ० स्व० यथा०

●

[५०६] ५९४ मुंबई, वैशाख सुदी १५, बुध, १९५१

सर्वकी अपेक्षा जिसमें अधिक स्नेह रहा करता है ऐसा यह काया रोग, जरा आदिसे स्वात्माको ही दुःखरूप हो जाती है, तो फिर उससे दूर ऐसे धनादिके तथारूप (यथायोग्य) सुखवृत्ति हो ऐसा मानते हुए विचारवानकी बुद्धि अवश्य क्षोभको प्राप्त होनी चाहिए, और किसी दूसरे विचारमें लगनी चाहिए, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने निर्णय किया है, वह यथातथ्य है।

●

[५०७] ५९५ मुंबई, वैशाख वदी ७, गुरु १९५१

वेदांत आदिमें जो आत्मस्वरूपकी विचारणा कही है, उस विचारणाकी अपेक्षा श्री जिनागममें जो आत्मस्वरूपकी विचारणा कही है, उसमें भेद आता है। सर्व विचारणाका फल आत्माका सहजस्वभावसे परिणमित होना ही है। संपूर्ण राग-द्वेषके क्षयके विना संपूर्ण आत्मज्ञान प्रगट न हो ऐसा निश्चय जिनने कहा है, वह वेदांत आदिकी अपेक्षा बलवान प्रमाणभूत है।

●

[५०८] ५९६ मुंबई, वैशाख वदी ७, गुरु, १९५१

सर्वकी अपेक्षा वीतरागके वचनको संपूर्ण प्रीतिका स्थान कहना योग्य है, क्योंकि जहाँ रागादि दोषका संपूर्ण क्षय हो वहाँ संपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होने योग्य नियम घटित होता है।

श्री जिनको सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता संभव है, क्योंकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस किसी पुरुषको जितने अंशमें वीतरागता संभव है, उतने अंशमें उस पुरुषका वाक्य मान्यता योग्य है। सांख्यादि दर्शनमें बंध-मोक्षकी जो जो व्याख्या उपदिष्ट है, उससे बलवान प्रमाणसिद्ध व्याख्या श्री जिन वीतरागने कही है, ऐसा जानता हूँ।

●

[५०९] ५९७ मुंबई, वैशाख वदी ७, गुरु, १९५१

हमारे चित्तमें वारंवार ऐसा आता है और ऐसा परिणाम स्थिर रहा करता है कि जैसा आत्मकल्याणका निर्धार श्री वर्धमानस्वामीने कि श्री ऋषभादिने किया है, वैसा निर्धार दूसरे संप्रदायमें नहीं है।

वेदान्त आदि दर्शनका लक्ष्य आत्मज्ञानकी ओर और संपूर्ण मोक्षके प्रति जाता हुआ देखनेमें आता है, परंतु उसका संपूर्णरूपसे यथायोग्य निर्धार उसमें मालूम नहीं होता, अंशतः मालूम होता है और कुछ कुछ उसका भी पर्यायांतर दिखायी देता है। यद्यपि वेदांतमें जगह जगह आत्मचर्याका ही विवेचन किया है, तथापि वह चर्या स्पष्टतः अविरुद्ध है, ऐसा अभी तक प्रतीत नहीं हो पाता ऐसा भी संभव है कि कदाचित् विचारके किसी उदयभेदसे वेदांतका आशय अन्य स्वरूपसे समझमें आता हो और उससे विरोधका भास होता हो, ऐसी आशंका भी पुन-पुनः चित्तमें करनेमें आयी है,

विशेष विशेष आत्मवीर्यका परिणमन करके उसे अविरोधी देखनेके लिए विचार किया गया है, तथापि ऐसा मालूम होता है कि वेदांत जिस प्रकारसे आत्मस्वरूप कहता है उस प्रकारसे वेदांत सर्वथा अविरोधिताको प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह जो कहता है उसीके अनुसार आत्मस्वरूप नहीं है, उसमें कोई बड़ा भेद देखनेमें आता है; और उस प्रकारसे सांख्य आदि दर्शनोंमें भी भेद देखनेमें आता है। श्री जिनने जो आत्मस्वरूप कहा है, एक मात्र वह विशेष विशेष अविरोधी देखनेमें आता है और उस प्रकारसे वेदन करनेमें आता है। श्री जिनका कहा हुआ आत्मस्वरूप संपूर्णतः अविरोधि होने योग्य है, ऐसा प्रतीत होता है। संपूर्णतः अविरोधी ही है; ऐसा जो नहीं कहा जाता उसका हेतु मात्र इतना ही है कि संपूर्णतः आत्मावस्था प्रगट नहीं हुई है। जिससे जो अवस्था अप्रगट है, उस अवस्थाका अनुमान वर्तमानमें करते हैं, जिससे उस अनुमानपर अत्यंत भार न देना योग्य समजकर विशेष विशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है; संपूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा लगता है।

संपूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी पुरुषमें प्रगट होना चाहिए, ऐसा आत्मामें निश्चित प्रतीतिभाव आता है; और वह वैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिए, ऐसा विचार करते हुए जिन जैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिए ऐसा स्पष्ट लगता है। इस सृष्टिमंडलमें यदि किसीमें भी संपूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो श्री वर्धमानस्वामीमें प्रथम प्रगट होने योग्य लगता है, अथवा उस दशाके पुरुषोंमें सबसे प्रथम संपूर्ण आत्मस्वरूप—

[अपूर्ण]

•

[५१०] ५९८ मुंबई, वैशाख वदी १०, रवि, १९५१

ॐ

श्री सायलास्थित परमस्नेही श्री सोभागके प्रति नमस्कारपूर्वक—

आज एक पत्र मिला है।

'अल्पकालमें उपाधिरहित होनेकी इच्छा करनेवालेके लिए आत्मपरिणतिको किस विचारमें लाना योग्य है कि जिससे वह उपाधिरहित हो सके?' यह प्रश्न हमने लिखा था उसके उत्तरमें आपने लिखा कि 'जब तक रागबंधन है तब तक उपाधिरहित नहीं हुआ जाता; और वह बंधन आत्मपरिणतिसे कम हो जाये, वैसी परिणति रहे तो अल्पकालमें उपाधिरहित हुआ जाये', इस प्रकार जो उत्तर लिखा वह यथार्थ है। यहाँ प्रश्नमें विशेषता इतनी है कि 'बलात् उपाधियोग प्राप्त होता हो, उसके प्रति रागद्वेषादि परिणति कम हो, उपाधि करनेके लिए चित्तमें वारंवार खेद रहता हो, और उस उपाधिका त्याग करनेमें परिणाम रहा करता हो, वैसा होनेपर भी उदयबलसे उपाधि प्रसंग रहता हो तो वह किस उपायसे निवृत्त किया जा सके?' इस प्रश्नके विषयमें जो ध्यानमें आये वह लिखियेगा।

'भावार्थप्रकाश' ग्रन्थ हमने पढ़ा है, उसमें संप्रदायके विवादका कुछ समाधान हो सके, ऐसी रचना की है, परंतु तारतम्यसे वस्तुतः वह ज्ञानवानकी रचना नहीं है, ऐसा मुझे लगता है।

श्री डुंगरने 'अखे[1] पुरुष एक वरख हे', यह सर्वथा लिखाया है, उसे पढ़ा है। श्री डुंगरको ऐसे सवैयोंका विशेष अनुभव है। तथापि ऐसे सवैयोंमें भी प्रायः छाया जैसा उपदेश देखनेमें आता है, और उससे अमुक निर्णय किया जा सके, और कभी निर्णय किया जा सके तो वह पूर्वापर

१. अक्षय पुरुष एक वृक्ष है।

अविरोधी रहता है, ऐसा प्रायः ध्यानमें नहीं आता। जीवके पुरुषार्थ धर्मको कितने प्रकारसे ऐसी वाणी बलवान् करती है, इतना उस वाणीका उपकार कितने ही जीवोंके प्रति होना संभव है।

श्री नवलचंदकी अभी दो चिट्ठियाँ आयी थीं, कुछ धर्म-प्रकारको जाननेकी अभी उन्हें इच्छा हुई है, तथापि उसे अभ्यासवत् और द्रव्याकार जैसी अभी समझना योग्य है। यदि किसी पूर्वके कारणयोगसे इस प्रकारके प्रति उनका ध्यान बढ़ेगा तो भावपरिणामसे धर्मविचार हो सके ऐसा उनका क्षयोपशम है।

आपके आजके पत्रमें अन्तमें श्री डुंगरने जो साखी लिखवायी है, 'व्यवहारनी[1] झाळ पांदडे पांदडे परजळी' यह पद जिसमें पहला है वह यथार्थ है। उपाधिसे उदासीन चित्तको धीरताका हेतु हो ऐसी साखी है।

आपका और श्री डुंगरका यहाँ आनेका विशेष चित्त है ऐसा लिखा उसे विशेषतः जाना। श्री डुंगरका चित्त ऐसे प्रकारमें कितनी बार शिथिल होता है, वैसा इस प्रसंगमें करनेका कारण दिखायी नहीं देता। श्री डुंगरको द्रव्य (बाहर) से मानदशा ऐसे प्रसंगमें कुछ आड़े आती होनी चाहिए, ऐसा हमें लगता है, परंतु वह ऐसे विचारवानको रहे यह योग्य नहीं है; फिर दूसरे साधारण जीवोंके विषयमें वैसे दोषकी निवृत्ति सत्संगसे भी कैसे हो ?

हमारे चित्तमें एक इतना रहता है कि यह क्षेत्र सामान्यतः अनार्य चित्त कर डाले ऐसा है। ऐसे क्षेत्रमें सत्समागमका यथास्थित लाभ लेना बहुत कठिन पड़ता है, क्योंकि आसपासके समागम, लोकव्यवहार सब प्रायः विपरीत ठहरे, और इस कारणसे प्रायः कोई मुमुक्षुजीव यहाँ चाहकर समागमके लिए आनेकी इच्छा करता हो उसे भी उत्तरमें 'ना' लिखने जैसा होता है; क्योंकि उसके श्रेयको बाधित न होने देना योग्य है। आपके और श्री डुंगरके आनेके संबंधमें इतना सब विचार तो चित्तमें नहीं होता, परंतु कुछ सहज होता है। यह सहज विचार होता है वह ऐसे कारणसे नहीं होता कि यहाँका उदयरूप उपाधियोग देखकर हमारे प्रति आपके चित्तमें कुछ विक्षेप हो; परंतु ऐसा रहता है कि आपके तथा श्री डुंगर जैसेके समागमका लाभ क्षेत्रादि विपरीततासे यथायोग्य न लिया जाये, इससे चित्तमें खेद आ जाता है। यद्यपि आपके आनेके प्रसंगमें उपाधि बहुत कम की जा सकेगी, तथापि आसपासके साधन सत्समागमको और निवृत्तिको वर्धमान करनेवाले नहीं हैं, इससे चित्तमें सहज लगता है। इतना लिखनेसे चित्तमें आया हुआ एक विचार लिखा है ऐसा समझना। परंतु आपको अथवा श्री डुंगरको रोकनेसंबंधी किसी भी आशयसे नहीं लिखा है; परंतु इतना आशय चित्तमें है कि यदि श्री डुंगरका चित्त आनेके प्रति कुछ शिथिल दिखायी दे तो आप उनपर विशेष दबाव न डालें, तो भी आपत्ति नहीं है; क्योंकि श्री डुंगर आदिके समागमकी विशेष इच्छा रहती है, और यहाँसे थोड़े वक्तके लिए निवृत्त हुआ जा सके तो वैसा करनेकी इच्छा है, तो श्री डुंगरका समागम किसी दूसरे निवृत्तिक्षेत्रमें करना होगा ऐसा लगता है।

आपके लिए भी इस प्रकारका विचार रहता है, तथापि उसमें भेद इतना होता है कि आपके आनेसे यहाँकी कितनी उपाधि अल्प कैसे की जा सके ? उसे प्रत्यक्ष दिखाकर, तत्संबंधी विचार लेनेका हो सके। जितने अंशमें श्री सोभागके प्रति भक्ति है, उतने अंशमें ही श्री डुंगरके प्रति भक्ति है, इसलिए उन्हें इस उपाधिसंबंधी विचार बतानेसे भी हमारा तो उपकार है। तथापि

---

१. व्यवहारकी ज्वाला पत्ते-पत्तेपर प्रज्वलित हुई।

श्री डुंगरके चित्तमें कुछ भी विक्षेप होता हो और यहाँ आनेकी प्रेरणा दी जाती हो तो समागम यथायोग्य न हो सके। वैसा न होता हो तो श्री डुंगर और श्री सोभागको यहाँ आनेमें कोई प्रतिबंध नहीं है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

•

[५११] ५९९ मुंबई, वैशाख वदी १४, गुरु, १९५१

शरण (आश्रय) और निश्चय कर्तव्य है। अधीरतासे खेद कर्तव्य नहीं है। चित्तको देहादिके भयका विक्षेप भी करना योग्य नहीं है। अस्थिर परिणामका उपशम करना योग्य है।

आ० स्व० प्रणाम

•

[५१२] ६०० मुंबई, जेठ सुदी २, रवि, १९५१

अपारवत् संसारसमुद्रसे तारनेवाले सद्धर्मका निष्कारण करुणासे जिसने उपदेश किया है, उस ज्ञानीपुरुषके उपकारको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !

श्री सायलास्थित परम स्नेही श्री सोभागके प्रति,

यथायोग्यपूर्वक विनती कि—आपका लिखा एक पत्र कल मिला है। आपके तथा श्री डुंगरके यहाँ आनेके विचारसंबंधी यहाँसे एक पत्र हमने लिखा उसका अर्थ कुछ और समझा गया मालूम होता है। उस पत्रमें इस प्रसंगमें जो कुछ लिखा है उसका संक्षेपमें भावार्थ इस प्रकार है—

मुझे प्रायः निवृत्ति मिल सकती है, परन्तु यह क्षेत्र स्वभावसे प्रवृत्ति विशेषवाला है, जिससे निवृत्तिक्षेत्रमें समागमसे जैसा आत्मपरिणामका उत्कर्ष हो, वैसा प्रायः प्रवृत्ति विशेष क्षेत्रमें होना कठिन पड़ता है। बाकी आप अथवा श्री डुंगर अथवा दोनों आये उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। प्रवृत्ति बहुत कम की जा सकती है; परन्तु श्री डुंगरका चित्त आनेमें कुछ विशेष शिथिल हो तो आग्रहसे न लायें तो भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि उस तरफ थोड़े वक्तमें समागम होनेका कदाचित् योग हो सकेगा।

इस प्रकार लिखनेका अर्थ था। आप एक ही आयें और श्री डुंगर न आयें अथवा हमें अभी निवृत्ति नहीं है, ऐसा लिखनेका आशय न था। मात्र निवृत्तिक्षेत्रमें किसी तरह समागम होनेके विषयमें विशेषता लिखी है। कभी विचारवानको तो प्रवृत्तिक्षेत्रमें समागम विशेष लाभकारक हो पड़ता है। ज्ञानीपुरुषकी भीड़में निर्मलदशा देखना बनता है। इत्यादि निमित्तसे विशेष लाभकारक भी होता है।

आप दोनों अथवा आप कब आयें, इस विषयमें मनमें कुछ विचार आता है, जिससे यहाँसे कुछ विचार सूचित करने तक आनेमें विलम्ब करेंगे तो आपत्ति नहीं है।

परपरिणतिके कार्य करनेका प्रसंग रहे और स्वपरिणतिमें स्थिति रखे रहना, यह श्री आनंदघनजीने जो चौदहवें जिनकी सेवा कही है उससे भी विशेष दुष्कर है।

ज्ञानीपुरुषकी जबसे नव वाडसे विशुद्ध ब्रह्मचर्यकी दशा रहती है तबसे जो संयमसुख प्रगट होता है वह अवर्णनीय है। उपदेशमार्ग भी उस सुखके प्रगट होनेपर प्ररूपण करने योग्य है। श्री डुंगरको अत्यंत भक्तिसे प्रणाम।

आ० स्व० प्रणाम

●

[५१३] ६०१ मुंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

ॐ

श्री सायलास्थित परम स्नेही श्री सोभागके प्रति,

तीन दिन पहिले आपका लिखा पत्र मिला है। यहाँ आनेके विचारका उत्तर मिलने तक उपशम किया है ऐसा लिखा, उसे पढ़ा है। उत्तर मिलने तक आनेका विचार बंद रखनेके बारेमें यहाँसे लिखा था उसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं—

यहाँ आपका आनेका विचार रहता है, उसमें एक हेतु समागम लाभका है और दूसरा अनिश्चित हेतु कुछ उपाधिके संयोगके कारण व्यापारके प्रसंगसे किसीको मिलनेका है। जिसपर विचार करते हुए अभी आनेका विचार रोका जाये तो भी आपत्ति नहीं है, ऐसा लगा, इस लिए इस प्रकारसे लिखा था। समागमयोग प्रायः यहाँसे एक या डेढ़ महीनेके पीछे निवृत्ति कुछ मिलना संभव है तब उस तरफ होना संभव है। और उपाधिके लिए अभी त्रंबक आदि प्रयासमें हैं। तो आपका उस प्रसंगसे आनेका विशेष कारण जैसा तुरतमें नहीं है। हमारा उस तरफ आनेका योग होनेमें अधिक समय जाने जैसा दिखायी देगा तो फिर आपको एक चक्कर लगा जानेका कहनेका चित्त है। इस विषयमें आपके ध्यानमें जैसे आये वैसे लिखियेगा।

वहुत वड़े पुरुषोंके सिद्धियोगसंवंधी शास्त्रमें वात आती है, तथा लोककथामें वैसी वातें सुनी जाती हैं। उसके लिए आपको संशय रहता है, उसका संक्षेपमें उत्तर इस प्रकार है :—

अष्ट महासिद्धि आदि जो जो सिद्धियाँ कही हैं, ॐ आदि मंत्रयोग कहे हैं, वे सब सच्चे हैं। आत्मैश्वर्यके सामने ये सब अल्प हैं। जहाँ आत्मस्थिरता है, वहाँ सर्व प्रकारके सिद्धियोग रहते हैं। इस कालमें वैसे पुरुष दिखायी नहीं देते, इससे उनकी अप्रतीति होनेका कारण है, परंतु वर्तमानमें किसी जीवमें ही वैसी स्थिरता देखनेमें आती है। वहुतसे जीवोंमें सत्त्वकी न्यूनता रहती है, और उस कारणसे वैसे चमत्कारादि दिखायी नहीं देते, परंतु उनका अस्तित्व नहीं है, ऐसा नहीं है। आपको शंका रहती है, यह आश्चर्य लगता है। जिसे आत्मप्रतीति उत्पन्न हो उसे सहज ही इस वातकी निःशंकता हो, क्योंकि आत्मामें जो सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यके सामने इस सिद्धिलब्धिकी कुछ भी विशेषता नहीं है।

ऐसे प्रश्न आप कभी कभी लिखते हैं, इसका क्या कारण है, वह लिखियेगा। इस प्रकारके प्रश्न विचारवानको क्यों हों? श्री डुंगरको नमस्कार। कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा।

●

[५१४] ६०२ मुंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

मनमें जो रागद्वेषादिके परिणाम हुआ करते हैं उन्हें समयादि पर्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समयकी अत्यंत सूक्ष्मता है, और मनपरिणामकी वैसी सूक्ष्मता नहीं है। पदार्थका अत्यंतसे अत्यंत सूक्ष्मपरिणतिका जो प्रकार है, वह समय है।

रागद्वेषादि विचारोंका उद्भव होना, यह जीवके पूर्वोपार्जित किये हुए कर्मोंके योगसे होता है, वर्तमानकालमें आत्माका पुरुषार्थ उसमें कुछ भी हानिवृद्धिमें कारणरूप है, तथापि वह विचार विशेष गहन है।

श्री जिनने जो स्वाध्याय-काल कहा है, वह यथार्थ है। उस उस (अकालके) प्रसंगमें प्राणादिका कुछ संधिभेद होता है। चित्तको विक्षेपनिमित्त सामान्य प्रकारसे होता है, हिंसादि योगका प्रसंग होता है, अथवा कोमल परिणाममें विघ्नभूत कारण होता है, इत्यादिके आश्रयसे स्वाध्यायका निरूपण किया है।

अमुक स्थिरता होने तक विशेष लिखना नहीं हो सकता, तो भी जितना हो सका उतना प्रयास करके ये तीन चिट्ठियाँ लिखी हैं।

•

[५१९-१] ६०३ मुंबई, जेठ सुदी १०, रवि, १९५१

ज्ञानीपुरुषको जो सुख रहता है, वह निजस्वभावमें स्थितिका रहता है। बाह्यपदार्थमें उसे सुखबुद्धि नहीं होती, इसलिए उस उस पदार्थसे ज्ञानीको सुखदुःखादिकी विशेषता कि न्यूनता नहीं कही जा सकती। यद्यपि सामान्यरूपसे शरीरके स्वास्थ्यादिसे साता और ज्वरादिसे असाता ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको होती है, तथापि ज्ञानीके लिए वह वह प्रसंग हर्षविषादका हेतु नहीं होता, अथवा ज्ञानके तारतम्यमें यदि न्यूनता हो तो उससे कुछ हर्षविषाद होता है, तथापि सर्वथा अजागृतताको पाने योग्य ऐसा हर्षविषाद नहीं होता। उदयबलसे कुछ वैसा परिणाम होता है, तो भी विचारजागृतिके कारण उस उदयको क्षीण करनेके प्रति ज्ञानीपुरुषका परिणाम रहता है।

वायुकी दिशा बदल जानेसे जहाज दूसरी तरफ चलने लगता है, तथापि जहाज चलानेवाला जैसे उस जहाजको अभीष्ट मार्गकी ओर रखनेके प्रयत्नमें ही रहता है; वैसे ज्ञानीपुरुष मन, वचन आदिके योगको निजभावमें स्थिति होनेकी ओर ही लगाता है; तथापि उदयवायुयोगसे यत्किंचित् दशाफेर हो जाता है, तो भी परिणाम, प्रयत्न स्वधर्ममें रहता है।

ज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, अज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, ऐसा कुछ नियम नहीं है। पूर्वनिष्पन्न शुभाशुभ कर्मके अनुसार दोनोंका उदय रहता है। ज्ञानी उदयमें सम रहता है, अज्ञानी हर्षविषादको प्राप्त होता है।

जहाँ संपूर्ण ज्ञान है वहाँ तो स्त्री आदि परिग्रहका भी अप्रसंग है। उससे न्यून भूमिकाकी ज्ञानदशामें (चौथे, पाँचवें गुणस्थानमें जहाँ उस योगका प्रसंग संभव है, उस दशामें) रहनेवाले ज्ञानी—सम्यग्दृष्टिको स्त्री आदि परिग्रहकी प्राप्ति होती है।

•

६०४ मुंबई, जेठ सुदी १२, वुध, १९५१

ॐ

मुनिको वचनोंकी पुस्तक (आपने जो पत्रादिका संग्रह लिखा है वह) पढ़नेकी इच्छा रहती है। भेजनेमें आपत्ति नहीं है। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

•

[५१६] ६०५ मुंबई, जेठ वदी २, १९५१

सविस्तर पत्र लिखनेका विचार था, तदनुसार प्रवृत्ति नहीं हो सकी। अभी उस तरफ कितनी स्थिरता होना संभव है? चौमासा कहाँ होना संभव है? उसे सूचित कर सकें तो सूचित कीजियेगा।

पत्रमें तीन प्रश्न लिखे थे, उनका उत्तर समागममें दिया जा सकने योग्य है। कदाचित् थोड़े वक्तके वाद समागमयोग हो।

विचारवानको देह छूटनेसंबंधी हर्षविषाद योग्य नहीं है। आत्मपरिणामकी विभावता ही हानि और वही मुख्य कारण है। स्वभावसन्मुखता तथा उसकी दृढ इच्छा भी उस हर्षविषादको दूर करती है।

●

[५१७] ६०६ मुंबई, जेठ वदी ५, बुध, १९५१

सर्वमें समभावकी इच्छा रहती है।

ए[1] श्रीपालनो रास करंतां, ज्ञान अमृत रस वूठयो रे, मुज०—श्री यशोविजयजी।

श्री सायलास्थित परम स्नेही श्री सोभाग,

तीव्र वैराग्यवान्‌को, जिस उदयको प्रसंग, शिथिल करनेमें वहुत वार फलीभूत होता है, वैसे उदयके प्रसंग देखकर चित्तमें अत्यंत उदासीनता आती है। यह संसार किस कारणसे परिचय करने योग्य है? तथा उसकी निवृत्ति चाहनेवाले विचारवानको प्रारब्धवशात् उसका प्रसंग रहा करता हो तो उस प्रारब्धका किसी दूसरे प्रकारसे शीघ्रतासे वेदन किया जा सकता है कि नहीं? उसे आप तथा श्री डुंगर विचारकर लिखियेगा।

जिस तीर्थंकरने ज्ञानका फल विरति कहा है उस तीर्थंकरको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो!

इच्छा न करते हुए भी जीवको भोगना पड़ता है, यह पूर्वकर्मके संवंधको यथार्थ सिद्ध करता है। यही विनती।

आ० स्व० दोनोंको प्रणाम

●

[६१९] ६०७ मुंबई, जेठ वदी ७, १९५१

श्री मुनि

'[2]जंगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणीए, समीप रहे पण शरीरनो नहीं संग जो,'
'एकांते वसवुं रे एक ज आसने, भूल पडे तो पड़े भजनमां भंग जो।'
—ओधवजी अवला ते साधन शुं करे?

●

१. इस श्री पालके रासको लिखते हुए ज्ञानामृत रस वरसा है।

२. भावार्थ—जंगम अर्थात् आत्माकी सभी युक्तियाँ हम जानती हैं। शरीरमें रहते हुए भी उसका संग नहीं है, उससे भिन्न हैं। मुमुक्षु किंवा साधक एकांतमें असंग होकर एक ही आसनपर स्थिर होकर रहे। यदि उस समय अन्य विचार-संकल्प-विकल्प उठ खडे हो तो भक्तिसाधनमें भंग पड जाये। ओधवजी! अवला वह साधन क्या करे?

[५१५] ६०८ मुंबई, जेठ वदी १०, सोम, १९५१

तथारूप गंभीर वाक्य नहीं है, तो भी आशय गंभीर होनेसे एक लौकिक वचनका आत्मामें अभी बहुत बार स्मरण हो आता है, वह वाक्य इस प्रकार है—'रांडी रुए,[1] मांडी रुए, पण सात भरतारवाळी तो मोढुं ज न उघाडे'। वाक्य गंभीर न होनेसे लिखनेकी प्रवृत्ति न होती; परंतु आशय गंभीर होनेसे और अपने विषयमें विशेष विचारणीय दीखनेसे, आपको पत्र लिखनेका स्मरण हो आनेसे यह वाक्य लिखा है, इसपर यथाशक्ति विचार कीजियेगा यही विनती।

रायचंदके प्रणाम

●

[५१८] ६०९ मुंबई, जेठ, १९५१

(१) सहजस्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे श्री वीतराग 'मोक्ष' कहते हैं।

(२) जीव सहजस्वरूपसे रहित नहीं है, परंतु उस सहजस्वरूपका जीवको मात्र भान नहीं है, जो भान होना, वही सहजस्वरूपसे स्थिति है।

(३) संगके योगसे यह जीव सहजस्थितिको भूल गया है; संगकी निवृत्तिसे सहजस्वरूपका अपरोक्ष भान प्रगट होता है।

(४) इसी लिए सर्व तीर्थंकरादि ज्ञानियोंने असंगता ही सर्वोत्कृष्ट कही है, कि जिसके लिए सर्व आत्मसाधन रहे हैं।

(५) सर्व जिनागममें कहे हुए वचन एक मात्र असंगतामें ही समा जाते हैं; क्योंकि वह होनेके लिए ही वे सर्व वचन कहे हैं। एक परमाणुसे लेकर चौदह राजलोककी और निमेषोन्मेषसे लेकर शैलेशीअवस्था पर्यंतकी जो सर्व क्रियाओंका वर्णन किया गया है, वह इसी असंगताको समझानेके लिए किया है।

(६) सर्व भावसे असंगता होना, यह सबसे दुष्करसे दुष्कर साधन है; और वह निराश्रयतासे सिद्ध होना अत्यंत दुष्कर है। ऐसा विचारकर श्री तीर्थंकरने सत्संगको उसका आधार कहा है, कि जिस सत्संगके योगसे जीवको सहजस्वरूपभूत असंगता उत्पन्न होती है।

(७) वह सत्संग भी जीवको बहुत बार प्राप्त होनेपर भी फलवान नहीं हुआ, ऐसा श्री वीतरागने कहा है, क्योंकि उस सत्संगको पहचानकर इस जीवने उसे परम हितकारी नहीं समझा, परमस्नेहसे उसकी उपासना नहीं की, और प्राप्तका भी अप्राप्त फलवान होनेयोग्य संज्ञासे विसर्जन किया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है उसी बातकी विचारणसे हमारी आत्मामें आत्मगुणका आविर्भाव होकर सहजसमाधिपर्यंत प्राप्त हुए, ऐसे सत्संगको मैं अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

(८) अवश्य इस जीवको प्रथम सर्व साधनोंको गौण मानकर निर्वाणके मुख्य हेतुभूत सत्संगकी ही सर्वार्पणतासे उपासना करना योग्य है; कि जिससे सर्व साधन सुलभ होते हैं, ऐसा हमारा आत्मसाक्षात्कार है।

(९) उस सत्संगके प्राप्त होनेपर यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीवका ही दोष है; क्योंकि उस सत्संगके अपूर्व, अलभ्य और अत्यंत दुर्लभ योगसे भी उसने उस सत्संगके योगके बाधक अनिष्ट कारणोंका त्याग नहीं किया।

---

१. राँड रोए सुहागन रोए, परंतु सात भर्तारवाली तो मुँह ही न खोले।

(१०) मिथ्याग्रह, स्वच्छन्दता, प्रमाद और इन्द्रियविषयकी उपेक्षा न की हो तभी सत्संग फलवान नहीं होता; अथवा सत्संगमें एक निष्ठा, अपूर्वभक्ति न की हो तो फलवान नहीं होता। यदि एक ऐसी अपूर्वभक्तिसे सत्संगकी उपासना की हो तो अल्पकालमें मिथ्याग्रहादिका नाश हो और अनुक्रमसे जीव सर्व दोषोंसे मुक्त हो जाये।

(११) सत्संगकी पहचान होना जीवको दुर्लभ है। किसी महान् पुण्ययोगसे उसकी पहचान होनेपर निश्चयसे यही सत्संग, सत्पुरुष है, ऐसा साक्षीभाव उत्पन्न हुआ हो, वह जीव अवश्य ही प्रवृत्तिका संकोच करे; अपने दोषोंको क्षण क्षणमें, कार्य कार्यमें और प्रसंग प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगसे देखे; देखकर उन्हें परिक्षीण करे; और उस सत्संगके लिए देहत्याग करनेका योग होता हो तो उसे स्वीकार करे; परंतु उससे किसी पदार्थमें विशेष भक्तिस्नेह होने देना योग्य नहीं है। तथा प्रमादसे रसगारव आदि दोषोंसे उस सत्संगके प्राप्त होनेपर पुरुषार्थधर्म मंद रहता है, और सत्संग फलवान नहीं होता, ऐसा जानकर पुरुषार्थवीर्यका गोपन करना योग्य नहीं है।

(१२) सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहचान होनेपर भी यदि वह योग निरंतर न रहता हो तो सत्संगसे प्राप्त हुए उपदेशका ही प्रत्यक्ष सत्पुरुषके तुल्य समझकर विचार करना तथा आराधन करना कि जिस आराधनसे जीवको अपूर्व सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

(१३) जीवको मुख्यसे मुख्य और आवश्यकसे आवश्यक यह निश्चय रखना चाहिए कि मुझे जो कुछ करना है वह आत्माके लिए कल्याणरूप हो, उसे ही करना है, और उसीके लिए इन तीन योगोंकी उदयबलसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना, परंतु अंतमें उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके लिए उस प्रवृत्तिका संकोच करते करते क्षय हो जाये, यही उपाय कर्तव्य है। वह उपाय मिथ्याग्रहका त्याग, स्वच्छंदताका त्याग, प्रमाद और इंद्रिय विषयका त्याग, यह मुख्य है। उस सत्संगके योगमें अवश्य आराधन करते ही रहना, और सत्संगकी परोक्षतामें तो अवश्य अवश्य आराधन किये ही जाना; क्योंकि सत्संगके प्रसंगमें तो यदि जीवकी कुछ न्यूनता हो तो उसके निवारण होनेका साधन सत्संग है, परंतु सत्संगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्मबल ही साधन है। यदि वह आत्मबल सत्संगसे प्राप्त हुए बोधका अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरणमें होनेवाले प्रमादको न छोड़े, तो किसी दिन भी जीवका कल्याण न हो।

संक्षेपमें लिखे हुए ज्ञानीके मार्गके आश्रयके उपदेशक इन वाक्योंका मुमुक्षुजीवको अपनी आत्मामें निरंतर परिणमन करना योग्य है, जिन्हें हमने अपने आत्मगुणका विशेप विचार करनेके लिए शब्दोंमें लिखा है।

●

[५२०] ६१० मुंबई, आषाढ़ सुदी १, रवि, १९५१

लगभग पंद्रह दिन पहले एक और आज एक ऐसे दो पत्र मिले हैं। आजके पत्रसे दो प्रश्न जाने हैं। संक्षेपमें उनका समाधान इस प्रकार है—

(१) सत्यका ज्ञान होनेके अनंतर मिथ्याप्रवृत्ति दूर न हो, ऐसा नहीं होता। क्योंकि जितने अंशमें सत्यका ज्ञान हो उतने अंशमें मिथ्याभावप्रवृत्ति दूर हो, ऐसा जिनका निश्चय है। कभी पूर्व प्रारब्धसे बाह्य प्रवृत्तिका उदय रहता हो तो भी मिथ्याप्रवृत्तिमें तादात्म्य न हो, यह ज्ञानका लक्षण है और नित्यप्रति मिथ्याप्रवृत्ति परिक्षीण हो, यही सत्यज्ञानकी प्रतीतिका फल है। मिथ्याप्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो, तो सत्यका ज्ञान भी संभव नहीं।

(२) देवलोकमेंसे जो मनुष्यलोकमें आये, उसे अधिक लोभ होता है, इत्यादि कहा है वह सामान्यतः है, एकांत नहीं है। यही विनती।

●

[५२१] ६११ मुंबई, आषाढ़ सुदी १, रवि, १९५१

जैसे अमुक वनस्पतिकी अमुक ऋतुमें उत्पत्ति होती है, वैसे अमुक ऋतुमें विपरिणाम भी होता है। सामान्यतः आमके रस-स्पर्शका विपरिणाम आर्द्रा नक्षत्रमें होता है। आर्द्रा नक्षत्रके बाद जो आम उत्पन्न होता है उसका विपरिणामकाल आर्द्रा नक्षत्र है, ऐसा नहीं है। परंतु सामान्यतः चैत्र, वैशाख आदि मासमें उत्पन्न होनेवाले आमकी आर्द्रा नक्षत्रमें विपरिणामिता संभव है।

●

[५२२] ६१२ मुंबई, आषाढ़ सुदी १, रवि, १९५१

ॐ

श्री सायलास्थित परम स्नेही श्री सोभाग;

आपके दो पत्र मिले हैं। हमसे अभी कुछ विशेष लिखना नहीं होता, पहले जो विस्तारसे एक प्रश्नके समाधानमें अनेक प्रकारके दृष्टांत देकर सिद्धांतसे लिखना हो सकता था उतना अभी नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं परंतु चार पंक्तियाँ जितना लिखना हो तो भी कठिन पड़ता है; क्योंकि अभी चित्तकी प्रवृत्ति अंतर्विचारमें विशेष रहती है; और लिखने आदिकी प्रवृत्तिसे चित्त संकुचित रहता है। फिर उदय भी तथारूप रहता है। पहलेकी अपेक्षा बोलनेके संबंधमें भी प्रायः ऐसा ही उदय रहता है। तो भी कितनी बार लिखनेकी अपेक्षा बोलनेका कुछ विशेष बन पाता है। जिससे समागममें जानने योग्य पूछना हो तो स्मरण रखियेगा।

अहोरात्र प्रायः विचारदशा रहा करती है, जिसे संक्षेपमें भी लिखना नहीं हो सकता। समागममें कुछ प्रसंगोपात्त कहा जा सकेगा तो वैसा करनेकी इच्छा रहती है, क्योंकि उससे हमें भी हितकारक स्थिरता होगी।

कबीरपंथी वहाँ आये हैं; उनका समागम करनेमें बाधाका संभव नहीं है। और यदि उनकी कोई प्रवृत्ति यथायोग्य न लगती हो तो उस बातपर अधिक ध्यान न देते हुए उनके विचारका कुछ अनुकरण करना योग्य लगे तो विचार करना।

जो वैराग्यवान हो उसका समागम कितने प्रकारसे आत्मभावकी उन्नति करता है।

सायलामें अमुक समय स्थिरता करनेके संबंधमें आपने लिखा, इस बातका अभी उपशम करनेका प्रायः चित्त रहता है। क्योंकि लोकसंबंधी समागमसे उदासभाव विशेष रहता है। तथा एकांत जैसे योगके विना कितनी ही प्रवृत्तियोंका निरोध करना नहीं हो सकता, जिससे आपकी लिखी हुई इच्छाके लिए प्रवृत्ति हो सकना अशक्य है।

यहाँसे जिस तारीखको निवृत्ति हो सकेगी, उस तारीख तथा बादकी व्यवस्थाके विषयमें यथायोग्य विचार हो जानेपर उस विषयमें आपको पत्र लिखूँगा।

श्री डुंगर और आप कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। यहाँसे पत्र आये कि न आये, इसकी राह न देखियेगा।

श्री सोभागका विचार अभी इस तरफ आनेका रहता हो तो अभी विलंव करना योग्य है। कुछ ज्ञानवार्ता लिख सकें तो लिखियेगा। यही विनती।

आ० स्व० प्रणाम

●

[५२३] ६१३ मुंबई, आषाढ़ सुदी ११, बुध, १९५१

जिस कषाय-परिणामसे अनंत संसारका वंध हो उस कषाय-परिणामको जिन प्रवचनमें 'अनंतानुवंधी' संज्ञा दी है। जिस कषायमें तन्मयतासे अप्रशस्त (अशुभ) भावसे तीव्र उपयोगसे आत्माकी प्रवृत्ति है, वहाँ 'अनंतानुवंधी' का संभव है। मुख्यतः यहाँ कहे हुए स्थानकमें उस कषाय-का विशेष संभव है। सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्मका जिस प्रकारसे द्रोह हो, अवज्ञा हो, तथा विमुखभाव हो, इत्यादि प्रवृत्तिसे, तथा असद्देव, असद्गुरु तथा असद्धर्मका जिस प्रकारसे आग्रह हो, तत्संबंधी कृतकृत्यता मान्य हो, इत्यादि प्रवृत्ति करते हुए 'अनंतानुबंधी कषाय' का संभव है; अथवा ज्ञानीके वचनमें स्त्रीपुत्रादि भावोंको, जिस मर्यादाके पश्चात् इच्छा करते हुए निर्ध्वंस परिणाम कहा है, उस परिणामसे प्रवृत्ति करते हुए भी 'अनंतानुबंधी' होने योग्य है। संक्षेपमें अनंतानुबंधी कषायकी व्याख्या इस प्रकार प्रतीत होती है।

जो पुत्रादि वस्तु लोकसंज्ञासे इष्ट मानी जाती है, उस वस्तुको दुःखदायक एवं असारभूत जानकर प्राप्त होनेके वाद नष्ट हो जानेपर भी इष्ट नहीं लगती थी, वैसी वस्तुकी अभी इच्छा उत्पन्न होती है, और उससे अनित्यभाव जैसे बलवान हो वैसा करनेकी अभिलाषा उद्भूत होती है, इत्यादि जो उदाहरणसहित लिखा उसे पढ़ा है।

जिस पुरुषकी ज्ञानदशा स्थिर रहने योग्य है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको भी संसारप्रसंगका उदय हो तो जागृतरूपसे प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसा वीतरागने कहा है, वह अन्यथा नहीं है। और हम सब जागृतरूपसे प्रवृत्ति करनेमें कुछ शिथिलता रखें तो उस संसारप्रसंगसे वाधा होनेमें देर न लगे, ऐसा उपदेश इन वचनोंसे आत्मामें परिणमन करना योग्य है, इसमें संशय करना उचित नहीं हैं। प्रसंगकी यदि सर्वथा निवृत्ति अशक्य होती हो तो प्रसंगको कम करना योग्य है, और क्रमशः सर्वथा निवृतिरूप परिणाम लाना योग्य है, यह मुमुक्षुपुरुषका भूमिकाधर्म है। सत्संग और सत्शास्त्रके योगसे उस धर्मका विशेषरूपसे आराधन संभव है।

●

६१४

पुत्रादि पदार्थकी प्राप्तिमें अनासक्ति होने जैसा हुआ था, परंतु अभी उससे विपरीत भावना रहती है। उस पदार्थको देखकर प्राप्तिसंबंधी इच्छा हो आती है, इससे यह समझमें आता है कि किसी विशेष सामर्थ्यवान महापुरुषके सिवाय सामान्य मुमुक्षुने उस पदार्थका, समागम करके उस पदार्थकी तथारूप अनित्यता समझकर त्याग किया हो तो उस त्यागका निर्वाह हो सकता है। नहीं तो अभी जैसे विपरीत भावना उत्पन्न हुई है वैसे प्रायः होनेका समय वैसे मुमुक्षुके लिए आनेका संभव है। और ऐसा क्रम कितने ही प्रसंगोंसे वड़े पुरुषोंको भी मान्य हो, ऐसा समझमें आता है। इसपर सिद्धांतसिंधुका कथासंक्षेप तथा दूसरे दृष्टांत लिखे, इसलिए संक्षेपमें यह लिख-नेसे समाधान विचारियेगा।

●

[५२४] ६१५ मुंबई, आषाढ सुदी १३, गुरु, १९५१

श्रीमद् वीतरागाय नमः

श्री सायलास्थित शाश्वत मार्गनैष्ठिक श्री सोभागके प्रति यथायोग्यपूर्वक,

आपके लिखे पत्र मिले हैं। तथारूप उदय विशेषसे उत्तर लिखनेकी प्रवृत्ति अभी बहुत कम रहती है। इसलिए यहाँसे पत्र लिखनेमें विलंब होता है। परंतु आप, कुछ ज्ञानवार्ता लिखनी सूझे तो उस विलंबके कारण उसे लिखनेसे न रुकियेगा। अभी आप तथा श्री डुंगरकी ओरसे ज्ञानवार्ता लिखी नहीं जाती, उसे लिखियेगा। अभी श्री कबीरसंप्रदायी साधुका कुछ समागम होता है कि नहीं ? उसे लिखियेगा।

यहाँसे थोड़े वक्तके लिए निवृत्ति होनेके समयके बारेमें पूछा, उसका उत्तर लिखते हुए मनमें संकोच होता है। यदि हो सका तो दो एक दिनके पीछे लिखूँगा।

नीचेके बोलोंके प्रति आप तथा श्री डुंगरको विशेष विचारपरिणति करना योग्य है :—

(१) केवलज्ञानका स्वरूप किस प्रकार घटता है ?

(२) इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें उसका संभव है कि नहीं ?

(३) केवलज्ञानीमें किस प्रकारकी आत्मस्थिति हो ?

(४) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञानके स्वरूपमें किस प्रकारसे भेद होना योग्य है ?

(५) सम्यग्दर्शनवान पुरुषकी आत्मस्थिति कैसी हो ?

आप तथा श्री डुंगरको उपर्युक्त बोलोंपर यथाशक्ति विशेष विचार करना योग्य है। इस-संबंधमें पत्रद्वारा आपसे लिखानेयोग्य लिखियेगा। अभी यहाँ उपाधिकी कुछ न्यूनता है। यही विनती।

आ० स्व० यथायोग्य

•

[५२५] ६१६ मुंबई, आषाढ वदी, रवि, १९५१

श्रीमद् वीतरागको नमस्कार

श्री स्थंभतीर्थस्थित शुभेच्छासंपन्न भाई अंबालाल तथा भाई त्रिभोवनके प्रति,

भाई अंबालालके लिखे चिट्ठी-पत्र तथा भाई त्रिभोवनके लिखे पत्र मिले हैं। अमुक आत्म-दशाके कारण विशेषतः लिखना, सूचित करना नहीं हो पाता। जिससे किसी मुमुक्षुको होने योग्य लाभमें मेरी तरफसे जो विलंब होता है, उस विबंबको निवृत्त करनेकी वृत्ति होती है, परंतु उदयके किसी योगसे अभी तक वैसा ही व्यवहार होता है।

आषाढ सुदी २ को इस क्षेत्रसे थोड़े वक्तके लिए निवृत्ति हो सकनेकी संभावना थी, उस-समयके आसपास दूसरे कार्यका उदय प्राप्त होनेसे लगभग आषाढ वदी ३० तक स्थिरता होना संभव है। यहाँसे निकलते हुए ववाणिया जाने तकमें बीचमें एकाध दो दिनकी स्थिति करना चित्तमें यथायोग्य नहीं लगता। ववाणियामें कितने दिनकी स्थिति संभव है, यह अभी विचारमें नहीं आ सका है, परंतु भादों सुदी दशमीके आसपास यहाँ आनेका कुछ कारण संभव है और इस लिए ऐसा लगता है कि ववाणिया श्रावण सुदी १५ तक अथवा श्रावण वदी १० तक रहना होगा।

लौटते वक्त श्रावण वदी दशमीको ववाणियासे निकलना हो तो भादों सुदी दशमी तक बीचमें किसी निवृत्तिक्षेत्रमें रुकना बन सके। अभी इस संबंधी अधिक विचार करना अशक्य है।

अभी इतना विचारमें आता है कि यदि किसी निवृत्तिक्षेत्रमें रुकना हो तो भी मुमुक्षु भाइयोंसे अधिक प्रसंग करनेका मुझसे होना अशक्य है, यदि इस बातपर अभी विशेष विचार होना संभव है।

सत्समागम और सत्शास्त्रका लाभ चाहनेवालों मुमुक्षुओंको आरंभ परिग्रह और रसास्वादादिका प्रतिबन्ध कम करना योग्य है, ऐसा श्री जिनादि महापुरुषोंने कहा है। जब तक अपने दोष विचारकर उन्हें कम करनेके लिए प्रवृत्तिशील न हुआ जाये तब तक सत्पुरुषके कहे हुए मार्गका फल पाना कठिन है। इस बातपर मुमुक्षु जीवको विशेष विचार करना योग्य है।

निवृत्तिक्षेत्रमें रुकनेसंबंधी विचारको अधिक स्पष्टतासे सूचित करना संभव होगा तो करूँगा। अभी यह बात मात्र प्रसंगसे आपको सूचित करनेके लिए लिखी है, जो विचार अस्पष्ट होनेसे दूसरे मुमुक्षु भाइयोंको भी बताना योग्य नहीं है। आपको सूचित करनेमें भी कोई राग हेतु नहीं है। यही विनती।

आ० स्व० यथायोग्य

•

[५२६] ६१७ मुंबई, आषाढ़ वदी ७, रवि, १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

श्री सायलास्थित सत्संगनैष्ठिक श्री सोभाग,

आपका और श्री लहेराभाईका लिखा पत्र मिला है।

इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें केवलज्ञान संभव है कि नहीं ? इत्यादि प्रश्न लिखे थे, उसके उत्तरमें आपके तथा श्री लहेराभाईके विचार; प्राप्त पत्रसे विशेषतः जाने हैं। इन प्रश्नोंपर आपको, लहेराभाईको तथा श्री डुंगरको विशेष विचार कर्तव्य है। अन्य दर्शनमें जिस प्रकारसे केवलज्ञानादिका स्वरूप कहा है, उसमें और जैनदर्शनमें उस विषयका जो स्वरूप कहा है, उनमें कितना ही मुख्य भेद देखनेमें आता है, उन सबका विचार होकर समाधान हो तो आत्माके कल्याणका अंगभूत है; इसलिए इस विषयपर अधिक विचार हो तो अच्छा है।

'अस्ति' इस पदसे लेकर सब भाव आत्माके लिए विचारणीय हैं। उसमें जो स्वस्वरूपकी प्राप्तिका हेतु है, वह मुख्यतः विचारणीय है, और उस विचारके लिए अन्य पदार्थके विचारकी भी अपेक्षा रहती है, उसके लिए वह भी विचारणीय है।

परस्पर दर्शनोंका बड़ा भेद देखनेमें आता है। उन सबकी तुलना करके अमुक दर्शन सच्चा है ऐसा निर्धार सभी मुमुक्षुओंको होना दुष्कर है, क्योंकि उस तुलना करनेकी क्षयोपशमशक्ति किसी जीवमें होती है। फिर एक दर्शन सर्वांशमें सत्य है और दूसरा दर्शन सर्वांशमें असत्य है ऐसा विचारमें सिद्ध हो, तो दूसरे दर्शनकी प्रवृत्ति करनेवालेकी दशा आदि विचारणीय है, क्योंकि जिसके वैराग्य-उपशम बलवान हैं, उसने सर्वथा असत्यका निरूपण क्यों किया हो ? इत्यादि विचारणीय है। परंतु सब जीवोंसे यह विचार होना दुष्कर है। और यह विचार कार्यकारी भी है, करने योग्य है। परंतु वह किसी माहात्म्यवानको होना योग्य है। फिर बाकी जो मुमुक्षुजीव हैं, उन्हें इस संबंधमें क्या करना योग्य है ? यह भी विचारणीय है।

सर्व प्रकारके सर्वांग समाधानके विना सर्व कर्मसे मुक्त होना अशक्य है, यह विचार हमारे चित्तमें रहा करता है, और सर्व प्रकारका समाधान होनेके लिए अनंतकाल पुरुषार्थ करना पड़ता हो तो प्रायः कोई जीव मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए यह मालूम होता है कि अल्पकालमें उस सर्व प्रकारके समाधानका उपाय होना योग्य है; जिसमें मुमुक्षु जीवको निराशाका कारण भी नहीं है।

श्रावण सुदी ५-६ के बाद यहाँसे निवृत्ति हो सके ऐसा मालूम होता है। परंतु यहाँसे जाते वक्त बीचमें रुकना योग्य है कि नहीं? यह अभी तक विचारमें नहीं आ सका है। कदाचित् जाते या लौटते वक्त बीचमें रुकना हो सके, तो वह किस क्षेत्रसे हो सके, यह अभी स्पष्ट विचारमें नहीं आता। जहाँ क्षेत्रस्पर्शना होगी वहाँ स्थिति होगी।

आ० स्व० प्रणाम

●

[५२९] ६१८ मुंबई, आषाढ वदी ११, गुरु, १९५१

परमार्थनैष्ठिकादि गुणसंपन्न श्री सोभागके प्रति,

पत्र मिला है। केवल ज्ञानादिके प्रश्नोत्तरका आपको तथा श्री डुंगर एवं लहेराभाईको यथाशक्ति विचार करना चाहिए।

जिस विचारवान पुरुषकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप नित्य प्रति क्लेशस्वरूप भासमान होता हो, उस सांसारिक भोगोपभोगमें जिसे विरसता जैसी रहती हो, उस विचारवानको दूसरी तरफ लोकव्यवहारादि, व्यापारादिका उदय रहता हो, तो वह उदय प्रतिबंध इन्द्रियके सुखके लिए नहीं परंतु आत्महितके लिए दूर करना हो, तो दूर कर सकनेका क्या उपाय होना चाहिए? इस संबंधमें कुछ सूचित करनेका हो तो कीजियेगा। यही विनती।

आ० स्व० यथा०

●

[५३०] ६१९ मुंबई, आषाढ वदी १४, रवि, १९५१

ॐ

नमो वीतरागाय

सर्व प्रतिबंधसे मुक्त हुए विना सर्व दुःखसे मुक्त होना संभव नहीं है।

श्री सायलास्थित परमार्थनैष्ठिक श्री सोभागके प्रति,

यहाँसे ववाणिया जाते हुए सायला ठहरनेके संबंधमें आपकी विशेष इच्छा मालूम हुई है; और इस विषयमें कोई भी रास्ता निकले तो ठीक, ऐसा कुछ चित्तमें रहता था, तथापि एक कारणका विचार करते हुए दूसरा कारण बाधित होता हो वहाँ क्या करना योग्य है? उसका विचार करते हुए जब कोई वैसा मार्ग देखनेमें नहीं आता तब जैसे सहजमें बन आये वैसे करनेकी परिणति रहती है, अथवा आखिर कोई उपाय न चले तो बलवान कारण बाधित न हो वैसा प्रवर्तन होता है। बहुत समयके व्यावहारिक प्रसंगके कंटालासे थोड़ा समय भी किसी तथारूप क्षेत्रमें निवृत्तिसे रहा जाये तो अच्छा, ऐसा चित्तमें रहा करता था। तथा यहाँ अधिक समय

स्थिति होनेसे जो देहके जन्मके निमित्त कारण हैं, ऐसा मातापितादिके वचनके लिए चित्तकी प्रियताके अक्षोभके लिए, तथा कुछ दूसरोंके चित्तकी अनुप्रेक्षाके लिए भी थोड़े दिनके लिए ववाणिया जानेका विचार उत्पन्न हुआ था। उन दोनों प्रकारके लिए कब योग हो तो अच्छा, ऐसा विचार करनेसे कोई यथायोग्य समाधान नहीं होता था। तत्संबंधी विचारकी सहज हुई विशेषतासे अभी जो कुछ विचारकी अल्पता स्थिर हुई, उसे आपको सूचित किया था। सर्व प्रकारके असंगलक्ष्यके विचारको यहाँसे अप्रसंग समझकर, दूर रखकर, अल्पकालकी अल्प असंगताका अभी कुछ विचार रखा है, वह भी सहज स्वभावसे उदयानुसार हुआ है।

उसमें किन्हीं कारणोंका परस्पर विरोध न होनेके लिए इस प्रकार विचार आता है:— यहाँसे श्रावण सुदीमें निवृत्ति हो तो इस समय बीचमें कहीं भी न ठहरकर सीधे ववाणिया जाना। वहाँसे शक्य हो तो श्रावण वदी ११ को वापस लौटना, और भादों सुदी १० के आसपास किसी निवृत्तिक्षेत्रमें स्थिति हो वैसे यथाशक्ति उदयकी उपराम जैसा रखकर प्रवृत्ति करना। यद्यपि विशेष निवृत्ति, उदयका स्वरूप देखते हुए, प्राप्त होनी कठिन मालूम होती है; तो भी सामान्यतः जानी जा सके उतनी प्रवृत्तिमें न आया जाये तो अच्छा ऐसा मन रहता है। और इस बातपर विचार करते हुए यहाँसे जाते वक्त रुकनेका विचार छोड़ देनेसे सुलभ होगा ऐसा लगता है। एक भी प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए तथा लिखते हुए प्रायः जो अक्रियपरिणति रहती है, उस परिणतिके कारण अभी ठीक तरहसे सूचित नहीं किया जा सकता; तो भी आपके जाननेके लिए मुझसे यहाँ जो कुछ सूचित किया जा सका उसे सूचित किया है। यही विनती। श्री डुंगर तथा लहेराभाईको यथायोग्य।

सहजात्मस्वरूप यथायोग्य

[५३१] ६२० मुंबई, आषाढ वदी ३०, सोम, १९५१

जन्मसे जिन्हें मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान थे और आत्मोपयोगी वैराग्यदशा थी, अल्पकालमें भोगकर्म क्षीण करके संयमको ग्रहण करते हुए मनःपर्यय नामका ज्ञानको प्राप्त हुए थे; ऐसे श्रीमद् महावीरस्वामी भी बारह वर्ष और साढ़े छः मास तक मौन रहकर विचरते रहे। इस प्रकारका उनका प्रवर्तन उस उपदेशमार्गका प्रवर्तन करते हुए किसी भी जीवको अत्यंतरूपसे विचार करके प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसी अखंड शिक्षाका प्रतिबोध करता है। तथा जिन जैसोंने जिस प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न किया, उस प्रतिबंधमें अजागृत रहने योग्य कोई भी जीव न हो ऐसा बताया है, तथा अनंत आत्मार्थका उस प्रवर्तनसे प्रकाश किया है। जिस प्रकारके प्रति विचारकी विशेष स्थिरता रहती है, उसे रखना योग्य है।

जिस प्रकारका पूर्वप्रारब्ध भोगनेसे निवृत्त होने योग्य है, उस प्रकारका प्रारब्ध उदासीनतासे वेदन करना योग्य है; जिससे उस प्रकारके प्रति प्रवृत्ति करते हुए जो कोई प्रसंग प्राप्त होता है, उस उस प्रसंगमें जागृत उपयोग न हो, तो जीवकी समाधिविराधना होनेमें देर न लगे। इस लिए सर्व संगभावको मूलरूपसे परिणामी करके भोगे बिना न छूट सके वैसे प्रसंगके प्रति प्रवृत्ति होने देना योग्य है, तो भी उस प्रकारको करते हुए जिससे सर्वांश असंगता उत्पन्न हो उस प्रकारका सेवन करना योग्य है।

कुछ समयसे सहजप्रवृत्ति और उदीरणप्रवृत्ति, इस भेदसे प्रवृत्ति रहती है। मुख्यतः

सहजप्रवृत्ति रहती है। सहजप्रवृत्ति अर्थात् जो प्रारब्धोदयसे उत्पन्न हो, परंतु जिसमें कर्त्तव्य परिणाम नहीं है। दूसरी उदीरणप्रवृत्ति वह है जो परार्थ आदिके योगसे करनी पड़े। अभी दूसरी प्रवृत्ति होनेमें आत्मा संकुचित होती है; क्योंकि अपूर्व समाधियोगको उस कारणसे भी प्रतिबंध होता है, ऐसा सुना था तथा जाना था; और अभी वैसे स्पष्टरूपसे वेदन किया है। उन उन कारणोंसे अधिक समागममें आने, पत्रादिसे कुछ भी प्रश्नोत्तरादि लिखने, तथा दूसरे प्रकारसे परमार्थ आदिके लिखने-करनेका भी मंद होनेके पर्यायका आत्मा सेवन करती है। ऐसे पर्यायका सेवन किये विना अपूर्व समाधिकी हानि संभव थी। ऐसा होनेपर भी यथायोग्य मंद प्रवृत्ति नहीं हुई।

यहाँसे श्रावण वदी ५–६ को निकलना संभव है, परंतु यहाँसे जाते वक्त समागमका योग हो सकने योग्य नहीं है। और हमारे जानेके प्रसंगके विषयमें अभी आपके लिए किसी दूसरेको भी बतानेका विशेष कारण नहीं है, क्योंकि जाते वक्त समागम नहीं करनेके संबंधमें उन्हें कुछ संशय प्राप्त होनेका संभव हो, जैसे न हो तो अच्छा। यही विनती।

●

[६२३] ६२१ मुंबई, आषाढ वदी ३०, सोम, १९५१

आपको तथा दूसरे किन्हीं समागमकी निष्ठावाले भाइयोंको हमारे समागमसंबंधी अभिलाषा रहती है, यह बात ध्यानमें रहती है; परंतु अमुक कारणोंसे इस विषयका विचार करते हुए प्रवृत्ति नहीं होती, जिन कारणोंको बताते हुए भी चित्तको संकोच होता है। यद्यपि उस विषयमें कुछ भी स्पष्टतासे लिखना बन पाया हो तो पत्र तथा समागमादिकी प्रतीक्षा करानेकी और उसमें अनिश्चितता होती रहनेसे हमारी ओरसे जो कुछ क्लेश प्राप्त होने देनेका होता है उसके होनेका संभव कम हो; परंतु उस संबंधमें स्पष्टतासे लिखते हुए भी चित्त उपशम पाया करता है, इसलिए जो कुछ सहजमें हो उसे होने देना योग्य भासित होता है।

ववाणियासे लौटते वक्त प्रायः समागमका योग होगा। प्रायः चित्तमें ऐसा रहा करता है कि अभी अधिक समागम भी कर सकने योग्य दशा नहीं है। प्रथमसे इस प्रकारका विचार रहा करता था, और जो विचार अधिक श्रेयस्कर लगता था; परन्तु उदयवशात् कितने ही भाइयोंके समागम होनेका प्रसंग हुआ; जिसे एक प्रकारसे प्रतिबंध होने जैसा समझा था, और अभी कुछ भी वैसा हुआ है, ऐसा लगता है। वर्तमान आत्मदशा देखते हुए उतना प्रतिबंध होने देने योग्य अधिकार मेरे लिए संभव नहीं है। यहाँ कुछ प्रसंगसे स्पष्टार्थ बताना योग्य है।

इस आत्मामें गुणकी विशेष अभिव्यक्ति जानकर आप इत्यादि किन्हीं मुमुक्षुभाइयोंकी भक्ति रहती हो तो भी उससे उस व्यक्तिको योग्यता मेरे विषयमें संभव है ऐसा समझनेकी मेरी योग्यता नहीं है; क्योंकि बहुत विचार करते हुए वर्तमानमें तो वैसा संभव रहता है, और उस कारणसे समागमसे बहुतसा वक्त दूर रहनेका चित्त रहा करता है; तथा पत्रादि द्वारा प्रतिबंधकी भी अनिच्छा रहा करती है। इस बातका यथाशक्ति विचार करना योग्य है। प्रश्न-समाधानादि लिखनेका उदय भी अल्प रहनेसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा व्यापाररूप उदयका वेदन करनेमें विशेष ध्यान रखनेसे भी उसका इस कालमें बहुत भार कम हो सके, ऐसे विचारसे भी दूसरा प्रकार उसके साथ आता जानकर भी मंद प्रवृत्ति होती है। पूर्वकथितके अनुसार लौटते वक्त प्रायः समागम होनेका ध्यान रखूँगा।

एक विनती यहाँ करने योग्य है कि इस आत्मामें आपको गुणाभिव्यक्ति भासमान होती हो, और उससे अंतरमें भक्ति रहती हो तो उस भक्तिका यथायोग्य विचारकर जैसे आपको योग्य लगे वैसे करने योग्य है; परंतु इस आत्माके संबंधमें अभी बाहर किसी प्रसंगकी चर्चा होने देना योग्य नहीं है; क्योंकि अविरतिरूप उदय होनेसे गुणाभिव्यक्ति हो तो भी लोगोंको भासमान होना कठिन पड़े; और उससे विराधना होनेका कुछ भी हेतु हो जाय; तथा पूर्व महापुरुषके अनुक्रमका खंडन करने जैसा प्रवर्तन इस आत्मासे कुछ भी हुआ समझा जाये।

इस पत्रपर यथाशक्ति विचार कीजियेगा और आपके समागमवासी जो कोई मुमुक्षुभाई हों, उन्हें अभी नहीं, प्रसंग प्रसंगसे अर्थात् जिस वक्त उन्हें उपकारक हो सके वैसा संभव हो तब इस बातकी ओर ध्यान कीजियेगा। यही विनती।

●

[५३२] ६२२ मुंबई, आषाढ वदी ३०, १९५१

'अनंतानुबंधी' का जो [1]दूसरा प्रकार लिखा है, तत्संबंधी विशेषार्थ निम्नलिखितसे जानियेगा:—

उदयसे अथवा उदासभावसंयुक्त मंदपरिणतबुद्धिसे योगादिमें प्रवृत्ति हो, उस समय तक ज्ञानीकी आज्ञाको ठुकराकर प्रवृत्ति होना संभव नहीं; परंतु जहाँ भोगादिसे तीव्र तन्मयतासे प्रवृत्ति हो वहाँ ज्ञानीकी आज्ञाकी कोई अंकुशता संभव नहीं, निर्भयतासे भोगप्रवृत्ति संभवित है। जो निर्ध्वंस परिणाम कहे हैं, वैसे परिणाम रहें, वहाँ भी 'अनंतानुबंधी' संभवित है। तथा 'मैं समझता हूँ', 'मुझे बाधा नहीं है', ऐसीकी ऐसी मूर्च्छामें रहे और 'भोगसे निवृत्ति योग्य है' और फिर कुछ भी पुरुषार्थ करे तो हो सकने योग्य होनेपर भी मिथ्याज्ञानसे ज्ञानदशा मानकर भोगादिमें प्रवृत्ति करे, वहाँ भी 'अनंतानुबंधी' संभवित है।

जाग्रत अवस्थामें ज्यों ज्यों उपयोगकी शुद्धता हो त्यों त्यों स्वप्नदशाकी परिक्षीणता संभव है।

●

६२३ मुंबई श्रावण सुदी २, बुध, १९५१

आज चिट्ठी मिली है। ववाणिया जाते तथा वहाँसे लौटते हुए सायला होकर जानेके विषयमें विशेषतासे लिखा है, इस विषयमें क्या लिखना ? उसका विचार एकदम स्पष्ट निश्चयमें नहीं आ सका है, तो भी स्पष्टास्पष्ट जो कुछ यह पत्र लिखते वक्त ध्यानमें आया वह लिखा है।

आपके आजके पत्रमें हमारे लिखे हुए जिस पत्रकी आपने पहुँच लिखी है, उस पत्रपर अधिक विचार करना योग्य था, और ऐसा लगता था कि आप उसपर विचार करेंगे तो सायला आनेके संबंधमें अभी हमारी इच्छानुसार रखेंगे। परंतु आपके चित्तमें यह विचार विशेषतः आनेसे पहले यह पत्र लिखा गया है। फिर आपके चित्तमें जाते वक्त समागमकी विशेष इच्छा रहती है। तो उस इच्छाकी उपेक्षा करनेकी मेरी योग्यता नहीं है। ऐसे किसी प्रकारमें आपकी आसातना जैसी हो जाये, यह डर रहता है। अभी आपकी इच्छानुसार समागमके लिए आप, श्री डुंगर तथा श्री लहेराभाईका आनेका विचार हो तो एक दिन मूळी रुकूँगा। और दूसरे दिन कहेंगे तो मूळीसे जानेका विचार करूँगा। लौटते वक्त सायला रुकना कि नहीं ? इसका उस समागममें आपकी इच्छानुसार विचार करूँगा।

---

१. पत्रांक नं० ६१३।

मूळी एक दिन रोकनेका विचार यदि रखते हैं तो सायला एक दिन रोकनेमें आपत्ति नहीं है, ऐसा आप न कहियेगा क्योंकि ऐसा करनेसे अनेक प्रकारके अनुक्रमोंका भंग होना संभव है।

यही विनती।

६२४ मुंबई, श्रावण सुदी ३, गुरु, १९५१

किसी दशाभेदसे अमुक प्रतिबंध करनेकी मेरी योग्यता नहीं है।

दो पत्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रसंगमें समागमसंबंधी प्रवृत्ति हो सकना योग्य नहीं है।

[५३३] ६२५ ववाणिया, श्रावण सुदी १०, १९५१

ॐ

जो पर्याय है वह पदार्थका विशेष स्वरूप है, इसलिए मनःपर्ययज्ञानको भी पर्यायार्थिक ज्ञान समझकर उसे विशेष ज्ञानोपयोगमें गिना है; उसका सामान्य ग्रहणरूप विषय भासित न होनेसे दर्शनोपयोगमें नहीं गिना है, ऐसा सोमवार दोपहरके समय कहा था; तदनुसार जैनदर्शनका अभिप्राय भी आज देखा है। यह बात अधिक स्पष्ट लिखनेसे समझमें आ सकने जैसी है, क्योंकि उसे बहुतसे दृष्टांतोंकी सहचारिता आवश्यक है, तथापि यहाँ तो वैसा होना अशक्य है।

मनःपर्ययसंबंधी लिखा है वह प्रसंग, चर्चा करनेकी निष्ठासे नहीं लिखा है।

सोमवार रातको लगभग ग्यारह बजेके बाद जो कुछ मुझसे वचनयोगका प्रकाशन हुआ था, उसकी स्मृति रही हो तो यथाशक्ति लिखा जा सके तो लिखियेगा।

[५३४] ६२६ ववाणिया, श्रावण सुदी १२, शुक्र, १९५१

'निमित्तवासी यह जीव है', ऐसा एक सामान्य वचन है। वह संगप्रसंगसे होती हुई जीवकी परिणतिके विषयमें देखते हुए प्रायः सिद्धांतरूप लग सकता है।

सहजात्मस्वरूपसे यथा०

[५३५] ६२७ ववाणिया, श्रावण सुदी १५, सोम, १९५१

आत्मार्थके लिए विचारमार्ग और भक्तिमार्गका आराधन करना योग्य है; परन्तु जिसकी सामर्थ्य विचारमार्गके योग्य नहीं है उसे उस मार्गका उपदेश देना योग्य नहीं है, इत्यादि जो लिखा है वह योग्य है, तो भी इस विषयमें कुछ भी लिखना अभी चित्तमें नहीं आ सकता।

श्री डुंगरने केवलदर्शनके संबंधमें बतायी हुई आशंका लिखी है, उसे पढ़ा है। दूसरे अनेक प्रकार समझमें आनेके पश्चात् उस प्रकारकी आशंका निवृत्त होती है, अथवा वह प्रकार प्रायः समझने योग्य होता है। ऐसी आशंका अभी मंद अथवा उपशांत करके विशेष निकट ऐसे आत्मार्थका विचार करना योग्य है।

[५३६] ६२८ ववाणिया, श्रावण वदी ६, रवि, १९५१

ॐ

यहाँ पर्युषण पूरे होने तक स्थिति होना संभव है ।

केवलज्ञानादि इस कालमें हो इत्यादि प्रश्न पहले लिखे थे, उन प्रश्नोंपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा तथा परस्पर प्रश्नोत्तर श्री डुंगर आदिको करना योग्य है ।

गुणके समुदायसे भिन्न ऐसा कुछ गुणीका स्वरूप होना योग्य है क्या ? इस प्रश्नका आप सब यदि विचार कर सकें तो कीजियेगा । डुंगरको तो जरूर विचार करना योग्य है ।

कुछ उपाधियोगके व्यवसायसे तथा प्रश्नादि लिखने इत्यादिकी वृत्ति मंद होनेसे अभी सविस्तर पत्र लिखनेमें कम प्रवृत्ति होती होगी, तो भी हो सके तो यहाँ स्थिति है तब तकमें कुछ विशेष प्रश्नोत्तर इत्यादिसे युक्त पत्र लिखनेका हो तो लिखियेगा ।

सहजात्मभावनासे यथा०

❁

[५३७] ६२९ ववाणिया, श्रावण वदी ११, शुक्र, १९५१

श्री सायलास्थित आत्मार्थी श्री सोभाग तथा श्री डुंगर,

यहाँसे प्रसंगसे लिखे हुए जो चार प्रश्नोंका उत्तर लिखा उसे पढ़ा है । प्रथमके दो प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें है, तथापि यथायोग्य है । तीसरे प्रश्नका उत्तर सामान्यतः ठीक है, तथापि विशेष सूक्ष्म आलोचनसे उस प्रश्नका उत्तर लिखने योग्य है। वह तीसरा प्रश्न इस प्रकार है :—

'गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना योग्य है क्या ? अर्थात् सभी गुणोंका समुदाय वही गुणी अर्थात् द्रव्य ? अथवा उस गुणके समुदायके आधारभूत ऐसे भी किसी दूसरे द्रव्यका अस्तित्व है ? उसके उत्तरमें ऐसा लिखा कि—'आत्मा गुणी है। उसके गुण ज्ञानदर्शन आदि भिन्न हैं, यों गुणी और गुणकी विवक्षा की है, तथापि वहाँ विशेष विवक्षा करना योग्य है । ज्ञान-दर्शन आदि गुणसे भिन्न ऐसा बाकीका आत्मत्व क्या है ?' यह प्रश्न है । इसलिए यथाशक्ति इस प्रश्नका परिशीलन करना योग्य है ।

चौथा प्रश्न 'केवलज्ञान इस कालमें होना योग्य है क्या ?' उसका उत्तर ऐसा लिखा कि—'प्रमाणसे देखते हुए वह होने योग्य है ।' यह उत्तर भी संक्षेपसे है, जिसका बहुत विचार करना योग्य है । इस चौथे प्रश्नका विशेष विचार करनेके लिए उसमें इतना विशेष ग्रहण कीजियेगा कि—'जिस प्रकारसे जैनागममें केवलज्ञान माना है अथवा कहा है, उस केवलज्ञानका स्वरूप यथातथ्य कहा है ऐसा भासमान होता है कि नहीं ? और वैसा केवलज्ञानका स्वरूप हो ऐसा भासमान होता हो तो वह स्वरूप इस कालमें भी प्रगट होने योग्य है कि नहीं ? किंवा जो जैनागम कहता है उसके कहनेका हेतु कुछ भिन्न है, और केवलज्ञानका स्वरूप किसी दूसरे प्रकारसे कहने योग्य है तथा समझने योग्य है' ? इस बातपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा करना योग्य है। तथा तीसरा प्रश्न है वह भी अनेक प्रकारसे विचारणीय है । विशेष अनुप्रेक्षा करके, इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर लिख सकें तो लिखियेगा । प्रथमके दो प्रश्न हैं, उनके उत्तर संक्षेपमें लिखे हैं, वे विशेषतासे लिखे जा सके तो वे भी लिखियेगा । आपने पाँच प्रश्न लिखे हैं। उनमेंसे तीन प्रश्नोंके उत्तर यहाँ संक्षेपमें लिखे हैं ।

प्रथम प्रश्न—'जातिस्मरणज्ञानवाला पिछला भव किस तरह देखता है?' उसके उत्तरका विचार इस प्रकार कीजियेगा—

बचपनमें कोई गाँव, वस्तु आदि देखे हों, और बड़े होनेपर किसी प्रसंगपर उस गाँव आदिका आत्मामें स्मरण होता है, उस वक्त गाँव आदिका आत्मामें जिस प्रकार भान होता है, उस प्रकार जातिस्मरणज्ञानवानको पूर्वभवका भान होता है। कदाचित् यहाँ यह प्रश्न होगा कि, 'पूर्वभवमें अनुभव किये हुए देहादिका इस भवमें उपर्युक्तकी भाँति भान हो, इस बातको यथातथ्य मानें तो भी पूर्वभवके अनुभव किये हुए देहादि अथवा कोई देवलोकादि निवासस्थानके जो अनुभव किये हों, उन अनुभवोंकी स्मृति हुई है, और वे अनुभव यथातथ्य हुए हैं, इसे किस आधारसे समझा जाय?' तो इस प्रश्नका समाधान इस प्रकार है—अमुक अमुक चेष्टा और लिंग तथा परिणाम आदिसे अपनेको उसका स्पष्ट भान होता है, परंतु किसी दूसरे जीवको उसकी प्रतीति होनेके लिए तो नियमितता नहीं है। क्वचित् अमुक देशमें, अमुक गाँवमें, अमुक घरमें, पूर्वकालमें देह धारण किया हो, और उसके चिह्न दूसरे जीवको बतानेसे उस देशादिका अथवा उसके निशानादिकी कुछ भी विद्यमानता हो तो दूसरे जीवको भी प्रतीतिका हेतु होना संभव है; अथवा जातिस्मरणज्ञानवानकी अपेक्षा जिसका विशेष ज्ञान है, वह जाने। तथा जिसे 'जातिस्मरण-ज्ञान' है, उसकी प्रकृति आदिको जाननेवाला कोई विचारवान पुरुष भी जाने कि इस पुरुषको वैसे किसी ज्ञानका संभव है, अथवा 'जातिस्मृति' होना संभव है, अथवा जिसे 'जातिस्मृतिज्ञान' है, उस पुरुषके संबंधमें कोई जीव पूर्वभवमें आया है, विशेषतः आया है उसे उस संबंधके बतानेसे कुछ भी स्मृति हो तो वैसे जीवको भी प्रतीति आये।

दूसरा प्रश्न—'जीव प्रति समय मरता है, इसे किस तरह समझना?' इसका उत्तर इस प्रकार विचारियेगा—

जिस प्रकार आत्माको स्थूल देहका वियोग होता है, उसे मरण कहा जाता है, उस प्रकार स्थूल देहके आयु आदि सूक्ष्मपर्यायका भी प्रति समय हानिपरिणाम होनेसे वियोग हो रहा है, इसलिए उसे प्रति समय मरण कहना योग्य है। यह मरण व्यवहारनयसे कहा जाता है; निश्चय-नयसे तो आत्माके स्वाभाविक ज्ञानदर्शनादि गुणपर्यायकी, विभावपरिणामके योगके कारण हानि होती रहती है, और वह हानि आत्माके नित्यतादि स्वरूपको भी पकड़े रहती है, यह प्रति समय मरण है।

तीसरा प्रश्न—'केवलज्ञानदर्शनमें भूत और भविष्यकालके पदार्थ वर्तमानकालमें वर्तमान-रूपसे दिखायी देते हैं, वैसे दिखायी देते हैं कि दूसरी तरह?' इसका उत्तर इस प्रकार विचारियेगा—

वर्तमानमें वर्तमान पदार्थ जिस प्रकार दिखायी देते हैं, उसी प्रकार भूतकालके पदार्थ भूतकालमें जिस स्वरूपसे थे उस स्वरूपसे वर्तमानकालमें दिखायी देते हैं; और भविष्यकालमें वे पदार्थ जिस स्वरूपको प्राप्त करेंगे उस स्वरूपसे वर्तमानकालमें दिखायी देते हैं। भूतकालमें पदार्थने जिन जिन पर्यायोंको अपनाया है, वे कारणरूपसे वर्तमानमें पदार्थके रहे हैं और भविष्यकालमें जिन जिन पर्यायोंको अपनायेगा उनकी योग्यता वर्तमानमें पदार्थमें विद्यमान है। उस कारण और

योग्यताका ज्ञान वर्तमानकालमें भी केवलज्ञानीको यथार्थ स्वरूपसे हो सके। यद्यपि इस प्रश्नके विषयमें बहुतसे विचार बताना योग्य है।

●

[५३८] ६३० ववाणिया, श्रावण वदी १२, शनि, १९५१

गत शनिवारको लिखा हुआ पत्र मिला है। उस पत्रमें मुख्यतः तीन प्रश्न लिखे हैं। उनके उत्तर निम्नलिखित हैं, जिन्हें विचारियेगा:—

प्रथम प्रश्नमें ऐसा बताया है, कि 'एक मनुष्यप्राणी दिनके समय आत्माके गुण द्वारा अमुक हद तक देख सकता है; और रात्रिके समय अंधेरेमें कुछ नहीं देखता, फिर दूसरे दिन पुनः देखता है और फिर रात्रिको अंधेरेमें कुछ नहीं देखता। इससे एक अहोरात्रमें चालू इस प्रकारसे आत्माके गुणपर, अध्यवसायके बदले बिना, क्या न देखनेका आवरण आ जाता होगा? अथवा देखना यह आत्माका गुण नहीं परंतु सूरज द्वारा दिखायी देता है, इसलिए सूरजका गुण होनेसे उसकी अनुपस्थितिमें दिखायी नहीं देता? और फिर इसी तरह सुननेके दृष्टांतमें कान आड़ा रखनेसे सुनायी नहीं देता, तब आत्माका गुण क्यों भुला दिया जाता है?' इसका संक्षेपमें उत्तर—

ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मका अमुक क्षयोपशम होनेसे इंद्रियलब्धि उत्पन्न होती है। वह इंद्रियलब्धि सामान्यतः पाँच प्रकारकी कही जा सकती है। स्पर्शेंद्रियसे श्रवणेंद्रिय पर्यन्त सामान्यतः मनुष्यप्राणीको पाँच इन्द्रियोंकी लब्धिका क्षयोपशम होता है। उस क्षयोपशमकी शक्तिकी अमुक व्याहति होने तक जान-देख सकती है। देखना यह चक्षुरिंद्रियका गुण है, तथापि अंधकारसे अथवा वस्तु अमुक दूर होनेसे उसे पदार्थ देखनेमें नहीं आ सकता; क्योंकि चक्षुरिंद्रियकी क्षयोपशमलब्धि उस हद तक रुक जाती है, अर्थात् क्षयोपशमकी सामान्यतः इतनी शक्ति है। दिनमें भी विशेष अंधकार हो अथवा कोई वस्तु बहुत अंधेरेमें पड़ी हो अथवा अमुक हदसे दूर हो तो चक्षुसे दिखायी नहीं दे सकती। इस तरह दूसरी इन्द्रियोंकी लब्धिसंबंधी क्षयोपशमशक्ति तक उसके विषयमें ज्ञानदर्शनकी प्रवृत्ति है। अमुक व्याघात तक वह स्पर्श कर सकती है, अथवा सूँघ सकती है, स्वाद पहचान सकती है, अथवा सुन सकती है।

दूसरे प्रश्नमें ऐसा बताया है कि 'आत्माके असंख्यात प्रदेश सारे शरीरमें व्यापक होनेपर भी, आँखके बीचके भागकी पुतलीसे ही देखा जा सकता है, इसी तरह सारे शरीरमें असंख्यात प्रदेश व्यापक होनेपर भी एक छोटे भाग कानसे सुना जा सकता है, दूसरे स्थानसे सुना नहीं जा सकता। अमुक स्थानसे गंधकी परीक्षा होती है, अमुक स्थानसे रसकी परीक्षा होती है; जैसे कि खाँड़का स्वाद हाथ-पाँव नहीं जानते, परन्तु जिह्वा जानती है। आत्मा सारे शरीरमें समानरूपसे व्यापक होनेपर भी अमुक भागसे ही ज्ञान होता है, इसका कारण क्या होगा?' इसका संक्षेपमें उत्तरः—

जीवको ज्ञान, दर्शन क्षायिकभावसे प्रगट हुए हों तो सर्व प्रदेशसे तथाप्रकारकी उसे निरावरणता होनेसे एक समयमें सर्व प्रकारसे सर्व भावकी ज्ञायकता होती है, परंतु जहाँ क्षयोपशम भावसे ज्ञानदर्शन रहते हैं, वहाँ भिन्न भिन्न प्रकारसे अमुक मर्यादामें ज्ञायकता होती है। जिस जीवको अत्यंत अल्प ज्ञानदर्शनकी क्षयोपशमशक्ति रहती है, उस जीवको अक्षरके अनंतवें भाग जितनी ज्ञायकता होती है। उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शेंद्रियकी लब्धि कुछ विशेष व्यक्त (प्रगट)

होती है; उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्श और रसनेंद्रियकी लब्धि उत्पन्न होती है, इस तरह विशेषतासे उत्तरोत्तर स्पर्श, रस, गंध और वर्ण तथा शब्दको ग्रहण करने योग्य पंचेंद्रियसंबंधी क्षयोपशम होता है। तथापि क्षयोपशमदशामें गुणकी समविषमता होनेसे सर्वांगसे वह पंचेंद्रिय संबंधी ज्ञान, और दर्शन नहीं होते; क्योंकि शक्तिका वैसा तारतम्य (सत्त्व) नहीं है कि वह पाँचों विषय सर्वांगसे ग्रहण करे। यद्यपि अवधि आदि ज्ञानमें वैसा होता है, परन्तु यहाँ तो सामान्य क्षयोपशम, और वह भी इन्द्रिय सापेक्ष क्षयोपशमका प्रसंग है। अमुक नियत प्रदेशमें ही उस इन्द्रिय-लब्धिका परिणाम होता हैं, इसका हेतु क्षयोपशम तथा प्राप्त हुई योनिका संबंध है कि नियत प्रदेशमें (अमुक मर्यादा-भागमें) अमुक अमुक विषयका जीवको ग्रहण हो।

तीसरे प्रश्नमें ऐसा बताया है कि, 'शरीरके अमुक भागमें पीड़ा होती है, तब जीव वहीं संलग्न हो जाता है, इससे जिस भागमें पीड़ा है उस भागकी पीड़ाका वेदन करनेके लिए समस्त प्रदेश उस तरफ खिच आते होंगे? जगतमें कहावत है कि जहाँ पीड़ा हो जीव वहीं संलग्न रहता है।' इसका संक्षेपमें उत्तरः—

उस वेदनाके वेदन करनेमें बहुतसे प्रसंगोंपर विशेष उपयोग रुकता है और दूसरे प्रदेशोंका उस ओर बहुतसे प्रसंगोंपर सहज आकर्षण भी होता है। किसी प्रसंगमें वेदनाका बाहुल्य हो तो सर्व प्रदेश मूर्च्छागत स्थिति भी प्राप्त करते हैं; और किसी प्रसंगमें वेदना कि भयका बाहुल्य सर्व प्रदेश अर्थात् आत्माकी दशमद्वार आदि एक स्थानमें स्थिति होती है। ऐसा होनेका हेतु भी अव्याबाध नामके जीवस्वभावके तथाप्रकारसे परिणामी न होनेसे, वैसे वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी समविषमता होती है।

ऐसे प्रश्न बहुतसे मुमुक्षुजीवोंको विचारकी परिशुद्धिके लिए करने चाहिए। और वैसे प्रश्नोंका समाधान बतानेकी चित्तमें क्वचित् सहज इच्छा भी रहती है, तथापि लिखनेमें विशेष उपयोग रोक सकनेका काम बहुत मुश्किलसे होता है। और इसलिए कभी लिखना होता है और कभी लिखना नहीं हो पाता, अथवा नियमित उत्तर लिखना नहीं हो सकता। प्रायः अमुक काल तक तो अभी तो तथाप्रकारसे रहना योग्य है; तो भी प्रश्नादि लिखनेमें आपको प्रतिबंध नहीं है।

[५३९] ६३१ ववाणिया, श्रावण वदी १४, सोम, १९५१

प्रथम पदमें ऐसा कहा है कि 'हे मुमुक्षु! एक आत्माको जानते हुए तू समस्त लोकालोकको जानेगा, और सब जाननेका फल भी एक आत्मप्राप्ति ही है; इसलिए आत्मासे भिन्न दूसरे भावोंके जाननेकी वारंवारकी इच्छासे तू निवृत्त हो और एक निजस्वरूपमें दृष्टि दे, कि जिस दृष्टिसे समस्त सृष्टि ज्ञेयरूपसे तुझमें दिखायी देगी। तत्त्वस्वरूप शास्त्रमें कहे हुए मार्गका भी यह तत्त्व है, ऐसा तत्त्वज्ञानियोंने कहा है, तथापि उपयोगपूर्वक उसे समझना दुष्कर है। यह मार्ग भिन्न है, और उसका स्वरूप भी भिन्न है, जैसा मात्र कथनज्ञानी कहते हैं, वैसा नहीं है, इसलिए जगह जगह जाकर क्यों पूछता है? क्योंकि उस अपूर्वभावका अर्थ जगह जगहसे प्राप्त होने योग्य नहीं है।'

दूसरे पदका संक्षेप अर्थः—'हे मुमुक्षु! यमनियमादि जो साधन सब शास्त्रोंमें कहे हैं वे उपर्युक्त अर्थसे निष्फल ठहरेंगे, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वे भी कारणके लिए हैं; वह कारण इस प्रकार है— आत्मज्ञान रह सके ऐसी पात्रता प्राप्त होनेके लिए तथा उसमें स्थिति हो वैसी योग्यता आनेके लिए इन कारणोंका उपदेश किया है। इसलिए तत्त्वज्ञानियोंने ऐसे हेतुसे ये साधन कहे हैं; परंतु जीवकी समझमें एकदम फेर होनेसे उन साधनोंमें ही अटक रहा, अथवा वे साधन भी अभिनिवेश परिणामसे

अपनाये। जिस प्रकार उँगलीसे बालकको चाँद दिखाया जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानियोंने इसे तत्त्वका तत्त्व कहा है।'

●

[५४०] ६३२ ववाणिया, श्रावण वदी १४, सोम, १९५१

'बाल्यावस्थाकी अपेक्षा युवावस्थामें इंद्रियविकार विशेषतः उत्पन्न होता है, उसका क्या कारण होना चाहिए ?' ऐसा जो लिखा उसके लिए संक्षेपमें इस प्रकार विचारणीय है:—

ज्यों ज्यों क्रमसे अवस्था बढ़ती है त्यों त्यों इन्द्रियबल बढ़ता है, तथा उस बलको विकारके हेतुभूत निमित्त मिलते हैं, और पूर्वभवके वैसे विकारके संस्कार रहते आये हैं, इसलिए वह निमित्त आदि योग पाकर विशेष परिणाम प्राप्त करता है। जैसे बीज है वह तथारूप कारण पाकर क्रमसे वृक्षाकारमें परिणमित होता है वैसे पूर्वके बीजभूत संस्कार क्रमसे विशेषाकारमें परिणमित होते हैं।

●

६३३ ववाणिया, श्रावण वदी १४ सोम, १९५१

श्री सूर्यपुरस्थित आत्मार्थ-इच्छायोग्य श्री लल्लुजीके प्रति,

आपके लिखे हुए दो पत्र तथा श्री देवकरणजीका लिखा हुआ एक पत्र, इस तरह तीन पत्र मिले हैं। आत्मसाधनके लिए क्या कर्तव्य है, इस विषयमें श्री देवकरणजीको यथाशक्ति विचार करना योग्य है। इस प्रश्नका समाधान हमारेसे जाननेके लिए उनके चित्तमें विशेष अभिलाषा रहती हो तो किसी समागमके प्रसंगपर यह प्रश्न करना योग्य है, ऐसा उन्हें कहियेगा।

इस प्रश्नका समाधान पत्र द्वारा बताना क्वचित् हो सके। तथापि लिखनेमें अभी विशेष उपयोगकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा श्री देवकरणजीको भी अभी इस विषयमें यथाशक्ति विचार करना चाहिए।

सहजस्वरूपसे यथायोग्य

●

६३४ ववाणिया, भादों सुदी ७, मंगल, १९५१

आज दिन तक अर्थात् संवत्सरी तक आपके प्रति मन, वचन और कायाके योगसे मुझसे जाने अनजाने कुछ अपराध हुआ हो उसके लिए शुद्ध अंतःकरणपूर्वक लघुताभावसे क्षमा माँगता हूँ। इसी प्रकार अपनी बहनको भी खमाता हूँ। यहाँसे इस रविवारको विदाय होनेका विचार है।

रायचंदके यथा०

●

६३५ ववाणिया, भादों सुदी ७, मंगल, १९५१

संवत्सरी तक तथा आज दिन तक आपके प्रति मन, वचन और कायाके योगसे जो कुछ जाने अनजाने अपराध हुआ हो उसके लिए सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ। तथा आपके सत्समागम-वासी सब भाइयों तथा बहनोंसे क्षमा माँगता हूँ।

यहाँसे प्रायः रविवारको जाना होगा ऐसा लगता है। मोरबीमें सुदी १५ तक स्थिति होना संभव है। उसके बाद किसी निवृत्तिक्षेत्रमें लगभग पंद्रह दिनकी स्थिति हो तो करनेके लिए चित्तकी सहजवृत्ति रहती है।

कोई निवृत्तिक्षेत्र ध्यानमें हो तो लिखियेगा।

आ० सहजात्मस्वरूप

●

[५४१] ६३६ ववाणिया, भादों सुदी ९, गुरु, १९५१

निमित्तसे जिसे हर्ष होता है, निमित्तसे जिसे शोक होता है, निमित्तसे जिसे इंद्रियजन्य विषयके प्रति आकर्षण होता है, निमित्तसे जिसे इन्द्रियके प्रतिकूल प्रकारोंमें द्वेष होता है, निमित्तसे जिसे उत्कर्ष आता है, निमित्तसे जिसे कषाय उत्पन्न होता है, ऐसे जीवको यथाशक्ति उस उस निमित्तवासी जीवोंका संग छोड़ना योग्य है, और नित्य प्रति सत्संग करना योग्य है।

सत्संगके अयोगमें तथाप्रकारके निमित्तसे दूर रहना योग्य है। क्षण क्षणमें, प्रसंग प्रसंगपर और निमित्त निमित्तमें स्वदशाके प्रति उपयोग देना योग्य है।

आपका पत्र मिला है। आज तक सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ।

●

[५४२] ६३७ ववाणिया, भादों सुदी ९, गुरु, १९५१

आज दिन तक सर्व भावसे क्षमा माँगता हूँ।

नीचे लिखे वाक्य तथारूप प्रसंगपर विस्तारसे समझने योग्य हैं।

'अनुभवप्रकाश' ग्रंथमेंसे श्री प्रह्लादजीके प्रति सद्गुरुदेवका कहा हुआ जो उपदेशप्रसंग लिखा, वह वास्तविक है। तथारूपसे निर्विकल्प और अखंड स्वस्वरूपमें अभिन्नज्ञानके सिवाय अन्य कोई सर्व दुःख मिटानेका उपाय ज्ञानीपुरुषोंने नहीं जाना है। यही विनती।

●

[५४३] ६३८ राणपुर (हडमतिया), भादों वदी १३, १९५१

दो पत्र मिले थे। कल यहाँ अर्थात् राणपुरके समीपके गाँवमें आना हुआ है।

अंतिम पत्रमें प्रश्न लिखे थे, वह पत्र कहीं गुम हुआ मालूम होता है। संक्षेपमें निम्नलिखित उत्तरका विचार कीजियेगा—

(१) धर्म, अधर्म द्रव्य स्वभावपरिणामी होनेसे निष्क्रिय कहे हैं। परमार्थनयसे ये द्रव्य भी सक्रिय हैं। व्यवहारनयसे परमाणु, पुद्गल और संसारी जीव सक्रिय हैं, क्योंकि वे अन्योन्य ग्रहण, त्याग आदिसे एक परिणामवत् संबंध पाते हैं। सड़ना यावत्—विध्वंस पाना यह परमाणु-पुद्गलका धर्म कहा है।

परमार्थसे शुभ वर्णादिका पलटना और स्कंधका मिलकर बिखर जाना कहा है····

[पत्र खंडित]

●

[५४४] ६३९ राणपुर, आसोज सुदी २, शुक्र, १९५१

हो सके तो जहाँ आत्मार्थकी कुछ भी चर्चा होती हो वहाँ जाना-आना और श्रवण आदि-का प्रसंग करना योग्य है। चाहे तो जैनके सिवाय दूसरे दर्शनकी व्याख्या होती हो उसे भी विचारार्थ श्रवण करना योग्य है।

●

[५४९] ६४० मुंबई, आसोज सुदी ११, १९५१

आज सुबह यहाँ कुशलतासे आना हुआ है।

वेदान्त कहता है कि आत्मा असंग है, जिन भी कहता है कि परमार्थनयसे आत्मा वैसी ही है। इसी असंगताका सिद्ध होना, परिणत होना—यह मोक्ष है। स्वतः वैसी असंगता सिद्ध होना प्रायः

असंभवित है, और इसीलिए ज्ञानीपुरुषोंने यही कहा है कि जिसे सर्व दुःख क्षय करनेकी इच्छा है, उस मुमुक्षुको सत्संगकी नित्य उपासना करनी चाहिए, यह अत्यंत सत्य है।

हमारे प्रति अनुकंपा रखियेगा। कुछ ज्ञानवार्ता लिखियेगा। श्री डुंगरको प्रणाम।

●

[५४८] ६४१ मुंबई, आसोज सुदी १२, सोम, १९५१

'देखत[1]भूली टळे तो सर्व दुःखनो क्षय थाय' ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है, ऐसा होनेपर भी उसी देखतभूलीके प्रवाहमें ही जीव वहा चला जाता है, ऐसे जीवोंके लिए इस जगतमें कोई ऐसा आधार है कि जिस आधारसे, आश्रयसे वे प्रवाहमें न वहें?

●

[५५०] ६४२ मुंबई, आसोज सुदी १३, १९५१

समस्त विश्व प्रायः परकथा तथा परवृत्तिमें वहा चला जा रहा है, उसमें रहकर स्थिरता कहाँसे प्राप्त हो?

ऐसे अमूल्य मनुष्य जन्मको एक समय भी परवृत्तिसे जाने देना योग्य नहीं है, और कुछ भी वैसा हुआ करता है, इसका उपाय कुछ विशेषतः खोजना चाहिए।

ज्ञानीपुरुषका निश्चय होकर अंतर्भेद न रहे तो आत्मप्राप्ति एकदम सुलभ है, ऐसा ज्ञानी पुकारकर कह गये हैं, फिर भी लोग क्यों भूलते हैं? श्री डुंगरको प्रणाम।

●

[५५१] ६४३ मुंबई, आसोज सुदी १३, १९५१

श्री स्थंभतीर्थवासी तथा निंवपुरीवासी मुमुक्षुजनके प्रति,

कुछ पूछने योग्य लगता हो तो पूछियेगा।

जो कुछ करने योग्य कहा हो, वह विस्मरण योग्य न हो इतना उपयोग करके क्रमसे भी उसमें अवश्य परिणति करना योग्य है। त्याग, वैराग्य, उपशम, और भक्तिको सहज स्वभावरूप कर डाले विना मुमुक्षुजीवको आत्मदशा कैसे आये? परंतु शिथिलतासे, प्रमादसे यह वात विस्मृत हो जाती है।

●

[५५२] ६४४ मुंबई, आसोज वदी ३, रवि, १९५१

पत्र मिला है।

अनादिसे विपरीत अभ्यास है, इससे वैराग्य, उपशमादि भावोंकी परिणति एकदम नहीं हो सकती, किंवा होनी कठिन पड़ती, तथापि निरंतर उन भावोंके प्रति ध्यान रखनेसे अवश्य सिद्धि होती है। सत्समागमका योग न हो तब वे भाव जिस प्रकारसे वर्धमान हों उस प्रकारके द्रव्य-क्षेत्रादिकी उपासना करना, सत्शास्त्रका परिचय करना योग्य है। सब कार्यकी प्रथम भूमिका विकट होती है, तो अनंतकालसे अनभ्यस्त मुमुक्षुताके लिए वैसा हो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

सहजात्मस्वरूपसे प्रणाम

●

---

१. देखते ही भूलनेकी आदत दूर हो जाये तो सर्व दुःखका क्षय हो जाये।

[५५३] ६४५ मुंबई, आसोज वदी ११, १९५१

श्री सायलास्थित परमनैष्ठिक, सत्समागम योग्य, आर्य श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति,

यथायोग्यपूर्वक—श्री सोभागका लिखा हुआ पत्र मिला है।

'¹समज्या ते शमाई रह्या', तथा 'समज्या ते शमाई गया,' इन वाक्योंमें कुछ अर्थांतर होता है क्या ? तथा दोनोंमेंसे कौनसा वाक्य विशेषार्थ वाचक मालूम होता है ? तथा समझने योग्य क्या है ? तथा शमन क्या है ? तथा समुच्चय वाक्यका एक परमार्थ क्या है ? यह विचारणीय है, विशेषरूपसे विचारणीय है, और जो विचारमें आया हो उसे तथा विचार करते हुए उन वाक्यों-का जो विशेष परमार्थ ध्यानमें आया हो उसे लिख सकें तो लिखियेगा। यही विनती।

सहजात्मस्वरूपसे यथा०

•

[५५६] ६४६ मुंबई, आसोज, १९५१

सब जीवोंको अप्रिय होनेपर भी जिस दुःखका अनुभव करना पड़ता है, वह दुःख सकारण होना चाहिए, इस भूमिकासे मुख्यतः विचारवानकी विचारश्रेणि उदित होती है, और उस परसे अनुक्रमसे आत्मा, कर्म, परलोक मोक्ष आदि भावोंका स्वरूप सिद्ध हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है।

वर्तमानमें जो अपनी विद्यमानता है, तो भूतकालमें भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिए, और भविष्यमें भी वैसा ही होना चाहिए। इस प्रकारके विचारका आश्रय मुमुक्षुजीवको कर्तव्य है। किसी भी वस्तुका पूर्वपश्चात् अस्तित्व न हो तो मध्यमें उसका अस्तित्व न हो, ऐसा अनुभव विचार करनेसे होता है।

वस्तुकी सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नहीं है, सर्व काल उसका अस्तित्व है, रूपांतर परिणाम हुआ करता है, वस्तुता बदलती नहीं ऐसा श्री जिनका अभिमत है, यह विचारणीय है।

'षड्दर्शनसमुच्चय' कुछ गहन है, तो भी पुनः पुनः विचार करनेसे उसका बहुत कुछ बोध होगा। ज्यों ज्यों चित्तकी शुद्धि और स्थिरता होती है त्यों त्यों ज्ञानीके वचनका विचार यथायोग्य हो सकता है। सर्व ज्ञानका फल भी आत्मस्थिरता होना ही है, ऐसा वीतराग पुरुषोंने जो कहा है वह अत्यंत सत्य है।

मेरे योग्य काम काज लिखियेगा। यही विनती।

रायचंदके प्रणाम

•

[५५७] ६४७ मुंबई, आसोज, १९५१

निर्वाणमार्ग अगम अगोचर है, इसमें संशय नहीं है। अपनी शक्तिसे, सद्गुरुके आश्रयके विना उस मार्गको खोजना अशक्य है; ऐसा वारंवार दिखायी देता है। इतना ही नहीं, किन्तु श्री सद्गुरुचरणके आश्रयसे जिसे बोधबीजकी प्राप्ति हुई हो ऐसे पुरुषको भी सद्गुरुके सत्समागमका आराधन नित्य कर्तव्य है। जगतके प्रसंग देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि वैसे समागम और आश्रयके विना निरालंब बोध स्थिर रहना विकट है।

•

१. देखें आँक ६५१।

[५५८] ६४८ मुंबई, आसोज, १९५१

दृश्यको अदृश्य किया, और अदृश्यको दृश्य किया ऐसा ज्ञानीपुरुषोंका आश्चर्यकारक अनंत ऐश्वर्य-वीर्य वाणीसे कहा जा सकने योग्य नहीं है।

●

[५५९] ६४९ मुंबई, आसोज, १९५१

बीता हुआ एक पल भी फिर नहीं आता, और वह अमूल्य है, तो फिर सारी आयुस्थिति !

एक पलका हीन उपयोग एक अमूल्य कौस्तुभ खो देनेकी अपेक्षा भी विशेष हानिकारक है, तो वैसे साठ पलकी एक घड़ीका हीन उपयोग करनेसे कितनी हानि होनी चाहिए ? इसी तरह एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक वर्ष और अनुक्रमसे सारी आयु स्थितिका हीन उपयोग, यह कितनी हानि और कितने अश्रेयका कारण हो, यह विचार शुक्ल हृदयसे तुरत आ सकेगा। सुख और आनंद सर्व प्राणियों, सर्व जीवों, सर्व सत्त्वों और सर्व जन्तुओंको निरंतर प्रिय हैं, फिर भी दुःख और आनंद भोगते हैं, इसका क्या कारण होना चाहिए ? अज्ञान और उस द्वारा जीवनका हीन उपयोग। हीन उपयोग होते हुए रोकनेके लिए प्रत्येक प्राणीकी इच्छा होनी चाहिए, परंतु किस साधनसे ?

●

[५६०] ६५० मुंबई, आसोज, १९५१

जिन पुरुषोंकी अंतर्मुखदृष्टि हुई है उन पुरुषोंको भी सतत जागृतिरूप शिक्षा श्री वीतरागने दी है, क्योंकि अनंतकालके अध्यासवाले पदार्थोंका संग है वह कुछ भी दृष्टिको आकर्षित करे ऐसा भय रखना योग्य है। ऐसी भूमिकामें इस प्रकारकी शिक्षा योग्य है, ऐसा है तो फिर जिसकी विचारदशा है ऐसे मुमुक्षुजीवको सतत जागृति रखना योग्य है; ऐसा न कहा गया हो, तो भी स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षुजीवको जिस जिस प्रकारसे पर-अध्यास होने योग्य पदार्थका त्याग हो, उस उस प्रकारसे अवश्य करना योग्य है। यद्यपि आरंभ-परिग्रहका त्याग स्थूल दिखायी देता है तथापि अंतर्मुखवृत्तिका हेतु होनेसे वारंवार उसके त्यागका उपदेश दिया है।

□

२९वाँ वर्ष

[५६१] ६५१ मुंबई, कार्तिक, १९५२

[1]जैसा है वैसा आत्मस्वरूप जाना, इसका नाम समझना है। इससे उपयोग अन्य विकल्पसे रहित हुआ, इसका नाम शांत होना है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

जैसा है वैसा समझनेसे उपयोग स्वरूपमें शांत हो गया, और आत्मा स्वभावमय हो गयी, यह प्रथम वाक्य—'समजीने शमाई रह्या' का अर्थ है।

अन्य पदार्थके संयोगमें जो अध्यास था, और उस अध्यासमें जो आत्मत्व माना था वह अध्यासरूप आत्मत्व शांत हो गया, यह दूसरे वाक्य—'समजीने शमाई गया' का अर्थ है।

पर्यायांतरसे अर्थांतर हो सकता है। वास्तवमें दोनों वाक्योंका एक ही परमार्थ विचारणीय है।

जिस जिसने समझा उस उसने मेरा तेरा इत्यादि अहंत्व, ममत्व शांत कर दिया; क्योंकि वैसा कोई भी निज स्वभाव देखा नहीं है; और निज स्वभाव तो अचिंत्य, अव्याबाधस्वरूप सर्वथा भिन्न देखा, इसलिए उसीमें समाविष्ट हो गया।

आत्माके सिवाय अन्यमें स्वमान्यता थी, उसे दूर कर परमार्थसे मौन हुआ; वाणीसे यह इसका है कथन करनेरूप व्यवहार वचनादि योग तक क्वचित् रहा, तथापि आत्मासे 'यह मेरा है', यह विकल्प सर्वथा शांत हो गया; जैसा है वैसे अचिंत्य स्वानुभवगोचरपदमें लीनता हो गयी।

---

१. देखें आंक ६४५।

ये दोनों वाक्य लोकभाषामें व्यवहृत हुए हैं, वे 'आत्मभाषामेंसे' आये हैं। जो उपर्युक्त प्रकारसे शान्त नहीं हुआ वह समझा नहीं है ऐसा इस वाक्यका सारभूत अर्थ हुआ, अथवा जितने अंशमें शांत हुआ उतने अंशमें समझा, और जिस प्रकारसे शांत हुआ उस प्रकारसे समझा इतना विभागार्थ हो सकने योग्य है, तथापि मुख्य अर्थमें उपयोग लगाना योग्य है।

अनंतकालसे यम, नियम, शास्त्रावलोकन आदि कार्य करनेपर ही समझना और शांत होना यह प्रकार आत्मामें नहीं आया, और इससे परिभ्रमण निवृत्ति नहीं हुई।

जो कोई समझने और शांत होनेका ऐक्य करे, वह स्वानुभवपदमें रहे; उसका परिभ्रमण निवृत्त हो जाये। सद्गुरुकी आज्ञाका विचार किये विना जीवने उस परमार्थको जाना नहीं; और जाननेके प्रतिबंधक असत्संग, स्वच्छंद और अविचारका निरोध नहीं किया, जिससे समझना और शांत होना तथा दोनोंका ऐक्य नहीं हुआ, ऐसा निश्चय प्रसिद्ध है।

यहाँसे आरंभ करके ऊपरकी भूमिकाकी उपासना करे तो जीव समझकर शांत हो जाये, यह निःसंदेह है।

अनंत ज्ञानीपुरुषोंका अनुभव किया हुआ यह शाश्वत सुगम मोक्षमार्ग जीवके ध्यानमें नहीं आता, इससे उत्पन्न हुए खेदसहित आश्चर्यको भी यहाँ शांत करते हैं। सत्संग, सद्विचारसे शांत होने तकके सर्व पद अत्यंत सच्चे हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और निःसंदेह हैं।

ॐ ॐ ॐ ॐ

•

[५६२] ६५२ मुंबई, कार्तिक सुदी ३, सोम, १९५२

श्री वेदांतमें निरूपित मुमुक्षुजीवके लक्षण तथा श्री जिन द्वारा निरूपित सम्यग्दृष्टि जीवके लक्षण सुनने योग्य हैं; (तथारूप योग न हो तो पढ़ने योग्य हैं;) विशेपरूपसे मनन करने योग्य हैं, आत्मामें परिणत करने योग्य हैं। अपने क्षयोपशमबलको कम जानकर अहंताममतादिका पराभव होनेके लिए नित्य अपनी न्यूनता देखना, विशेष संग प्रसंग कम करना योग्य है। यही विनती।

•

[५६३-१] ६५३ मुंबई, कार्तिक सुदी १३; गुरु, १९५२

दो पत्र मिले हैं।

आत्महेतुभूत संगके सिवाय मुमुक्षुजीवको सर्व संग कम करना योग्य है। क्योंकि उसके विना परमार्थका आविर्भूत होना कठिन है, और इस कारण श्री जिनने यह व्यवहार द्रव्यसंयमरूप साधुत्वका उपदेश किया है। यही विनती।

सहजात्मस्वरूप

•

[५६३-२] ६५४ मुंबई, कार्तिक सुदी १३, गुरु, १९५२

पहले एक पत्र मिला था। जिस पत्रका उत्तर लिखनेका विचार किया था। तथापि विस्तारसे लिख सकना अभी कठिन मालूम हुआ, जिससे आज संक्षेपमें पहुँचकी भाँति चिट्ठी लिखनेका विचार हुआ था। आज आपका लिखा हुआ दूसरा पत्र मिला है।

अंतर्लक्ष्यवत् अभी जो वृत्ति रहती हुई दीखती है वह उपकारी है, और वह वृत्ति क्रमसे

परमार्थकी यथार्थतामें विशेष उपकारभूत होती हैं। यहाँ आपने दो पत्र लिखे, इससे कोई हानि नहीं है।

अभी सुंदरदासजीका ग्रंथ अथवा श्री योगवासिष्ठ पढ़ियेगा। श्री सोभाग यहाँ हैं।

●

[५६३-३] ६५५ मुंबई, कार्तिक वदी ८, रवि, १९२५

निशदिन नैनमें निंद न आवे,
नर तबहि नारायन पावे।

—श्री सुन्दरदासजी

●

[५६४] ६५६ मुंबई, मगसिर सुदी १०, मंगल, १९५२

श्री त्रिभोवनके साथ आपके पहले पत्र मिले थे, इतना सूचित किया था। उन पत्रों आदिसे वर्तमान दशाको जानकर उस दशाकी विशेषताके लिए संक्षेपमें कहा था।

जिस जिस प्रकारसे परद्रव्य (वस्तु) के कार्यकी अल्पता हो; निज दोष देखनेका दृढ़ ध्यान रहे; और सत्समागम, सत्शास्त्रमें वर्धमान परिणतिसे परम भक्ति रहा करे उस प्रकारकी आत्मता करते हुए, तथा ज्ञानीके वचनोंका विचार करनेसे दशा विशेषता प्राप्त करते हुए यथार्थ समाधिके योग्य हो, ऐसा लक्ष्य रखियेगा, ऐसा कहा था। यही विनती।

●

[५६५] ६५७ मुंबई, मगसिर सुदी १०, भौम, १९५२

शुभेच्छा, विचार, ज्ञान इत्यादि सब भूमिकाओंमें सर्वसंगपरित्याग बलवान उपकारी है, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुषोंने 'अनगारत्व' का निरूपण किया है। यद्यपि परमार्थसे सर्वसंगपरित्याग यथार्थ बोध होनेपर प्राप्त होना योग्य है, यह जानते हुए भी यदि सत्संगमें नित्य निवास हो, तो वैसा समय प्राप्त होना योग्य है, ऐसा जानकर, ज्ञानीपुरुषोंने सामान्यतः बाह्य सर्वसंगपरित्यागका उपदेश दिया है, कि जिस निवृत्तिके योगसे शुभेच्छावान् जीव सद्गुरु, सत्पुरुष और सत्शास्त्रकी यथायोग्य उपासना करके यथार्थ बोध प्राप्त करे। यही विनती।

●

[५६६] ६५८ मुंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

तीनों पत्र मिले हैं। स्थंभतीर्थ कब जाना संभव है? वह लिख सकें तो लिखियेगा।

दो अभिनिवेशोंके बाधक रहते होनेसे जीव 'मिथ्यात्व' का त्याग नहीं कर सकता है। वे इस प्रकार हैं—'लौकिक' और 'शास्त्रीय'। क्रमशः सत्समागमके योगसे जीव यदि उन अभिनिवेशोंको छोड़ दे तो 'मिथ्यात्व' का त्याग होता है, ऐसा वारंवार ज्ञानीपुरुषोंसे शास्त्रादि द्वारा उपदेश दिये जानेपर भी जीव उन्हें छोड़नेके प्रति उपेक्षित किस लिए होता है? यह बात विचारणीय है।

●

[५६७] ६५९ मुंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

सर्व दुःखका मूल संयोग (संबंध) है, ऐसा ज्ञानी तीर्थंकरोंने कहा है। समस्त ज्ञानीपुरुषोंने

ऐसा देखा है। वह संयोग मुख्यरूपसे दो प्रकारका कहा है—'अंतरसंबंधी' और 'बाह्यसंबंधी'। अंतर संयोगका विचार होनेके लिए आत्माको बाह्यसंयोगका अपरिचय कर्तव्य है, जिस अपरिचयकी सपरमार्थ इच्छा ज्ञानीपुरुषोंने भी की है।

•

[५६८] ६६० मुंबई, पौष सुदी ६, रवि, १९५२

'[1]श्रद्धा ज्ञान लह्यां छे तोपण, जो नवि जाय पमायो (प्रमाद) रे,
वंध्य तरु उपम ते पामे, संयम ठाण जो नायो रे;
—गायो रे, गायो, भले वीर जगत्‌गुरु गायो।'

•

[५६९] ६६१ मुंबई, पौष सुदी ८, मंगल, १९५२

आज एक पत्र मिला है।

आत्मार्थके सिवाय जिस जिस प्रकारसे जीवने शास्त्रकी मान्यता करके कृतार्थता मानी है, वह सर्व 'शास्त्रीयअभिनिवेश' है। स्वच्छंदता दूर नहीं हुई; और सत्समागमका योग प्राप्त हुआ है, उस योगमें भी स्वच्छंदताके निर्वाहके लिए शास्त्रके किसी एक वचनको बहुवचन जैसा बताकर, मुख्य साधन जो सत्समागम है, शास्त्रको उसके समान कहता है अथवा शास्त्रपर उससे विशेष भार देता है; उस जीवको भी 'अप्रशस्त शास्त्रीयअभिनिवेश' है। आत्माके समझनेके लिए शास्त्र उपकारी हैं, और वह भी स्वच्छंदरहित पुरुषको; इतना ध्यान रखकर सत्शास्त्रका विचार किया जाये तो वह 'शास्त्रीयअभिनिवेश' गिनने योग्य नहीं है। संक्षेपसे लिखा है।

•

[५७३] ६६२ मुंबई, पौष वदी, १९५२

सर्व प्रकारके भयके रहनेके स्थानरूप इस संसारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है। इस निश्चयमें तीन कालमें शंका होना योग्य नहीं है।

[2]योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे;
नवपद तेम ज जाणजो, आतमराम छे साखी रे।

—श्री श्रीपालरास

•

[५७४] ६६३ मुंबई, पौष, १९५२

ॐ

गृहादि प्रवृत्तिके योगसे उपयोग विशेष चलायमान रहना संभव है, ऐसा जानकर परम पुरुष सर्वसंगपरित्यागका उपदेश करते थे।

•

---

१. **भावार्थ**—श्रद्धा और ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर भी यदि संयमस्थान नहीं आया और प्रमादका नाश नहीं हुआ तो जीव वांझ वृक्षकी उपमाको पाता है। जगतगुरु वीर प्रभुने कैसा सुन्दर उपदेश दिया।

२. भावार्थके लिए देखें आंक ३७७।

[५७५] ६६४ मुंबई, पौष वदी २, १९५२

सर्व प्रकारके भयके रहनेके स्थानरूप इस संसारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है।

जो वैराग्यदशा महान् मुनियोंको प्राप्त होना दुर्लभ है, वह वैराग्यदशा तो प्रायः जिन्हें गृहवासमें रहती थी, ऐसे श्री महावीर, ऋषभ आदि पुरुष भी त्यागको ग्रहण करके घरसे चल निकले, यही त्यागकी उत्कृष्टता उपदिष्ट है।

जब तक गृहस्थादि व्यवहार रहे तब तक आत्मज्ञान न हो, अथवा जिसे आत्मज्ञान हो, उसे गृहस्थादि व्यवहार न हो, ऐसा नियम नहीं है। वैसा होनेपर भी परम पुरुषोंने ज्ञानीको भी त्याग व्यवहारका उपदेश किया है; क्योंकि त्याग आत्माके ऐश्वर्यको स्पष्ट व्यक्त करता है, इससे और लोकको उपकारभूत होनेसे त्याग अकर्तव्यलक्ष्यसे कर्तव्य है, इसमें संदेह नहीं है।

जो स्वस्वरूपमें स्थिति है, उसे 'परमार्थसंयम' कहा है। उस संयमके कारणभूत अन्य निमित्तोंके ग्रहण करनेको 'व्यवहारसंयम' कहा है। किसी भी ज्ञानीपुरुषने उस संयमका भी निषेध नहीं किया है। परमार्थकी उपेक्षा (लक्षके बिना) से जो व्यवहार संयममें ही परमार्थसंयमकी मान्यता रखे, उसके व्यवहारसंयमका उसका अभिनिवेश दूर करनेके लिए, निषेध किया है। परंतु व्यवहारसंयममें कुछ भी परमार्थकी निमित्तता नहीं है, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने नहीं कहा है।

परमार्थके कारणभूत 'व्यवहारसंयम' को भी परमार्थसंयम कहा है।

श्री डुंगरकी इच्छा विशेषतासे लिखनेकी हो तो लिखियेगा।

प्रारब्ध है, ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करता है, ऐसा मालूम नहीं होता; परन्तु परिणतिसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिए ज्ञानी उपाधिसहित दिखायी देता है, तथापि वह उसकी निवृत्तिके लक्ष्यका नित्य सेवन करता है।

प्रणाम

●

[५७६] ६६५ मुंबई, पौष वदी ९, गुरु, १९५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार

ज्ञानीपुरुषोंने वारंवार आरम्भ-परिग्रहके त्यागकी उत्कृष्टता कही है, और पुनः पुनः उस त्यागका उपदेश किया है, और प्रायः स्वयं भी ऐसा आचरण किया है; इसलिए मुमुक्षुपुरुषको अवश्य उसे कम करना चाहिए, इसमें संदेह नहीं है।

आरम्भ-परिग्रहका त्याग किस किस प्रतिबंधसे जीव नहीं कर सकता, और वह प्रतिबन्ध किस प्रकारसे दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षुजीवको अपने चित्तमें विशेष विचार-अंकुर उत्पन्न करके कुछ भी तथारूप फल लाना योग्य है। यदि वैसा न किया जाये तो उस जीवको मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा प्रायः कहा जा सकता है।

आरंभ और परिग्रहका त्याग किस प्रकारसे हुआ हो तो यथार्थ कहा जाये इसे पहले विचारकर पीछेसे उपर्युक्त विचार-अंकुर मुमुक्षुजीवको अपने अंतःकरणमें अवश्य उत्पन्न करना योग्य है। तथारूप उदयसे विशेष लिखना नहीं हो सकता है।

●

[५७७] ६६६ मुंबई, पौष वदी १२, रवि, १९५२

ॐ

उत्कृष्ट संपत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं उन सबको अनित्य जानकर विचारवान् पुरुष उन्हें छोड़कर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदयसे वास हुआ तो भी अमूर्च्छितरूपसे और उदासीनतासे उसे प्रारब्धोदय समझकर आचरण किया है, और त्यागका लक्ष्य रखा है।

●

[५७८] ६६७ मुंबई, पौष वदी १२, रवि, १९५२

महात्मा बुद्ध (गौतम) जरा, दारिद्र्य, रोग और मृत्यु इन चारोंको एक आत्मज्ञानके विना अन्य सर्व उपायोंसे अजेय समझकर, जिसमें उनकी उत्पत्तिका हेतु है, उस संसारको छोड़कर चल दिये थे। श्री ऋषभ आदि अनन्त ज्ञानीपुरुषोंने इसी उपायकी उपासना की है, और सर्व जीवोंको इस उपायका उपदेश दिया है। उस आत्मज्ञानको प्रायः दुर्गम देखकर निष्कारण करुणाशील उन सत्पुरुषोंने भक्तिमार्ग प्रकाशित किया है, जो सर्व अशरणको निश्चल शरणरूप है, और सुगम है।

●

[५७९] ६६८ मुंबई, माघ सुदी ४, रवि, १९५२

पत्र मिला है।

असंग आत्मस्वरूप सत्संगके योगसे सबसे सुलभतासे जानना योग्य है, इसमें संशय नहीं है। सत्संगके माहात्म्यको सब ज्ञानीपुरुषोंने अतिशयरूपसे कहा है, यह यथार्थ है। इसमें विचारवान्-को किसी तरह विकल्प होना योग्य नहीं है।

अभी तत्काल समागमसंबंधी विशेषरूपसे लिखना नहीं हो सकता है।

●

६६९ मुंबई, माघ वदी ११, रवि, १९५२

यहाँसे सविस्तर पत्र मिलनेमें अभी विलंब हो जाता है, इसलिए प्रश्नादि लिखना नहीं हो पाता, ऐसा आपने लिखा तो वह योग्य है। प्राप्त प्रारब्धोदयके कारण यहाँसे पत्र लिखनेमें विलंब होना संभव है। तथापि तीन तीन चार चार दिनके अंतरसे आप तथा श्री डुंगर कुछ ज्ञानवार्ता नियमितरूपसे लिखते रहियेगा। जिससे प्रायः यहाँसे पत्र लिखनेमें कुछ नियमितता हो सकेगी।

त्रिविध त्रिविध नमस्कार

●

[५८०] ६७० मुंबई, फागुन सुदी १, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

ज्ञानीका सर्व व्यवहार परमार्थमूलक होता है, तो भी जिस दिन उदय भी आत्माकार रहेगा, वह दिन धन्य होगा।

सर्व दु:खसे मुक्त होनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय आत्मज्ञानको कहा है; यह ज्ञानीपुरुषोंका वचन सत्य है, अत्यंत सत्य है।

जब तक जीवको तथारूप आत्मज्ञान न हो तब तक बन्धनकी आत्यंतिक निवृत्ति न हो, इसमें संशय नहीं है।

उस आत्मज्ञानके होने तक जीवको मूर्तिमान आत्मज्ञानस्वरूप सद्गुरुदेवका निरंतर आश्रय अवश्य करना योग्य है, इसमें संशय नहीं है। उस आश्रयका वियोग हो तब आश्रयभावना नित्य कर्तव्य है।

उदयके योगसे तथारूप आत्मज्ञान होनेसे पूर्व उपदेशकार्य करना पड़ता हो तो विचारवान मुमुक्षु परमार्थमार्गके अनुसरण करनेके हेतुभूत ऐसे सत्पुरुषकी भक्ति, सत्पुरुषका गुणगान, सत्पुरुषके प्रति प्रमोदभावना और सत्पुरुषके प्रति अविरोधभावनाका लोगोंको उपदेश देता है, जिस तरह मतमतांतरका अभिनिवेश दूर हो, और सत्पुरुषके वचन ग्रहण करनेकी आत्मवृत्ति हो, वैसा करता है। वर्तमानकालमें उस प्रकारकी विशेष हानि होगी, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुषोंने इस कालको दुषमकाल कहा है, और वैसा प्रत्यक्ष दिखायी देता है।

सर्व कार्यमें कर्तव्य मात्र आत्मार्थ है, यह संभावना-सम्यग्भावना मुमुक्षुजीवको नित्य करना योग्य है।

●

६७१ मुंबई, फागुन सुदी ३, रवि, १९५२

आपका एक पत्र आज मिला है। उस पत्रमें श्री डुंगरने जो प्रश्न लिखवाये हैं उनके विशेष समाधानके लिए प्रत्यक्ष समागमपर ध्यान रखना योग्य है।

प्रश्नोंसे बहुत संतोष हुआ है। जिस प्रारब्धके उदयसे यहाँ स्थिति रहती है, उस प्रारब्धका जिस प्रकारसे विशेषतः वेदन किया जाय उस प्रकारसे रहा जाता है। और इसलिए विस्तारपूर्वक पत्रादि लिखना प्रायः नहीं होता।

श्री सुंदरदासजीके ग्रंथोंका आदिसे अंत तक अनुक्रमसे विचार हो सके, वैसा अभी कीजियेगा, तो कितने ही विचारोंका स्पष्टीकरण होगा। प्रत्यक्ष समागममें उत्तर समझमें आने योग्य होनेसे पत्र द्वारा मात्र पहुँच लिखी है। यही।

भक्तिभावसे नमस्कार

●

[५८१] ६७२ मुंबई, फागुन सुदी १०, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

श्री सायलास्थित आत्मार्थी श्री सोभाग तथा श्री डुंगरके प्रति,

विस्तारपूर्वक पत्र लिखना अभी नहीं होता, इससे चित्तमें वैराग्य, उपशम आदि विशेप प्रदीप्त रहनेमें सत्शास्त्रको एक विशेष आधारभूत निमित्त जानकर, श्री सुंदरदास आदिके ग्रन्थोंका हो सके तो दो से चार घड़ी तक नियमित पढ़ना-पूछना हो, वैसा करनेके लिए लिखा था। श्री सुन्दरदासके ग्रन्थोंका आदिसे लेकर अंत तक अभी विशेष अनुप्रेक्षापूर्वक विचार करनेके लिए आप और श्री डुंगरसे विनती है।

काया तक माया (अर्थात् कषायादि) का संभव रहा करता है, ऐसा श्री डुंगरको लगता है, यह अभिप्राय प्रायः तो यथार्थ है, तो भी किसी पुरुषविशेषमें सर्वथा सब प्रकारके संज्वलन आदि कषायका अभाव हो सकना संभव लगता है; और हो सकनेमें संदेह नहीं होता, इसलिए कायाके होनेपर भी कषायका अभाव संभव है; अर्थात् सर्वथा रागद्वेषरहित पुरुष हो सकता है। रागद्वेषरहित यह पुरुष है, ऐसा बाह्य चेष्टासे सामान्य जीव जान सकें, यह सम्भव नहीं। इससे वह पुरुष कषायरहित, सम्पूर्ण वीतराग न हो, ऐसे अभिप्रायको विचारवान सिद्ध नहीं करते; क्योंकि बाह्य चेष्टासे आत्मदशाकी स्थिति सर्वथा समझमें आ सके, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

श्री सुन्दरदासने आत्मजागृतदशामें 'शूरातनअंग' कहा है, उसमें विशेष उल्लास परिणतिसे शूरवीरताका निरूपण किया है—

मारे काम क्रोध सब, लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्रिहु कतल करी, कियो रजपूतो है।
मार्यो महा मत्त मन, मारे अहंकार मीर, मारे मद मछर हू, ऐसो रन रूतो है॥
मारी आशा तृष्णा पुनि, पापिनी सापिनी दोउ, सबको संहार करि, निज पद पहूतो है,
सुन्दर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर, वैरि सब मारिके निचिंत होई सूतो है।

—सुन्दर विलास शूरातनअंग, २१–११

•

[५८६) ६७३ मुंबई, फागुन सुदी १०, रवि, १९५२

ॐ श्री सद्गुरुप्रसाद

श्री सायलाक्षेत्रमें क्रमसे विचरते हुए प्रतिबन्ध नहीं है।

यथार्थज्ञान उत्पन्न होनेसे पहले जिन जीवोंमें उपदेशकता रहती हो, उन जीवोंको, जिस तरह वैराग्य, उपशम और भक्तिका लक्ष्य हो, उस तरह प्रसंगप्राप्त जीवोंको उपदेश देना योग्य है; और जिस तरह उनका नाना प्रकारके असद्ग्रहका तथा सर्वथा वेपव्यवहारादिका अभिनिवेश कम हो, उस तरह उपदेश परिणमित हो वैसे आत्मार्थ विचारकर कहना योग्य है। क्रमशः वे जीव यथार्थ मार्गके सन्मुख हों ऐसा यथाशक्ति उपदेश कर्तव्य है।

•

[५८७] ६७४ मुंबई, फागुन वदी ३, सोम, १९५२

ॐ श्री सद्गुरुप्रसाद

देहधारी होनेपर निरावरणज्ञानसहित रहते हैं ऐसे महापुरुषोंको त्रिकाल नमस्कार

श्री सायलास्थित आत्मार्थी श्री सोभागके प्रति,

देहधारी होनेपर भी परम ज्ञानीपुरुषमें सर्व कषायका अभाव हो सके, ऐसा हमने लिखा है, उस प्रसंगमें 'अभाव' शब्दका अर्थ 'क्षय' समझकर लिखा है।

जगतवासी जीवको रागद्वेष दूर होनेका पता नहीं लगता, परन्तु जो महान पुरुष हैं वे जानते हैं कि इस महात्मा पुरुषमें रागद्वेषका अभाव या उपशम रहता है, ऐसा लिखकर आपने शंका की है कि जैसे महात्मा पुरुषको ज्ञानीपुरुष अथवा दृढ़ मुमुक्षुजीव जानते हैं वैसे जगतके जीव क्यों न जानें? मनुष्य आदि प्राणीको देखकर जैसे जगतवासी जीव जानते हैं कि ये मनुष्य आदि

हैं, और महापुरुष भी जानते हैं कि ये मनुष्य आदि हैं, इन पदार्थोंको देखनेसे दोनों समानरूपसे जानते हैं; और इसमें भेद रहता है, वैसा भेद होनेके क्या कारण हैं, यह मुख्यतः विचारणीय है ? ऐसा लिखा उसका समाधानः—

मनुष्य आदिको जो जगतवासी जीव जानते हैं, वह दैहिक स्वरूपसे तथा दैहिक चेष्टासे जानते हैं। एक दूसरेकी मुद्रामें, आकारमें और इन्द्रियोंमें जो भेद है, उसे चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जगतवासी जीव जान सकते हैं, और उन जीवोंके कितने ही अभिप्रायोंको भी जगतवासी जीव अनुमानसे जान सकते हैं; क्योंकि वह उनके अनुभवका विषय है। परन्तु जो ज्ञानदशा अथवा वीतरागदशा है वह मुख्यतः दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टाका विषय नहीं है, अंतरात्मगुण है। और अन्तरात्मता बाह्य जीवोंके अनुभवका विषय न होनेसे, तथा जगतवासी जीवोंमें तथारूप अनुमान करनेके भी प्रायः संस्कार न होनेसे वे ज्ञानी या वीतरागको पहचान नहीं सकते। कोई जीव सत्समागमके योगसे सहज शुभकर्मके उदयसे, तथारूप कुछ संस्कार प्राप्तकर ज्ञानी या वीतरागको यथाशक्ति पहचान सकता है। तथापि सच्ची पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुताके प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागमसे प्राप्त हुए उपदेशका अवधारण करनेपर और अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होनेपर जीव ज्ञानी या वीतरागको पहचान सकता है। जगतवासी अर्थात् जो जगतदृष्टि जीव हैं, उनकी दृष्टिसे सच्चे ज्ञानी या वीतरागकी पहचान कहाँसे हो ? जिस तरह अन्धकारमें पड़े हुए पदार्थको मनुष्यचक्षु देख नहीं सकती, उसी तरह देहमें रहे हुए ज्ञानी या वीतरागको जगतदृष्टि जीव पहचान नहीं सकता। जैसे अन्धकारमें पड़े हुए पदार्थको मनुष्यचक्षुसे देखनेके लिए किसी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा रहती है, वैसे जगतदृष्टि जीवोंको ज्ञानी या वीतरागकी पहचानके लिए विशेष शुभ संस्कार और सत्समागमकी अपेक्षा होना योग्य है। यदि वह योग प्राप्त न हो तो जैसे अंधकारमें रहा हुआ पदार्थ और अंधकार ये दोनों एकाकार भासित होते हैं, भेद भासित नहीं होता, वैसे तथारूप योगके विना ज्ञानी या वीतराग और अन्य संसारी जीवोंकी एकाकारता भासित होती है, देहादि चेष्टासे प्रायः भेद भासित नहीं होता।

जो देहधारी सर्व अज्ञान और सर्व कषायोंसे रहित हुआ है, उस देहधारी महात्माको त्रिकाल परम भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! ! वह महात्मा जहाँ रहता है, उस देहको, भूमिको, घरको, मार्गको, आसन आदि सबको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !!

श्री डुंगर आदि सर्व मुमुक्षुजनको यथायोग्य।

•

६७५ मुंबई, फागुन वदी ५, बुध, १९५२

दो पत्र मिले हैं। मिथ्यात्वके पच्चीस प्रकारमेंसे प्रथमके आठ प्रकारका सम्यक्‌स्वरूप समझनेके लिए पूछा वह तथारूप प्रारब्धोदयसे अभी थोड़े वक्तमें लिख सकनेका संभव कम है।

'सुंदर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर,
वैरि सब मारिके, निचिंत होई सूतो है।'

•

६७६ मुंबई, फागुन वदी ९, रवि, १९५२

जीवको विशेषतः अनुप्रेक्षा करने योग्य आशंका सहज निर्णयके लिए तथा दूसरे किन्हीं

जिसे अज्ञान और ज्ञानका भेद समझमें आया है, उसे अज्ञानी और ज्ञानीका भेद सहजमें समझमें आ सकता है। जिसका अज्ञानके प्रति मोह समाप्त हो गया है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको शुष्कज्ञानीके वचन कैसे भ्रांति कर सकते हैं ? किन्तु सामान्य जीवोंको अथवा मंददशा और मध्यमदशाके मुमुक्षुको शुष्कज्ञानीके वचन समानरूप दिखायी देनेसे, दोनों ज्ञानीके वचन हैं, ऐसी भ्रांति होना संभव है। उत्कृष्ट मुमुक्षुको प्रायः वैसी भ्रांति संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञानीके वचनोंकी परीक्षाका वल उसे विशेषरूपसे स्थिर हो गया है।

पूर्वकालमें जो ज्ञानी हो गये हों, और मात्र उनकी मुखवाणी रही हो तो भी वर्तमानकालमें ज्ञानीपुरुष यह जान सकते हैं कि यह वाणी ज्ञानीपुरुषकी है; क्योंकि रात्रि-दिनके भेदकी तरह अज्ञानी-ज्ञानीको वाणीमें आशय-भेद होता है, और आत्मदशाके तारतम्यके अनुसार आशयवाली वाणी निकलती है। वह आशय, वाणीपरसे 'वर्तमान ज्ञानीपुरुष' को स्वाभाविक दृष्टिगत होता है। और कहनेवाले पुरुषकी दशाका तारतम्य ध्यानगत होता है। यहाँ जो 'वर्तमान ज्ञानी' शब्द लिखा है, वह किसी विशेष प्रज्ञावान, प्रगट बोधबीजसहित पुरुष शब्दके अर्थमें लिखा है। ज्ञानीके वचनोंकी परीक्षा यदि सर्व जीवोंको सुलभ होती तो निर्वाण भी सुलभ ही होता।

३. जिनागममें मति, श्रुत आदि ज्ञानके पांच प्रकार कहे हैं। वे ज्ञानके प्रकार सच्चे हैं, उपमावाचक नहीं हैं। अवधि, मनःपर्याय आदि ज्ञान वर्तमानकालमें व्यवच्छेद जैसे लगते हैं, इससे उन ज्ञानोंको उपमावाचक समझना योग्य नहीं है। ये ज्ञान मनुष्य जीवोंको चारित्रपर्यायकी विशुद्ध तरतमतासे उत्पन्न होते हैं। वर्तमानकालमें वह विशुद्ध तरतमता प्राप्त होना दुष्कर है, क्योंकि कालका प्रत्यक्ष स्वरूप चारित्रमोहनीय आदि प्रकृतियोंके विशेष बलसहित प्रवृत्ति करता हुआ देखनेमें आता है।

सामान्य आत्मचारित्र भी किसी किसी जीवमें रहना संभव है। ऐसे कालमें उस ज्ञानकी लब्धि व्यवेच्छेद जैसी हो, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है, इसलिए उस उपमावाचक समझना योग्य नहीं है। आत्मस्वरूपका विचार करते हुए तो उस ज्ञानकी कुछ भी असंभावना दीखती नहीं है। सर्व ज्ञानकी स्थितिका क्षेत्र आत्मा है, तो फिर अवधि, मनःपर्याय आदि ज्ञानका क्षेत्र आत्मा हो, इसमें संशय करना कैसे योग्य हो ? यद्यपि शास्त्रके यथास्थित परमार्थसे अज्ञजीव उसकी व्याख्या जिस प्रकारसे करते हैं, वह व्याख्या विरोधवाली हो, परन्तु परमार्थसे उस ज्ञानका होना संभव है।

जिनागममें उसकी जिस प्रकारके आशयसे व्याख्या की हो, वह व्याख्या और अज्ञानी जीव आशय जाने विना जो व्याख्या करें उन दोनोंमें महान भेद हो इसमें आश्चर्य नहीं है, और उस भेदके कारण उस ज्ञानके विषयके लिए संदेह होना योग्य है, आत्मदृष्टिसे देखते हुए उस सन्देहका अवकाश नहीं है।

४. कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'समय' है, रूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'परमाणु' है, और अरूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'प्रदेश' है। ये तीनों ही ऐसे सूक्ष्म हैं कि अत्यन्त निर्मल ज्ञानकी स्थिति उनके स्वरूपको ग्रहण कर सकती है। सामान्यतः संसारी जीवोंका उपयोग असंख्यात समयवर्ती है; उस उपयोगमें साक्षात्रूपसे एक समयका ज्ञान संभव नहीं है। यदि वह उपयोग एक समयवर्ती और शुद्ध हो तो उसमें साक्षात्रूपसे समयका ज्ञान हो। उस उपयोगका एक समयवर्तित्व कषायादिके अभावसे होता है, क्योंकि कषायादिके योगसे उपयोग मूढतादि धारण करता है, तथा असंख्यात समयवर्तित्वको प्राप्त होता है। वह कषायादिके अभावसे एक समयवर्ती होता है, अर्थात् कषायादिके योगसे उसे असंख्यात समयमेंसे एक समयको अलग करनेकी सामर्थ्य

नहीं थी, वह कषायादिके अभावसे एक समयको अलग करके अवगाहन करता है। उपयोगका एक समयवर्तित्व कषायरहितत्व होनेके अनंतर होता है। इसलिए जिसे एक समयका, एक परमाणुका, और एक प्रदेशका ज्ञान हो उसे 'केवलज्ञान' प्रगट होता है, ऐसा जो कहा है, वह सत्य है। और कषायरहितत्वके विना उपयोग एक समयको साक्षात्‌रूपसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए जिस समय एक समयको ग्रहण करे उस समय अत्यंत कषायरहितत्व होना चाहिए। और जहाँ अत्यंत कषायका अभाव हो वहीं 'केवलज्ञान' होता है। इसलिए इस प्रकार कहा है—जिसे एक समय, एक परमाणु और एक प्रदेशका अनुभव हो उसे 'केवलज्ञान' प्रगट होता है। जीवको विशेष पुरुषार्थके लिए इस एक सुगम साधनका ज्ञानीपुरुषने उपदेश किया है। समयकी तरह परमाणु और प्रदेशका सूक्ष्मत्व होनेसे तीनोंको एक साथ ग्रहण किया है। अंतर्विचारमें रहनेके लिए ज्ञानी पुरुषोंने असंख्यात योग कहा है। उनमेंसे एक यह 'विचारयोग' कहा है, ऐसा समझना योग्य है।

५. शुभेच्छासे लेकर सर्व कर्मरहितरूपसे स्वस्वरूपस्थिति तकमें अनेक भूमिकाएँ हैं। जो जो आत्मार्थी जीव हुए, और उनमें जिस जिस अंशमें जाग्रतदशा उत्पन्न हुई, उस उस दशाके भेदसे उन्होंने अनेक भूमिकाओंका आराधन किया है। श्री कबीर, सुन्दरदास आदि साधुजन आत्मार्थी गिने जाने योग्य हैं, और शुभेच्छासे ऊपरकी भूमिकाओंमें उनकी स्थिति होना संभव है। अत्यंत स्वस्वरूपस्थितिके लिए उनकी जागृति और अनुभव भी ध्यानगत होता है। इससे विशेष स्पष्ट अभिप्राय अभी देनेकी इच्छा नहीं होती।

६. 'केवलज्ञान' के स्वरूपका विचार दुर्गम है, और श्री डुंगर केवल-कोटीसे उसका निर्धार करते हैं, उसमें यद्यपि उनका अभिनिवेश नहीं है; परंतु वैसा उन्हें भासित होता है, इसलिए कहते हैं। मात्र 'केवल-कोटी' है, और भूत-भविष्यका कुछ भी ज्ञान किसीको न हो, ऐसी मान्यता घटित नहीं होती। भूत-भविष्यका यथार्थज्ञान होने योग्य है; परंतु वह किन्हीं विरल पुरुषोंको, और वह भी विशुद्ध चारित्रतारतम्यसे, इसलिए वह संदेहरूप लगता है, क्योंकि वैसी विशुद्ध चारित्रतरतमताका वर्तमानमें अभावसा रहता है। वर्तमानमें शास्त्रवेत्ता मात्र शब्दबोधसे केवलज्ञानका जो अर्थ कहता है, वह यथार्थ नहीं है, ऐसा श्री डुंगरको लगता हो तो वह संभवित है। फिर भूत-भविष्य जानना; इसका नाम 'केवलज्ञान' है, ऐसी व्याख्या मुख्यतः शास्त्रकारने भी नहीं की है। ज्ञानका अत्यंत शुद्ध होना उसे ज्ञानीपुरुषोंने 'केवलज्ञान' कहा है, और उस ज्ञानमें मुख्य तो आत्मस्थिति और आत्मसमाधि कही है। जगतका ज्ञान होना इत्यादि जो कहा है, वह सामान्य जीवोंसे अपूर्व विषयका ग्रहण होना अशक्य जानकर कहा है; क्योंकि जगतके ज्ञानपर विचार करते-करते आत्मसामर्थ्य समझमें आये। श्री डुंगर, महात्मा श्री ऋषभ आदिके विषयमें केवल-कोटी न कहते हों, और उनके आज्ञावर्ती अर्थात् जैसे महावीर स्वामीके दर्शनमें पाँच सौ मुमुक्षुओंने केवलज्ञान प्राप्त किया, उन आज्ञावर्तियोंको केवलज्ञान कहा है, उस 'केवलज्ञान'को 'केवल-कोटी' कहते हों, यह बात किसी भी तरह योग्य है। एकांत केवलज्ञानका श्री डुंगर निषेध करें, तो वह आत्माका निषेध करने जैसा है। लोग अभी 'केवलज्ञान' की जो व्याख्या करते हैं, वह 'केवलज्ञान' की व्याख्या विरोधवाली मालूम होती है, ऐसा उन्हें लगता हो तो यह भी संभवित है; क्योंकि वर्तमान प्ररूपणामें मात्र 'जगतज्ञान' 'केवलज्ञान' का विषय कहा जाता है। इस प्रकारका समाधान लिखते हुए बहुतसे प्रकारके विरोध दृष्टिगोचर होते हैं, और उन विरोधोंको बताकर उसका समाधान लिखना अभी तत्काल होना अशक्य है, इसलिए संक्षेपमें समाधान लिखा है। समाधानका समुच्चयार्थ इस प्रकार है—

'आत्मा जब अत्यंत शुद्ध ज्ञानस्थितिका सेवन करे, उसका नाम मुख्यतः 'केवलज्ञान' है। सर्व प्रकारके रागद्वेषका अभाव होनेपर अत्यंत शुद्ध ज्ञानस्थिति प्रगट होने योग्य है। उस स्थितिमें जो कुछ जाना जा सके वह 'केवलज्ञान' है; और वह संदेहयोग्य नहीं है। श्री डुंगर 'केवल-कोटी' कहते हैं, वह भी महावीरस्वामीके समीपवर्ती आज्ञावर्ती पाँच सौ केवली जैसे प्रसंगमें संभवित है। जगतके ज्ञानका लक्ष्य छोड़कर जो शुद्ध आत्मज्ञान है वह 'केवलज्ञान' है, ऐसा विचारते हुए आत्म-दशा विशेषत्वका सेवन करती है।' इस प्रकार इस प्रश्नके समाधानका संक्षिप्त आशय है। जैसे हो वैसे जगतके ज्ञानका विचार छोड़कर स्वरूपज्ञान हो वैसे केवलज्ञानका विचार होनेके लिए पुरुषार्थ कर्तव्य है। जगतके ज्ञान होनेको मुख्यतः 'केवलज्ञान' मानना योग्य नहीं है। जगतके जीवोंको विशेष ध्यान होनेके लिए वारंवार जगतका ज्ञान साथमें लिया है, और वह कुछ कल्पित है, ऐसा नहीं है, परन्तु उसके प्रति अभिनिवेश करना योग्य नहीं है। इस स्थानपर विशेष लिखनेकी इच्छा होती है, और उसे रोकना पड़ता है, तो भी संक्षेपसे फिर लिखते हैं। 'आत्मामेंसे सर्व प्रकारका अन्य अध्यास दूर होकर स्फटिककी भाँति आत्मा अत्यंत शुद्धताका सेवन करे, वह 'केवलज्ञान' है, और जगतज्ञानरूपसे उसे वारंवार जिनागममें कहा है, उस माहात्म्यसे बाह्यदृष्टि जीव पुरुषार्थमें प्रवृत्ति करें, यह हेतु है।'

यहाँ श्री डुंगरको 'केवल-कोटी' सर्वथा हमने कही है, ऐसा कहना योग्य नहीं है। हमने अंतरात्मरूपसे वैसा माना नहीं है। आपने यह प्रश्न लिखा, इसलिए कुछ विशेष हेतु विचारकर समाधान लिखा है, परन्तु अभी उस प्रश्नका समाधान करनेमें जितना मौन रहा जाये उतना उपकारी है, ऐसा चित्तमें रहता है। बाकीके प्रश्नोंका समाधान समागममें कीजियेगा।

●

६८० मुंबई, चैत्र सुदी १३, १९५२

ॐ

जिसकी मोक्षके सिवाय किसी भी वस्तुकी इच्छा कि स्पृहा नहीं थी और अखंड स्वरूपमें रमणता होनेसे मोक्षकी इच्छा भी निवृत्त हो गयी है, उसे हे नाथ! तू तुष्टमान होकर भी दूसरा क्या देनेवाला था?

हे कृपालु! तेरे अभेद स्वरूपमें ही मेरा निवास है तो फिर अब लेने-देनेकी भी किचकिचसे छूट गये हैं और यही हमारा परमानंद है।

कल्याणके मार्गको और परमार्थ स्वरूपको यथार्थरूपसे न समझनेवाले अज्ञानी जीव, अपनी मतिकल्पनासे मोक्षमार्गकी कल्पना करके विविध उपायोंमें प्रवर्तन करते हुए भी मोक्ष पानेके बदले संसारमें परिभ्रमण करते हुए जानकर निष्कारण करुणाशील हमारा हृदय रोता है।

वर्तमानमें विद्यमान वीरको भूलकर, भूतकालकी भ्रांतिमें वीरको खोजनके लिए भटकते हुए जीवोंको श्री महावीरका दर्शन कहाँसे हो?

रे दुषमकालके दुर्भागी जीवो! भूतकालकी भ्रांति छोड़कर वर्तमानमें विद्यमान ऐसे महावीरकी शरणमें आयें, इससे आपका श्रेय ही है।

संसारके तापसे त्रसित और कर्मबंधनसे मुक्त होनेके इच्छुक परमार्थप्रेमी जिज्ञासु जीवोंकी त्रिविध तापाग्निको शांत करनेके लिए हम अमृतसागर हैं।

मुमुक्षुजीवोंका कल्याण करनेके लिए हम कल्पवृक्ष ही है।

अधिक क्या कहना ? इस विषमकालमें परम शांतिके धामरूप हम दूसरे श्री राम अथवा श्री महावीर ही हैं, क्योंकि हम परमात्मस्वरूप हुए हैं।

यह अंतर अनुभव परमात्मत्वकी मान्यताके अभिमानसे उद्‌भूत हुआ नहीं लिखा है, परन्तु कर्मबंधनसे दुःखी होनेवाले जगतके जीवोंकी ओर परम कारुण्यवृत्ति होनेसे उनका कल्याण करनेकी तथा उनका उद्धार करनेकी निष्कारण करुणा ही इस हृदयचित्रको प्रदर्शित करनेकी प्रेरणा करती है।

ॐ श्री महावीर (निजी)

●

६८१ मुंबई, चैत्र वदी १, १९५२

पत्र मिला है। कुछ समयसे ऐसा होता रहता है कि विस्तारसे पत्र लिखना नहीं हो सकता, और पत्रकी पहुँच भी अनियमित लिखी जाती है। जिस कारणयोगसे ऐसी स्थिति रहती है, उस कारणयोगके प्रति दृष्टि डालते हुए अभी भी कुछ समय ऐसी स्थितिका वेदन करना योग्य लगता है। वचन पढ़नेकी विशेष अभिलाषा रहती है उन वचनोंको भेजनेके लिए आप स्थम्भतीर्थवासीको लिखियेगा। वे यहाँ पुछवायेंगे तो प्रसंगयोग्य लिखूँगा।

कदाचित् उन वचनोंको पढ़ेने-विचारनेका आपको प्रसंग मिले तो जितनी हो सके उतनी चित्तस्थिरतासे पढ़ियेगा और उन वचनोंको अभी तो अपने उपकारके लिए उपयोगमें लीजियेगा, प्रचलित न कीजियेगा। यही विनती।

●

६८२ मुंबई, चैत्र वदी १, सोम, १९५२

दोनों मुमुक्षुओं (श्री लल्लुजी आदि)को अभी कुछ लिखा नहीं जा सका। अभी कुछ समय-से ऐसी स्थिति रहती है कि कभी कभी पत्रादि लिखना हो पाता है। और वह भी अनियमित लिखा जाता है। जिस कारण-विशेषसे तथारूप स्थिति रहती है उस कारण विशेषकी ओर दृष्टि डालते हुए कुछ समय तक वैसी स्थिति रहनेकी संभावना दिखायी देती है। मुमृक्षुजीवकी वृत्तिको पत्रादिसे कुछ उपदेश एवं विचार करनेका साधन प्राप्त हो तो उससे वृत्ति उत्कर्ष प्राप्त करे और सद्‌विचारका बल वर्धमान हो, इत्यादि उपकार इस प्रकारमें समाविष्ट हैं। फिर भी जिस कारण विशेषसे वर्तमान स्थिति रहती है, उस स्थितिका वेदन करना योग्य लगता है।

●

[५९१] ६८३ मुंबई, चैत्र वदी ७, रवि, १९५२

दो पत्र मिले हैं। अभी विस्तारपूर्वक पत्र लिखना प्रायः कभी ही होता है, और कभी तो पत्रकी पहुँच भी कितने दिन बीतनेके बाद लिखी जाती है।

समागमके अभावके प्रसंगमें तो विशेषतः आरंभ-परिग्रहकी वृत्तिको कम करनेका अभ्यास रखकर, जिन ग्रंथोंमें त्याग, वैराग्य आदि परमार्थ साधनोंका उपदेश दिया है, उन ग्रंथोंको पढ़नेका अभ्यास कर्तव्य है, और अप्रमत्तरूपसे अपने दोषोंको वारंवार देखना योग्य है।

●

[५९२] ६८४ मुंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

'अन्य पुरुषकी दृष्टिमें, जग व्यवहार लखाय,
वृन्दावन, जब जग नहीं, कौन व्यवहार बताय ?'

—विहार-वृन्दावन

●

६८५ मुंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

एक पत्र मिला है। श्री कुंवरजीने, आपके पास वहाँ जो उपदेशवचन लिखे हुए हैं, वे पढ़नेके लिए मिले ऐसी सूचना की थी। उन वचनोंको पठनार्थ भेजनेके लिए स्थंभतीर्थ लिखियेगा, और यहाँ वे लिखेंगे तो प्रसंग योग्य लिखूँगा, हमने कलोल लिखा था। यदि हो सके तो उन्हें वर्तमानमें विशेष उपकारभूत हों ऐसे कितने ही वचन उनमेंसे लिख भेजियेगा। सम्यग्दर्शनके लक्षणादिवाले पत्र उनके लिए विशेष उपकारभूत हो सकने योग्य हैं।

वीरमगामसे श्री सुखलाल यदि श्रीकुंवरजीकी भाँति माँग करें तो उनके लिए भी उपर्युक्तके अनुसार करना योग्य है।

●

६८६ मुंबई, चैत्र वदी १४, रवि, १९५२

आप आदिके समागमके वाद यहाँ आना हुआ था। इतनेमें आपका एक पत्र मिला था। अभी तीन चार दिन पहले एक दूसरा पत्र मिला है। कुछ समयसे सविस्तर पत्र लिखना कभी ही वन पाता है। और कभी पत्रको पहुँच लिखनेमें भी ऐसा हो जाता है। पहले कुछ मुमुक्षुओंके प्रति उपदेश पत्र लिखे गये हैं, उनकी प्रतियाँ श्री अंबालालके पास हैं। उन पत्रोंको पढ़ने-विचारनेका अभ्यास करनेसे क्षयोपशमकी विशेष शुद्धि हो सकने योग्य है। श्री अंबालालको वे पत्र पठनार्थ भेजनेके लिए सूचना दीजियेगा। यही विनती।

●

[५९३] ६८७ मुंबई, वैशाख सुदी १, भौम, १९५२

ॐ

वहुत दिनोंसे पत्र नहीं है, वह लिखियेगा।

यहाँसे जैसे पहले विस्तारपूर्वक पत्र लिखना होता था, वैसे, प्रायः वहुत समयसे तथारूप प्रारव्धके कारण नहीं होता।

करनेके प्रति वृत्ति नहीं है, अथवा एक क्षण भी जिसे करना भासित नहीं होता, करनेसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति जिसकी उदासीनता है, वैसा कोई आप्तपुरुष तथारूप प्रारव्ध योगसे परिग्रह, संयोग आदिमें प्रवृत्ति करता हुआ दिखायी देता हो, और जैसे इच्छुक पुरुष प्रवृत्ति करे, उद्यम करे, वैसे कार्यसहित प्रवर्तमान देखनेमें आता हो, तो वैसे पुरुषमें ज्ञानदशा है, यह किस तरह जाना जा सकता है? अर्थात् वह पुरुष आप्त (परमार्थके लिए प्रतीति करने योग्य) है, अथवा ज्ञानी है; यह किस लक्षणसे पहचाना जा सकता है? कदाचित् किसी मुमुक्षुको दूसरे किसी पुरुषके सत्संगयोगसे ऐसा जाननेमें आया तो उस पहचानमें भ्रांति हो वैसा व्यवहार उस सत्पुरुषमें प्रत्यक्ष

दिखायी देता है, उस भ्रांतिके निवृत्त होनेके लिए मुमुक्षुजीवको वैसे पुरुषको किस प्रकारसे पहचानना योग्य है कि जिससे वैसे व्यवहारमें प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञानलक्षणता उसके ध्यानमें रहे ?

सर्व प्रकारसे जिसे परिग्रह आदि संयोगके प्रति उदासीनता रहती है, अर्थात् अहंता-ममता तथारूप संयोगमें जिसे नहीं होती, अथवा परिक्षीण हो गयी है; 'अनंतानुबंधी' प्रकृतिसे रहित मात्र प्रारब्धोदयसे व्यवहार रहता हो, वह व्यवहार सामान्य दशाके मुमुक्षुको संदेहका हेतु होकर, उसे उपकारभूत होनेमें निरोधरूप होता हो, ऐसा वह ज्ञानीपुरुष देखता है, और उसके लिए भी परिग्रह संयोग आदि प्रारब्धोदय व्यवहारकी परिक्षीणताकी इच्छा करता है, वैसा होने तक किस प्रकारसे उस पुरुषने बर्ताव किया हो, तो उस सामान्य मुमुक्षुके उपकार होनेमें हानि न हो।

पत्र विशेष संक्षेपसे लिखा गया है, परन्तु आप तथा श्री अचल उसका विशेष मनन कीजियेगा।

●

६८८ मुंबई, वैशाख सुदी ६, रवि, १९५२

पत्र मिला है। तथा वचनोंकी प्रति मिली है। उस प्रतिमें किसी किसी स्थलमें अक्षरांतर तथा शब्दांतर हुआ है; परंतु प्रायः अर्थांतर नहीं हुआ। इसलिए वैसी प्रतियाँ श्री सुखलाल तथा श्री कुँवरजीको भेजनेमें आपत्ति जैसी नहीं है। बादमें भी उस अक्षर तथा शब्दकी शुद्धि हो सकने योग्य है।

●

[५९४] ६८९ ववाणिया, वैशाख सुदी ६, रवि, १९५२

श्री स्थंभतीर्थवासी आर्य श्री माणेकचंद आदिके प्रति,

सुंदरलालके वैशाख वदी एकमको देह छोड़नेकी जो खबर लिखी, उसे पढ़ा। विशेषकालकी बीमारीके विना, युवावस्थामें अकस्मात् देह छोड़नेसे सामान्यरूपसे पहचाननेवाले मनुष्योंको भी उस बातसे खेद हुए विना न रहे, तो फिर जिसने कुटुंब आदि संबंधके स्नेहसे उसमें मूर्च्छा की हो, उसके सहवासमें रहा हो, उसके प्रति कुछ आश्रय-भावना रखी हो उसे खेद हुए विना कैसे रहे ? इस संसारमें मनुष्य प्राणीको जो खेदके अकथ्य प्रसंग प्राप्त होते हैं, उन अकथ्य प्रसंगोंमेंसे यह एक महान खेदकारक प्रसंग है। इस प्रसंगमें यथार्थ विचारवान पुरुषोंके सिवाय सर्व प्राणी विशेष खेदको प्राप्त होते हैं, और यथार्थ विचारवान पुरुषोंको वैराग्य विशेष होता है, संसारकी अशरणता अनित्यता और असारता विशेष दृढ होती है।

विचारवान पुरुषोंको उस खेदकारक प्रसंगका मूर्च्छाभावसे खेद करना, वह मात्र कर्म-बंधका हेतु भासित होता है, और वैराग्यरूप खेदसे कर्म-संगकी निवृत्ति भासित होती है, और यह सत्य है। मूर्च्छाभावसे खेद करनेसे जिस संबंधीका वियोग हुआ है, उसकी प्राप्ति नहीं होती, और जो मूर्च्छा होती है वह भी अविचारदशाका फल है, ऐसा विचारकर विचारवान् पुरुष उस मूर्च्छा-भाव-प्रत्ययी खेदको शांत करते हैं, अथवा प्रायः वैसा खेद उन्हें नहीं होता। किसी तरह वैसे खेदकी हितकारिता दिखायी नहीं देती, और घटित प्रसंग खेदका निमित्त है, इसलिए वैसे अवसर पर विचारवान पुरुषोंको, जीवके लिए हितकारी खेद उत्पन्न होता है। सर्व संगकी अशरणता, अबं-

धुता, अनित्यता और तुच्छता तथा अन्यता देखकर अपने आपको विशेष प्रतिबोध होता है कि 'हे जीव ! तुझे कुछ भी इस संसारके विषयमें उदयादिभावसे भी मूर्च्छा रहती हो तो उसका त्याग कर, त्याग कर; उस मूर्च्छाका कुछ भी फल नहीं है, संसारमें कभी भी शरणत्व आदि प्राप्त होना नहीं है, और अविचारितके बिना इस संसारमें मोह होना योग्य नहीं है, जो मोह अनंत जन्म-मरणका और प्रत्यक्ष खेदका हेतु है, दुःख और क्लेशका बीज है; उसे शांतकर, उसका क्षय कर। हे जीव ! इसके बिना दूसरा कोई हितकारी उपाय नहीं है, इत्यादि भावितात्मतासे वैराग्यको शुद्ध और निश्चल करता है। जो कोई जीव यथार्थ विचारसे देखता है, उसे इसी प्रकारसे भासित होता है।

इस जीवको देहसंबंध होकर मृत्यु न होती तो इस संसारके सिवाय दूसरी जगह अपनी वृत्ति लगानेका अभिप्राय नहीं होता। मुख्यतः मृत्युके भयसे परमार्थरूप दूसरे स्थानमें जीवने वृत्तिको प्रेरित किया है, वह भी किसी विरले जीवकी प्रेरित हुई है। बहुतसे जीवोंको तो बाह्य निमित्तसे मृत्युभयके आधारपर बाह्य क्षणिक वैराग्य प्राप्त होकर विशेष कार्यकारी हुए बिना नाश पाता है। मात्र किसी एक विचारवान अथवा सुलभबोधी कि लघुकर्मी जीवकी उस भयसे अविनाशी निःश्रेयस पदके प्रति वृत्ति होती है।

मृत्युभय होता तो भी यदि वह मृत्यु वृद्धावस्थासे नियमित प्राप्त होती तो भी जितने पूर्वकालमें विचारवान हुए हैं, उतने न होते; अर्थात् वृद्धावस्था तक तो मृत्युका भय नहीं है ऐसा देखकर प्रमादसहित प्रवृत्ति करते। मृत्युका अवश्य आना देखकर तथा अनियमितरूपसे उसका आना देखकर, उस प्रसंगके प्राप्त होनेपर स्वजनादि सबसे अरक्षणता देखकर, परमार्थका विचार करनेमें अप्रमत्तता ही हितकारी लगी, और सर्वसंगकी अहितकारिता लगी। विचारवान पुरुषोंका वह निश्चय निःसंदेह सत्य है, त्रिकाल सत्य है। मूर्च्छाभावका खेद छोड़कर असंगभाव प्रत्ययी खेद करना विचारवानके लिए कर्तव्य है।

यदि इस संसारमें ऐसे प्रसंगोंका संभव न होता, अपनेको तथा दूसरेको वैसे प्रसंगकी अप्राप्ति दिखायी देती होती, अशरणता आदि न होते तो पंचविषयके सुख-साधनकी जिन्हें प्रायः कुछ भी न्यूनता न थी, ऐसे श्री ऋषभदेव आदि परमपुरुष, और भरत-से चक्रवर्ती आदि उसका क्यों त्याग करते ? एकांत असंगताका सेवन वे किस लिए करते ?

हे आर्य माणेकचंद आदि ! यथार्थ विचारकी न्यूनताके कारण पुत्र आदि भावकी कल्पना और मूर्छाके कारण आपको कुछ भी विशेष खेद प्राप्त होना संभव है, तो भी उस खेदका दोनोंके लिए कुछ भी हितकारी फल न होनेसे, मात्र असंग विचारके बिना किसी दूसरे उपायसे हितकारिता नहीं है, ऐसा विचारकर, होते हुए खेदको यथाशक्ति विचारसे, ज्ञानी पुरुषोंके वचनामृतसे तथा साधु पुरुषके आश्रय, समागम आदिसे और विरतिसे उपशांत करना ही कर्तव्य है।

•

[५९५] ६९० मुंबई, दूसरे जेठ सुदी २, शनि, १९५२

श्री स्थंभतीर्थवासी मुमुक्षु श्री छोटालालके प्रति,

पत्र मिला है।

जिस हेतुसे अर्थात् शारीरिक रोग विशेषसे आपके नियममें आगार था, वह रोग विशेष रहता है, इसलिए उस आगारका ग्रहण करते हुए आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम न हो; क्योंकि

आपके नियमका प्रारंभ तथाप्रकारसे हुआ था। यही कारण विशेष होनेपर भी अपनी इच्छासे उस आगारका ग्रहण करना हो तो आज्ञाका भंग या अतिक्रम हो।

सर्व प्रकारके आरंभ तथा परिग्रहके संबंधके मूलका छेदन करनेके लिए समर्थ ब्रह्मचर्य परम साधन है। यावत् जीवनपर्यन्त उस व्रतको ग्रहण करनेमें आपका निश्चय रहता है, ऐसा जानकर प्रसन्न होना योग्य है। अबके समागमके आश्रयमें उस प्रकारके विचारको निवेदित करना रखकर संवत् १९५२ के आसोज मासकी पूर्णता तक या संवत् १९५३ की कार्तिक सुदी पूर्णिमा पर्यन्त श्री लल्लुजीके प्रति उस व्रतको ग्रहण करते हुए आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

श्री माणेकचंदका लिखा हुआ पत्र मिला है। सुंदरलालके देहत्यागसंबंधी खेद बताकर, उसके आधारपर संसारकी अशरणतादि लिखी है, वह यथार्थ है; वैसी परिणति अखंड रहे तभी जीव उत्कृष्ट वैराग्यको पाकर स्वस्वरूपज्ञानको प्राप्त करे, कभी कभी किसी निमित्तसे वैसे परिणाम होते हैं। परंतु उनके विघ्नहेतु संग तथा प्रसंगमें जीवका वास होनेसे वे परिणाम अखंड नहीं रहते, और संसाराभिरुचि हो जाती है; वैसी अखंड परिणतिके इच्छुक मुमुक्षुको उसके लिए नित्य सत्समागमका आश्रय करनेकी परम पुरुषने शिक्षा दी है।

जब तक जीवको वह योग प्राप्त न हो तब तक कुछ भी वैराग्यके आधारका हेतु तथा अप्रतिकूल निमित्तरूप मुमुक्षुजनका समागम तथा सत्शास्त्रका परिचय कर्तव्य है। दूसरे संग तथा प्रसंगसे दूर रहनेकी वारंवार स्मृति रखनी चाहिए, वह स्मृति प्रवर्तनरूप करनी चाहिए। वारंवार जीव इस बातको भूल जाता है और इससे इच्छित साधन तथा परिणतिको प्राप्त नहीं करता।

श्री सुंदरलालकी गतिविषयक प्रश्न पढ़ा है। इस प्रश्नको अभी शांत करना योग्य है, तथा तद्विषयक विकल्प करना योग्य भी नहीं हैं।

•

[५९६] ६९१ मुंबई, दूसरे जेठ वदी ६, गुरु, १९५२

ॐ

'वर्तमानकालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति न हो' ऐसा जिनागममें कहा है, और वेदांत आदि ऐसा कहते हैं कि (इस कालमें इस क्षेत्रसे) निर्वाणकी प्राप्ति होती है। इसके लिए श्री डुंगरको जो परमार्थ भासित होता हो, उसे लिखियेगा। आप और लहेराभाई भी इस विषयमें यदि कुछ लिखना चाहे तो लिखें।

वर्तमानकालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणप्राप्ति न हो, इसके सिवाय दूसरे कितने ही भावोंका भी जिनागममें तथा तदाश्रित आचार्यरचित शास्त्रमें विच्छेद कहा है। केवलज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान, पूर्वज्ञान, यथाख्यात चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, क्षायिक समकित और पुलाकलब्धि इन भावोंका मुख्यतः विच्छेद कहा है। श्री डुंगरको उस उसका जो परमार्थ भासित होता हो उसे लिखियेगा। आपको और लहेराभाईको इस विषयमें यदि कुछ लिखनेकी इच्छा हो उसे लिखियेगा।

वर्तमानकालमें इस क्षेत्रसे आत्मार्थकी कौन कौनसी मुख्य भूमिका उत्कृष्ट अधिकारीको

प्राप्त हो सके, और वह प्राप्त होनेका मार्ग क्या है? वह भी श्री डुंगरसे लिखवायी जाये तो लिखियेगा। तथा इस विषयमें यदि आपकी तथा लहेराभाईको कुछ लिखनेकी इच्छा हो जाये वह लिखियेगा। उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर अभी न लिखा जा सके तो उन प्रश्नोंके परमार्थका विचार करनेका ध्यान रखियेगा।

•

[६२९] ६९२ मुंबई, दूसरे जेठ वदी, १९५२

दुर्लभ मनुष्यदेह भी पूर्वकालमें अनंतवार प्राप्त होनेपर कुछ भी सफलता नहीं हुई; परंतु इस मनुष्यदेहकी कृतार्थता है कि जिस मनुष्यदेहमें इस जीवने ज्ञानीपुरुषको पहचाना, तथा उस महाभाग्यका आश्रय किया, जिस पुरुषके आश्रयसे अनेक प्रकारके मिथ्या आग्रह आदिकी मंदता हुई, उस पुरुषके आश्रयसे यह देह छूट जाये, यही सार्थकता है। जन्म, जरा, मरण आदिका नाश करनेवाला आत्मज्ञान जिसमें रहता है, उस पुरुषका आश्रय ही जीवके जन्म, जरा, मरण आदिका नाश कर सके; क्योंकि वह यथासंभव उपाय है। संयोग संबंधसे इस देहके प्रति इस जीवका जो प्रारब्ध होगा उसके निवृत्त हो जानेपर इस देहका प्रसंग निवृत्त होगा। इसका चाहे वियोग होना निश्चित है, परंतु आश्रयपूर्वक देह छूटे, वही जन्म सार्थक है, कि जिस आश्रयको पाकर जीव उसी भवमें अथवा भविष्यमें थोड़े ही कालमें स्वस्वरूपमें स्थिति करे।

आप तथा श्री मुनि प्रसंगोपात्त खुशालदासके यहाँ जानेका रखियेगा। ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिको यथाशक्ति धारण करनेकी उन्हें संभावना दिखायी दे तो मुनिको वैसा करनेमें प्रतिबंध नहीं है।

श्री सद्गुरुने कहा है कि ऐसे निर्ग्रंथमार्गका सदा ही आश्रय रहे।

मैं देहादिस्वरूप नहीं हूँ, और देह, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरा नहीं है, मैं शुद्ध, चैतन्य-स्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ, ऐसी आत्मभावना करते हुए रागद्वेषका क्षय होता है।

०

[५९७] ६९३ मुंबई, आषाढ सुदी २, रवि, १९५२

जिसकी मृत्युके साथ मित्रता हो, अथवा जो मृत्युसे भागकर छूट सकता हो, अथवा मैं नहीं ही मरूँ ऐसा जिसे निश्चय हो, वह भले सुखसे सोये।

—श्री तीर्थंकर—छ जीवनिकाय अध्ययन।

ज्ञानमार्ग दुराराध्य है। परमावगाढदशा पानेसे पहले उस मार्गमें पतनके बहुत स्थान हैं। संदेह विकल्प, स्वच्छंदता, अतिपरिणामिता इत्यादि कारण वारंवार जीवके लिए उस मार्गसे पतनके हेतु होते हैं, अथवा ऊर्ध्वभूमिका प्राप्त नहीं होने देते।

क्रियामार्गमें असद्अभिमान, व्यवहार-आग्रह, सिद्धिमोह, पूजासत्कारादि योग और दैहिक क्रियामें आत्मनिष्ठा आदि दोषोंका संभव रहा है।

किसी एक महात्माको छोड़कर बहुतसे विचारवान जीवोंने उन्हीं कारणोंसे भक्तिमार्गका आश्रय लिया है, और आज्ञाश्रितता अथवा परमपुरुष सद्गुरुमें सर्वार्पण-स्वाधीनताको शिरसावंद्य माना है, और वैसी ही प्रवृत्ति की है। तथापि वैसा योग प्राप्त होना चाहिए; नहीं तो चिंतामणि जैसा जिसका एक समय है ऐसी मनुष्यदेह उलटे परिभ्रमणवृद्धिका हेतु हो जाये।

०

[५९८] ६९४ मुंबई, आषाढ सुदी २, रवि, १९५२

ॐ

श्री सायलावासी आत्मार्थी श्री सोभागके प्रति;

श्री डुंगरके अभिप्रायपूर्वक आपका लिखा हुआ पत्र तथा लहेराभाईका लिखा हुआ पत्र मिले हैं। श्री डुंगरके अभिप्रायपूर्वक श्री सोभागने लिखा है कि निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षासे जिनागम तथा वेदांत आदि दर्शनमें वर्तमानकालमें इस क्षेत्रसे मोक्षकी ना और हाँ कही होनेका संभव है, यह विचार विशेष अपेक्षासे यथार्थ दिखायी देता है; और लहेराभाईने लिखा है कि वर्तमानकालमें संघयणादिके हीन होनेके कारणसे केवलज्ञानका जो निषेध किया है, वह भी सापेक्ष है।

आगे चलकर विशेषार्थ ध्यानगत होनेके लिए पिछले पत्रके प्रश्नको कुछ स्पष्टतासे लिखते हैं:—वर्तमानमें जिनागमसे केवलज्ञानका जैसा अर्थ वर्तमान जैनसमुदायमें चलता है, वैसा ही उसका अर्थ आपको यथार्थ प्रतीत होता है या कुछ दूसरा अर्थ प्रतीत होता है? सर्व देशकालादिका ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा जिनागमका अभी रूढ़ि-अर्थ है; दूसरे दर्शनोंमें ऐसा मुख्यार्थ नहीं है, और जिनागमसे वैसा मुख्यार्थ लोगोंमें अभी प्रचलित है। वही केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसे विरोध दिखायी देते हैं। जो सब यहाँ नहीं लिखे जा सके हैं। तथा जो विरोध लिखे हैं वे भी विशेष विस्तारसे नहीं लिखे जा सके; क्योंकि वे यथावसर लिखने योग्य लगते हैं। जो लिखा है वह उपकारदृष्टिसे लिखा है, यह ध्यान रखें।

'योगधारिता अर्थात् मन, वचन और कायासहित स्थिति होनेसे आहारादिके लिए प्रवृत्ति होते हुए उपयोगांतर हो जानेसे उसमें कुछ भी वृत्तिका अर्थात् उपयोगका निरोध हो। एक समयमें किसीको दो उपयोग नहीं रहते ऐसा सिद्धांत है, तब आहारादिकी प्रवृत्तिके उपयोगमें रहते हुए केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके ज्ञेयके प्रति न रहे; और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानको जो अप्रतिहत कहा है, वह प्रतिहत हुआ माना जाये। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं वैसे केवलज्ञानमें सर्व देशकाल प्रतिबिंबित होते हैं। केवलज्ञानी उनमें उपयोग देकर जानता है यह बात नहीं है, सहजस्वभावसे ही उसमें पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं; इसलिए आहारादिमें उपयोग रहते हुए भी सहजस्वभावसे प्रतिभासित केवलज्ञानका अस्तित्व यथार्थ है, तो यहाँ प्रश्न होना संभव है कि 'दर्पणमें प्रतिभासित पदार्थका ज्ञान दर्पणको नहीं होता, और यहाँ तो केवलज्ञानीको उनका ज्ञान होता है, ऐसा कहा है; तथा उपयोगके सिवाय आत्माका दूसरा ऐसा कौनसा स्वरूप है कि आहारादिमें उपयोगकी प्रवृत्ति हो तब केवलज्ञानमें प्रतिभासित होने योग्य ज्ञेयको आत्मा उससे जाने?'

सर्व देशकाल आदिका ज्ञान जिस केवलीको हो उस केवलीको 'सिद्ध' कहें तो संभवित होने योग्य माना जाये; क्योंकि उसे योगधारिता नहीं कही है। इसमें भी प्रश्न हो सकता है, तथापि योगधारीकी अपेक्षासे सिद्धमें वैसे केवलज्ञानकी मान्यता हो तो योगरहितत्व होनेसे उसमें संभवित हो सकता है, इतना प्रतिपादन करनेके लिए लिखा है; सिद्धको वैसा ज्ञान हो ही ऐसे अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं लिखा। यद्यपि जिनागमके रूढ़ि-अर्थके अनुसार देखनेसे तो 'देहधारी केवली' और 'सिद्ध' में केवलज्ञानका भेद नहीं होता; दोनोंको सर्व देशकाल आदिका संपूर्ण ज्ञान हो यह रूढ़ि-अर्थ है। दूसरी अपेक्षासे जिनागम देखनेसे भिन्नरूपसे दिखायी देता है। जिनागममें इस प्रकार पाठार्थ देखनेमें आते हैं:—

'केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा है। वह इस तरह—'सयोगी भवस्थ केवलज्ञान', 'अयोगी भवस्थ केवलज्ञान'। सयोगी केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा, वह इस तरह—प्रथम समय अर्थात् उत्पन्न होनेके समयका सयोगी केवलज्ञान, अप्रथम समय अर्थात् अयोगी होनेके प्रवेश समयसे पहलेका केवलज्ञान। इसी तरह अयोगी भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकारसे कहा, 'वह इस तरह—प्रथम समय केवलज्ञान और अप्रथम अर्थात् सिद्ध होनेसे पहलेके अंतिम समयका केवलज्ञान।'

इत्यादि प्रकारसे केवलज्ञानके भेद जिनागममें कहे हैं, उसका परमार्थ क्या होना चाहिए? कदाचित् ऐसा समाधान करें कि वाह्य कारणकी अपेक्षासे केवलज्ञानके भेद बताये हैं, तो वहाँ यों शंका करना संभव है कि 'कुछ भी पुरुषार्थ सिद्ध न होता हो और जिसमें विकल्पका अवकाश न हो उसमें भेद डालनेकी प्रवृत्ति ज्ञानीके वचनमें संभव नहीं है। प्रथम समय केवलज्ञान और अप्रथम समय केवलज्ञान ऐसे भेद करते हुए केवलज्ञानका तारतम्य वढ़ता घटता हों तो वह भेद संभव है, परंतु तारतम्यमें वैसा नहीं है; तव भेद करनेका क्या कारण?' इत्यादि प्रश्न यहाँ संभव हैं, उनपर और पहलेके पत्रपर यथाशक्ति विचार कर्तव्य है।

●

[६२०] ६९५ मुंबई, आषाढ सुदी ५, बुध, १९५२

ॐ

श्री सहजानंदके वचनामृतमें आत्मस्वरूपके साथ अहर्निश प्रत्यक्ष भगवानकी भक्ति करना, और वह भक्ति 'स्वधर्म'में रहकर करना, इस तरह जगह जगह मुख्यरूपसे वात आती है। अव यदि 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'आत्मस्वभाव' अथवा 'आत्मस्वरूप' होता हो तो फिर स्वधर्मसहित भक्ति करना यह कहनेका क्या कारण? ऐसा आपने लिखा उसका उत्तर यहाँ लिखा है:—

स्वधर्ममें रहकर भक्ति करना ऐसा वताया है। वहाँ 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'वर्णाश्रमधर्म' है। जिस ब्राह्मण आदि वर्णमें देह धारण हुआ हो, उस वर्णका श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मका आचरण करना, यह 'वर्णधर्म' है, और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमके क्रमसे आचरण करनेकी जो मर्यादा श्रुति-स्मृतिमें कही है, उस मर्यादासहित उस उस आश्रममें प्रवृत्ति करना, यह 'आश्रम-धर्म' है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मणवर्णमें इस प्रकारसे वर्णधर्मका आचरण करना, ऐसा श्रुति-स्मृतिमें कहा हो उसके अनुसार ब्राह्मण आचरण करे तो 'स्वधर्म' कहा जाये। और यदि वैसा आचरण न करते हुए क्षत्रिय आदिके आचरण करने योग्य धर्मका आचरण करे तो 'परधर्म' कहा जाये। इस प्रकार जिस जिस वर्णमें देह धारण हुआ हो, उस उस वर्णके श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना, इसे 'स्वधर्म' कहा जाये, और दूसरे वर्णके धर्मका आचरण करे तो 'परधर्म' कहा जाये।

उसी तरह आश्रमधर्मसंबंधी भी स्थिति है। जिन वर्णोंको श्रुति-स्मृतिमें ब्रह्मचर्य आदि आश्रमसहित प्रवृत्ति करनेके लिए कहा है, उस वर्णमें प्रथम चौवीस वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रममें रहना, फिर चौवीस वर्ष तक गृहस्थाश्रममें रहना; क्रमसे वानप्रस्थ और संन्यस्त आश्रममें आचरण करना, इस प्रकार आश्रमका सामान्य क्रम है। उस उस आश्रममें आचरण करनेकी मर्यादाके

समयमें दूसरे आश्रमके आचरणको ग्रहण करे तो वह 'परधर्म' कहा जाये; और उस उस आश्रम-में उस उस आश्रमके धर्मोंका आचरण करे तो वह 'स्वधर्म' कहा जाये। इस प्रकार वेदाश्रित मार्गमें वर्णाश्रमधर्मको 'स्वधर्म' कहा है, उस वर्णाश्रमधर्मको यहाँ 'स्वधर्म' शब्दसे समझना योग्य है; अर्थात् सहजानंदस्वामीने वर्णाश्रमधर्मको यहाँ 'स्वधर्म' शब्दसे कहा है। भक्तिप्रधान संप्रदायोंमें प्राय: भगवद्भक्ति करना, यही जीवका 'स्वधर्म' है, ऐसा प्रतिपादन किया है; परंतु उस अर्थमें यहाँ 'स्वधर्म' शब्द नहीं कहा है; क्योंकि भक्ति 'स्वधर्म'में रहकर करना, ऐसा कहा है, इसलिए स्वधर्मका भिन्नरूपसे ग्रहण किया है, और वह वर्णाश्रमधर्मके अर्थमें ग्रहण किया है। जीवका 'स्वधर्म' भक्ति है, यह बतानेके लिए तो भक्ति शब्दके बदले क्वचित् ही इन संप्रदायोंमें स्वधर्म शब्दका ग्रहण किया है, और श्री सहजानंदके वचनामृतमें भक्तिके बदले स्वधर्म शब्द संज्ञावाचकरूपसे भी प्रयुक्त नहीं किया है, श्री वल्लभाचार्यने तो क्वचित् प्रयुक्त किया है।

●

[६२१] ६९६ मुंबई, आषाढ वदी ८, रवि, १९५२

ॐ

भुजा द्वारा जो स्वयंभूरमणसमुद्रको तर गये, तरते हैं और तरेंगे, उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार।

सहज विचारके लिए प्रश्न लिखे थे। आपका वह पत्र प्राप्त हुआ था।

एक धारासे वेदन करने योग्य प्रारब्धका वेदन करते हुए कुछ एक परमार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है, और उस इत्यादि कारणोंसे मात्र पहुँच लिखना भी नहीं हुआ। चित्तको जो सहज भी आलंबन है, उसे खींच लेनेसे वह आर्त्तता प्राप्त करेगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है।

सूक्ष्मसंगरूप और बाह्यसंगरूप दुस्तर स्वयंभूरमणसमुद्रको भुजा द्वारा जो वर्धमान आदि पुरुष तर गये हैं, उन्हें परमभक्तिसे नमस्कार हो! पतनके भयंकर स्थानकमें सावधान रहकर तथारूप सामर्थ्यको विस्तृत करके जिसने सिद्धि सिद्ध की है, उस पुरुषार्थको याद करके रोमांचित, अनंत और मौन ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होता है।

●

[६२२] ६९७ मुंबई, आषाढ वदी ८, रवि, १९५२

भुजा द्वारा जो स्वयंभूरमणसमुद्रको तर गये, तरते है, और तरेंगे, उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार।

श्री अंबालालका लिखा हुआ तथा श्री त्रिभोवनका लिखा हुआ तथा श्री देवकरणजी आदि-के लिखे हुए पत्र प्राप्त हुए हैं।

प्रारब्धरूप दुस्तर प्रतिबंध रहता है, उसमें कुछ लिखना कि कहना कृत्रिम जैसा लगता है और इसलिए अभी पत्रादिकी मात्र पहुँच भी नहीं लिखी गयी। बहुतसे पत्रोंके लिए वैसा हुआ है, जिससे चित्तको विशेष व्याकुलता होगी, उस विचाररूप दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है। आत्मा-

को मूलज्ञानसे चलायमान कर डाले ऐसे प्रारब्धका वेदन करते हुए ऐसा प्रतिबंध उस प्रारब्धके उपकारका हेतु होता है, और किसी विकट अवसरमें एक बार आत्माको मूलज्ञानके वमन करा देने तककी स्थितिको प्राप्त करा देता है, ऐसा जानकर, उससे डरकर आचरण करना योग्य है, ऐसा विचारकर पत्रादिकी पहुँच नहीं लिखी; उसे क्षमा करनेकी नम्रतासहित प्रार्थना है।

अहो ज्ञानीपुरुषकी आशय-गंभीरता, धीरता और उपशम! अहो! अहो! वारंवार अहो!

ॐ

•

[६२४] ६९८ मुंबई, श्रावण सुदी ५, शुक्र, १९५२

ॐ

'जिनागममें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्य कहे हैं, उनमें कालको भी द्रव्य कहा है और अस्तिकाय पाँच कहे हैं। कालको अस्तिकाय नहीं कहा है; इसका क्या हेतु होना चाहिए? कदाचित् कालको अस्तिकाय न कहनेमें यह हेतु हो कि धर्मास्तिकायादि प्रदेशके समूहरूप हैं, और पुद्गल-परमाणु वैसी योग्यतावाला द्रव्य है, काल वैसा नहीं है, मात्र एक समयरूप है, इसलिए कालको अस्तिकाय नहीं कहा। यहाँ ऐसी आशंका होती है कि एक समयके बाद दूसरा फिर तीसरा इस तरह समयकी धारा रहा करती है, और उस धारामें बीचमें अवकाश नहीं है, इससे एक दूसरे समयका अनुसंधानत्व अथवा समूहात्मकत्व संभव है, जिससे काल भी अस्तिकाय कहा जा सकता है। तथा सर्वज्ञको तीन कालका ज्ञान होता है, ऐसा कहा है, इससे भी ऐसा समझमें आता है कि सर्व कालका समूह ज्ञानगोचर होता है, और सर्व समूह ज्ञानगोचर होता हो तो कालका अस्तिकाय होना संभव है, और जिनागममें उसे अस्तिकाय नहीं माना,' यह आशंका लिखि है, इसका समाधान निम्नलिखितसे विचारणीय है—

जिनागमकी ऐसी प्ररूपणा है कि काल औपचारिक द्रव्य है, स्वाभाविक द्रव्य नहीं है।

जो पाँच अस्तिकाय कहे हैं, मुख्यतः उनकी वर्तनाका नाम काल है। उस वर्तनाका दूसरा नाम पर्याय भी है। जैसे धर्मास्तिकाय एक समयमें असंख्यात प्रदेशके समूहरूपसे मालूम होता है, वैसे काल समूहरूपसे मालूम नहीं होता। एक समय रहकर लयको प्राप्त होता है, उसके बाद दूसरा समय उत्पन्न होता है। वह समय द्रव्यकी वर्तनाका सूक्ष्म भाग है।

सर्वज्ञको सर्व कालका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, उसका मुख्य अर्थ यह है कि पंचास्तिकाय द्रव्यपर्यायात्मकरूपसे उन्हें ज्ञानगोचर होता है; और सर्व पर्यायका जो ज्ञान है वही सर्व कालका ज्ञान कहा गया है। एक समयमें सर्वज्ञ भी एक समय ही वर्तमान देखते हैं, और भूतकाल कि भावीकालको विद्यमान नहीं देखते; यदि उसे भी विद्यमान देखें तो वह भी वर्तमानकाल ही कहा जाये। सर्वज्ञ भूतकालको हो चुकारूपसे और भाविकालको आगे ऐसा होगा, ऐसा देखते हैं।

भूतकाल द्रव्यमें समा गया है, और भाविकाल सत्तारूपसे रहा है, दोनोंमेंसे एक भी वर्तमानरूपसे नहीं है, मात्र एक समयरूप ऐसा वर्तमानकाल ही रहता है; इसलिए सर्वज्ञको ज्ञानमें भी उसी प्रकारसे भासमान होता है।

एक घड़ा अभी देखा हो, वह उसके बाद दूसरे समयमें नाशको प्राप्त हो गया, तब घड़ारूपसे विद्यमान नहीं है; परन्तु देखनेवालेको वह घड़ा जैसा था वैसा ज्ञानमें भासमान होता है। इसी

तरह अभी एक मिट्टीका पिंड पड़ा है, उसमेंसे थोड़ा समय बीतनेपर एक घड़ा उत्पन्न होगा, ऐसा भी ज्ञानमें भासित हो सकता है, तथापि मिट्टीका पिंड वर्तमानमें कुछ घड़ारूपसे तो नहीं रहता। इसी तरह एक समयमें सर्वज्ञको त्रिकालज्ञान होनेपर भी वर्तमान समय तो एक ही है।

सूर्यके कारण जो दिन-रातरूप काल समझा जाता है वह व्यवहारकाल है; क्योंकि सूर्य स्वाभाविक द्रव्य नहीं है। दिगम्बर कालके असंख्यात अणु मानते है, परन्तु उनका एक दूसरेके साथ संधान है, ऐसा उनका अभिप्राय नहीं है, और इसलिए कालको अस्तिकायरूपसे नहीं माना।

प्रत्यक्ष सत्समागममें भक्ति, वैराग्य आदि दृढ साधनसहित मुमुक्षुको सद्गुरुकी आज्ञासे द्रव्यानुयोग विचारणीय है।

अभिनंदनजिनकी श्री देवचंदजीकृत स्तुतिका पद लिखकर अर्थ पुछवाया है, उसमें 'पुद्गळ-अनुभवत्यागथी, करवी ज शुं परतीत हो,' ऐसा लिखा है, वैसा मूल नहीं है। 'पुद्गळअनुभव-त्यागथी, करवी जसु परतीत हो,' ऐसा मूल पद है, अर्थात् वर्ण, गंध आदि पुद्गल-गुणके अनुभव-का अर्थात् रसका त्याग करनेसे, उसके प्रति उदासीन होनेसे, 'जसु' अर्थात् जिसकी (आत्माकी) प्रतीति होती है, ऐसा अर्थ है।

•

[६२८] ६९९ मुंबई, श्रावण, १९५२

पंचास्तिकायका स्वरूप संक्षेपमें कहा है :—

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं। अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशसमूहात्मक वस्तु। एक परमाणुके प्रमाणवाली अमूर्त वस्तुके भागको 'प्रदेश' ऐसी संज्ञा है। जो वस्तु अनेक प्रदेशात्मक हो वह 'अस्तिकाय' कहलाती है। एक जीव असंख्यातप्रदेशप्रमाण है। पुद्गल परमाणु यद्यपि एकप्रदेशात्मक है, परंतु दो परमाणुसे लेकर असंख्यात, अनंत परमाणु एकत्र हो सकते हैं। इस तरह उसमें परस्पर मिलनेकी शक्ति रहनेसे वह अनेक प्रदेशात्मकता प्राप्त कर सकता है; जिससे वह भी अस्तिकाय कहने योग्य है। 'धर्मद्रव्य' असंख्यातप्रदेशप्रमाण, 'अधर्मद्रव्य' असंख्यातप्रदेशप्रमाण, 'आकाशद्रव्य' अनंतप्रदेशप्रमाण होनेसे वे भी 'अस्तिकाय हैं'। इस तरह पाँच अस्तिकाय हैं। जिन पाँच अस्तिकाय परस्परात्मकतासे इस 'लोक' की उत्पत्ति है, अर्थात् 'लोक' पंचास्तिकायमय है।

प्रत्येक प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशप्रमाण है। वे जीव अनंत हैं। एक परमाणु जैसे अनंत परमाणु हैं। दो परमाणुओंके एकत्र मिलनेसे द्व्यणुकस्कंध होता है, जो अनंत है। इसी तरह तीन परमाणुओंके मिलनेसे त्र्यणुकस्कंध होता है, जो अनंत हैं। चार परमाणुओंके एकत्र मिलनेसे चतुरणुकस्कंध होता है, जो अनंत हैं। पाँच परमाणुओंके मिलनेसे पंचाणुकस्कंध होता है, जो अनंत हैं। इस तरह छः परमाणु, सात परमाणु, आठ परमाणु, नौ परमाणु, दस परमाणु, एकत्र मिलनेसे तथारूप अनंत स्कंध हैं। इसी तरह ग्यारह परमाणु, यावत् सौ परमाणु, संख्यात परमाणु, असंख्यात परमाणु तथा अनंत परमाणु मिलनेसे अनंत स्कंध हैं।

'धर्म द्रव्य एक है। वह असंख्यातप्रदेशप्रमाण लोकव्यापक है। 'अधर्मद्रव्य' एक है।

वह भी असंख्यातप्रदेशप्रमाण लोकव्यापक है। 'आकाशद्रव्य' एक है। वह अनंतप्रदेशप्रमाण है, लोकालोकव्यापक है। लोकप्रमाण आकाश असंख्यातप्रदेशात्मक है।

'कालद्रव्य' यह पाँच अस्तिकायोंका वर्तनारूप पर्याय है, अर्थात् औपचारिक द्रव्य है, वस्तुतः तो पर्याय ही है। और पल विपलसे लेकर वर्षादि पर्यंत जो काल सूर्यकी गतिसे समझा जाता है, वह 'व्यवहारिककाल' है, ऐसा श्वेतांबर आचार्य कहते हैं। दिगम्बर आचार्य भी ऐसा कहते हैं, परंतु विशेषमें इतना कहते हैं कि लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु रहा हुआ है; जो अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है; अगुरूलघु स्वभाववान है। वे कालाणु वर्तनापर्याय और व्यावहारिककालके लिए निमित्तोपकारी हैं। उन कालाणुओंको 'द्रव्य' कहना योग्य है, परंतु 'अस्तिकाय' कहना योग्य नहीं है; क्योंकि एक दूसरेसे मिलकर वे अणु क्रियाकी प्रवृत्ति नहीं करते, जिससे बहुप्रदेशात्मक न होनेसे 'कालद्रव्य' अस्तिकाय कहने योग्य नहीं है, और पंचास्तिकायके विवेचनमें भी उसका गौणरूपसे स्वरूप कहते हैं।

आकाश अनंतप्रदेशप्रमाण है। उसमें असंख्यातप्रदेशप्रमाणमें धर्म, अधर्म द्रव्य व्यापक है। धर्म, अधर्म द्रव्यका ऐसा स्वभाव है कि जीव और पुद्गल उनकी सहायताके निमित्तसे गति-और स्थिति कर सकते हैं, जिससे धर्म, अधर्मकी व्यापकतापर्यंत ही जीव और पुद्गलकी गति स्थिति है; और इससे लोकमर्यादा उत्पन्न होती है।

जीव, पुद्गल और धर्म, अधर्म, द्रव्यप्रमाण आकाश ये पाँच जहाँ व्यापक हैं,वह 'लोक' कहा जाता है।

●

[६३०] ७०० काविठा, श्रावण वदी, १९५२

शरीर किसका है ? मोहका है। इसलिए असंगभावना रखना योग्य है।

●

[६३१] ७०१ राळज, श्रावण वदी १३, शनि, १९५२

(१) 'अमुक पदार्थके जाने-आने आदिके प्रसंगमें धर्मास्तिकाय आदिके अमुक प्रदेशमें क्रिया होती है, और यदि इस प्रकार हो तो उनमें विभाग हो जाये, जिससे वे भी कालके समयकी भाँति अस्तिकाय न कहे जा सकें' इस प्रश्नका समाधानः—

जैसे धर्मास्तिकाय आदिके सर्व प्रदेश एक समयमें वर्तमान हैं अर्थात् विद्यमान हैं, वैसे कालके सर्व समय कुछ एक समयमें विद्यमान नहीं होते, और फिर द्रव्यके वर्तनापर्यायके सिवाय कालका कोई भिन्न द्रव्यत्व नहीं है, कि उसके अस्तिकायत्वका संभव हो। अमुक प्रदेशमें धर्मास्तिकाय आदिमें क्रिया हो और अमुक प्रदेशमें नहीं, इससे कुछ उसके अस्तिकायत्वका भंग नहीं होता; मात्र एकप्रदेशात्मक वह द्रव्य हो और समूहात्मक होनेकी उसमें योग्यता न हो तो उसके अस्तिकायत्वका भंग हो, अर्थात् कि, तो वह 'अस्तिकाय' न कहा जाये। परमाणु एकप्रदेशात्मक है, तो भी वैसे दूसरे परमाणु मिलकर वह समूहात्मकत्वको प्राप्त होता है। इसलिए वह 'अस्तिकाय' (पुद्गलास्तिकाय) कहा जाता है। और एक परमाणुमें भी अनंतपर्यायात्मकत्व होता है, और कालके एक समयमें कुछ अनंतपर्यायात्मकत्व नहीं है; क्योंकि वह स्वयं ही वर्तमान एक पर्यायरूप है। एक पर्यायरूप होनेसे वह द्रव्यरूप नहीं ठहरता, तो फिर अस्तिकायरूप माननेका विकल्प भी संभवित नहीं है।

(२) मूल अप्कायिक जीवोंका स्वरूप बहुत सूक्ष्म होनेसे सामान्य ज्ञानसे उसका विशेषरूपसे ज्ञान होना कठिन है; तो भी 'षड्दर्शनसमुच्चय' ग्रंथ अभी प्रसिद्ध हुआ है, उसमें १४१से १४३ पृष्ठ तक उसका कुछ स्वरूप समझाया है। उसका विचार कर सकें तो विचार कीजियेगा।

(३) अग्नि अथवा दूसरा बलवान शस्त्रसे अप्कायिक मूल जीवोंका नाश हो, ऐसा समझमें आता है। यहाँसे बाष्प आदिरूप होकर जो पानी ऊँचे आकाशमें बादलरूपमें इकट्ठा होता है वह बाष्प आदिरूप होनेसे अचित्त होने योग्य लगता है, परंतु बादलरूप होनेसे फिर सचित्त हो जाने योग्य है। वह वर्षारूपसे जमीनपर गिरनेसे भी सचित्त होता है। मिट्टी आदिके साथ मिलनेसे भी वह सचित्त रह सकने योग्य है। सामान्यतः मिट्टी अग्नि जैसा बलवान शस्त्र नहीं है, अर्थात् वैसा हो तब भी सचित्त होना संभव है।

(४) बीज जब तक बोनेसे उगनेकी योग्यतावाला है तब तक निर्जीव नहीं होता, सजीव ही कहा जाये। अमुक अवधिके बाद अर्थात् सामान्यतः बीज (अन्नआदिका) तीन वर्ष तक सजीव रह सकता है, इससे बीचमें उसमेंसे जीव चला जाये सही, परंतु, उस अवधिके बीत जानेके बाद उसे निर्जीव अर्थात् निर्बीज हो जाने योग्य कहा है। कदाचित् उसका आकार बीज जैसा हो, परंतु वह बोनेसे उगनेकी योग्यतासे रहित हो जाता है। सर्व बीजोंकी अवधि तीन वर्षकी संभवित नहीं है, कितने बीजोंकी संभव है।

(५) फ्रेंच विद्वान द्वारा खोजे गये यंत्रके ब्योरेका समाचार भेजा उसे पढ़ा है। उसमें उसका नाम जो 'आत्मा देखनेका यंत्र' रखा है, वह यथार्थ नहीं है। ऐसे किसी भी प्रकारके दर्शनकी व्याख्यामें आत्माका समावेश होना योग्य नहीं है। आपने भी उसे आत्मा देखनेका यंत्र नहीं समझा है, ऐसा जानते हैं, तथापि कार्मण कि तैजस शरीर दिखायी देने योग्य है या कुछ दूसरा भास होना योग्य है, उसे जाननेकी आपकी इच्छा मालूम होती है। कार्मण कि तैजस शरीर भी उस तरह दिखायी देने योग्य नहीं है। परंतु चक्षु, प्रकाश, वह यंत्र, मरनेवालेकी देह और उसकी छाया अथवा किसी आभासविशेषसे वैसा दिखायी देना संभव है। उस यंत्रके विषयमें अधिक विवरण प्रसिद्ध होनेपर यह बात प्रायः पूर्वापर जाननेमें आयेगी। हवाके परमाणुओंके दिखायी देनेके विषयमें भी उनके लिखनेकी या देखे हुए स्वरूपकी व्याख्या करनेमें कुछ पर्यायांतर लगता है। हवासे गतिमान किसी परमाणुस्कंध (व्यावहारिक परमाणु कुछ विशेष प्रयोगसे दृष्टिगोचर हो सकने योग्य हो वह) दृष्टिगोचर होना संभव है। अभी उनकी कृति अधिक प्रसिद्ध होनेपर विशेषरूपसे समाधान करना योग्य लगता है।

•

[६३२] ७०२ राळज, श्रावण वदी १४, रवि, १९५२

विचारवान पुरुष तो कैवल्यदशा होने तक मृत्युको नित्य समीप ही समझकर प्रवृत्ति करते हैं।

श्री भृगुकच्छस्थित भाई श्री अनुपचंद मलुकचंदके प्रति,

प्रायः किये हुए कर्मोंकी रहस्यभूत मति मृत्युके समय रहती है। दो प्रकारके भाव हो सकते हैं—एक तो, क्वचित् मुश्किलसे परिचित परमार्थभाव; और दूसरा नित्य परिचित निजकल्पना आदि भावसे रूढिधर्मके ग्रहण करनेका भाव। सद्विचारसे यथार्थ आत्मदृष्टि या वास्तविक

उदासीनता तो सर्व जीवसमूहको देखते हुए किसी विरल जीवको क्वचित् होती है, और दूसरा भाव अनादिसे परिचित है, वही प्रायः सर्व जीवोंमें देखनेमें आता है, और देहांत होनेके प्रसंगपर भी उसका प्राबल्य देखनेमें आता है, ऐसा जानकर मृत्युके समीप आनेपर तथारूप परिणति करनेका विचार विचारवान पुरुष छोड़कर, पहलेसे ही उस प्रकारसे रहता है। आप स्वयं बाह्यक्रियाके विधि-निषेधके आग्रहको विसर्जनवत् करके अथवा उसमें अन्तर परिणामसे उदासीन होकर, देह और तत्संबंधी संबंधका बारंबारका विक्षेपको छोड़कर, यथार्थ आत्मभावका विचार करना ध्यानगत करे तो वही सार्थक है। अंतिम अवसरपर अनशनादि या संस्तरादिक या संलेखनादिक क्रियाएँ क्वचित हो सकें, तो भी जिस जीवको उपर्युक्त भाव ध्यानगत है, उसका जन्म सफल है, और वह क्रमसे निःश्रेयसको प्राप्त होता है।

आपका, कितने ही कारणोंसे बाह्यक्रियादिके विधि-निषेधका विशेष ध्यान देखकर हमें खेद होता था कि इसमें काल व्यतीत होनेसे आत्मावस्था कितनी स्वस्थताका सेवन करती है, और क्या यथार्थ स्वरूपका विचार कर सकती है अथवा आपको उसका इतना अधिक परिचय खेदका हेतु नहीं लगता? जिसमें सहजमात्र उपयोग दिया हो तो चलने जैसा है, उसमें जागृतिकालका लगभग बहुतसा भाग व्यतीत होने जैसा होता है, वह किसलिए और उसका क्या परिणाम? वह क्यों आपके ध्यानमें नहीं आता? इस विषयमें क्वचित् कुछ प्रेरणा करनेकी संभवतः इच्छा हुई थी; परंतु आपकी तथारूप रुचि और स्थिति दिखायी न देनेसे प्रेरणा करते करते वृत्तिको संकुचित कर लिया। अब भी आपके चित्तमें इस बातको अवकाश देने योग्य अवसर है। लोग मात्र विचारवान कि सम्यग्दृष्टि समझें, इससे कल्याण नहीं है अथवा बाह्य-व्यवहारके अनेक विधि-निषेधके कर्तृत्वके माहात्म्यमें कुछ कल्याण नहीं है, ऐसा हमें तो लगता है। यह कुछ एकान्तिक दृष्टिसे लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है, ऐसा विचार छोड़कर, जो कुछ उन वचनोंसे अंतर्मुखवृत्ति होनेकी प्रेरणा हो उसे करनेका विचार रखना, यही सुविचारदृष्टि है।

लोकसमुदाय कोई भला होनेवाला नहीं है, अथवा स्तुतिनिंदाके प्रयत्नार्थ इस देहकी प्रवृत्ति विचारवानके लिए कर्तव्य नहीं है। अंतर्मुखवृत्तिके विना बाह्यक्रियाके विधि-निषेधमें कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है। गच्छादि भेदका निर्वाह करनेमें, नाना प्रकारके विकल्प सिद्ध करनेमें आत्माको आवृत करनेके बराबर है। अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यग्, एकान्त निजपदकी प्राप्ति करानेके सिवाय दूसरे किसी अन्य हेतुसे उपकारी नहीं है, ऐसा जानकर लिखा है। वह मात्र अनुकम्पा बुद्धिसे, निराग्रहसे, निष्कपटतासे, निर्दंभतासे, और हितार्थ लिखा है, ऐसा यदि आप यथार्थ विचार करेंगे तो दृष्टिगोचर होगा, और वचनके ग्रहण अथवा प्रेरणाके होनेका हेतु होगा।

●

[६३३] ७०३ राळज, भादों सुदी ८, १९५२

कितने ही प्रश्नोंका समाधान जाननेकी अभिलाषा रहे यह स्वभाविक है।

'प्रायः सभा मार्गोंमें मनुष्यभवको मोक्षका एक साधन मानकर उसकी बहुत प्रशंसा की है, और जीवको जिस तरह वह प्राप्त हो अर्थात् उसको वृद्धि हो उस तरह बहुतसे मार्गोंमें उपदेश किया मालूम होता है। जिनोक्त मार्गमें वैसा उपदेश किया मालूम नहीं होता। वेदोक्त मार्गमें 'अपुत्रकी गति नहीं होती', इत्यादि कारणोंसे तथा चार आश्रमोंका क्रमादिसे विचार करनेसे ऐसा उपदेश किया हुआ दृष्टिगोचर होता है कि मनुष्यकी वृद्धि हो। जिनोक्त मार्गमें उससे विपरीत

देखा जाता है, अर्थात् वैसा न करते हुए, चाहे जब जीव वैराग्य प्राप्त करे तो संसारका त्याग कर देना, ऐसा उपदेश देखनेमें आता है, इसलिए बहुतसे गृहस्थाश्रमको अपनाये बिना त्यागी हो, और मनुष्यकी वृद्धि रुक जाये; क्योंकि उनके अत्यागसे, जो कुछ उन्हें संतानोत्पत्तिका संभव रहता वह न हो और उससे वंशके नाश होने जैसे हो, जिससे दुर्लभ मनुष्यभवको जो मोक्षसाधनरूप माना है, उसकी वृद्धि रूक जाती है, इसलिए जिनका वैसा अभिप्राय क्यों हो ?' उसे जानने आदि विचार-का प्रश्न लिखा है, उसके समाधानका विचार करनेके लिए यहाँ लिखा है।

लौकिक दृष्टि और अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टिमें महान भेद है, अथवा ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली हैं। लौकिक दृष्टिमें व्यवहार (सांसारिक कारण) की मुख्यता है और अलौकिक दृष्टिमें परमार्थकी मुख्यता है। इसलिए अलौकिक दृष्टिको लौकिक दृष्टिके फलके साथ प्रायः (बहुत करके) मिलाना योग्य नहीं है।

जैन और दूसरे सभी मार्गोमें प्रायः मनुष्यदेहका विशेष माहात्म्य कहा है, अर्थात मोक्ष-साधनका कारणरूप होनेसे उसे चिंतामणि जैसा कहा है, वह सत्य है। परंतु यदि उससे मोक्षसाधन किया तो ही उसका यह माहात्म्य है, नहीं तो वास्तविक दृष्टिसे पशुकी देह जितनी भी उसकी कीमत मालूम नहीं होती।

मनुष्यादि वंशकी वृद्धि करना यह विचार मुख्यतः लौकिक दृष्टिका है, परंतु उस देहको पाकर अवश्य मोक्षसाधन करना, अथवा उस साधनका निश्चय करना, यह विचार मुख्यतः अलौकिक दृष्टिका है। अलौकिक दृष्टिमें मनुष्यादि वंशकी वृद्धि करना, ऐसा नहीं कहा है, इससे मनुष्यादि-का नाश करना ऐसा उसमें आशय रहता है, यह नहीं समझना चाहिए। लौकिक दृष्टिमें तो युद्धादि अनेक प्रसंगोंमें हजारों मनुष्योंके नाश हो जानेका समय आता है, और उसमें बहुतसे वंश-रहित हो जाते हैं, परंतु परमार्थ अर्थात् अलौकिक दृष्टिमें वैसे कार्य नहीं होते कि जिससे प्रायः वैसा होनेका समय आवे, अर्थात् इस स्थानमें अलौकिक दृष्टिसे निर्वैरता, अविरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंकी रक्षा और उनके वंशका रहना, यह सहज ही बन जाता है; और मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करनेका जिसका हेतु है, ऐसी लौकिक दृष्टि प्रत्युत उस जगह वैर, विरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश और वंशहीनता करनेवाली होती है।

अलौकिक दृष्टिको पाकर अथवा अलौकिक दृष्टिके प्रभावसे कोई भी मनुष्य छोटी उमरमें त्यागी हो जाये तो उससे जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण न किया हो उसके वंशका, अथवा जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण किया हो और पुत्रोत्पत्ति न हुई हो, उसके वंशके नाश होनेका समय आये, और उतने मनुष्योंका जन्म कम हो, जिससे मोक्षसाधनकी हेतुभूत मनुष्यदेहकी प्राप्तिके रोकने जैसा हो जाये, ऐसा लौकिक दृष्टिसे योग्य लगता है; परंतु परमार्थ दृष्टिसे वह प्रायः कल्पना मात्र लगता है।

किसीने भी पूर्वकालमें परमार्थमार्गका आराधन करके यहाँ मनुष्यभव प्राप्त किया हो, उसे छोटी उमरसे ही त्याग-वैराग्य तीव्रतासे उदयमें आते हैं, वैसे मनुष्यको संतानकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् त्याग करनेका उपदेश करना, अथवा आश्रमके अनुक्रममें रखना, यह यथार्थ प्रतीत नहीं होता; क्योंकि मनुष्यदेह तो बाह्य दृष्टिसे अथवा अपेक्षारूपसे मोक्षसाधनरूप है, और यथार्थ त्याग-वैराग्य तो मूलतः मोक्षसाधनरूप है, और वैसे कारण प्राप्त करनेसे मनुष्यदेहकी मोक्ष-साधनता सिद्ध होती थी, वे कारण प्राप्त होनेपर उस देहसे भोग आदिमें पड़नेका कहना, इसे

मनुष्यदेहको मोक्षसाधनरूप करनेके समान कहा जाये कि संसार साधनरूप करनेके समान कहा जाय यह विचारणीय है।

वेदोक्त मार्गमें जो चार आश्रमोंकी व्यवस्था है वह एकान्तरूपसे नहीं है। वामदेव, शुकदेव, जडभरतजी इत्यादि आश्रमके क्रमके विना त्यागरूपसे विचरे हैं। जिनसे वैसा होना अशक्य हो, वे परिणाममें यथार्थ त्याग करनेका लक्ष्य रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करें तो यह सामान्यतः ठीक है, ऐसा कहा जा सके। आयुकी ऐसी क्षणभंगुरता है कि वैसा क्रम भी किसी विरलेको ही प्राप्त होनेका अवसर आये। कदाचित् वैसी आयु प्राप्त हुई हो तो भी वैसी वृत्तिसे अर्थात् वैसे परिणामसे यथार्थ त्याग हो ऐसा लक्ष्य रखकर प्रवृत्ति करना तो किसीसे ही बन सकता है।

जिनोक्त मार्गका भी ऐसा एकान्त सिद्धांत नहीं है कि चाहे जिस उमरमें चाहे जिस मनुष्यको त्याग करना चाहिए। तथारूप सत्संग और सद्गुरुका योग होनेपर, उस आश्रमसे कोई पूर्वके संस्कारवाला अर्थात् विशेष वैराग्यवान पुरुष गृहस्थाश्रमको ग्रहण करनेसे पहले त्याग करे तो उसने योग्य किया है, ऐसा जिनसिद्धांत प्रायः कहता है; क्योंकि अपूर्व साधनोंके प्राप्त होने पर भोगादि भोगनेके विचारमें पड़ना, और उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करके अपने प्राप्त आत्मसाधनको गँवाने जैसा करना, और अपनेसे जो संतति होगी वह मनुष्यदेह प्राप्त करेगी, वह देह मोक्षके साधनरूप होगी, ऐसी मनोरथ मात्र कल्पनामें पड़ना, यह मनुष्यभवकी उत्तमता दूर करके उसे पशुवत् करने जैसा हो।

इंद्रियाँ आदि जिसकी शान्त नहीं हुई हैं, ज्ञानीपुरुषकी दृष्टिमें अभी जो त्याग करनेके योग्य नहीं है, ऐसे किसी मंद अथवा मोहवैराग्यवान् जीवको त्याग अपनाना प्रशस्त ही है, ऐसा जिनसिद्धांत कुछ एकान्तरूपसे नहीं है।

प्रथमसे ही जिसे उत्तम संस्कारयुक्त वैराग्य न हो, वह पुरुष कदाचित् त्यागके परिणाममें लक्ष्य रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करे, तो उसने एकांतसे भूल ही की है, और त्याग ही किया होता तो उत्तम था, ऐसा भी जिनसिद्धांत नहीं है। मात्र मोक्षसाधनका प्रसंग प्राप्त होनेपर उस प्रसंगको जाने नहीं देना चाहिए, ऐसा जिनका उपदेश है।

उत्तम संस्कारवाले पुरुष गृहस्थाश्रम किये विना त्याग करें, तो उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाये, और उससे मोक्षसाधनके कारण रुक जायें, यह विचार करना अल्प दृष्टिसे योग्य दिखायी दे, परंतु तथारूप त्याग-वैराग्यका योग प्राप्त होनेपर, मनुष्यदेहकी सफलता होनेके लिए, उस योगका अप्रमत्ततासे विलम्बके विना लाभ प्राप्त करना, यह विचार तो पूर्वापर अविरुद्ध और परमार्थदृष्टिसे सिद्ध कहा जाये। आयु सम्पूर्ण है और अपने संतति हो तो वे मोक्षसाधन करेगी ऐसा निश्चय करके, संतति होगी ही ऐसा मानकर, पीछेसे ऐसेका ऐसा त्याग प्रकाशित होगा, ऐसे भविष्यकी कल्पना करके आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करनेको कौनसा विचारवान एकान्तसे योग्य समझे? अपने वैराग्यमें मंदता न हो, और ज्ञानीपुरुष जिसे त्याग करने योग्य समझते हों, उसे दूसरे मनोरथ मात्र कारणोंके अथवा अनिश्चित कारणोंके विचारको छोड़कर निश्चित और प्राप्त कारणोंका आश्रय करना, यही उत्तम है, और यही मनुष्यभवकी सार्थकता है; बाकी वृद्धि आदिकी तो कल्पना है। सच्चे मोक्षमार्गका नाश कर मात्र मनुष्यकी वृद्धि करनेकी कल्पना करने जैसा करें तो हो सके।

इत्यादि अनेक कारणोंसे परमार्थदृष्टिसे जो उपदेश दिया है, वही योग्य दिखायी देता है।

ऐसे प्रश्नोत्तरमें विशेषतः उपयोगको प्रेरित करना कठिन पड़ता है। तो भी संक्षेपमें जो कुछ लिखना बन पाया, उसे उदीरणावत् करके लिखा है।

जहाँ तक हो सके वहाँ तक ज्ञानीपुरुषके वचनोंको लौकिक आशयमें न लगाना; अथवा अलौकिक दृष्टिसे विचारना योग्य है; और जहाँ तक हो सके वहाँ तक लौकिक प्रश्नोत्तरमें भी विशेष उपकारके विना पड़ना योग्य नहीं है। वैसे प्रसंगोमें बहुत बार परमार्थदृष्टिके क्षुब्ध करने जैसा परिणाम आता है।

बड़के बड़ बट्टे या पीपलके गोदेका रक्षण भी कुछ उनके वंशको वृद्धि करनेके हेतुसे उन्हें अभक्ष्य कहा है, ऐसा समझना योग्य नहीं है। उनमें कोमलता होती है, जिससे उनमें अनंतकायका संभव है, तथा उनके बदले दूसरी अनेक वस्तुओंसे निष्पापतासे रहा जा सकता है, फिर भी उन्हीं-को अंगीकार करनेकी इच्छा रखना यह वृत्तिकी अति तुच्छता है; इसलिए उन्हें अभक्ष्य कहा है, यह यथार्थ लगने योग्य है।

पानीकी बूँदमें असंख्यात जीव हैं, यह बात सच्ची है। परंतु उपर्युक्त बड़के बड़ बट्टे आदिके जो कारण हैं, वैसे कारण इसमें नहीं हैं, इसलिए इसे अभक्ष्य नहीं कहा है। यद्यपि वैसे पानीके काममें लेनेकी भी आज्ञा है, ऐसा नहीं कहा; और उसंसे भी अमुक पाप हो, ऐसा उपदेश है।

पहलेके पत्रमें[1] बीजके सचित्त-अचित्तसंबंधी समाधान लिखा है; वह किसी विशेष हेतुसे संक्षिप्त किया है। परंपरा रूढिके अनुसार लिखा है, तथापि उसमें कुछ विशेष भेद समझमें आता है, उसे नहीं लिखा है। लिखने योग्य न लगनेसे नहीं लिखा है। क्योंकि वह भेद विचार मात्र है, और उसमें कुछ वैसा उपकार समाया हुआ नहीं दीखता।

नाना प्रकारके प्रश्नोत्तरोंका लक्ष्य एक मात्र आत्मार्थके लिए हो तो आत्माका बहुत उपकार होना संभव है।

●

[६३३] ७०४ राळज, भादों सुदी ८, १९५२

लौकिक दृष्टि और अलौकिक दृष्टिमें बड़ा भेद है। लौकिक दृष्टिमें व्यवहारकी मुख्यता है, और अलौकिक दृष्टिमें परमार्थकी मुख्यता है।

जैन और दूसरे सब मार्गोंमें मनुष्यदेहकी विशेषता एवं अमूल्यता कही है, यह सत्य है; परन्तु यदि उसे मोक्षसाधन बनाया जा सके तो ही उसकी विशेषता एवं अमूल्यता है।

मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करना यह विचार लौकिक दृष्टिका है; परन्तु मनुष्यको यथातथ्य योग होनेपर कल्याणका अवश्य निश्चय करना तथा प्राप्ति करना यह विचार अलौकिक दृष्टिका है।

यदि ऐसा ही निश्चय किया गया हो कि क्रमेण ही सर्वसंगपरित्याग करना तो उसे यथा-स्थित विचार न कहा जाये। क्योंकि पूर्वकालमें कल्याणका आराधन किया है ऐसे कई उत्तम जीव छोटी उमरसे ही उत्कृष्ट त्यागको प्राप्त हुए हैं। शुकदेवजी, जडभरत आदिके प्रसंग दूसरे दर्शनमें उसके लिए दृष्टांतरूप हैं। यदि ऐसा ही नियम बनाया हो कि गृहस्थाश्रमका आराधन किये विना त्याग होता ही नहीं है तो फिर वैसे परम उदासीन पुरुषको, त्यागका नाश कराकर,

---

१. पत्र ७०१-४।

(१) वृत्ति आदिकी न्यूनता अभिमानपूर्वक होती हो तो भी करना योग्य है। विशेषता इतनी है कि उस अभिमानके लिए निरंतर खेद रखना। वैसा हो सके तो क्रमशः वृत्ति आदिकी न्यूनता हो और उस संबंधी अभिमान भी न्यून हो जाये।

(२) अनेक स्थलोंपर विचारवान पुरुषोंने ऐसा कहा है कि ज्ञान होनेपर काम, क्रोध, तृष्णा आदि भाव निर्मूल हो जाते हैं, यह सत्य है। तथापि उन वचनोंका ऐसा परमार्थ नहीं है कि ज्ञान होनेसे पहले वे मंद न पडें या कम न हों। यद्यपि उनका समूल छेदन तो ज्ञानसे होता है, परंतु जब तक कषाय आदिकी मंदताकी न्यूनता हो तब तक प्रायः ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। ज्ञान प्राप्त होनेमें विचार मुख्य साधन है, और उस विचारके वैराग्य (योगके प्रति अनासक्ति) तथा उपशम (कषाय आदिकी अतीव मंदता, उनके प्रति विशेष खेद) दो मुख्य आधार हैं। ऐसा जानकर उसका निरंतर लक्ष्य रखकर वैसी परिणति करना योग्य है।

सत्पुरुषके वचनके यथार्थ ग्रहणके विना प्रायः विचारका उद्भव नहीं होता, और सत्पुरुषके वचनका यथार्थ ग्रहण, सत्पुरुषकी प्रतीति, यह कल्याण होनेमें सर्वोत्कृष्ट निमित्त होनेसे, उनकी 'अनन्य आश्रयभक्ति' परिणमित होनेसे होता है। प्रायः ये कारण परस्पर अन्योन्याश्रय जैसे हैं। कहीं किसीकी मुख्यता है, और कहीं किसीकी मुख्यता है, तथापि ऐसा तो अनुभवमें आता है कि जो सच्चा मुमुक्षु हो, उसे सत्पुरुषकी आश्रयभक्ति, अहंभाव आदिके छेदनके लिए और अल्पकालमें विचारदशा परिणमित होनेके लिए उत्कृष्ट कारणरूप होती है।

भोगमें अनासक्ति हो, तथा लौकिक विशेषता दिखानेकी बुद्धि कम की जाये तो तृष्णा निर्बल होती जाती है। लौकिक मान आदिकी तुच्छता समझमें आ जाये तो उसकी विशेषता न लगे; और इससे उसकी इच्छा सहजमें मंद हो जाये, ऐसा यथार्थ भासित होता है। बहुत ही मुश्किलसे आजीविका चलती हो तो भी मुमुक्षुके लिए वह बहुत है; क्योंकि विशेषका कुछ आवश्यक उपयोग (कारण) नहीं है, ऐसा जब तक निश्चय न किया जाये तब तक तृष्णा नाना प्रकारसे आवरण किया करे। लौकिक विशेषतामें कुछ सारभूतता नहीं है, ऐसा निश्चय करनेमें आये तो मुश्किलसे आजीविका जितना मिलता हो तो भी तृप्ति रहे। मुश्किलसे आजीविका जितना न मिलता हो तो भी मुमुक्षुजीव प्रायः आर्त्तध्यान न होने दे, अथवा होनेपर वह विशेष खेद करे; और आजीविकाकी खोटको यथाधर्म उपार्जन करनेकी मंद कल्पना करे, इत्यादि प्रकारसे वर्ताव करते हुए तृष्णाका पराभव (क्षय) होने योग्य दीखता है।

३. प्रायः सत्पुरुषके वचनसे आध्यात्मिकशास्त्र भी आत्मज्ञानका हेतु होता है, क्योंकि परमार्थ आत्मा शास्त्रमें नहीं रहता, सत्पुरुषमें रहता है। मुमुक्षुको यदि किसी सत्पुरुषका आश्रय प्राप्त हुआ हो तो प्रायः ज्ञानकी याचना करना योग्य नहीं है, मात्र तथारूप वैराग्य उपशम आदि प्राप्त करनेके उपाय करना योग्य है। उसके योग्य प्रकारसे सिद्ध होनेपर ज्ञानीका उपदेश सुलभतासे परिणमित होता है, और यथार्थ विचार और ज्ञानका हेतु होता है।

४. जब तक कम उपाधिवाले क्षेत्रमें आजीविका चलती हो तब तक विशेष प्राप्त करनेकी कल्पनासे मुमुक्षुको, किसी एक विशेष अलौकिक हेतुके विना अधिक उपाधिवाले क्षेत्रमें जाना योग्य नहीं है; क्योंकि उससे बहुतसी सद्वृत्तियाँ मंद पड़ जाती हैं, अथवा बढ़ती नहीं हैं।

५. 'योगवासिष्ठ' के पहले दो प्रकरण और वैसे ग्रन्थोंका मुमुक्षुको विशेष ध्यान करना योग्य है।

•

[६३५] ७०७ वड़वा, भादों सुदी ११, गुरु १९५२

ब्रह्मरंध्र आदिमें होनेवाले भासके विषयमें पहले मुंबई पत्र मिला था। अभी उस विषयके विवरणका दूसरा पत्र मिला है। वह वह भास होना संभव है, ऐसा कहनेमें कुछ समझके भेदसे व्याख्याभेद होता है। श्री वैजनाथजीका आपको समागम है, तो उनके द्वारा उस मार्गका यथाशक्ति विशेष पुरुषार्थ होता हो तो करना योग्य है। वर्तमानमें उस मार्गके प्रति हमारा विशेष उपयोग नहीं रहता है। और पत्र द्वारा प्रायः उस मार्गका विशेष ध्यान कराया नहीं जा सकता, जिससे, आपको श्री वैजनाथजीका समागम है तो यथाशक्ति उस समागमका लाभ लेनेमें वृत्ति रखें तो आपत्ति नहीं है।

आत्माकी कुछ उज्ज्वलताके लिए उसके अस्तित्व तथा माहात्म्य आदिकी प्रतीतिमें आनेके लिए तथा आत्मज्ञानकी अधिकारिताके लिए वह साधन उपकारी है। इसके सिवाय प्रायः दूसरी तरह उपकारी नहीं है; इतना ध्यान अवश्य रखना योग्य है। यही विनती।

सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य प्रणाम

[६३६] ७०८ राळज, भादों, १९५२

दूसरे जेठ सुदी १, शनिको आपको लिखा पत्र ध्यानमें आये तो यहाँ भेज × × ×[1] जैसे चलता आया है, वैसे चलता आये, और मुझे किसी प्रतिबंधसे प्रवृत्ति करनेका कोई कारण नहीं है, ऐसा भावार्थ आपने लिखा, उस विषयमें जाननेके लिए संक्षेपसे नीचे लिखता हूँ:—

जैनदर्शनकी पद्धतिसे देखते हुए और वेदांतकी पद्धतिसे देखते हुए हमें केवलज्ञान संभव है। जैनमें केवलज्ञानका जो स्वरूप लिखा है, मात्र उसीको समझना मुश्किल हो जाता है। फिर वर्तमानमें उस ज्ञानका उसीने निषेध किया है, जिससे तत्संबंधी प्रयत्न करना भी सफल दिखायी नहीं देता।

जैनप्रसंगमें हमारा अधिक निवास हुआ है, तो किसी भी प्रकारसे उस मार्गका उद्धार हम जैसों द्वारा विशेषतः हो सके, क्योंकि उसका स्वरूप विशेषतः समझमें आया हो, इत्यादि वर्तमानमें जैनदर्शन इतना अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है, कि उसमेंसे मानों जिनको × × × ×[1] गया है, और लोग मार्ग प्ररूपित करते हैं। बाह्य झंझट बहुत बढ़ा दी है, और अंतर्मार्गका ज्ञान प्रायः विच्छेद जैसा हुआ है। वेदोक्त मार्गमें दो सौ चार सौ वरसमें कोई कोई महान आचार्य हुए दिखायी देते हैं; कि जिससे लाखों मनुष्योंको वेदोक्त पद्धति सचेत होकर प्राप्त हुई हो। फिर साधारणतः कोई कोई आचार्य अथवा उस मार्गके जाननेवाले सत्पुरुष इसी तरह हुआ करते हैं; और जैनमार्ग बहुत वर्षोंसे वैसा हुआ मालूम नहीं होता। जैनमार्गमें प्रजा भी बहुत थोड़ी रह गयी है, और उसमें सैंकड़ों भेद हैं। इतना ही नहीं, किंतु मूलमार्गके सन्मुख होनेकी बात भी उनके कानमें नहीं पड़ती, और उपदेशकके ध्यानमें नहीं है, ऐसी स्थिति हो रही है। इसलिए चित्तमें ऐसा आया करता है कि यदि उस मार्गका अधिक प्रचार हो तो वैसे करना, नहीं तो उसमें रहनेवाली प्रजाको मूललक्ष्यरूपसे प्रेरित करना यह काम बहुत विकट है। तथा जैनमार्गको स्वयमेव समझना और समझाना कठिन है। उसे समझाते हुए अनेक प्रतिबंधक कारण आ

१. यहाँ अक्षर खंडित हो गये हैं।

खड़े हों, ऐसी स्थिति है। इसलिए वैसी प्रवृत्ति करते हुए डर लगता है। उसके साथ साथ यह भी रहता है कि यदि यह कार्य इस कालमें हमारेंसे कुछ भी बने तो बन सकता है। नहीं तो अभी तो मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिए दूसरेका प्रयत्न काम आये वैसा दिखायी नहीं देता। प्रायः मूलमार्ग दूसरेके ध्यानमें नहीं है, तथा उसका हेतु दृष्टांतपूर्वक उपदेश करनेमें परमश्रुत आदि गुण अपेक्षित हैं, उसी तरह बहुतसे अंतरंग गुण अपेक्षित हैं, वे यहाँ है, ऐसा दृढ भास होता है।

इस तरह यदि मूलमार्गको प्रकाशमें लाना हो तो प्रकाशमें लानेवालेको सर्वसंगपरित्याग करना योग्य है; क्योंकि उससे यथार्थ समर्थ उपकार होनेका समय आये। वर्तमान दशाको देखते हुए, सत्ताके कर्मोंपर दृष्टि डालते हुए कुछ समयके बाद उसका उदयमें आना संभव है। हमें सहज-स्वरूपज्ञान है, जिससे योगसाधनकी इतनी अपेक्षा न होनेसे उसमें प्रवृत्ति नहीं की, तथा वह सर्वसंगपरित्यागमें अथवा विशुद्ध देशपरित्यागमें साधने योग्य है। इससे लोगोंका बहुत उपकार होता है, यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्मज्ञानके बिना दूसरा कोई नहीं है।

अभी दो वर्ष तक वह योगसाधन विशेषतः उदयमें आये वैसा दिखायी नहीं देता, इसलिए इसके बादकी कल्पना की जाती है, और तीनसे चार वर्ष उस मार्गमें व्यतीत किये जायें तो ३६वें वर्षमें सर्वसंगपरित्यागी उपदेशकका समय आये, और लोगोंका श्रेय होना हो तो हो।

छोटी उमरमें मार्गका उद्धार करनेकी अभिलाषा रहती थी, उसके बाद ज्ञानदशा आनेके बाद क्रमशः वह शान्त जैसी हो गयी; परंतु कोई कोई लोग परिचयमें आये, उन्हें कुछ विशेषता भासित होनेसे कुछ मूलमार्गपर ध्यान आया, और इस ओर तो सैंकड़ों और हजारों मनुष्य समागम-में आये, जिनमेंसे कुछ समझवाले तथा उपदेशकके प्रति आस्थावाले ऐसे सौ-एक मनुष्य निकलें। इससे यह देखनेमें आया कि लोग तरनेके अभिलाषी विशेष है; परन्तु उन्हें वैसा योग नहीं मिलता। यदि सचमुच उपदेशक पुरुषका योग मिले तो बहुतसे जीव मूलमार्ग प्राप्त करें, ऐसा है और दया आदि-का विशेष उद्योत होना संभव है। ऐसा दिखायी देनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यह कार्य कोई करे तो बहुत अच्छा है। परन्तु दृष्टि डालनेसे वैसा कोई पुरुष ध्यानमें नहीं आता, इसलिए कुछ लिखनेवालेकी ओर ही दृष्टि आती है; परन्तु लिखनेवालेका जन्मसे ऐसा लक्ष्य है कि इस जैसा एक भी जोखिमवाला पद नहीं है, और जब तक अपनी उस कार्यकी यथायोग्यता न रहे तब तक उसकी इच्छा मात्र भी न करना, और प्रायः अभी तक उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें आयी है। मार्ग-का कुछ भी स्वरूप किसी किसीको समझाया है, तथापि किसीको एक व्रतपच्चक्खाण नहीं दिया है, अथवा आप हमारे शिष्य हैं और हम गुरु हैं, ऐसा प्रकार प्रायः प्रदर्शित नहीं हुआ है। कहनेका हेतु यह है कि सर्वसंगपरित्याग होनेपर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहजस्वभावसे उदयमें आये तो करना, ऐसी मात्र कल्पना है। उसका सच्चा आग्रह नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञानप्रभाव रहता है, इससे कभी कभी वह वृत्ति उठती है, अथवा अल्पांशसे स्वयंमें वह वृत्ति है, तथापि वह स्ववश है। हम मानते हैं कि यदि उस तरह सर्वसंगपरित्यागादि हो तो हजारों मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त करें, और हजारों मनुष्य उस सन्मार्गका आराधन कर सद्गतिको प्राप्त करें, ऐसा हमसे होना संभव है। हमारे संगमें अनेक जीवोंको त्याग करनेकी वृत्ति हो ऐसा स्वयंमें त्याग है। धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है; उसकी स्पृहासे भी कभी ऐसी वृत्ति रहे, परन्तु आत्माको अनेक बार परख देखनेसे उसकी संभावना, अबकी दशामें कम ही दिखायी देती है; और वह कुछ सत्तामें रही होगी तो वह भी क्षीण हो जायेगी, ऐसा अवश्य प्रतीत होता है। क्योंकि यथायोग्यताके बिना देह छूट जाये ऐसी दृढ़ कल्पना हो तो भी मार्गका उपदेश नहीं करना, ऐसा आत्मनिश्चय नित्य

रहता है। एक इस बलवान कारणसे परिग्रह आदिके त्याग करनेका विचार रहा करता है। मेरे मनमें ऐसा रहता है कि यदि वेदोक्त धर्मका प्रकाशन करना अथवा स्थापन करना हो तो मेरी दशा यथायोग्य है। परन्तु जिनोक्त धर्मकी स्थापना करनी हो तो अभी तक उतनी योग्यता नहीं है। तो भी विशेष योग्यता है, ऐसा लगता है।

●

[६३७] ७०९ राळज, भादों, १९५२

१. हे नाथ! या तो धर्मोन्नति करनेकी इच्छा सहजतासे शांत हो जाये, या तो वह इच्छा अवश्य कार्यमें परिणत हो जाये! उसका अवश्य कार्यरूप होना अति दुष्कर दीखता है, क्योंकि छोटी छोटी बातोंमें भी बहुत भेद हैं, और उसके मूल बहुत गहरे हैं। मूलमार्गसे लोग लाखों कोस दूर हैं। इतना ही नहीं परंतु उनमें यदि मूलमार्गकी जिज्ञासा उत्पन्न करानी हों, तो भी बहुत कालका परिचय होनेपर भी वह होनी कठिन पड़े, ऐसी उनकी दुराग्रह आदिसे जडप्रधानदशा रहती है।

२. उन्नतिके साधनोंकी स्मृति करता हूँ:—

बोधबीजके स्वरूपका निरूपण मूलमार्गके अनुसार जगह-जगह हो।
जगह जगह, मतभेदसे कुछ भी कल्याण नहीं है, यह बात फैले।
प्रत्यक्ष सद्गुरुकी आज्ञासे धर्म है, यह बात ध्यानमें आये।
द्रव्यानुयोग—आत्मविद्याका प्रकाश हो।
त्याग वैराग्यकी विशेषतासे साधु विचरें।
नवतत्त्वप्रकाश।
साधुधर्मप्रकाश।
श्रावकधर्म प्रकाश।
विचार।
अनेक जीवोंको प्राप्ति।

●

[६३८] ७१० वडवा, भादों सुदी १५, सोम, १९५२

आत्मा आत्मा
सच्चिदानंद सच्चिदानंद

ज्ञानापेक्षासे सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसी मैं आत्मा एक हूँ, ऐसा विचार करना, ध्यान करना।

निर्मल, अत्यन्त निर्मल, परमशुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।
सर्वको कम करते करते जो अबाध्य अनुभव रहता है वह आत्मा है।
जो सर्वको जानती है वह आत्मा है।
जो सर्व भावोंको प्रकाशित करती है वह आत्मा है।
उपयोगमय आत्मा है।
अव्याबाध समाधिस्वरूप आत्मा है।
आत्मा है, आत्मा अत्यंत प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें आता है।

वह आत्मा नित्य है, अनुत्पन्न और अमिलनस्वरूप होनेसे ।

भ्रांतिरूपसे परभावका कर्ता है ।

उसके फलका भोक्ता है ।

भान होनेपर स्वभावपरिणामी है ।

सर्वथा स्वभावपरिणाम वह मोक्ष है ।

सद्गुरु, सत्संग सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि उसके साधन हैं ।

आत्माके अस्तित्वसे लेकर निर्वाण तकके पद सच्चे हैं, अत्यंत सच्चे हैं, क्योंकि प्रगट अनुभवमें आते हैं ।

भ्रांतिरूपसे आत्मा परभावका कर्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है ।

कर्म सफल होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगती है ।

उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभ तकके सर्व न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है ।

निजस्वभावज्ञानमें केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहजस्वभावसे, निर्विकल्परूपसे जो आत्मा परिणमन करती है, वह केवलज्ञान है ।

तथारूप प्रतीतिरूपसे जो परिणमन करे वह सम्यक्त्व है ।

निरंतर वह प्रतीति रहा करे, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं ।

क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् स्मरणरूप, ऐसी प्रतीति रहे उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं ।

उस प्रतीतिको जब तक सत्तागत आवरण उदयमें नहीं आया तब तक उपशम सम्यक्त्व कहते हैं ।

आत्माको जब आवरण उदयमें आये तब वह उस प्रतीतिसे गिर पड़े उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं ।

अत्यंत प्रतीति होनेके योगमें सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन जहाँ रहा है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं ।

तथारूप प्रतीति होनेपर अन्यभावसंबंधी अहंत्व-ममत्व आदि, हर्ष-शोकका क्रमशः क्षय हो ।

मनरुपी योगमें तारतम्यसहित जो कोई चारित्रकी आराधना करता है वह सिद्धि पाता है । और जो स्वरूपस्थिरताका सेवन करता है वह स्वभावस्थिति प्राप्त करता है ।

निरंतर स्वरूपलाभ, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव अंतराय कर्मके क्षयसे प्रगट होते हैं ।

जो केवल स्वभावपरिणामी ज्ञान है वह केवलज्ञान है........केवलज्ञान है ।

●

[६४०] ७११ राळज, भादों, १९५२

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन और मीमांसा ये पाँच आस्तिक दर्शन अर्थात् बंध-मोक्ष आदि भावको स्वीकार करनेवाले दर्शन हैं । नैयायिकके अभिप्राय जैसा ही वैशेषिकका अभिप्राय है, सांख्य जैसा ही योगका अभिप्राय है—इनमें सहज भेद है, इसलिए उन दर्शनोंका अलग विचार नहीं किया है। पूर्व और उत्तर इस तरह मीमांसादर्शनके दो भेद हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें विचारभेद विशेप हैं; तथापि मीमांसा शब्दसे दोनोंका बोध होता है, इसलिए यहाँ उस शब्दसे दोनों समझें । पूर्वमीमांसाका 'जैमिनी' और उत्तरमीमांसाका 'वेदांत' ये नाम भी प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध और जैनके सिवाय बाकीके दर्शन वेदको मुख्य मानकर चलते हैं; इसलिए वेदाश्रित दर्शन हैं; और वेदार्थको प्रकाशित कर अपने दर्शनको स्थापित करनेका प्रयत्न करते हैं। बौद्ध और जैन वेदाश्रित नहीं हैं, स्वतंत्र दर्शन हैं।

आत्मा आदि पदार्थको न स्वीकार करनेवाला ऐसा चार्वाक नामका छठा दर्शन है।

बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद हैं—१. सौत्रांतिक, २. माध्यमिक, ३. शून्यवादी और ४. विज्ञानवादी। वे भिन्न भिन्न प्रकारसे भावोंकी व्यवस्था मानते हैं।

जैनदर्शनके सहज प्रकारांतरसे दो भेद हैं—दिगंबर और श्वेतांबर।

पांचों आस्तिक दर्शनोंको जगत अनादि अभिमत है।

बौद्ध, सांख्य, जैन और पूर्वमीमांसाके अभिप्रायसे सृष्टिकर्ता ऐसा कोई ईश्वर नहीं है।

नैयायिकके अभिप्रायसे तटस्थरूपसे ईश्वर कर्ता है। वेदांतके अभिप्रायसे आत्मामें जगत विवर्तरूप अर्थात् कल्पितरूपसे भासित होता है, और इस तरहसे ईश्वरको कल्पितरूपसे कर्ता माना है।

योगके अभिप्रायसे नियंतारूपसे ईश्वर पुरुषविशेष है।

बौद्धके अभिप्रायसे त्रिकाल और वस्तुस्वरूप आत्मा नहीं है, क्षणिक है। शून्यवादी बौद्धके अभिप्रायसे विज्ञान मात्र है, और विज्ञानवादी बौद्धके अभिप्रायसे दुःख आदि तत्त्व हैं, उनमें विज्ञानस्कन्ध क्षणिकरूपसे आत्मा है।

नैयायिकके अभिप्रायसे सर्वव्यापक ऐसे असंख्य जीव हैं। ईश्वर भी सर्वव्यापक है। आत्मा आदिको मनके सांनिध्यसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

सांख्यके अभिप्रायसे सर्वव्यापक ऐसी असंख्य आत्माएँ हैं। वे नित्य, अपरिणामी और चिन्मात्रस्वरूप हैं।

जैनके अभिप्रायसे अनंत द्रव्य आत्माएँ हैं, प्रत्येक भिन्न है। ज्ञान, दर्शन आदि चेतना स्वरूप, नित्य और परिणामी प्रत्येक आत्मा असंख्यातप्रदेशी स्वशरीरावगाहवर्त्ती मानी हैं।

पूर्वमीमांसाके अभिप्रायसे जीव असंख्य हैं, चेतन हैं।

उत्तरमीमांसाके अभिप्रायसे एक ही आत्मा सर्वव्यापक और सच्चिदानंदमय त्रिकालाबाध्य है।

●

[६३९] ७१२ आणंद, भादों वदी १२, रवि, १९५२

पत्र मिला है। 'मनुष्य आदि प्राणीकी वृद्धि' के संबंधमें आपने जो प्रश्न लिखा था, वह प्रश्न जिस कारणसे लिखा गया था, उस कारणको प्रश्न मिलनेके समय सुना था। ऐसे प्रश्नसे आत्मार्थ सिद्ध नहीं होता, अथवा वृथा कालक्षेप जैसा होता है, इसलिए आत्मार्थका लक्ष्य होनेके लिए, आपको वैसे प्रश्नके प्रति अथवा वैसे प्रसंगोंके प्रति उदासीन रहना योग्य है, ऐसा लिखा था। तथा वैसे प्रश्नका उत्तर लिखने जैसी यहाँ वर्तमानमें दशा नहीं रहती, ऐसा लिखा था। अनियमित और अल्प आयुवाली इस देहमें आत्मार्थका लक्ष्य सबसे प्रथम कर्तव्य है।

●

[६४१] ७१३ आणंद, आसोज, १९५२

ॐ

आस्तिक ऐसे मूल पांच दर्शन आत्माका निरूपण करते हैं, उनमें भेद देखनेमें आता है, उसका समाधान: —

दिन प्रतिदिन जैनदर्शन क्षीण होता हुआ देखनेमें आता है, और वर्धमानस्वामी होनेके वाद थोड़े ही वर्षोंमें उसमें नाना प्रकारके भेद हुए दिखायी देते हैं, इत्यादिके क्या कारण हैं ?

हरिभद्र आदि आचार्योंने नवीन योजनाकी भाँति श्रुतज्ञानकी उन्नति की दिखायी देती है; परंतु लोकसमुदायमें जैनमार्गका अधिक प्रचार हुआ दिखायी नहीं देता, अथवा तथारूप अतिशय संपन्न धर्मप्रवर्तक पुरुषका उस मार्गमें उत्पन्न होना कम दिखायी देता है, उसके क्या कारण हैं ?

अब वर्तमानमें उस मार्गकी उन्नति होना संभव है कि नहीं ? और हो तो किस तरह होनी संभव दीखती है, अर्थात् उस वातका, कहाँसे उत्पन्न होकर, किस तरह, किस द्वारसे और किस स्थितिमें प्रचार होना संभवित दीखता है ? फिर मानो वर्धमानस्वामीके समय जैसे, वर्तमानकालके योग आदिके अनुसार वह धर्म उदय प्राप्त करे, ऐसा क्या दीर्घदृष्टिसे संभव है ? और यदि संभव हो तो किस किस कारणसे संभव है ?

जो जैनसूत्र अभी वर्तमानमें हैं, उसमें उस दर्शनका स्वरूप वहुत अधूरा रहा हुआ देखनेमें आता है, वह विरोध किस तरह दूर हो ?

उस दर्शनकी परंपरामें ऐसा कहा गया है कि वर्तमानकालमें केवलज्ञान न हो, और केवलज्ञानका विषय सर्व कालमें लोकालोकको 'द्रव्यगुणपर्यायसहित जानना माना है, क्या वह यथार्थ मालूम होता है ? अथवा उसके लिए विचार करनेपर कुछ निर्णय हो सकता है कि नहीं ? उसकी व्याख्यामें कुछ अंतर दिखायी देता है कि नहीं ? और मूल व्याख्याके अनुसार कुछ दूसरा अर्थ होता हो तो उस अर्थके अनुसार वर्तमानमें केवलज्ञान उत्पन्न हो कि नहीं ? और उसका उपदेश किया जा सके कि नहीं ? तथा दूसरे ज्ञानोंकी जो व्याख्या कही गयी है वह भी कुछ अंतरवाली लगती है कि नहीं ? और वह किन कारणोंसे ?

द्रव्य धर्मास्तिकाय; अधर्मास्तिकाय, आत्मा मध्यम अवगाही, संकोच-विकासका भाजन; महाविदेह आदि क्षेत्रकी व्याख्या—वे कुछ अपूर्व रीतिसे या कही हुई रीतिसे अत्यंत प्रवल प्रमाणसहित सिद्ध होने योग्य मालूम होते हैं कि नहीं ?

गच्छके मतमतांतर वहुत ही तुच्छ तुच्छ विषयोंमें वलवान आग्रही होकर भिन्न भिन्नरूपसे दर्शनमोहनीयके हेतु हो गये हैं; उसका समाधान करना वहुत विकट है। क्योंकि उन लोगोंकी मति विशेष आवरण प्राप्त किये विना इतने अल्प कारणोंमें वलवान आग्रह न हो।

अविरति, देशविरति, सर्वविरति इनमेंसे किस आश्रमवाले पुरुषसे विशेष उन्नति हो सकना संभव है ? सर्वविरति वहुतसे कारणोंमें प्रतिवंधके कारण प्रवृत्ति नहीं कर सकता; देशविरति और अविरतिकी तथारूप प्रतीति होना मुश्किल है, और फिर जैनमार्गमें भी उस रीतिका समावेश कम है। ये विकल्प हमें किस लिए उठते हैं ? और उन्हें शांत कर देनेका चित्त है क्या शांत कर दें ? [अपूर्ण]

●

[६४२] ७१४ सं० १९५२

ॐ जिनाय नमः ।

भगवान् जिनके कहे हुए लोकसंस्थान आदि भाव आध्यात्मिकदृष्टिसे सिद्ध होने योग्य है।
चक्रवर्ती आदिका स्वरूप भी आध्यात्मिकदृष्टिसे समझमें आने जैसा है।
मनुष्यकी ऊँचाईके प्रमाण आदिमें भी वैसा संभव है।
काल प्रमाण आदि भी उसी तरह घटित होते हैं,
निगोद आदि भी उसी तरह घटित होने योग्य हैं।
सिद्धस्वरूप भी इसी भावसे निदिध्यासनके योग्य है।
—संप्राप्त होने योग्य मालूम होता है।

लोक शब्दका अर्थ
अनेकांत शब्दका अर्थ } आध्यात्मिक है।

सर्वज्ञ शब्दका समझना बहुत गूढ है।
धर्मकथारूप चरित्र आध्यात्मिक परिभाषासे अलंकृत लगता है।
जंबुद्वीप आदिका वर्णन भी अध्यात्म परिभाषासे निरूपित किया हुआ लगता है।
अतींद्रिय ज्ञानके भगवान जिनने दो भेद किये हैं।

देश प्रत्यक्ष,
वह दो भेदसे—
अवधि,
मनःपर्याय।

इच्छितरूपसे अवलोकन करते हुए आत्मा इन्द्रियके अवलंबनके विना अमुक मर्यादाको जाने, वह अवधि है।

अनिच्छित होनेपर मानसिक विशुद्धिके बल द्वारा जाने, वह मनःपर्याय।

सामान्य विशेष चैतन्यात्मदृष्टिमें परिनिष्ठित शुद्ध केवलज्ञान।

श्री जिनके कहे हुए भाव अध्यात्म परिभाषामय होनेसे समझमें आने कठिन हैं। परम पुरुषका योग संप्राप्त होना चाहिए।

जिनपरिभाषा-विचारका यथावकाश विशेष निदिध्यास करना योग्य है।

•

[६४५] ७१५ आणंद, आसोज सुदी १, १९५२

मूळ मारग सांभळो जिननो रे, करी वृत्ति अखंड सन्मुख। मूळ०
नो'य पूजादिनी जो कामना रे, नो'य व्हालुं अंतर भवदुःख॥ मूळ० १
करी जो जो वचननी तुलना रे, जो जो शोधीने जिनसिद्धांत। मूळ०
मात्र कहेवुं परमारथ हेतुथी रे, कोई पामे मुमुक्षु वात॥ मूळ० २

मूलमार्गरहस्य

भावार्थ—आप यदि पूजा, प्रतिष्ठा आदिकी कामना न रखते हों, और जन्म, मरण आदिका आंतरिक दुःख न चाहते हों, तो अखंड चित्तवृत्तिसे जिनके मूलमार्गको सुनें॥ १॥

जिनके सिद्धांत और वचनको परख और तोलकर देखें। केवल परमार्थहेतुसे उनका कथन करते हैं, जिससे कोई मुमुक्षु उसके रहस्यको पा कर कृतार्थ हो॥ २॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्रनी शुद्धता रे, एकपणे अने अविरुद्ध। मूळ०
जिनमारग ते परमार्थथी रे, एम कह्युं सिद्धांते बुध॥ मूळ० ३
लिंग अने भेदो जे व्रतना रे, द्रव्य देश काळादि भेद। मूळ०
पण ज्ञानादिनी जे शुद्धता रे, ते तो त्रणे काळे अभेद॥ मूळ० ४
हवे ज्ञान दर्शनादि शब्दनो रे, संक्षेपे सुणो परमार्थ। मूळ०
तेने जोतां विचारी विशेषथी रे, समजाशे उत्तम आत्मार्थ॥ मूळ० ५
छे देहादिथी भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश। मूळ०
एम जाणे सद्गुरु उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास॥ मूळ० ६
जे ज्ञाने करीने जाणियुं रे, तेनी वर्ते छे शुद्ध प्रतीत। मूळ०
कह्युं भगवंते दर्शन तेहने रे, जेनुं बीजुं नाम समकीत॥ मूळ० ७
जेम आवी प्रतीति जीवनी रे, जाण्यो सर्वेथी भिन्न असंग। मूळ०
तेवो स्थिर स्वभाव ते ऊपजे रे, नाम चारित्र ते अणलिंग॥ मूळ० ८
ते त्रणे अभेद परिणामथी रे, ज्यारे वर्ते ते आत्मारूप। मूळ०
तेह मारग जिननो पामियो रे, किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप॥ मूळ० ९
एवां मूळ ज्ञानादि पामवा रे, अने जवा अनादि बंध। मूळ०
उपदेश सद्गुरुनो पामवो रे, टाळी स्वच्छंद ने प्रतिबंध॥ मूळ० १०
एम देव जिनंदे भाखियुं रे, मोक्षमारगनुं शुद्ध स्वरूप। मूळ०
भव्य जनोना हितने कारणे रे, संक्षेपे कह्युं स्वरूप॥ मूळ० ११

●

ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी जो एकरूप तथा अविरुद्ध शुद्धता है, वही परमार्थसे जिनमार्ग है, ऐसा ज्ञानियोंने सिद्धांतमें कहा है॥ ३॥

लिंग और व्रतके जो भेद हैं, वे द्रव्य, देश, काल आदिकी अपेक्षासे भेद हैं। परंतु ज्ञान आदिकी जो शुद्धता है वह तो तीनों कालोंमें भेदरहित है॥ ४॥

अब ज्ञान, दर्शन आदि शब्दोंका संक्षेपसे परमार्थ सुनें। उसे समझकर विशेषरूपसे विचारनेसे उत्तम आत्मार्थ समझमें आयेगा॥ ५॥

आत्मा देह आदिसे भिन्न, सदा उपयोगयुक्त और अविनाशी है, ऐसा सद्गुरुके उपदेशसे जो जानना है, उसका विशेष नाम ज्ञान है; अर्थात् यथार्थज्ञान वही है॥ ६॥

जो ज्ञान द्वारा जाना है, उसकी जो शुद्ध प्रतीति रहती है, उसे भगवानने दर्शन कहा है, जिसका दूसरा नाम समकित है॥ ७॥

जैसे जीवकी प्रतीति हुई अर्थात् उसने अपने आपको सर्वसे भिन्न और असंग समझा; वैसे स्थिर स्वभावकी उत्पत्ति—आत्मस्थिरता उत्पन्न होती है उसीका नाम चारित्र है और वह अलिंग अर्थात् भावचारित्र है॥ ८॥

जब ये तीनों गुण अभेद-परिणामसे रहते हैं, तब एक आत्मरूप रहता है। उसने जिनका मार्ग पा लिया है अथवा निजस्वरूपको पा लिया है॥ ९॥

ऐसे मूलज्ञान आदिके पानेके लिए, अनादि बंध दूर होनेके लिए, स्वच्छंद और प्रतिबंधको दूर कर सद्गुरुका उपदेश प्राप्त करें॥ १०॥

इस प्रकार जिनेंद्र देवने मोक्षमार्गका शुद्ध स्वरूप कहा है। भव्य जनोंके हितके लिए यहाँ संक्षेपसे स्वरूप कहा है॥ ११॥

[६४६] ७१६ आणंद, आसोज सुदी २, गुरु, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद ।

श्री रामदासस्वामीकी बनायी हुई 'दासबोध' नामकी पुस्तक मराठी भाषामें है। उसका गुजराती भाषांतर प्रगट हो गया है; जिसे पढ़ने और विचारनेके लिए भेजा है।

पहले गणपति आदिकी स्तुति की है, तथा बादमें जगत्के पदार्थोंका आत्मरूपसे वर्णन करके उपदेश दिया है, तथा उसमें वेदांतकी मुख्यता वर्णित है, इत्यादिसे कुछ भी भय न करते हुए अथवा विकल्प न करते हुए, ग्रंथकर्ताके आत्मार्थसंबंधी विचारोंका अवगाहन करना योग्य है। आत्मार्थके विचारनेमें उससे क्रमसे सुलभता होती है।

श्री देवकरणजीको व्याख्यान करना होता है, उससे जो अहंभाव आदिका भय रहता है, वह संभव है।

जिस जिसने सद्गुरुमें तथा उनकी दशामें विशेषता देखी है, उस उसको प्रायः तथारूप प्रसंग जैसे प्रसंगोंमें अहंभावका उदय नहीं होता, अथवा तुरत शांत हो जाता है। उस अहंभावको यदि पहलेसे जहरके समान प्रतीत किया हो, तो पूर्वापर उसका संभव कम हो। कुछ अंतरमें चातुर्य आदि भावसे, सूक्ष्म परिणतिसे भी मिठास रखी हो, तो वह पूर्वापर विशेषता प्राप्त करता है। परंतु वह जहर ही है, निश्चयसे ज़हर ही है, स्पष्ट कालकूट ज़हर है, उसमें किसी तरह संशय नहीं है; और संशय हो तो उस संशयको मानना नहीं, उस सशयको अज्ञान ही जानना है, ऐसा तीव्र खारापन कर डाला हो, तो वह अहंभाव प्रायः बल नहीं कर सकता। कभी उस अहंभावके रोकनेसे निरहंभाव हुआ, उसका फिरसे अहंभाव हो जाना संभव है, उसे भी पहलेसे ज़हर, ज़हर और ज़हर मानकर प्रवृत्ति की हो तो आत्मार्थको बाधा नहीं होती।

आप सर्व मुमुक्षुओंको यथाविधि नमस्कार

❁

[६४७] ७१७ आणंद, आसोज सुदी ३, शुक्र, १९५२

डरबनस्थित आत्मार्थी भाई श्री मोहनलाल[१] के प्रति,

आपका लिखा हुआ पत्र मिला था। इस पत्रसे संक्षेपसे उत्तर लिखा है।

नाटालमें रहनेसे आपकी बहुतसी सद्वृत्तियोंने विशेषता प्राप्त की है, ऐसी प्रतीति होती है। परन्तु आपकी उस तरह प्रवृत्ति करनेकी उत्कृष्ट इच्छा उसमें हेतुभूत है। राजकोटकी अपेक्षा नाटाल ऐसा क्षेत्र अवश्य है कि जो कई तरहसे आपकी वृत्तिका उपकारक हो सकता है, ऐसा माननेमें हानि नहीं है। क्योंकि आपकी सरलताकी रक्षा करनेमें जिससे निजी विघ्नोंका भय रह सके ऐसे प्रपंचमें अनुसरण करनेका दबाव प्रायः नाटालमें नहीं है। परन्तु जिसकी सद्वृत्तियाँ विशेष बलवान न हों अथवा निर्बल हों, और उसे इंग्लैंड आदि देशमें स्वतंत्ररूपसे रहनेका हो तो वह अभक्ष्य आदिमें दूषित हो जाये ऐसा लगता है। जैसे आपको नाटाल क्षेत्रमें प्रपंचका विशेष योग न होनेसे आपकी सद्वृत्तियोंने विशेषता प्राप्त की है, वैसे राजकोट जैसे स्थानमें होना कठिन है, यह यथार्थ है; परन्तु किसी आर्यक्षेत्रमें सत्संग आदिके योगमें आपकी वृत्तियाँ नाटालकी अपेक्षा भी

१. महात्मा गाँधीजी।

विशेषता प्राप्त करतीं, यह संभव है। आपकी वृत्तियाँ देखते हुए आपको नाटाल अनार्यक्षेत्ररूपसे असर करे, प्रायः ऐसी मेरी मान्यता नहीं है। परन्तु वहाँ प्रायः सत्संग आदि योगकी प्राप्ति न होनेसे कुछ आत्मनिराकरण न हो पाये, तद्रूप हानि मानना कुछ विशेष योग्य लगता है।

यहाँसे 'आर्य आचार-विचार'के सुरक्षित रखनेके संबंधमें लिखा था वह ऐसे भावार्थमें लिखा था:—'आर्य आचार' अर्थात् मुख्यतः दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोंका आचरण करना; और 'आर्य विचार' अर्थात् मुख्यतः आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, वर्तमान काल तक उस स्वरूपका अज्ञान, तथा उस अज्ञान और अभानके कारण, उन कारणोंकी निवृत्ति और वैसा होनेसे अव्याबाध आनंदस्वरूप अभान निजपदमें स्वाभाविक स्थिति होना। इस तरह संक्षेपसे मुख्य अर्थसे वे शब्द लिखे हैं।

वर्णाश्रमादि, वर्णाश्रमादिपूर्वक आचार यह सदाचारके अंगभूत जैसा है। विशेष पारमार्थिक हेतु विना तो वर्णाश्रमादिपूर्वक बर्ताव करना योग्य है, ऐसा विचारसिद्ध है। यद्यपि वर्तमान कालमें वर्णाश्रमधर्म बहुत निर्बल स्थितिको प्राप्त हुआ है, तो भी हमें तो, जब तक हम उत्कृष्ट त्यागदशा प्राप्त न करें, और जब तक गृहस्थाश्रममें वास हो, तब तक तो वैश्यरूप वर्णधर्मका अनुसरण करना योग्य है; क्योंकि अभक्ष्यादि ग्रहण करनेका उसमें व्यवहार नहीं है। तब यह आशंका होना योग्य है कि 'लुहाणा भी उसी तरह आचरण करते हैं तो उनका अन्न, आहार आदि ग्रहण करनेमें क्या हानि है ?' तो उसके उत्तरमें इतना कहना योग्य हो सके कि विना कारण उस रिवाजको भी बदलना योग्य नहीं है; क्योंकि उससे फिर दूसरे समागमवासी या प्रसंगादिमें अपने रीतिरिवाजको देखनेवाले ऐसे उपदेशका निमित्त प्राप्त करें कि चाहे जिस वर्णका भोजन करनेमें बाधा नहीं है। लुहाणाके यहाँ अन्नाहार लेनेसे वर्णधर्मकी हानि नहीं होती; परंतु मुसलमानके यहाँ अन्नाहार लेते हुए तो वर्णधर्मकी हानिका विशेष संभव है, और वर्णधर्मके लोप करनेके दोष जैसा होता है। हम कुछ लोकके उपकार आदिके हेतुसे वैसी प्रवृति करते हों और रसलुब्धतासे वैसी प्रवृत्ति न होती हो, तो भी अपना यह आचरण ऐसे निमित्तका हेतु है कि दूसरे लोग उस हेतुको समझे विना प्रायः उसका अनुकरण करें और अंतमें अभक्ष्यादिके ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति करें; इसलिए वैसा आचरण नहीं करना अर्थात् मुसलमान आदिके अन्नाहार आदिका ग्रहण नहीं करना, यह उत्तम है। आपकी वृत्तिकी बहुत कुछ प्रतीति होती है, परंतु यदि किसीकी उससे निम्नकोटिकी वृत्ति हो तो वही स्वतः उस रास्तेसे प्रायः अभक्ष्यादि आहारके योगको प्राप्त करे। इसलिए उस प्रसंगसे दूर रहा जाये वैसा विचार करना कर्तव्य है।

दयाकी भावना विशेष रखनी हो तो जहाँ हिंसाके स्थानक हैं, तथा वैसे पदार्थोंका जहाँ लेन-देन होता है, वहाँ रहनेके तथा जाने आनेके प्रसंगको न आने देना चाहिए; नहीं तो जैसी चाहिए वैसी दयाकी भावना न रहे। तथा अभक्ष्यपर वृत्ति न जाने देनेके लिए, और उस मार्गकी उन्नतिका अनुमोदन न करनेके लिए अभक्ष्यादिके ग्रहण करनेवालेका, आहारादिके लिए परिचय नहीं रखना चाहिए।

ज्ञानदृष्टिसे देखते हुए ज्ञाति आदि भेदकी विशेषता आदि मालूम नहीं होती; परंतु भक्ष्याभक्ष्यभेदका वहाँ भी विचार करना चाहिए; और उसके लिए मुख्यतः यह वृत्ति रखना उत्तम है। कितने ही कार्य ऐसे होते हैं कि उनमें प्रत्यक्ष दोष नहीं होता, अथवा उनसे अन्य दोष नहीं लगता; परंतु उसके संबंधसे दूसरे दोषोंका आश्रय होता है, उसका भी विचारवानको लक्ष्य रखना उचित है। नाटालके लोगोंके उपकारके लिए कदाचित् आपकी ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी निश्चय न

माना जाये। यदि दूसरे किसी भी स्थलपर वैसा आचरण करते हुए बाधा मालूम हो, और आचरण न हो तो मात्र वह हेतु माना जाये। फिर उन लोगोंके उपकारके लिए वैसा आचरण करना चाहिए, ऐसा विचार करनेमें भी कुछ आपकी गलत-फहमी होती होगी, ऐसा लगा करता है। आपकी सद्‌वृत्तिकी कुछ प्रतीति है, इसलिए इस विषयमें अधिक लिखना योग्य मालूम नहीं होता। जैसे सदाचार और सद्‌विचारका आराधन हो वैसा आचरण करना योग्य है।

दूसरी नीच जातियों अथवा मुसलमान आदिके किन्हीं वैसे निमंत्रणोंमें अन्नाहारादिके बदले अपक्व फलाहार आदि लेनेसे उन लोगोंके उपकारकी रक्षाका संभव रहता हो, तो वैसा करें तो अच्छा है। यही विनती।

●

आत्म-सिद्धि*

[६६०] ७१८ नडियाद, आसोज वदी १, गुरु, १९५२

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत।
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत॥ १॥

जिस आत्मस्वरूपके समझे विना भूतकालमें मैंने अनंत दुःख पाया, उस स्वरूपको जिसने समझाया—अर्थात् भविष्यकालमें उत्पन्न होने योग्य जिन अनंत दुःखोंको मैं प्राप्त करता, उनका जिसने मूलोच्छेद किया ऐसे श्री सद्गुरु भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ॥ १॥

---

*. श्रीमद्‌जी सं० १९५२ के आश्विनकी कृष्ण प्रतिपदा गुरुवारको नडियादमें ठहरे हुए थे; तब उन्होंने इस 'आत्मसिद्धिशास्त्र'की १४२ गाथाएँ 'आत्मसिद्धि' के रूपमें बनायीं थीं। इन गाथाओंका संक्षिप्त अर्थ खंभातके एक परम मुमुक्षु श्री अंबालाल लालचंदने किया था, जिसे श्रीमद्‌जीने देख लिया था, (देखें आंक ७३० का पत्र)। इसके अतिरिक्त 'श्रीमद् राजचंद्र' के पहले और दूसरे संस्करणोंके आंक ४४२ और आंक ४४४ से आंक ४५१ तकके पत्र आत्मसिद्धिके विवेचनके रूपमें श्रीमद्‌ने स्वयं लिखे हैं, जो आत्मसिद्धिकी रचनाके दूसरे दिन आश्विन कृष्ण दूज, १९५२ को लिखे गये हैं। यह विवेचन जिस जिस गाथाका है उस उस गाथाके नीचे दिया है।

[1]वर्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप ।
विचारवा आत्मार्थीने भाख्यो अत्र अगोप्य ॥ २ ॥

इस वर्तमानकालमें मोक्षमार्गका बहुत लोप हो गया है, जिस मोक्षमार्गको आत्मार्थीके विचार करनेके लिए (गुरु—शिष्यके संवादरूपमें) यहाँ स्पष्ट कहते हैं ॥ २ ॥

कोई क्रियाजड थई रह्या, शुष्कज्ञानमां कोई ।
माने मारग मोक्षनो, करुणा ऊपजे जोई ॥ ३ ॥

कोई क्रियासे ही चिपके हुए हैं, और कोई शुष्कज्ञानसे ही चिपके हुए हैं; इस तरह वे मोक्ष-मार्ग मानते हैं; जिसे देखकर दया आती है ॥ ३ ॥

बाह्य क्रियामां राचता, अंतर्भेद न कांई ।
ज्ञानमार्ग निषेधता, तेह क्रियाजड आंई ॥ ४ ॥

जो मात्र बाह्य क्रियामें अनुरक्त हो रहे हैं, जिनका अंतर कुछ भिदा नहीं है, और जो ज्ञान-मार्गका निषेध किया करते हैं, उन्हें यहाँ क्रियाजड कहा है ॥ ४ ॥

बंध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणी मांही ।
वर्ते मोहावेशमां शुष्कज्ञानी ते आंही ॥ ५ ॥

बंध और मोक्ष मात्र कल्पना है, ऐसा निश्चयवाक्य जो मात्र वाणीसे बोलते हैं, और जिसकी तथारूप दशा नहीं हुई है, और जो मोहके प्रभावमें रहते हैं; उन्हें यहाँ शुष्कज्ञानी कहा है ॥ ५ ॥

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान ।
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान ॥ ६ ॥

वैराग्य, त्याग आदि यदि आत्मज्ञानके साथ हों तो वे सफल हैं, अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिके हेतु हैं; और जहाँ आत्मज्ञान न हो वहाँ भी यदि उन्हें आत्मज्ञानके लिए किये जायें, तो वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं ॥६॥

वैराग्य, त्याग, दया आदि अंतरंगवृत्तिवाली क्रियाएँ हैं, यदि उनके साथ आत्मज्ञान हो तो वे सफल हैं, अर्थात् भवके मूलका नाश करती हैं; अथवा वैराग्य, त्याग, दया आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं। अर्थात् जीवमें प्रथम इन गुणोंके आनेसे सद्गुरुका उपदेश उसमें परिणमित होता है। उज्ज्वल अंतःकरणके विना सद्गुरुका उपदेश परिणमित नहीं होता। इसलिए यह कहा है कि वैराग्य आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं।

यहाँ जो जीव क्रियाजड हैं, उन्हें ऐसा उपदेश किया है कि मात्र कायाका ही रोकना कुछ आत्मज्ञानकी प्राप्तिका हेतु नहीं है। वैराग्य आदि गुण आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं, इसलिए आप उन क्रियाओंका अवगाहन करें, और उन क्रियाओंमें उलझ कर रहे यह योग्य नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञानके विना वे भी भवके मूलका छेदन नहीं कर सकतीं। इसलिए आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए उन वैराग्य आदि गुणोंका आचरण करें; और कायक्लेशमें—जिसमें कषाय आदिकी तथारूप कुछ भी क्षीणता नहीं होती—आप मोक्षमार्गका दुराग्रह न रखें; ऐसा क्रियाजडोंको कहा है। और जो शुष्कज्ञानी त्याग, वैराग्य आदिसे रहित हैं, मात्र वाचाज्ञानी हैं, उन्हें ऐसा कहा है कि वैराग्य आदि जो साधन हैं, वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं, कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, आपने

---

१. पाठांतर : गुरु शिष्य संवादथी, कहीए ते अगोप्य ।

वैराग्य आदि भी प्राप्त नहीं किये, तो आत्मज्ञान कहाँसे प्राप्त किया हो ? इसका कुछ आत्मामें विचार करें। संसारके प्रति बहुत उदासीनता, देहकी मूर्च्छाकी अल्पता, भोगमें अनासक्ति तथा मान आदिकी कृशता इत्यादि गुणोंके बिना तो आत्मज्ञान परिणमित नहीं होता; और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेपर तो वे गुण अत्यंत दृढ़ हो जाते हैं, क्योंकि आत्मज्ञानरूप मूल उन्हें प्राप्त हुआ है। इसके बदले आप ऐसा मानते हैं कि आपको आत्मज्ञान है, और आत्मामें तो भोग आदिकी कामनाकी अग्नि जला करती है, पूजा, सत्कार, आदिकी कामना बारंबार स्फुरित होती रहती है, सहज असातासे बहुत व्याकुलता-आकुलता हो जाती है। यह क्यों ध्यानमें नहीं आता कि ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं है। 'मैं मात्र मान आदिकी कामनासे आत्माज्ञानी कहलवाता हूँ', यह जो समझमें नहीं आता उसे समझें; और वैराग्य आदि साधन प्रथम तो आत्मामें उत्पन्न करें कि जिससे आत्मज्ञानकी सन्मुखता हो। (६)

त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ॥ ७ ॥

जिसके चित्तमें त्याग और वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे ज्ञान न हो; और जो त्याग-वैराग्यमें ही उलझा रहकर आत्मज्ञानकी आकांक्षा न रखे वह अपना भान भूल जाये; अर्थात् अज्ञानपूर्वक त्याग-वैराग्य आदि होनेसे वह पूजा-सत्कार आदिसे पराभव प्राप्त करे और आत्मार्थ चूक जाये ॥ ७ ॥

जिसके अंतःकरणमें त्याग-वैराग्य आदि गुण उत्पन्न नहीं हुए ऐसे जीवको आत्मज्ञान नहीं होता; क्योंकि मलिन अंतःकरणरूप दर्पणमें आत्मोपदेशका प्रतिबिंब पड़ना योग्य नहीं है। तथा मात्र त्याग-वैराग्यमें अनुरक्त होकर जो कृतार्थता मानता है वह भी अपनी आत्माका भान भूल जाता है। अर्थात् आत्मज्ञान न होनेसे अज्ञानकी सहचारिता रहती है, जिससे वह त्याग-वैराग्य आदिका मान उत्पन्न करनेके लिए और मानके लिए उसकी सर्व संयम आदिकी प्रवृत्ति हो जाती है; जिससे संसारका उच्छेद नहीं होता, मात्र वहीं उलझ जाता है। अर्थात् वह आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं करता। इस तरह क्रियाजडको साधन-क्रिया और उस साधनकी जिससे सफलता हो ऐसे आत्मज्ञानका उपदेश किया है और शुष्कज्ञानीको त्याग वैराग्य आदि साधनका उपदेश करके वचनज्ञानमें कल्याण नहीं है, ऐसी प्रेरणा की है। (७)

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥ ८ ॥

जहाँ जहाँ जो जो योग्य है वहाँ वहाँ उस उसको समझे और वहाँ वहाँ उस उसका आचरण करे, ये आत्मार्थी पुरुषके लक्षण हैं ॥ ८ ॥

जिस जिस स्थानमें जो जो योग्य है अर्थात् त्याग-वैराग्य आदि योग्य हो वहाँ त्याग-वैराग्य आदि समझे; जहाँ आत्मज्ञान योग्य हो वहाँ आत्मज्ञान समझे; इस तरह जो जहाँ चाहिए उसे वहाँ समझना और वहाँ वहाँ तदनुसार प्रवृत्ति करना, यह आत्मार्थी जीवका लक्षण है। अर्थात् जो मतार्थी कि मानार्थी हो वह योग्य मार्गको ग्रहण न करे। अथवा जिसे क्रियामें ही दुराग्रह हो गया है, अथवा शुष्कज्ञानके ही अभिमानमें जिसने ज्ञानित्व मान लिया है, वह त्याग-वैराग्य आदि साधनको अथवा आत्मज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकता।

जो आत्मार्थी होता है वह जहाँ जहाँ जो जो करना योग्य है उस उसको करता है और

जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस उसको समझता है; अथवा जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस उसको समझता है और जहाँ जो जो आचरण करना योग्य है वहाँ उस उसका आचरण करता है, वह आत्मार्थी कहा जाता है।

यहाँ 'समझना' और 'आचरण करना' ये दो सामान्य पद हैं। परंतु दोनोंको अलग-अलग कहनेका यह भी आशय है कि जो जो जहाँ समझना योग्य है वह वह वहाँ समझनेकी कामना जिसे है और जो जो जहाँ आचरण करना योग्य है वह वह वहाँ आचरण करनेकी जिसे कामना है वह भी आत्मार्थी कहा जाता है। (८)

सेवे सद्गुरुचरणने, त्यागी दई निजपक्ष।
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष ॥ ९ ॥

अपने पक्षको छोड़कर जो सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है वह परमार्थको पाता है, और उसे आत्मस्वरूपका लक्ष्य होता है ॥ ९ ॥

बहुतोंको क्रियाजडता रहती है और बहुतोंको शुष्कज्ञानिता रहती है, उसका क्या कारण होना चाहिए ? ऐसी आशंकाका समाधानः—

जो अपने पक्ष अर्थात् मतको छोड़कर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थको पाता है, और जिनपद अर्थात् आत्मस्वभावका लक्ष्य अपनाता है, अर्थात् बहुतोंको क्रियाजडता रहती है उसका हेतु यह है कि असद्गुरु कि जो आत्मज्ञान और आत्मज्ञानके साधनको नहीं जानता, उसका उन्होंने आश्रय लिया है, जिससे वह असद्गुरु जो मात्र क्रियाजड़ताका अर्थात् कायक्लेशका मार्ग जानता है, उसमें उन्हें लगाता है, और कुलधर्मको दृढ कराता है; जिससे उन्हें सद्गुरुका योग प्राप्त करनेकी आकांक्षा नहीं होती, अथवा वैसा योग मिलनेपर भी पक्षकी दृढ़ वासना उन्हें सदुपदेशके सन्मुख नहीं होने देती, इसलिए क्रियाजड़ता दूर नहीं होती, और परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती।

और जो शुष्कज्ञानी है उसने भी सद्गुरुके चरणका सेवन नहीं किया, मात्र अपनी मति-कल्पनासे स्वच्छंदरूपसे अध्यात्मग्रंथ पढ़े हैं, अथवा शुष्कज्ञानीके पाससे वैसे ग्रंथ कि वचन सुनकर अपनेमें ज्ञानित्व मान लिया है, और ज्ञानी मनवानेके पदका जो एक प्रकारका मान है वह उसे मीठा लगता रहा है, और वह उसका पक्ष हो गया है। अथवा किसी एक विशेष कारणसे शास्त्रोंमें दया, दान और हिंसा, पूजाकी समानता कही है, वैसे वचनोंको, उनका परमार्थ समझे विना पकडकर, मात्र अपनेको ज्ञानी मनवानेके लिए, और पामर जीवके तिरस्कारके लिए वह उन वचनोंका उपयोग करता है। परंतु वैसे वचनोंको किस लक्ष्यसे समझनेसे परमार्थ होता है, यह नहीं जानता। फिर जैसे दया, दान आदिकी शास्त्रोंमें निष्फलता कही है, वैसे नवपूर्व तक पढ़ लेनेपर भी वह भी निष्फल गया, इस तरह ज्ञानकी भी निष्फलता कही है, तो वह शुष्कज्ञानका ही निषेध है। ऐसा होनेपर भी उसे उसका लक्ष्य नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी बननेके मानमें उसकी आत्मा मूढ़ताको प्राप्त हो गयी है, इसलिए उसे विचारका अवकाश नहीं रहा। इस तरह क्रियाजड अथवा शुष्कज्ञानी दोनों भूले हुए हैं, और वे परमार्थ पानेकी इच्छा रखते हैं, अथवा परमार्थ पा लिया है, ऐसा कहते हैं। यह मात्र उनका दुराग्रह है, यह प्रत्यक्ष दिखायी देता है। यदि सद्गुरुके चरणका सेवन किया होता तो ऐसे दुराग्रहमें पड़ जानेका समय न आता, और जीव आत्मसाधना-

में प्रेरित होता, और तथारूप साधनसे परमार्थको पाता, और निजपदका लक्ष्य ग्रहण करता, अर्थात् उसकी वृत्ति आत्मसन्मुख हो जाती।

तथा स्थान स्थानपर एकाकीरूपसे विचरनेका निषेध किया है, और सद्गुरुकी सेवामें विचरनेका ही उपदेश किया है; उससे भी यह समझमें आता है कि जीवके लिए हितकारी और मुख्य मार्ग वही है। तथा असद्गुरुसे भी कल्याण होता है ऐसा कहना तो तीर्थंकर आदिकी, ज्ञानीकी आसातना करनेके समान है; क्योंकि उनमें और असद्गुरुमें कुछ भेद न हुआ; जन्मांध और अत्यंत शुद्ध निर्मल चक्षुवालेमें कुछ न्यूनाधिकता ही न ठहरी। तथा कोई 'श्री ठाणांगसूत्र' की चौभंगी[1] ग्रहण करके ऐसा कहे कि 'अभव्यका तारा हुआ भी तरता है,' तो यह वचन भी वदतोव्याघात जैसा है। एक तो मूलमें 'ठाणांग'में तदनुसार पाठ ही नहीं है, जो पाठ है वह इस प्रकार है[2]....उसका शब्दार्थ इस प्रकार है[2]....उसका विशेषार्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है[2]....जिसमें किसी स्थलपर ऐसा नहीं कहा है कि 'अभव्यका तारा हुआ तरता है।' और किसी एक टब्बेमें किसीने यह वचन लिखा है वह उसकी समझकी अयथार्थता समझमें आती है।

कदाचित् कोई ऐसा कहे कि अभव्य जो कहता है वह यथार्थ नहीं है, ऐसा भासित होनेसे यथार्थ क्या है, उसका लक्ष्य होनेसे जीव स्वविचारको पाकर तरा, ऐसा अर्थ करें तो एक प्रकारसे संभवित है, परंतु इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अभव्यका तारा हुआ तरा। ऐसा विचार कर जिस मार्गसे अनंत जीव तरे हैं और तरेंगे, उस मार्गका अवगाहन करना और स्वकल्पित अर्थके मान आदिकी रक्षा छोड़कर त्याग करना यही श्रेयस्कर है। यदि आप ऐसा कहें कि अभव्यसे तरा जाता है, तो इससे तो अवश्य निश्चय होता है कि असद्गुरुसे तरा जायेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

और अशोच्या केवली, जिसने पूर्वकालमें किसीसे धर्म नहीं सुना, उसे किसी तथारूप आवरणके क्षयसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसा शास्त्रमें निरूपण किया है; वह आत्माका माहात्म्य प्रदर्शित करनेके लिए और जिसे सद्गुरुका योग न हो उसे जाग्रत करनेके लिए, उस उस अनेकांत मार्गका निरूपण करनेके लिए बताया है; परंतु सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करनेके मार्गको उपेक्षित करनेके लिए नहीं कहा है। और फिर इस स्थलपर तो उलटे उस मार्गपर दृष्टि आनेके लिए उसे अधिक सबल किया है, और कहा है कि वह अशोच्या केवली[1]....अर्थात् अशोच्या केवलीका यह प्रसंग सुनकर कोई, जो शाश्वत मार्ग चला आया है, उसका निषेध करे, यह आशय नहीं, ऐसा निवेदन किया है।

किसी तीव्र आत्मार्थीको कदाचित् सद्गुरुका ऐसा योग न मिला हो, और उसे अपनी तीव्र कामना और कामनामें ही निजविचारमें संलग्न होनेसे, अथवा तीव्र आत्मार्थके कारण निजविचारमें लीन होनेसे आत्मज्ञान हुआ हो तो सदगुरुके मार्गकी उपेक्षा न कर, और 'मुझे सद्गुरुसे ज्ञान नहीं मिला इसलिए मैं बड़ा हूँ', ऐसा भाव न रख, विचारवान जीवको जिससे शाश्वत मार्गका लोप न हो ऐसे वचन प्रकाशित करने चाहिए।

---

१. देखें आंक ५४२।

२. मूल पाठ रखना चाहा परंतु रखा लगता नहीं।

एक गाँवसे दूसरे गाँव जाना हो और जिसने उस गाँवका मार्ग न देखा हो, ऐसा कोई पचास वर्षका पुरुष हो और लाखों गाँव देख आया हो, उसे भी उस मार्गका पता नहीं चलता, और किसीको पूछनेपर मालूम होता है, नहीं तो वह भूल खा जाता है; और उस मार्गका जानकार दस वर्षका बालक भी उसे मार्ग दिखाता है, जिससे वह पहुँच सकता है; ऐसा लोकमें अथवा व्यवहारमें भी प्रत्यक्ष है, इसलिए जो आत्मार्थी हो, अथवा जिसे आत्मार्थकी इच्छा हो उसे सद्गुरुके योगसे करनेके अभिलाषी जीवका जिससे कल्याण हो उस मार्गका लोप करना योग्य नहीं है, क्योंकि उससे सर्व ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञाका लोप करने जैसा ही होता है।

पूर्वकालमें सदगुरुका योग तो अनेक बार हुआ है, फिर भी जीवका कल्याण नहीं हुआ, जिससे सद्गुरुके उपदेशकी ऐसी कुछ विशेषता दिखायी नहीं देती, ऐसी शंका हो तो उसका उत्तर दूसरे ही पदमें कहा है कि:—

जो अपने पक्षको छोड़कर सद्गुरुके चरणका सेवन करे; वह परमार्थको पाये। अर्थात् पूर्वकालमें सदगुरुका योग होनेकी बात सत्य है, परंतु वहाँ जीवने उसे सद्गुरु जाना नहीं, अथवा उसे पहचाना नहीं, उसकी प्रतीति नहीं की, और उसके पास अपने मान और मत छोड़े नहीं, और इसलिए सद्गुरुका उपदेश परिणमित नहीं हुआ, और परमार्थकी प्राप्ति नहीं हुई। इस तरह यदि जीव अपने मत अर्थात् स्वच्छंद और कुलधर्मका आग्रह दूर करके सदुपदेशको ग्रहण करनेका अभिलाषी हुआ होता तो अवश्य परमार्थको पाता।

यहाँ असद्गुरुसे दृढ कराये हुए दुर्बोधसे अथवा मानादिकी तीव्र कामनासे ऐसी आशंका भी हो सकती है कि कई जीवोंका पूर्वकालमें कल्याण हुआ है, और उन्हें सद्गुरुके चरणका सेवन किये विना कल्याणकी प्राप्ति हुई है, अथवा असद्गुरुसे भी कल्याणकी प्राप्ति हो; असद्गुरुको स्वयं भले मार्गकी प्रतीति नहीं है, परंतु दूसरेको वह प्राप्त करा सके अर्थात् दूसरा कोई उसका उपदेश सुनकर उस मार्गकी प्रतीति करे, तो वह परमार्थको पाये। इसलिए सद्गुरुके चरणका सेवन किये विना भी परमार्थकी प्राप्ति हो, ऐसी आशंकाका समाधान करते हैं:—

यद्यपि कई जीव स्वयं विचार करते हुए उद्बुद्ध हुए हैं, ऐसा शास्त्रमें प्रसंग है; परंतु किसी स्थलपर ऐसा प्रसंग नहीं कहा है कि अमुक जीव असद्गुरु द्वारा उद्बुद्ध हुए हैं। अब कई स्वयं विचार करते हुए उद्बुद्ध हुए हैं, ऐसा कहा है, उसमें शास्त्रोंके कहनेका ऐसा हेतु नहीं है कि सद्गुरुकी आज्ञासे चलनेसे जीवका कल्याण होता है ऐसा हमने कहा है, परंतु यह बात यथार्थ नहीं है; अथवा सद्गुरुकी आज्ञाका जीवको कोई कारण नहीं है ऐसा कहनेके लिए भी वैसा नहीं कहा। तथा जो जीव अपने विचारसे स्वयंबोधको प्राप्त हुए हैं, ऐसा कहा है, वह भी वर्तमान देहमें अपने विचारसे अथवा बोधसे उद्बुद्ध हुए कहा है; परंतु पूर्वकालमें वह विचार अथवा बोध सद्गुरुने उनके सन्मुख किया है, जिससे वर्तमानमें उसका स्फुरित होना संभव है। तीर्थंकर आदिको 'स्वयंबुद्ध' कहा है वे भी पूर्वकालमें तीसरे भवमें सद्गुरुसे निश्चय समकितको प्राप्त हुए हैं, ऐसा कहा है। अर्थात् जो स्वयंबुद्धता कही है वह वर्तमान देहकी अपेक्षासे कही है, और उसे सद्गुरुपदके निषेधके लिए नहीं कहा है। और यदि सद्गुरुपदका निषेध करे तो फिर तो 'सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्मकी प्रतीतिके विना समकित नहीं होता,' यह कथन मात्र ही हुआ।

अथवा जिस शास्त्रका आप प्रमाण लेते हैं वह शास्त्र सद्गुरु ऐसे जिनका कहा हुआ है, इसलिए उसे प्रामाणिक मानना योग्य है? अथवा किसी असद्गुरुका कहा हुआ है इसलिए प्रामाणिक मानना योग्य है? यदि असद्गुरुके शास्त्रोंको भी प्रामाणिक माननेमें बाधा न हो तो फिर

अज्ञान और रागद्वेषका आराधन करनेसे भी मोक्ष हो, ऐसा कहनेमें बाधा नहीं है, यह विचारणीय है।

'आचारांग सूत्र' (प्रथम श्रुत स्कंध, प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशमें, प्रथम वाक्य) में कहा है:—क्या यह जीव पूर्वसे आया है? पश्चिमसे आया है? उत्तरसे आया है? दक्षिणसे आया है? अथवा ऊँचेसे आया है? नीचेसे या किसी दूसरी दिशासे आया है? ऐसा जो नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है, जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। उसे जाननेके तीन कारण हैं—(१) तीर्थंकरका उपदेश (२) सद्गुरुका उपदेश और (३) जातिस्मरणज्ञान।

यहाँ जो जातिस्मरणज्ञान कहा है वह भी पूर्वकालके उपदेशकी संधि है। अर्थात पूर्वकालमें उसे बोध होनेमें सद्गुरुका असंभव मानना योग्य नहीं है। तथा जगह जगह जिनागममें ऐसा कहा है कि:—

[१]**गुरुणो छंदाणुवत्तगा** अर्थात् गुरुकी आज्ञानुसार चलनेवाले।

गुरुकी आज्ञा अनुसार चलनेसे अनंत जीव सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे। तथा कोई जीव अपने विचारसे बोधको प्राप्त हुआ, उसमें प्राय: पूर्वकालमें सदगुरुका उपदेश कारण होता है। परंतु कदाचित् जहाँ वैसा न हो वहाँ भी वह सद्गुरुका नित्य अभिलाषी रहते हुए, सद्विचारमें प्रेरित होते होते स्वविचारसे आत्मज्ञानको प्राप्त किया, ऐसा कहना योग्य है; अथवा उसे कुछ सद्गुरुकी उपेक्षा नहीं है और जहाँ सद्गुरुकी उपेक्षा रहती है वहाँ मानका संभव होता है, और जहाँ सद्गुरुके प्रति मान हो वहाँ कल्याण होना कहा है अथवा उसे सद्विचारके प्रेरित करनेका आत्मगुण कहा है।

तथारूप मान आत्मगुणका अवश्य घातक है। बाहुबलिजीमें अनेक गुणसमूह विद्यमान होते हुए भी छोटे अट्ठानवे भाईयोंको वंदन करनेमें अपनी लघुता होगी, इसलिए यहीं ध्यानमें स्थित हो जाना योग्य है, ऐसा सोचकर एक वर्ष तक निराहाररूपसे अनेक गुणसमुदायसे आत्मध्यानमें रहे, तो भी आत्मज्ञान नहीं हुआ। बाकी दूसरी सब प्रकारकी योग्यता होनेपर भी एक इस मानके कारणसे वह ज्ञान रूका हुआ था। जब श्री ऋषभदेवसे प्रेरित ब्राह्मी और सुन्दरी सतियोंने उनसे उस दोषका निवेदन किया और उस दोषका उन्हें भान हुआ, तथा उस दोषकी उपेक्षा कर उसको असारता समझमें आयी तब केवलज्ञान हुआ। वह मान ही यहाँ चार घनघाती कर्मोंका मूल होकर रहा था। और बारह बारह महीने तक निराहाररूपसे, एक लक्ष्यसे, एक आसनसे आत्मविचारमें रहनेवाले ऐसे पुरुषको इतनेसे मानने वैसी बारह महीनेकी दशाको सफल न होने दिया, अर्थात् उस दशासे मान समझमें न आया और जब सद्गुरु ऐसे श्री ऋषभदेवने 'वह मान है' ऐसा प्रेरित किया तब एक मुहूर्तमें वह मान जाता रहा; यह भी सद्गुरुका ही माहात्म्य प्रदर्शित किया है।

फिर सारा मार्ग ज्ञानीकी आज्ञामें समा जाता है, ऐसा बारंबार कहा है। 'आचारांगसूत्र'में कहा है कि:—(सुधर्मास्वामी ही जंबुस्वामीको उपदेश करते हैं कि जिसने सारे जगत्का दर्शन किया है, ऐसे महावीर भगवानने हमें इस तरह कहा है।) गुरुके अधीन होकर चलनेवाले ऐसे अनंत पुरुष मार्ग पाकर मोक्षको प्राप्त हुए।

---

१. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन उद्देश २, गा० ३२।

'उत्तराध्ययन', सूयगडांग आदिमें जगह जगह यही कहा है। (९)

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥१०॥[1]

आत्मज्ञानमें जिसकी स्थिति है, अर्थात् जो परभावकी इच्छासे रहित हुआ है; तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावोंके प्रति जिसे समता रहती है; मात्र पूर्वकालमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयके कारण जिसकी विचरना आदि क्रियाएँ हैं; अज्ञानीकी अपेक्षा जिसकी वाणी प्रत्यक्ष भिन्न है; और षड्दर्शनके तात्पर्यको जानता है; ये सद्गुरुके उत्तम लक्षण हैं ॥ १० ॥

स्वरूपस्थित इच्छारहित, विचरे पूर्वप्रयोग।
अपूर्व वाणी, परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥

आत्मस्वरूपमें जिसकी स्थिति है, विषय, मान, पूजा आदिकी इच्छासे जो रहित है, और मात्र पूर्वकालमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयसे जो विचरता है; जिसकी वाणी अपूर्व है, अर्थात् निज अनुभव सहित जिसका उपदेश होनेसे अज्ञानीकी वाणीकी अपेक्षा प्रत्यक्ष भिन्न होती है; और परम-श्रुत अर्थात् षड्दर्शनका जिसे यथास्थित ज्ञान होता है; ये सद्गुरुके योग्य लक्षण हैं।

यहाँ 'स्वरूपस्थित' ऐसा प्रथम पद कहा, इससे ज्ञानदशा कही है; इच्छारहित होना कहा, इससे चारित्रदशा कही है। जो इच्छारहित हो वह किस तरह विचर सके ? ऐसी आशंका, 'विचरे पूर्वप्रयोग' अर्थात् पूर्वकालमें बंधे हुए प्रारब्धसे विचरता है, विचरने आदिकी कामना जिसकी बाकी नहीं है, ऐसा कहकर निवृत्त की है। 'अपूर्व वाणी' ऐसा कहनेसे वचनातिशयता कही है; क्योंकि उसके विना मुमुक्षुका उपकार नहीं होता। 'परमश्रुत' कहनेसे षड्दर्शनका अविरुद्ध दशा-से जानकार कहा है, इससे श्रुतज्ञानकी विशेषता दिखायी है।

आशंका—वर्तमानकालमें स्वरूपस्थित पुरुष नहीं होता, इसलिए जो स्वरूपस्थित विशेषणवाला सद्गुरु कहा है, वह आज कल होना संभव नहीं।

समाधान—वर्तमानकालमें कदाचित् ऐसा कहा हो तो यह कहा जा सके कि 'केवलभूमिका' के विषयमें ऐसी स्थिति असंभव है; परंतु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आत्मज्ञान ही नहीं होता; और जो आत्मज्ञान है वह स्वरूपस्थिति है।

आशंका—आत्मज्ञान हो तो वर्तमानकालमें मुक्ति होनी चाहिए, और जिनागममें तो इसका निषेध किया है।

समाधान—इस वचनको कदाचित् एकांतसे ऐसा ही मान लें, तो भी इससे एकावतारिता-का निषेध नहीं होता, और एकावतारिता आत्मज्ञानके विना प्राप्त नहीं होती।

आशंका—त्याग, वैराग्य आदिकी उत्कृष्टतासे उसे एकावतारिता कही होगी।

समाधान—परमार्थसे उत्कृष्ट त्यागवैराग्यके विना एकावतारिता होती ही नहीं, ऐसा सिद्धांत है; और वर्तमानमें भी चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानका कुछ निषेध है नहीं, और चौथे गुण स्थानसे आत्मज्ञानका संभव होता है, पाँचवेंमें विशेष स्वरूप स्थिति होती है, छट्ठेमें बहुत अंशसे

---

१. देखें आंक ८३७।

स्वरूपस्थिति होती है, पूर्व प्रेरित प्रमादके उदयसे मात्र कुछ थोड़ीसी प्रमाद-दशा आ जाती है। परंतु वह आत्मज्ञानकी रोधक नहीं, चारित्रकी रोधक है।

आशंका—यहाँ तो 'स्वरूपस्थित' ऐसे पदका प्रयोग किया है, और स्वरूपस्थित-पद तो तेरहवें गुणस्थानकमें ही संभव है।

समाधान—स्वरूपस्थितिकी पराकाष्ठा तो चौदहवें गुणस्थानके अंतमें होती है, क्योंकि नाम गोत्र आदि चार कर्मका नाश वहाँ होता है, उससे पहले केवलीको चार कर्मोंका संग रहता है, इसलिए संपूर्ण स्वरूपस्थिति तो तेरहवें गुणस्थानमें भी न कही जाये।

आशंका—वहाँ नाम आदि कर्मोंके कारण अव्यावाध स्वरूपस्थितिका निषेध करें तो वह ठीक है; परंतु स्वरूपस्थिति तो केवलज्ञानरूप है, इसलिए स्वरूपस्थिति कहनेमें दोष नहीं है, और यहाँ तो वैसा नहीं है, इसलिए स्वरूपस्थिति कैसे कही जाये?

समाधान—केवलज्ञानमें स्वरूपस्थितिका तारतम्य विशेष है, और चौथे, पांचवें, छट्ठे गुण-स्थानमें उससे अल्प है, ऐसा कहा जाये, परंतु स्वरूपस्थिति नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सके। चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्वमुक्तदशा होनेसे आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और स्वरूपस्थिति है। पाँचवें गुणस्थानमें देशतः चारित्रघातक कषायोंका निरोध हो जानेसे चौथेकी अपेक्षा आत्म-स्वभावका विशेष आविर्भाव है, और छट्ठेमें कषायोंका विशेष निरोध होनेसे सर्व चारित्रका उदय है, इसलिए वहाँ आत्मस्वभावका और विशेष आविर्भाव है। मात्र छट्ठे गुणस्थानमें पूर्वनिवधित कर्मके उदयसे क्वचित् प्रमत्तदशा रहती है, इसलिए 'प्रमत्त' सर्व चारित्र कहा जाता है, परन्तु इससे स्वरूपस्थितिमें विरोध नहीं है; क्योंकि आत्मस्वभावका बाहुल्यसे आविर्भाव है। और आगम भी ऐसा कहता है कि चौथे गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक आत्मप्रतीति समान है; ज्ञानका तारतम्य भेद है।

यदि चौथे गुणस्थानमें अंशतः भी स्वरूपस्थिति न हो, तो मिथ्यात्व जानेका फल क्या हुआ? कुछ भी नहीं हुआ। जो मिथ्यात्व चला गया वही आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और वही स्वरूपस्थिति है। यदि सम्यक्त्वसे तथारूप स्वरूपस्थिति न होती, तो श्रेणिक आदिको एकाव-तारिता कैसे प्राप्त होती? वहाँ एक भी व्रत, पच्चक्खान नहीं था और मात्र एक ही भव बाकी रहा ऐसी अल्प संसारिता हुई वही स्वरूपस्थितिरूप समकितका बल है। पाँचवें और छठे गुण-स्थानमें चारित्रका बल विशेष है, और मुख्यतः उपदेशक गुणस्थान तो छठा और तेरहवाँ है। बाकीके गुणस्थान उपदेशककी प्रवृत्ति कर सकने योग्य नहीं हैं; अर्थात् तेरहवें और छठे गुण स्थानमें वह पद होता है। (१०)

[१]प्रत्यक्षसद्गुरु सम नहि, परोक्ष जिन उपकार।
एवो लक्ष थया विना, ऊगे न आत्मविचार ॥११॥

जब तक जीवको पूर्वकालीन जिनोंकी बातपर ही लक्ष्य रहा करता है, और वह उनके उपकारको गाया करता है; और जिससे प्रत्यक्ष आत्मभ्रांतिका समाधान हो ऐसे सद्गुरुका समागम प्राप्त हुआ हो, उसमें परोक्ष जिनोंके वचनोंकी अपेक्षा महान उपकार समाया हुआ है, ऐसा जो न जाने उसे आत्मविचार उत्पन्न न हो॥ ११॥

---

१. देखें आंक नं० ५२७।

सद्‌गुरुना उपदेश वण, समजाय न जिनरूप।
समज्या वण उपकार शो ? समज्ये जिनस्वरूप ॥ १२ ॥

सद्‌गुरुके उपदेशके विना जिनका स्वरूप समझमें नहीं आता, और स्वरूपके समझमें आये विना उपकार क्या हो ? यदि सद्‌गुरुके उपदेशसे जिनका स्वरूप समझ जाये तो समझनेवालेकी आत्मा अन्तमें जिनकी दशाको प्राप्त करे ॥ १२ ॥

सद्‌गुरुना उपदेशथी, समजे जिननुं रूप।
तो ते पामे जिनदशा, जिन छे आत्मस्वरूप ॥
पाम्या शुद्ध स्वभावने, छे जिन तेथी पूज्य।
समजो जिनस्वभाव तो, आत्मभाननो गुज्य ॥

सद्‌गुरुके उपदेशसे जो जिनका रूप समझे, वह अपने स्वरूपकी दशाको प्राप्त करे; क्योंकि शुद्ध आत्मत्व ही जिनका स्वरूप है, अथवा राग, द्वेष और अज्ञान जिनमें नहीं हैं, वही शुद्ध आत्म-स्वरूप है, और वह स्वरूप तो सत्तासे सब जीवोंका है। वह सद्‌गुरु-जिनके अवलंबनसे और जिनका स्वरूप कहनेसे मुमुक्षुजीवको समझमें आता है ॥ १२ ॥

आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र।
प्रत्यक्ष सद्‌गुरु योग नहि, त्यां आधार सुपात्र ॥ १३ ॥

जो जिनागम आदि आत्माके अस्तित्वका तथा परलोक आदिके अस्तित्वका उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं, वे भी, जहाँ प्रत्यक्ष सद्‌गुरुका योग न हो वहाँ सुपात्र जीवको आधाररूप हैं, परन्तु उन्हें सद्‌गुरुके समान भ्रांतिका छेदक नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥

[1]अथवा सद्‌गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥ १४ ॥

अथवा यदि सद्‌गुरुने उन शास्त्रोंके विचारनेकी आज्ञा दी हो, तो मतांतर अर्थात् कुलधर्मको सार्थक करनेका हेतु आदि भ्रांतियाँ छोड़कर मात्र आत्मार्थके लिए उन शास्त्रोंका नित्य विचार करें ॥ १४ ॥

रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष ॥ १५ ॥

जीव अनादि कालसे अपनी चतुराई और अपनी इच्छासे चला है, इसका नाम 'स्वच्छंद' है। यदि वह इस स्वच्छंदको रोके तो वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करे; और इस तरह भूतकालमें अनंत जीवोंने मोक्ष प्राप्त किया है। राग, द्वेष और अज्ञान, इनमेंसे एक भी दोष जिनमें नहीं है ऐसे दोषरहित वीतरागने ऐसा कहा है ॥ १५ ॥

प्रत्यक्ष सद्‌गुरु योगथी, स्वच्छंद ते रोकाय।
अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये बमणो थाय ॥ १६ ॥

प्रत्यक्ष सद्‌गुरुके योगसे वह स्वच्छंद रुक जाता है, नहीं तो अपनी इच्छासे दूसरे अनेक उपाय करनेपर भी प्रायः वह दुगुना होता है ॥ १६ ॥

---

१. पाठांतर—अथवा सद्‌गुरुए कह्यां, जो अवगाहन काज।
तो ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥

स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष।
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥ १७ ॥

स्वच्छंदको तथा मतके आग्रहको छोड़कर जो सद्गुरुके लक्ष्यसे चलता है, उसे प्रत्यक्ष कारण मानकर वीतरागने 'समकित' कहा है ॥ १७ ॥

मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय।
जातां सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥ १८ ॥

मान और पूजा-सत्कार आदिका लोभ इत्यादि महाशत्रु हैं, वे अपनी चतुराईसे चलते हुए नष्ट नहीं होते, और सद्गुरुके शरणमें जानेसे सहज प्रयत्नसे दूर हो जाते हैं ॥ १८ ॥

जे सद्गुरु उपदेशथी, पाम्यो केवळज्ञान।
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान ॥ १९ ॥

जिस सद्गुरुके उपदेशसे कोई केवलज्ञानको प्राप्त हुआ, वह सद्गुरु अभी छद्मस्थ रहा हो, तो भी जिसने केवलज्ञानको प्राप्त किया है, ऐसे वे केवली भगवान अपने छद्मस्थ सद्गुरुका वैयावृत्य करे ॥ १९ ॥

एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्री वीतराग।
मूळ हेतु ए मार्गनो, समजे कोई सुभाग्य ॥ २० ॥

श्री जिनने विनयके ऐसे मार्गका उपदेश दिया है। इस मार्गका मूल हेतु अर्थात् उससे आत्माका क्या उपकार होता है, उसे कोई सुभाग्य अर्थात् सुलभबोधी अथवा आराधक जीव हो, वह समझे ॥ २० ॥

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो कांई।
महामोहनीय कर्मथी, बूडे भवजळ मांही ॥ २१ ॥

यह जो विनयमार्ग कहा है, उसका लाभ अर्थात् उसे शिष्य आदिसे करानेकी इच्छा करके जो कोई भी असद्गुरु अपनेमें सद्गुरुताकी स्थापना करता है, तो वह महामोहनीय कर्मका उपार्जन करके भवसमुद्रमें डूबता है ॥ २१ ॥

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार।
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥ २२ ॥

जो मोक्षार्थी जीव होता है, वह इस विनयमार्ग आदिके विचारको समझता है; और जो मतार्थी होता है, वह उसका उलटा निर्धार करता है, अर्थात् या तो स्वयं शिष्य आदिसे वैसा विनय करवाता है, अथवा असद्गुरुमें सद्गुरुकी भ्रांति रखकर स्वयं इस विनयमार्गका उपयोग करता है ॥ २२ ॥

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतमलक्ष।
तेह मतार्थी लक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥ २३ ॥

जो मतार्थी जीव होता है, उसे आत्मज्ञानका लक्ष्य नहीं होता, ऐसे मतार्थी जीवके यहाँ निष्पक्षतासे लक्षण कहे हैं ॥ २३ ॥

मतार्थीके लक्षण

बाह्यत्याग पण ज्ञान नहि, ते माने गुरु सत्य ।
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥ २४ ॥

जिसमें मात्र बाह्यसे त्याग दिखायी देता है, परंतु जिसे आत्मज्ञान नहीं है, और उपलक्षणसे अंतरंग त्याग नहीं है, वैसे गुरुको जो सच्चा गुरु मानता है, अथवा तो अपने कुलधर्मका चाहे जैसा गुरु हो तो भी उसमें ममत्व रखता है ॥ २४ ॥

जे जिनदेह प्रमाण ने समवसरणादि सिद्धि ।
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निज बुद्धि ॥ २५ ॥

जो जिनकी देह आदिका वर्णन है, जो उसे जिनका वर्णन समझता है, और मात्र अपने कुलधर्मके देव हैं, इसलिए ममत्वके कल्पित रागसे जो उनके समवसरण आदिका माहात्म्य कहा करता है, और उसमें अपनी बुद्धिको रोक रखता है, अर्थात् परमार्थहेतु स्वरूप जिनका जो जानने योग्य अंतरंग स्वरूप हो, उसे नहीं जानता, तथा उसे जाननेका प्रयत्न नहीं करता और मात्र समवसरण आदिमें ही जिनका स्वरूप बताकर मतार्थमें ग्रस्त रहता है ॥ २५ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां, वर्ते दृष्टि विमुख ।
असद्गुरुने दृढ करे, निज मानार्थे मुख्य ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुका कभी योग मिले, तो दुराग्रह आदिकी छेदक उसकी वाणी सुनकर उससे उलटा ही चलता है, अर्थात् उस हितकारी वाणीको ग्रहण नहीं करता; और 'स्वयं सच्चा दृढ मुमुक्षु है,' ऐसे मानको मुख्यतः प्राप्त करनेके लिए असद्गुरुके पास जाकर, जो स्वयं उसके प्रति अपनी विशेष दृढता बताता है ॥ २६ ॥

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान ।
माने निज मत वेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥ २७ ॥

देव, नरक आदि गतिके 'भंग' आदिके स्वरूप किसी विशेष परमार्थहेतुसे कहे हैं, उस हेतुको नहीं जाना, उस भंगजालको जो श्रुतज्ञान समझता है; तथा अपने मतका, वेषका आग्रह रखनेमें ही मुक्तिका हेतु मानता है ॥ २७ ॥

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ॥ २८ ॥

वृत्तिका स्वरूप क्या है ? उसे भी वह नहीं जानता, और 'मैं व्रतधारी हूँ', ऐसा अभिमान धारण किया है। क्वचित् परमार्थके उपदेशका योग बने, तो भी लोगोंमें जो अपने मान, पूजा, सत्कार आदि हैं, वे चले जायेंगे; अथवा वे मान आदि फिर प्राप्त नहीं होंगे, ऐसा समझकर वह परमार्थको ग्रहण नहीं करता ॥ २८ ॥

अथवा निश्चय नय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद्व्यवहारने, साधन रहित थाय ॥ २९ ॥

अथवा 'समयसार' कि 'योगवासिष्ठ' जैसे ग्रंथ पढ़कर वह मात्र निश्चयनयको ग्रहण करता है, किस तरह ग्रहण करता है ? मात्र कथनरूपसे; अंतरंगमें तथारूप गुणकी कुछ भी स्पर्शना नहीं, और सद्गुरु, सत्शास्त्र तथा वैराग्य, विवेक आदि सद्व्यवहारका लोप करता है, तथा अपनेको ज्ञानी मानकर साधनरहित आचरण करता है ॥ २९ ॥

ज्ञानदशा पामे नहीं, साधनदशा न कांई।
पामे तेनो संग जे, ते बूडे भव मांही॥ ३०॥

वह ज्ञानदशाको नहीं पाता, इसी तरह वैराग्य आदि साधनदशा भी उसे नहीं है, जिससे वैसे जीवका सत्संग दूसरे जिस जीवको होता है वह भी भवसागरमें डूबता है॥ ३०॥

ए पण जीव मतार्थमां, निजमानादि काज;
पामे नहि परमार्थने, अन्-अधिकारीमां ज॥ ३१॥

यह जीव भी मतार्थमें ही रहता है; क्योंकि उपर्युक्त जीवको जिस तरह कुलधर्म आदिसे मतार्थता रहती है, उसी तरह इसे अपनेको ज्ञानी मनवानेके मानकी इच्छासे अपने शुष्कमतका आग्रह है, इसलिए वह भी परमार्थको नहीं पाता; और अनधिकारी अर्थात् जिसमें ज्ञानका परिणमन होना योग्य नहीं है, ऐसे जीवोंमें वह भी गिना जाता है॥ ३१॥

नहि कषाय उपशांतता, नहि अंतर वैराग्य।
सरळपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य॥ ३२॥

जिसके क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय पतले नहीं हुए हैं; तथा जिसे अंतर वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसे आत्मामें गुण ग्रहण करनेरूप सरलता नहीं रही है; तथा सत्यासत्यकी तुलना करनेकी जिसे अपक्षपातदृष्टि नहीं है, वह मतार्थी जीव दुर्भाग्य अर्थात् जन्म, जरा, मरणका छेदन करनेवाले मोक्षमार्गको प्राप्त करने योग्य उसका भाग्य नहीं है, यह समझें॥३२॥

लक्षण कह्यां मतार्थीनां, मतार्थ जावा काज।
हवे कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज॥ ३३॥

इस तरह मतार्थी जीवके लक्षण कहे। उसके कहनेका हेतु यह है कि उन्हें जानकर किसी भी जीवका मतार्थ दूर हो। अब आत्मार्थी जीवके लक्षण कहते हैं। वे लक्षण कैसे हैं? आत्माके लिए अव्याबाध सुखकी सामग्रीके हेतु हैं॥ ३३॥

आत्मार्थीके लक्षण

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय।
बाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहि जोय॥ ३४॥

जहाँ आत्मज्ञान हो, वहाँ मुनित्व हो, अर्थात् आत्मज्ञान न हो, वहां मुनित्व संभव ही नहीं। **जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा**—जहाँ समकित अर्थात् आत्मज्ञान है वहाँ मुनित्व समझें, ऐसा आचारांगसूत्रमें कहा है। अर्थात् जिसमें आत्मज्ञान हो वह सच्चा गुरु है, ऐसा जो जानता है, और जो यह भी जानता है कि आत्मज्ञानसे रहित अपने कुलगुरुको सद्गुरु मानना कल्पना मात्र है, उससे कुछ भवच्छेद नहीं होता, वह आत्मार्थी है॥ ३४॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकार।
त्रणे योग एकत्वथी; वर्ते आज्ञाधार॥ ३५॥

वह प्रत्यक्ष सद्गुरुकी प्राप्तिका महान उपकार समझता है, अर्थात् शास्त्र आदिसे जो समाधान हो सकने योग्य नहीं है, और जो दोष सद्गुरुकी आज्ञा धारण किये विना दूर नहीं होते; वह सद्गुरुके योगसे समाधान हो जाता है, और वे दोष दूर हो जाते हैं; इसलिए वह प्रत्यक्ष सद्गुरुका महान उपकार समझता है, वह सद्गुरुके प्रति मन, वचन और कायाकी एकतासे आज्ञापूर्वक आचरण करता है॥ ३५॥

एक होय त्रण काळमां, परमारथनो पंथ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत ॥ ३६ ॥

तीनों कालमें परमार्थका पंथ अर्थात् मोक्षका मार्ग एक होना चाहिए, और जिससे वह परमार्थ सिद्ध हो वह व्यवहार जीवको मान्य रखना चाहिए, दूसरा नहीं ॥ ३६ ॥

एम विचारी अंतरे, शोधे सद्गुरु योग।
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहि मनरोग ॥ ३७ ॥

इस तरह अंतरमें विचारकर जो सद्गुरुके योगको खोजता है, मात्र एक आत्मार्थकी इच्छा रखता है; परंतु मान, पूजा आदि और ऋद्धि-सिद्धिकी कुछ भी इच्छा नहीं रखता, यह रोग जिसके मनमें नहीं है, वह आत्मार्थी है ॥ ३७ ॥

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद, प्राणीदया; त्यां आत्मार्थ निवास ॥ ३८ ॥

जिसके कषाय पतले पड़ गये हैं, जिसे मात्र एक मोक्षपदके सिवाय दूसरे किसी पदकी अभिलाषा नहीं है, संसारके प्रति जिसे वैराग्य रहता है, और प्राणीमात्रपर जिसे दया है, ऐसे जीवमें आत्मार्थका निवास होता है ॥ ३८ ॥

दशा न ऐवी ज्यां सुधी, जीव लहे नहि जोग।
मोक्षमार्ग पामे नहीं; मटे न अंतर रोग ॥ ३९ ॥

जब तक ऐसी योगदशाको जीव नहीं पाता, तब तक उसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती, और आत्मभ्रांतिरूप अनंत दुःखका हेतु अंतर रोग नहीं मिटता ॥ ३९ ॥

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥ ४० ॥

जहाँ ऐसी दशा आती है वहाँ सद्गुरुका बोध शोभित होता है अर्थात् परिणमित होता है, और उस बोधके परिणामसे सुखदायक सुविचारदशा प्रगट होती है ॥ ४० ॥

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान।
जे ज्ञाने क्षय मोह थई; पामे पद निर्वाण ॥ ४१ ॥

जहाँ सुविचारदशा प्रगट होती है वहाँ आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, और उस ज्ञानसे मोहका क्षय करके जीव निर्वाणपद पाता है ॥ ४१ ॥

ऊपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय।
गुरु-शिष्य संवादथी, भाखुं षट्पद आंही ॥ ४२ ॥

जिससे वह सुविचारदशा उत्पन्न हो और मोक्षमार्ग समझमें आये वह, षट्पदरूपमें गुरु-शिष्यके संवाद द्वारा यहाँ कहता हूँ ॥ ४२ ॥

× × ×

षट्पदनामकथन

'आत्मा छे,' 'ते नित्य छे,' 'छे कर्ता निजकर्म'
'छे भोक्ता' वळी 'मोक्ष छे', 'मोक्ष उपाय सुधर्म' ॥ ४३ ॥

'आत्मा है', 'वह आत्मा नित्य है', 'वह आत्मा अपने कर्मका कर्ता है', 'वह कर्मका भोक्ता है', 'उस कर्मसे मोक्ष होता है', और 'उस मोक्षका उपाय सद्धर्म है।'[1] ॥ ४३ ॥

---

१. इसके विस्तृत विवेचनके लिए देखें आंक ४९३।

षट्स्थानक संक्षेपमां, षट्दर्शन पण तेह;
समजावा परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह ॥ ४४ ॥

ये छः स्थानक अथवा छः पद यहाँ संक्षेपमें कहे हैं। और विचार करनेसे षड्दर्शन भी यही हैं। परमार्थ समझनेके लिए ज्ञानीपुरुषने ये छः पद कहे हैं ॥ ४४ ॥

× × ×

शंका—शिष्य उवाच

[शिष्य आत्माके अस्तित्व रूप प्रथम स्थानककी शंका करता है :—]

नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ॥ ४५ ॥

वह दृष्टिमें नही आता, तथा उसका कोई रूप मालूम नहीं होता तथा स्पर्श आदि दूसरे अनुभवसे भी वह जाना नहीं जाता, इसलिए जीवका स्वरूप नहीं है, अर्थात् जीव नहीं है ॥ ४५ ॥

अथवा देह ज आतमा, अथवा इन्द्रिय प्राण।
मिथ्या जुदो मानवो, नहीं जुदुं एंधाण ॥ ४६ ॥

अथवा जो देह है वही आत्मा है, अथवा जो इंद्रियाँ हैं, वही आत्मा है, अथवा श्वासोच्छ्वास है, वह आत्मा है, अर्थात् ये सब एक एक करके देहरूप हैं; इसलिए आत्माको भिन्न मानना मिथ्या है क्योंकि उसका कोई भी भिन्न चिह्न नहीं है ॥ ४६ ॥

वळी जो आत्मा होय तो, जणाय ते नहि केम।
जणाय जो ते होय तो, घट, पट आदि जेम ॥ ४७ ॥

और यदि आत्मा हो तो वह मालूम क्यों नहीं होती ? जैसे घट, पट आदि पदार्थ हैं और मालूम होते हैं, वैसे आत्मा हो तो किस लिए मालूम न हो ? ॥ ४७ ॥

माटे छे नहि आतमा, मिथ्या मोक्ष उपाय।
ए अंतर शंका तणो, समजावो सदुपाय ॥ ४८ ॥

इसलिए आत्मा नहीं है, और आत्मा नहीं है; इसलिए उसके मोक्षके लिए उपाय करना व्यर्थ है; इस मेरे अंतरकी शंकाका कुछ भी सदुपाय समझाइये अर्थात् समाधान हो तो कहिये ॥४८॥

× × ×

समाधान—सद्गुरु उवाच

[सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्माका अस्तित्व है :—]

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान ॥ ४९ ॥

देहाध्याससे अर्थात् अनादिकालसे अज्ञानके कारण देहका परिचय है, इससे आत्मा देह जैसी अर्थात् तुझे देह ही भासित हुई है; परंतु आत्मा और देह दोनों भिन्न हैं, क्योंकि दोनों भिन्न भिन्न लक्षणोंसे प्रगट ज्ञानमें आते हैं ॥ ४९ ॥

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥ ५० ॥

अनादिकालसे अज्ञानके कारण देहके परिचयसे देह ही आत्मा भासित हुई है, अथवा देह जैसी आत्मा भासित हुई है; परंतु जैसे तलवार और म्यान, म्यानरूप लगते हुए भी दोनों भिन्न भिन्न हैं, वैसे आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं ॥ ५० ॥

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप।
अबाध्य अनुभव जो रहे, ते छे जीवस्वरूप॥ ५१॥

वह आत्मा दृष्टि अर्थात् आँखसे कैसे दिखायी दे सकती है। क्योंकि वह तो उलटा उसको देखनेवाली है। अर्थात् आँखको देखनेवाली तो आत्मा ही है। और जो स्थूल, सूक्ष्म आदि रूपको जानती है, और सबको बाधित करती हुई जो किसीसे बाधित नहीं हो सकती, ऐसा जो शेष अनुभव है वह जीवका स्वरूप है॥ ५१॥

[1]छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान।
पाँच इंद्रीना विषयनुं, पण आत्माने भान॥ ५२॥

[1]कर्णेन्द्रियसे जो सुना उसे कर्णेन्द्रिय जानती है; परंतु चक्षुरिन्द्रिय उसे नहीं जानती, और चक्षुरिन्द्रियने जो देखा उसे कर्णेन्द्रिय नहीं जानती। अर्थात् सब इन्द्रियोंका अपने अपने विषयका ज्ञान है, परंतु दूसरी इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं है; और आत्माको तो पांचों इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान है। अर्थात् जो उन पाँच इन्द्रियोंके ग्रहण किये हुए विषयको जानती है वह 'आत्मा' है, और आत्माके विना एक एक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है ऐसा कहा, वह भी उपचारसे कहा है॥ ५२॥

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रि, प्राण।
आत्मानी सत्ता वड़े, तेह प्रवर्त जाण॥ ५३॥

देह उसे नहीं जानती, इन्द्रियाँ उसे नहीं जानतीं, और स्वासोच्छ्वासरूप प्राण भी उसे नहीं जानता; वे सब एक आत्माकी सत्ता पाकर प्रवृत्ति करते हैं, नहीं तो वे जडरूप पड़े रहते हैं, तू ऐसा समझ॥ ५३॥

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाण सदाय॥ ५४॥

जाग्रत, स्वप्न और निद्रा इन अवस्थाओंमें रहनेपर भी जो उन सब अवस्थाओंसे भिन्न रहा करती है, और उस उस अवस्थाके बीत जानेपर भी जिसका अस्तित्व है, और उस उस अवस्थाको जो जानती है, ऐसी प्रगटस्वरूप चैतन्यमय है, अर्थात् जाना ही करती है ऐसा जिसका स्वभाव प्रगट है; और उसकी यह निशानी सदा ही रहती है, किसी दिन उस निशानीका नाश नहीं होता॥५४॥

घट पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान।
जाणनार ते मान नहि, कहीए केवुं ज्ञान?॥ ५५॥

घट, पट आदिको तू स्वयं जानता है, वे हैं ऐसा तू मानता है, और जो उन घट, पट आदिका जानकार है उसे तू मानता नहीं तो फिर इस ज्ञानको कैसा कहा जाये?॥ ५५॥

परम बुद्धि कृश देहमां, स्थूळ देह मति अल्प।
देह होय जो आत्मा, घटे न आम विकल्प॥ ५६॥

दुर्बल देहमें परम बुद्धि देखनेमें आती है, और स्थूल देहमें थोड़ी बुद्धि भी देखनेमें आती है; यदि देह ही आत्मा हो तो ऐसा विकल्प अर्थात् विरोध होनेका अवसर न आता॥ ५६॥

जड चेतननो भिन्न छे, केवळ प्रगट स्वभाव।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणे काळ द्वयभाव॥ ५७॥

---

१. पाठांतर—कान न जाणे आंखने, आँख न जाणे कान;

किसी कालमें जिसमें जाननेका स्वभाव नहीं वह जड़ है, और जो सदा ही जाननेके स्वभाव-वाला है वह चेतन है। ऐसा दोनोंका सर्वथा भिन्न स्वभाव है, और वह किसी भी प्रकारसे एकत्व पाने योग्य नहीं है। तीनों कालमें जड जडभावमें और चेतन चेतनभावमें रहता है, ऐसा दोनोंका यह द्वैतभाव स्पष्ट ही अनुभवमें आता है॥ ५७॥

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप॥ ५८॥

आत्माकी शंका आत्मा स्वयं करती है। परंतु जो शंका करनेवाला है, वही आत्मा है। वह मालूम नहीं होती, यह ऐसा आश्चर्य है कि जिसका माप नहीं हो सकता॥ ५८॥

× × ×

शंका—शिष्य उवाच

[शिष्य कहता है कि आत्मा नित्य नहीं है :—]

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार।
संभव तेनो थाय छे, अंतर कर्ये विचार॥ ५९॥

आत्माके अस्तित्वके विषयमें आपने जो जो प्रकार कहे हैं उनका अंतरमें विचार करनेसे वह अस्तित्व संभव लगता है॥ ५९॥

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहि अविनाश।
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश॥ ६०॥

परंतु दूसरी शंका यह होती है, कि यदि आत्मा है तो भी वह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है; तीनों कालोंमें रहनेवाला पदार्थ नहीं है, मात्र देहके संयोगसे उत्पन्न होती है और उसके वियोगसे विनाश पाती है॥ ६०॥

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय।
ए अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय॥ ६१॥

अथवा वस्तु क्षण क्षणमें बदलती हुई देखनेमें आती है, इससे सर्व वस्तु क्षणिक है, और अनुभवसे देखते हुए भी आत्मा नित्य मालूम नहीं होती॥ ६१॥

× × ×

समाधान—सद्गुरु उवाच

[सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा नित्य है :—]

देह मात्र संयोग छे, वळी जड रूपी दृश्य।
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य?॥ ६२॥

देह मात्र परमाणुका संयोग है, अथवा संयोगसे आत्माके संबंधमें है। तथा वह देह जड है, रूपी है, और दृश्य अर्थात् दूसरे किसी द्रष्टाके जाननेका वह विषय है; इसलिए वह अपने आपको नहीं जानती, तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशको वह कहाँसे जाने? उस देहके एक एक परमाणुका विचार करते हुए भी वह जड ही है, ऐसा समझमें आता है। इसलिए उसमेंसे चेतनकी उत्पत्ति होना योग्य नहीं है; और उत्पत्ति होना योग्य नहीं, इसलिए चेतनका उसमें नाश होना भी योग्य नहीं है। तथा वह देह रूपी अर्थात् स्थूल आदि परिणामवाली है, और चेतन द्रष्टा है,

तब उसके संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति किस तरह हो ? और उसमें लय भी कैसे हो ? देहमेंसे चेतन उत्पन्न होता है, और उसमें ही नाशको प्राप्त होता है, यह बात किसके अनुभवके वश रही ? अर्थात् इस तरह किसने जाना ? क्योंकि जाननेवाले चेतनकी उत्पत्ति देहसे पहले है नहीं, और नाश तो उससे पहले है, तब यह अनुभव हुआ किसको ? ॥ ६२ ॥

जीवका स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य त्रिकालवर्ती होना संभव नहीं । देहके योगसे अर्थात् देहके जन्मके साथ वह जन्म लेता है और देहके वियोगसे अर्थात् देहके नाशसे वह नष्ट हो जाता है, इस आशंकाका समाधान इस तरह विचारियेगा—

देहका जीवके साथ मात्र संयोग-संबंध है, परंतु जीवके मूलस्वरूपके उत्पन्न होनेका कुछ वह कारण नहीं है । अथवा देह है वह मात्र संयोगसे उत्पन्न हुआ पदार्थ है । तथा वह जड़ है अर्थात् किसीको नहीं जानती, अपनेको नहीं जानती तो दूसरेको क्या जाने ? तथा देह रूपी है, स्थूल आदि स्वभाववाली है और चक्षुका विषय है । इस प्रकार देहका स्वरूप है, तो वह चेतनकी उत्पत्ति और लयको किस तरह जाने ? अर्थात् वह अपनेको नहीं जानती तो 'मेरेसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है', इसे किस तरह जाने ? और 'मेरे छूट जानेके बाद यह चेतन भी छूट जायेगा अर्थात् नष्ट हो जायेगा', इसे जड देह कैसे जाने ? क्योंकि जाननेवाला पदार्थ तो जाननेवाला ही रहता है; देह जाननेवाली नहीं हो सकती तो फिर चेतनकी उत्पत्ति-लयका अनुभवको किसके वश कहना ?

यह अनुभव ऐसा है ही नहीं कि देहके वश कहा जाये ? क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड है और उसके जडत्वको जाननेवाला ऐसा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ भी समझमें आता है ।

यदि कदाचित् ऐसा कहें कि चेतनके उत्पत्तिलयको चेतन जानता है तो यह बात तो 'वदतो व्याघात' है । क्योंकि चेतनकी उत्पत्ति और लयके जाननेवालेके रूपमें चेतनको ही अंगीकार करना पड़ा; अर्थात् यह वचन तो मात्र अपसिद्धांतरूप और कथन मात्र हुआ; जैसे कोई कहे कि 'मेरे मुँहमें जीभ नहीं', वैसे यह कथन है कि चेतनकी उत्पत्ति और लयको चेतन जानता है, इसलिए चेतन नित्य नहीं, वैसा प्रमाण हुआ । उस प्रमाणकी कैसी यथार्थता है, इसे तो आप ही विचार कर देखें । (६२)

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं ज्ञान ।
ते तेथी जुदा विना, थाय न केमे भान ॥ ६३ ॥

जिसके अनुभवमें इस उत्पत्ति और नाशका ज्ञान रहता है, उस ज्ञानको उससे भिन्न माने विना किसी भी प्रकारसे संभव नहीं है, अर्थात् चेतनकी उत्पत्ति और लय होते हैं, ऐसा अनुभव किसीको भी होने योग्य नहीं है ॥ ६३ ॥

देहकी उत्पत्ति और देहके लयका ज्ञान जिसके अनुभवमें रहता है, वह उस देहसे भिन्न न हो तो किसी भी प्रकारसे देहकी उत्पत्ति और लयका ज्ञान न हो । अथवा जिसकी उत्पत्ति और लयको जो जानता है वह उससे भिन्न ही हो, क्योंकि वह उत्पत्तिलयरूप नहीं ठहरा, परंतु उसका जाननेवाला ठहरा । इसलिए उन दोनोंकी एकता कैसे हो ? । (६३)

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य ।
ऊपजे नहि संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥ ६४ ॥

जो जो संयोग देखते हैं वह वह अनुभवस्वरूप आत्माके दृश्य अर्थात् उन्हें आत्मा जानती है, और उन संयोगोंके स्वरूपका विचार करनेसे ऐसा कोई भी संयोग समझमें नहीं आता कि जिससे आत्मा उत्पन्न होती है, इसलिए आत्मा संयोगसे अनुत्पन्न ऐसी है, अर्थात् असंयोगी है, स्वाभाविक पदार्थ है, इसलिए, यह प्रत्यक्ष 'नित्य' समझमें आती है ।। ६४ ।।

जो जो देह आदि संयोग दिखायी देते हैं वह वह अनुभवस्वरूप आत्माके दृश्य हैं, अर्थात् आत्मा उन्हें देखती है, और जानती है, ऐसे पदार्थ हैं । उन सब संयोगोंका विचारकर देखें, तो आपको किसी भी संयोगसे अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य मालूम नहीं होगी । कोई भी संयोग आपको नहीं जानते और आप उन सब संयोगोंको जानते हैं, यही आपकी उनसे भिन्नता है, और असंयोगिता अर्थात् उन संयोगोंसे उत्पन्न न होना सहज ही सिद्ध होता है, और अनुभवमें आता है। इससे अर्थात् किसी भी संयोगसे जिसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कोई भी संयोग जिसकी उत्पत्तिके लिए अनुभवमें नहीं आ सकते। और जिन जिन संयोगोंकी कल्पना करें उनसे वह अनुभव भिन्न और भिन्न ही, मात्र उनके ज्ञातारूपसे ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्माको आप नित्य अस्पृश्य अर्थात् जिसने उन संयोगोंके भावरूप स्पर्शको प्राप्त नहीं किया, समझें । (६४)

जडथी चेतन ऊपजे, चेतनथी जड थाय ।
एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय ।। ६५ ।।

जडसे चेतन उत्पन्न हो, और चेतनसे जड उत्पन्न हो ऐसा किसीको कहीं कभी भी अनुभव नहीं होता ।। ६५ ।।

कोई संयोगोथी नहि, जेनी उत्पत्ति थाय ।
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय ।। ६६ ।।

जिसकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे न हो उसका नाश भी किसीमें न हो, इसलिए आत्मा त्रिकाल 'नित्य' है ।। ६६ ।।

जो किसी भी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् अपने स्वभावसे जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका लय दूसरे किसी भी पदार्थमें न हो; और यदि दूसरे पदार्थमें उसका लय होता हो, तो उसमेंसे उसकी पहले उत्पत्ति होनी चाहिए थी, नहीं तो उसमें उसकी लयरूप एकता हो नहीं । इसलिए आत्माको अनुत्पन्न और अविनाशी जानकर नित्य है ऐसी प्रतीति करना योग्य होगा । (६६)

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय ।
पूर्वजन्म संस्कार ते, जीव नित्यता त्यांय ।। ६७ ।।

क्रोध आदि प्रकृतियोंकी विशेषता सर्प आदि प्राणियोंमें जन्मसे ही देखनेमें आती है, वर्तमान देहमें तो उन्होंने वह अभ्यास नहीं किया; जन्मके साथ ही वह है; अर्थात् यह पूर्वजन्मका ही संस्कार है, जो पूर्वजन्म जीवकी नित्यता सिद्ध करता है । (६७)

सर्पमें जन्मसे क्रोधकी विशेषता देखनेमें आती है । कबूतरमें जन्मसे ही अहिंसकता देखनेमें आती है, खटमल आदि जन्तुओंको पकड़ते हुए उन्हें पकड़नेसे दुःख होता है ऐसी भयसंज्ञा पहलेसे ही उनके अनुभवमें रही है, जिससे वे भाग जानेका प्रयत्न करते हैं। किसी प्राणीमें जन्मसे ही प्रीतिकी, किसीमें समताकी, किसीमें विशेष निर्भयताकी, किसीमें गंभीरताकी, किसीमें विशेष भय संज्ञाकी, किसीमें काम आदिके प्रति असंगताकी, और किसीमें आहार आदिमें अधिकाधिक क्षुब्धताकी

विशेषता देखनेमें आती है। इत्यादि भेद अर्थात् क्रोध आदि संज्ञाकी न्यूनाधिकता आदिसे, तथा वे वे प्रकृतियाँ जन्मसे सहचारीरूपसे विद्यमान देखनेमें आती हैं, उससे उसका कारण पूर्वके संस्कार ही संभव हैं।

कदाचित् ऐसा कहें कि गर्भमें वीर्य-रेतके गुणके योगसे उस उस प्रकारके गुण उत्पन्न होते हैं, परंतु उसमें पूर्वजन्म कुछ कारणभूत नहीं है; यह कहना भी यथार्थ नहीं है। जो माता-पिता काममें विशेष प्रीतिवाले देखनेमें आते हैं, उनके पुत्र परम वीतराग जैसे बाल्यकालमें ही देखनेमें आते हैं। तथा जिन माता-पिताओंमें क्रोधकी विशेषता देखनेमें आती है, उनकी संततिमें समताकी विशेषता दृष्टिगोचर होती है, यह किस तरह हो? तथा उस वीर्य-रेतके वैसे गुण संभव नहीं हैं; क्योंकि वह वीर्य-रेत स्वयं चेतन नहीं है, उसमें चेतनका संचार है, अर्थात् देह धारण करता है; इसलिए वीर्य-रेतके आश्रित क्रोध आदि भाव नहीं माने जा सकते, चेतनके विना किसी भी स्थानमें वैसे भाव अनुभवमें नहीं आते। मात्र वे चेतनाश्रित हैं, अर्थात् वीर्य-रेतके गुण नहीं हैं, जिससे उसकी न्यूनाधिकतासे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता मुख्यतः हो सकने योग्य नहीं है। चेतनके न्यूनाधिक प्रयोगसे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता होती है, जिससे गर्भके वीर्य-रेतका गुण नहीं, परंतु चेतनका उन गुणोंको आश्रय है; और वह न्यूनाधिकता उस चेतनके पूर्वके अभ्याससे ही संभव है; क्योंकि कारण विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। चेतनका पूर्वप्रयोग तथाप्रकारसे हो, तो वह संस्कार रहे; जिससे इस देह आदिके पूर्वके संस्कारोंका अनुभव होता है, और वे संस्कार पूर्वजन्मको सिद्ध करते हैं, और पूर्वजन्मकी सिद्धिसे आत्माकी नित्यता सहज ही सिद्ध होती है। (६७)

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय।
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय॥ ६८॥

आत्मा वस्तुरूपसे नित्य है। समय समय ज्ञान आदि परिणामके परिवर्तनसे उसके पर्यायमें परिवर्तन होता है। (कुछ समुद्र बदलता नहीं, मात्र लहरे बदलती हैं, उसी तरह।) जैसे बाल, युवा और वृद्ध ये तीन अवस्थाएँ हैं, वे आत्माके विभावसे पर्याय हैं, और बाल अवस्थाके रहते हुए आत्मा बालक मालूम होती है। उस बाल अवस्थाको छोड़कर जब आत्मा युवावस्था धारण करती है, तब युवा मालूम होती है, और युवावस्था छोड़कर वृद्धावस्था ग्रहण करती है तब वृद्ध मालूम होती है। यह तीन अवस्थाओंका भेद हुआ, वह पर्यायभेद है, परंतु उन तीन अवस्थाओंमें आत्म-द्रव्यका भेद नहीं हुआ, अर्थात् अवस्थाएँ बदली परंतु आत्मा नहीं बदली। आत्मा इन तीन अवस्थाओंको जानती है और उन तीन अवस्थाओंकी उसे ही स्मृति है। तीनों अवस्थाओंमें आत्मा एक हो तो ऐसा हो, परंतु यदि आत्मा क्षण क्षण बदलती हो तो वैसा अनुभव संभव ही नहीं॥ ६८॥

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार।
वदनारो ते क्षणिक नहि, कर अनुभव निर्धार॥ ६९॥

तथा अमुक पदार्थ क्षणिक है, ऐसा जो जानता है और क्षणिकता कहता है, वह कहनेवाला अर्थात् जाननेवाला क्षणिक न हो; क्योंकि प्रथम क्षणमें जो अनुभव हुआ उसे दूसरे क्षणमें अनुभव कहा जा सके, वह दूसरे क्षणमें स्वयं न हो तो कैसे कह सकें? इसलिए अनुभवसे भी आत्माकी अक्षणिकताका निश्चय कर॥ ६९॥

क्यारे कोई वस्तुनो, केवळ होय न नाश।
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास ॥ ७० ॥

तथा किसी भी वस्तुका किसी भी कालमें सर्वथा तो नाश तो होता ही नहीं है, मात्र अवस्थांतर होता है; इसलिए चेतनका भी सर्वथा नाश नहीं होता। और अवस्थांतररूप नाश होता हो तो वह किसमें मिल जाता है? अथवा किस प्रकारके अवस्थांतरको प्राप्त करता है, उसकी खोज कर। अर्थात् घट आदि पदार्थ फूट जाते हैं, अर्थात् लोग ऐसा कहते हैं कि घटका नाश हुआ है, परन्तु कुछ मिट्टीपनका तो नाश नहीं हुआ। वह छिन्न-भिन्न होकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म चूरा हो जाये, तो भी परमाणु समूहरूपसे रहे, परंतु उसका सर्वथा नाश न हो; और उसमेंसे एक परमाणु भी कम न हो। क्योंकि अनुभवसे देखते हुए अवस्थांतर हो सके परन्तु पदार्थका समूल नाश हो जाये, ऐसा भाषित होना ही योग्य नहीं। इसलिए यदि तू चेतनका नाश कहता है, तो भी सर्वथा नाश तो कहा ही नहीं जा सकता; अवस्थांतररूप नाश कहा जाये। जैसे घट फूट कर क्रमशः परमाणु-समूहरूपसे स्थितिमें रहता है, वैसे चेतनका अवस्थांतररूप नाश तुझे कहना हो, तो वह किस स्थितिमें रहता है? अथवा घटके परमाणु जैसे परमाणुसमूहमें मिल जाते हैं वैसे चेतन किस वस्तुमें मिलने योग्य है? उसे खोज। अर्थात् इस तरह यदि तू अनुभव करके देखेगा तो किसीमें नहीं मिल सकने योग्य, अथवा परस्वरूपमें अवस्थांतर नहीं पाने योग्य ऐसा चेतन अर्थात् आत्मा तुझे भासमान होगा ॥ ७० ॥

× × ×

शंका—शिष्य उवाच

[शिष्य कहता है कि आत्मा कर्मका कर्ता नहीं है :—]

कर्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्ता कर्म।
अथवा सहज स्वभाव कां; कर्म जीवनो धर्म ॥ ७१ ॥

जीव कर्मका कर्ता नहीं, कर्म ही कर्मका कर्ता है, अथवा कर्म अनायास होते रहते हैं। ऐसा नहीं, और जीव ही उसका कर्ता है, ऐसा कहें तो फिर वह जीवका धर्म ही है, अर्थात् धर्म होनेसे कभी निवृत्त न हो ॥ ७१ ॥

आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥ ७२ ॥

अथवा ऐसा नहीं, तो आत्मा सदा असंग है, और सत्त्व आदि गुणवाली प्रकृति कर्मका बंध करती है; वैसा नहीं, तो जीवको कर्म करनेकी प्रेरणा ईश्वर करता है, इसलिए ईश्वरेच्छारूप होनेसे जीव उस कर्मसे 'अबंध' है ॥ ७२ ॥

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय।
कर्मतणुं कर्तापणुं, कां नहि, कां नहि जाय ॥ ७३ ॥

इसलिए जीव किसी तरह कर्मका कर्ता नहीं हो सकता, और मोक्षका उपाय करनेका कोई हेतु मालूम नहीं होता। इसलिए या तो जीवको कर्मका कर्तृत्व नहीं है, और यदि कर्तृत्व है तो किसी तरह उसका वह स्वभाव मिटने योग्य नहीं है ॥ ७३ ॥

× × ×

समाधान—सद्गुरु उवाच

[सद्गुरु समाधान करते हैं कि कर्मका कर्तृत्व आत्माको किस तरह है :—]

होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ?
जडस्वभाव नहि प्रेरणा, जुओ विचारी धर्म[1] ॥ ७४ ॥

चेतन अर्थात् आत्माकी प्रेरणारूप प्रवृत्ति न हो, तो कर्मको कौन ग्रहण करे ? जडका स्वभाव प्रेरणा नहीं है। जड और चेतन दोनोंके धर्मोंका विचारकर देखें ॥ ७४ ॥

यदि चेतनकी प्रेरणा न हो, तो कर्मको कौन ग्रहण करे ? प्रेरणारूपसे ग्रहण करानेरूप स्वभाव जडका है ही नहीं; और ऐसा हो तो घट, पट आदिका भी क्रोध आदि भावमें परिणमन होना चाहिए और कर्मके ग्रहणकर्ता होने चाहिए, परंतु वैसा अनुभव तो किसीको कभी भी होता नहीं, जिससे चेतन अर्थात् जीव कर्मको ग्रहण करता है, ऐसा सिद्ध होता है, और इसलिए उसे कर्मका कर्ता कहते हैं। अर्थात् इस तरह जीव कर्मका कर्ता है।

'कर्मका कर्ता कर्म कहा जाये कि नहीं ?' उसका समाधान भी इससे हो जायेगा कि जड-कर्ममें प्रेरणारूप धर्म न होनेसे वह उस तरह कर्मका ग्रहण करनेमें असमर्थ है, और कर्मका कर्तृत्व जीवको है, क्योंकि उसमें प्रेरणाशक्ति है। (७४)

जो चेतन करतुं नथी, नथी थतां तो कर्म।
तेथी सहज स्वभाव नहि, तेम ज नहि जीवधर्म ॥ ७५ ॥

यदि आत्मा कर्मोंको न करती तो वे होते नहीं; इसलिए सहज स्वभावसे अर्थात् अनायास वे होते हैं, ऐसा कहना योग्य नहीं है। इसी तरह वह जीवका धर्म भी नहीं है; क्योंकि स्वभावका नाश नहीं होता, और आत्मा न करे तो कर्म नहीं होता, अर्थात् यह भाव दूर हो सकता है, इसलिए वह आत्माका स्वाभाविक धर्म नहीं है ॥ ७५ ॥

केवळ होत असंग जो, भासत तने न केम ?
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥ ७६ ॥

यदि आत्मा सर्वथा असंग होती अर्थात् कभी भी उसे कर्मका कर्तृत्व न होता, तो स्वयं तुझे वह आत्मा पहलेसे क्यों न भासित होती ? परमार्थसे वह आत्मा असंग है, परंतु यह तो जब स्वरूपका भान हो तब हो ॥ ७६ ॥

कर्ता ईश्वर कोई नहि, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥ ७७ ॥

जगतका अथवा जीवोंके कर्मका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है; जिसका शुद्ध स्वभाव हुआ है वह ईश्वर है, और उसे यदि प्रेरक अर्थात् कर्मका कर्ता मानें तो उसे दोषका प्रभाव हुआ मानना चाहिए; इसलिए जीवके कर्म करनेमें भी ईश्वरकी प्रेरणा नहीं कही जा सकती ॥ ७७ ॥

अब आपने जो कहा कि 'वे कर्म अनायास होते हैं,' इसका विचार करें। अनायासका अर्थ क्या है ? आत्मा द्वारा नहीं विचारा हुआ ? अथवा आत्माका कर्तृत्व होनेपर भी कुछ भी प्रवृत्त नहीं हुआ ? अथवा ईश्वरादि कोई कर्म लगा दे उससे हुआ हुआ ? अथवा प्रकृतिके बलात् लगनेसे

---

१ पाठांतर—जुओ विचारी मर्म।

हुआ हुआ ? इन चार मुख्य विकल्पोंसे अनायासकर्तृत्व विचारणीय है। प्रथम विकल्प आत्मा द्वारा न विचारा हुआ, ऐसा है। यदि वैसे होता हो तो फिर कर्मका ग्रहण करना ही न रहता, और जहाँ कर्मका ग्रहण करना न रहे वहाँ कर्मका अस्तित्व संभव नहीं है, और जीव तो प्रत्यक्ष विचार करता है, और ग्रहणाग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है।

जिसमें वह किसी तरह प्रवृत्ति नहीं करता वैसे क्रोध आदि भाव उसे संप्राप्त ही न होते; इससे ऐसा मालूम होता है कि न विचारे हुए अथवा आत्मासे न किये हुए ऐसे कर्मोंका ग्रहण उसे होने योग्य नहीं है, अर्थात् इन दोनों प्रकारसे अनायास कर्मका ग्रहण सिद्ध नहीं होता।

तीसरा प्रकार यह है कि ईश्वरादि कोई कर्म लगा दे, इससे अनायास कर्मका ग्रहण होता है, ऐसा कहें तो यह योग्य नहीं है। प्रथम तो ईश्वरके स्वरूपका निर्धारण करना योग्य है; और यह प्रसंग भी विशेष समझने योग्य है। तथापि यहाँ ईश्वर या विष्णु आदि कर्ताका किसी तरह स्वीकार कर लेते हैं, और इसपर विचार करते हैं:—

यदि ईश्वर आदि कर्मका लगा देनेवाला हो तो फिर जीव नामका कोई भी पदार्थ बीचमें रहा नहीं, क्योंकि प्रेरणा आदि धर्म द्वारा उसका अस्तित्व समझमें आता था, वे प्रेरणा आदि तो ईश्वरकृत ठहरे, अथवा ईश्वरके गुण ठहरे; तो फिर बाकी जीवका स्वरूप क्या रहा कि उसे जीव अर्थात् आत्मा कहें ? अर्थात् कर्म ईश्वरप्रेरित नहीं अपितु आत्माके स्वयं ही किये हुए होने योग्य हैं।

तथा चौथा विकल्प यह है कि प्रकृति आदिके बलात् लगनेसे कर्म होते हों ? यह विकल्प भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रकृति आदि जड हैं, उन्हें आत्मा ग्रहण न करे तो वे किस तरह लगने योग्य हों ? अथवा द्रव्यकर्मका दूसरा नाम प्रकृति है, अर्थात् कर्मका कर्तृत्व कर्मको ही कहनेके समान हुआ, इसे तो पूर्वमें निषिद्धकर दिखाया है। प्रकृति नहीं, तो अंतःकरण आदि कर्म ग्रहण करे, इससे आत्मामें कर्तृत्व आता है, ऐसा कहें, तो यह भी एकांतसे सिद्ध नहीं होता। अंतःकरण आदि भी चेतनकी प्रेरणाके बिना अंतःकरण आदि रूपसे पहले ठहरे ही कहाँसे ? चेतन कर्म-संलग्नताका मनन करनेके लिए जो आलंबन लेता है, उसे अंतःकरण कहते हैं। यदि चेतन उसका मनन न करे तो कुछ उस संलग्नतामें मनन करनेका धर्म नहीं है; वह तो मात्र जड है। चेतन चेतनकी प्रेरणासे उसका आलंबन लेकर कुछ ग्रहण करता है, जिससे उसमें कर्तृत्वका आरोप होता है; परंतु मुख्यतः तो वह चेतन कर्मका कर्ता है।

यहाँ यदि आप वेदांत आदि दृष्टिसे विचार करेंगे तो हमारे ये वाक्य आपको भ्रांतिगत पुरुषके कहे हुए लगेंगे। परंतु अब जो प्रकार कहा है, उसे समझनेसे आपको उन वाक्योंकी यथार्थता मालूम होगी और भ्रांतिगतता भासित नहीं होगी।

यदि किसी भी प्रकारसे आत्माका कर्मकर्तृत्व न हो तो किसी भी प्रकारसे उसका भोक्तृत्व भी सिद्ध न हो, और जब ऐसा ही हो तो फिर उसके किसी भी प्रकारके दुःखोंका संभव ही न हो। जब आत्माको किसी भी प्रकारके दुःखोंका संभव ही न होता हो तो फिर वेदांत आदि शास्त्र सर्व दुःखोंके क्षयके जिस मार्गका उपदेश करते हैं वे किस लिए उपदेश करते हैं ? 'जब तक आत्मज्ञान न हो तब तक दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति न हो,' ऐसा वेदांत आदि कहते हैं, वह यदि दुःख ही न हो तो उसकी निवृत्तिका उपाय किस लिए कहना चाहिए ? और कर्तृत्व न हो, तो दुःखका भोक्तृत्व कहाँसे हो ? ऐसा विचार करनेसे कर्मका कर्तृत्व सिद्ध होता है।

अब यहाँ एक प्रश्न होने योग्य है और आपने भी वह प्रश्न किया है कि 'यदि आत्माको कर्मका कर्ता मानें तब तो आत्माका वह धर्म ठहरे, और जो जिसका धर्म हो उसका कभी भी उच्छेद होना योग्य नहीं; अर्थात् उससे सर्वथा भिन्न हो सकने योग्य नहीं, जैसे अग्निकी उष्णता अथवा प्रकाश वैसे।' इस तरह यदि कर्मका कर्तृत्व आत्माका धर्म ठहरे तो वह नाश प्राप्त न करे।

उत्तर—सर्व प्रमाणांशका स्वीकार किये विना ऐसा सिद्ध हो; परंतु जो विचारवान हो वह किसी एक प्रमाणांशका स्वीकार कर दूसरे प्रमाणांशका नाश न करे। 'उस जीवको कर्मका कर्तृत्व न हो', अथवा 'हो तो वह प्रतीत होने योग्य नहीं।' इत्यादि किये गये प्रश्नोंके उत्तरमें जीवके कर्मकर्तृत्वको बताया है। कर्मका कर्तृत्व हो तो वह दूर ही न हो, ऐसा कुछ सिद्धांत समझना योग्य नहीं, क्योंकि जिस किसी भी वस्तुका ग्रहण किया हो वह छोड़ी जा सके अर्थात् उसका त्याग हो सके; क्योंकि ग्रहण की हुई वस्तुसे ग्रहण करनेवाली वस्तुका सर्वथा एकत्व कैसे हो? इसलिए जीवसे ग्रहण किये हुए ऐसे जो द्रव्य-कर्म, उनका जीव त्याग करे तो हो सकने योग्य है, क्योंकि वे उसे सहकारी स्वभावसे हैं, सहज स्वभावसे नहीं। और उस कर्मको मैंने आपको अनादि-भ्रम कहा है, अर्थात् उस कर्मका कर्तृत्व अज्ञानसे प्रतिपादित किया है, इससे भी वह निवृत्त होने योग्य है, ऐसा साथमें समझना योग्य है। जो जो भ्रम होता है वह वह वस्तुकी विपरीत स्थितिकी मान्यतारूप होता है, और इससे वह दूर होने योग्य है, जैसे मृगजलमेंसे जलबुद्धि। कहनेका हेतु यह है कि यदि अज्ञानसे भी आत्माको कतृत्व न हो तब तो कुछ उपदेश आदिका श्रवण, विचार, ज्ञान आदिके समझनेका कोई हेतु नहीं रहता। अब यहाँ आगे जीवका परमार्थसे जो कर्तृत्व है उसे कहते है। (७७)

चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव।
वर्ते नहि निज भानमां, कर्ता कर्म-प्रभाव॥ ७८॥

आत्मा यदि अपने शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावमें रहे तो वह अपने उसी स्वभावका कर्ता है, अर्थात् उसी स्वरूपमें परिणमित है, और वह शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावके भानमें न रहती हो तब कर्मभावका कर्ता है॥ ७८॥

अपने स्वरूपके भानमें आत्मा अपने स्वभावका अर्थात् चैतन्य आदि स्वभावका ही कर्ता है, अन्य किसी भी कर्म आदिका कर्ता नहीं है; और जब आत्मा अपने स्वरूपके भानमें न रहे तब कर्मके प्रभावका कर्ता कहा है।

परमार्थसे तो जीव निष्क्रिय है, ऐसा वेदांत आदिका निरूपण है, और जिन-प्रवचनमें भी सिद्ध अर्थात् शुद्ध आत्माकी निष्क्रियता है, ऐसा निरूपण किया है। फिर भी हमने आत्माको, शुद्ध अवस्थामें कर्ता होनेसे सक्रिय कहा, ऐसा संदेह यहाँ होने योग्य है, उस संदेहको इस प्रकार शांत करना योग्य है—शुद्धात्मा परयोगका, परभावका और विभावका वहाँ कर्ता नहीं है, इसलिए निष्क्रिय कहना योग्य है; परंतु चैतन्य आदि स्वभावका भी कर्ता नहीं है, ऐसा यदि कहें तब तो फिर उसका कुछ भी स्वरूप न रहे। शुद्धात्माको योगक्रिया न होनेसे वह निष्क्रिय है, परंतु स्वाभाविक चैतन्य आदि स्वभावरूप क्रिया होनेसे वह सक्रिय है। चैतन्यात्मता आत्माको स्वाभाविक होनेसे उसमें आत्माका परिणमन होना वह एकात्मरूपसे है, और इसलिए परमार्थनयसे सक्रिय ऐसा विशेषण वहाँ भी आत्माको नहीं दिया जा सकता। निजस्वभावमें परिणमनरूप सक्रियतासे निजस्वभावका कर्तृत्व शुद्धात्माको है, इसलिए सर्वथा शुद्ध स्वधर्म होनेसे एकात्मरूपसे परिणमित

होता है, इससे निष्क्रिय कहते हुए भी दोष नहीं है। जिस विचारसे सक्रियता, निष्क्रियता निरुपित की है, उस विचारके परमार्थको ग्रहण करके सक्रियता, निष्क्रिता कहते हुए कोई दोष नहीं है। (७८)

× × ×

शंका—शिष्य उवाच

[शिष्य कहता है कि जीव कर्मका भोक्ता नहीं है :—]

जीव कर्म कर्ता कहो, पण भोक्ता नहि सोय।
शुं समजे जड कर्म के, फळ परिणामी होय ?॥ ७९ ॥

जीवको कर्मका कर्ता कहें तो भी उस कर्मका भोक्ता जीव नहीं ठहरे; क्योंकि जडकर्म क्या समझे कि वह फल देनेमें परिणामी हो ? अर्थात् फलदाता हो सके ?॥ ७९ ॥

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय।
एम कह्ये ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥ ८० ॥

फलदाता ईश्वर मानें तो भोक्तृत्व साध सकें, अर्थात् जीवको ईश्वर कर्म भोगवाये, इससे जीव कर्मका भोक्ता सिद्ध हो, परंतु दूसरेको फल देने आदिकी प्रवृत्तिवाला ईश्वर मानें तो उसकी ईश्वरता ही नहीं रहती, ऐसा भी फिर विरोध आता है ॥ ८० ॥

'ईश्वर सिद्ध हुए विना अर्थात् कर्मफलदातृत्व आदि किसी भी ईश्वरके सिद्ध हुए विना जगतकी व्यवस्था रहना संभव नहीं है', ऐसे अभिप्रायके विषयमें निम्नलिखित विचारणीय है:—

यदि कर्मके फलको ईश्वर देता है, ऐसा मानें तो इसमें ईश्वरकी ईश्वरता ही नहीं रहती, क्योंकि दूसरेको फल देने आदिके प्रपंचमें प्रवृत्ति करते हुए ईश्वरको देह आदि अनेक प्रकारका संग होना संभव है और इससे यथार्थ शुद्धताका भंग होता है। मुक्त जीव जैसे निष्क्रिय है अर्थात परभाव आदिका कर्ता नहीं है; यदि परभाव आदिका कर्ता हो तब तो संसारकी प्राप्ति होती है, वैसे ही ईश्वर भी दूसरेको फल देनेरूप आदि क्रियामें प्रवृत्ति करे तो उसे भी परभाव आदिके कर्तृत्वका प्रसंग आता है, और मुक्त जीवकी अपेक्षा उसका न्यूनत्व ठहरता है, इससे तो उसकी ईश्वरताका ही उच्छेद करने जैसी स्थिति होती है।

फिर जीव और ईश्वरका स्वभावभेद मानते हुए भी अनेक दोषोंका संभव है। दोनोंको यदि चैतन्यस्वभाव मानें, तो दोनों समान धर्मके कर्ता हुए; उसमें ईश्वर जगत आदिकी रचना करे अथवा कर्मका फल देनेरूप कार्य करे और मुक्त गिना जाये; और जीव एक मात्र देह आदिकी सृष्टिकी रचना करे, और अपने कर्मोंका फल पानेके लिए ईश्वराश्रय ग्रहण करे, तथा बंधनमें माना जाये, यह बात यथार्थ मालूम नहीं होती। ऐसी विषमता कैसे संभवित हो ?

फिर जीवकी अपेक्षा ईश्वरकी सामर्थ्य विशेष मानें तो भी विरोध आता है। ईश्वरको शुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो शुद्ध चैतन्य मुक्तजीवमें और उसमें भेद नहीं आना चाहिए, और ईश्वरसे कर्मका फल देने आदिके कार्य नहीं होने चाहिए, अथवा मुक्त जीवसे भी वे कार्य होने चाहिए। और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो तो संसारी जीवों जैसी उसकी स्थिति ठहरे; वहाँ फिर सर्वज्ञ आदि गुणोंका संभव कहाँसे हो ? अथवा देहधारी सर्वज्ञकी भाँति उसे 'देहधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मानें तो भी कर्मफलदातृत्वरूप 'विशेष स्वभाव' ईश्वरमें किस गुणके कारण मानना योग्य हो ? और देह तो नष्ट होने योग्य है, इससे ईश्वरकी देह भी नष्ट हो जाये, और वह मुक्त होनेपर कर्म-

फलदातृत्व न रहे, इत्यादि अनेक प्रकारसे ईश्वरको कर्मफलदातृत्व कहते हुए दोष आते हैं, और ईश्वरको वैसे स्वरूपसे मानते हुए उसकी ईश्वरताका उत्थापन करनेके समान होता है। (८०)

ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत नियम नहि होय।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहि कोय ॥ ८१ ॥

वैसा फलदाता ईश्वर सिद्ध नहीं होता अर्थात् जगतका कोई नियम भी नहीं रहता, और शुभाशुभ कर्मका भोगनेका कोई स्थान भी नहीं ठहरता, अर्थात् जीवको कर्मका भोक्तृत्व कहाँ रहा ॥ ८१ ॥

× × ×

समाधान—सद्गुरु उवाच

[सद्गुरु कहते हैं कि जीवको अपने किये हुए कर्मोका भोक्तृत्व है :—]

भावकर्म निज कल्पना, माटे चेतनरूप।
जीववीर्यनी स्फुरणा ग्रहण करे जडधूप ॥ ८२ ॥

भावकर्म जीवको अपनी भ्रांति है, इसलिए चेतनरूप है; और उस भ्रांतिका अनुयायी होकर जीव-वीर्य स्फुरित होता है, इससे जड द्रव्य-कर्मकी वर्गणाको वह ग्रहण करता है ॥ ८२ ॥

कर्म जड है तो वह क्या समझे कि इस जीवको इस तरह मुझे फल देना है, अथवा उस स्वरूपसे परिणमन करना है ? इसलिए जीव कर्मका भोक्ता होना संभव नहीं है, इस आशंकाका समाधान निम्नलिखितसे होगा:—

जीव अपने स्वरूपके अज्ञानसे कर्मका कर्ता है। वह अज्ञान चेतनरूप है, अर्थात् जीवकी अपनी कल्पना है, और उस कल्पनाका अनुसरण करके उसके वीर्यस्वभावकी स्फूर्ति होती है, अथवा उसकी सामर्थ्य तदनुयायीरूपसे परिणमित होती है, और इससे जडको धूप अर्थात् द्रव्य-कर्मरूप पुद्गलकी वर्गणाको वह ग्रहण करता है। (८२)

झेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥ ८३ ॥

विष और अमृत स्वयं नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है, तो भी जो जीव खाता है उसे वह फल होता है; ऐसे शुभाशुभ ऐसा नहीं जानते कि इस जीवको यह फल देना है, तो भी ग्रहण करनेवाला जीव विष-अमृतके परिणामकी तरह फल पाता है (८३)

विष और अमृत स्वयं ऐसा नहीं समझते कि हमें खानेवालेकी मृत्यु और दीर्घायु होती है, परन्तु जैसे उन्हें ग्रहण करनेवालेके प्रति स्वभावतः उनका परिणमन होता है; वैसे जीवमें शुभाशुभ कर्म भी परिणमित होते हैं, और फलके सन्मुख होते हैं, इस तरह जीवका कर्मभोक्तृत्व समझमें आता है। (८३)

एक रांक ने एक नृप, ए आदि जे भेद।
कारण विना न कार्य ते, ते ज शुभाशुभ वेद्य ॥ ८४ ॥

एक रंक है और एक राजा है, इत्यादि शब्दसे नीचता, उच्चता, कुरुपता, सुरूपता ऐसी बहुत-सी विचित्रता है, और ऐसा जो भेद रहता है, वह सबको समान नहीं रहता, यही शुभाशुभ कर्मका भोक्तृत्व है, ऐसा सिद्ध करता है; क्योंकि कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ८४ ॥

उस शुभाशुभ कर्मका फल न होता हो, तो एक रंक और एक राजा, इत्यादि जो भेद हैं वे नहीं होने चाहिए; क्योंकि जीवत्व समान है, तथा मनुष्यत्व समान है, तो सबको सुख अथवा दुःख भी समान होना चाहिए; जिसके बदले ऐसी विचित्रता मालूम होती है, यही शुभाशुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ भेद है; क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह शुभ और अशुभ कर्म भोगे जाते हैं। (८४)

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर॥ ८५॥

इसमें फलदाता ईश्वरको कुछ जरूरत नहीं है। विष और अमृतकी तरह शुभाशुभ कर्म स्वभावसे परिणमित होते हैं; और निःसत्त्व होनेसे विष और अमृत फल देनेसे जैसे निवृत्त होते हैं, वैसे शुभाशुभ कर्मको भोगनेसे वे निःसत्त्व होनेपर निवृत्त हो जाते हैं॥ ८५॥

विष विषरूपसे परिणमित होता है और अमृत अमृतरूपसे परिणमित होता है, उसी तरह अशुभ कर्म अशुभरूपसे और शुभ कर्म शुभरूपसे परिणमित होता है। इसलिए जीव जिस जिस प्रकारके अध्यवसायसे कर्मको ग्रहण करता है, उस उस प्रकारके विपाकरूपसे कर्म परिणमित होता है, और जैसे विष और अमृत परिणामी हो जानेपर निःसत्त्व हो जाते हैं, वैसे भोगसे वे कर्म दूर होते हैं। (८५)

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव॥ ८६॥

उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट शुभगति है, और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट अशुभ-गति है, शुभाशुभ अध्यवसाय मिश्रित गति है, और वह जीवपरिणाम ही मुख्यतः तो गति है। तथापि उत्कृष्ट शुभ द्रव्यका ऊर्द्धगमन, उत्कृष्ट अशुभ द्रव्यका अधोगमन, शुभाशुभकी मध्यस्थिति, ऐसा द्रव्यका विशेष स्वभाव है। और उन आदि हेतुओंसे वे वे भोगस्थान होने योग्य हैं। हे शिष्य! जड-चेतनके स्वभाव, संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका यहाँ बहुतसा विचार समा जाता है, इसलिए यह बात गहन है, तो भी उसे एकदम संक्षेपमें कहा है॥ ८६॥

तथा, यदि ईश्वर कर्मफलदाता न हो अथवा उसे जगतकर्ता न मानें तो कर्म भोगनेके विशेष स्थान अर्थात् नरक आदि गति-स्थान कहाँसे हों, क्योंकि उसमें तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है, ऐसी आशंका भी करने योग्य नहीं है; क्योंकि मुख्यतः तो उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट देवलोक है, और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट नरक है, शुभाशुभ अध्यवसाय मनुष्यतिर्यंच आदि गतियाँ हैं; और स्थानविशेष अर्थात् ऊर्ध्वलोकमें देवगति इत्यादि भेद हैं। जीवसमूहके कर्मद्रव्यके भी वे परिणामविशेष हैं अर्थात् वे सब गतियाँ जीवके कर्मके विशेष परिणामादि संभव हैं।

यह बात अति गहन है। क्योंकि अचिंत्य जीव-वीर्य, अचिंत्य पुद्गल-सामर्थ्य, इनके संयोग-विशेषसे लोकका परिणमन होता है। उसका विचार करनेके लिए उसे अधिक विस्तारसे कहना चाहिए। परंतु यहाँ तो मुख्यतः आत्मा कर्मका भोक्ता है इतना लक्ष्य करानेका आशय होनेसे अत्यंत संक्षेपसे इस प्रसंगको कहा है। (८६)

× × ×

शंका—शिष्य उवाच

[शिष्य कहता है कि जीवको उस कर्मसे मोक्ष नहीं है :—]

कर्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहि मोक्ष।
वीत्यो काळ अनंत पण, वर्तमान छे दोष ॥ ८७ ॥

जीव कर्ता और भोक्ता हो, परंतु इससे उसका मोक्ष होना संभव नहीं है; क्योंकि अनंत काल बीत जानेपर भी कर्म करनेरूप दोष अभी उसमें वर्तमान ही है ॥ ८७ ॥

शुभ करे फळ भोगवे, देवादि गति मांय।
अशुभ करे नरकादि फळ, कर्म रहित न क्यांय ॥ ८८ ॥

शुभ कर्म करे तो उससे देवादि गतिमें उसका शुभ फल भोगे और अशुभ कर्म करे तो नरकादि गतिमें उसका अशुभ फल भोगे; परंतु जीव कर्मरहित किसी स्थलमें न हो ॥ ८८ ॥

× × ×

समाधान—सद्‌गुरु उवाच

[सद्‌गुरु कहते हैं कि उस कर्मसे जीवको मोक्ष हो सकता है :—]

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण।
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८९ ॥

जिस तरह तूने शुभाशुभ कर्म उस जीवके करनेसे होते हुए जाने, और उससे उसका भोक्तृत्व जाना, उसी तरह कर्म नहीं करनेसे अथवा उस कर्मकी निवृत्ति करनेसे वह निवृत्ति भी होना योग्य है, इसलिए उस निवृत्तिकी भी सफलता है; अर्थात् जिस तरह वे शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाते उसी तरह उनकी निवृत्तिका भी निष्फल जाना योग्य नहीं है; इसलिए हे विचक्षण ! तू यह विचार कर कि उस निवृत्तिरूप मोक्ष है ॥ ८९ ॥

वीत्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव।
तेह शुभाशुभ छेदतां, ऊपजे मोक्ष स्वभाव ॥ ९० ॥

कर्मसहित अनंतकाल बीता, उस उस शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवकी आसक्तिके कारण बीता, परंतु उसके प्रति उदासीन होनेसे उस कर्मफलका छेदन किया जाये, और उससे मोक्षस्वभाव प्रगट हो ॥ ९० ॥

देहादिक संयोगनो, आत्यंतिक वियोग।
सिद्ध मोक्ष शाश्वत पदे, निज अनंत सुखभोग ॥ ९१ ॥

देहादि संयोगका अनुक्रमसे वियोग तो हुआ करता है, परंतु वह फिरसे ग्रहण न हो इस तरह उसका वियोग करनेमें आये, तो सिद्धस्वरूप मोक्षस्वभाव प्रगट हो, और शाश्वतपदमें अनंत आत्मानंद भोगा जाये ॥ ९१ ॥

× × ×

शंका—शिष्य उवाच

[शिष्य कहता है कि मोक्षका उपाय नहीं है :—]

होय कदापि मोक्षपद, नहि अविरोध उपाय।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय॥ ९२ ॥

मोक्षपद कदाचित् हो तो भी वह प्राप्त होनेका कोई अविरोधी अर्थात यथातथ्य प्रतीत हो ऐसा उपाय मालूम नहीं होता; क्योंकि अनंतकालके कर्म हैं, उनका ऐसे अल्पायुवाली मनुष्यदेहसे छेदन कैसे किया जाये ? ॥ ९२ ॥

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक।
तेमां मत साचो कयो, बने न एह विवेक॥ ९३ ॥

अथवा कदाचित् मनुष्यदेहकी अल्पायु आदिकी शंका छोड़ दें, तो भी मत और दर्शन बहुतसे हैं, और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं, उनमें कौनसा मत सच्चा है, यह विवेक नहीं हो सकता ॥ ९३ ॥

कई जातिमां मोक्ष छे, कया वेषमां मोक्ष।
एनो निश्चय ना बने, घणा भेद ए दोष॥ ९४ ॥

ब्राह्मण आदि किस जातिमें मोक्ष है, अथवा किस वेषमें मोक्ष है, इसका निश्चय न हो सकने जैसा है, क्योंकि वैसे अनेक भेद हैं, और इस दोषसे भी मोक्षका उपाय प्राप्त होने योग्य दिखायी नहीं देता ॥ ९४ ॥

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष उपाय।
जीवादि जाण्या तणो, शो उपकार ज थाय ? ॥ ९५ ॥

इससे यह मालूम होता है कि मोक्षका उपाय प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए जीव आदिका स्वरूप जाननेसे भी क्या उपकार हो ? अर्थात जिस पदके लिए जानना चाहिए उस पदका उपाय प्राप्त होना अशक्य दिखायी देता है ॥ ९५ ॥

पांचे उत्तरथी थयुं, समाधान सर्वांग।
समजुं मोक्ष उपाय तो, उदय उदय सद्भाग्य॥ ९६ ॥

आपने पाँच उत्तर कहे हैं, उनसे मेरी शंकाओं सर्वांग अर्थात् सर्वथाका समाधान हुआ है, परंतु यदि मोक्षका उपाय समझुँ तो सद्भाग्यका उदय-उदय हो। यहाँ 'उदय' 'उदय' शब्द दो बार कहा है, वह पाँच उत्तरोंके समाधानसे होनेवाली मोक्षपदकी जिज्ञासाकी तींव्रता प्रदर्शित करता है ॥ ९६ ॥

× × ×

समाधान–सद्गुरु उवाच

[सद्गुरु समाधान करते हैं कि मोक्षका उपाय है :—]

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत।
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत॥ ९७ ॥

जिस तरह तेरी आत्मामें पाँच उत्तरोंकी प्रतीति हुई है, उसी तरह तुझे मोक्षके उपायकी भी सहजमें प्रतीति होगी। यहाँ 'होगी' और 'सहज' ये दो शब्द सद्गुरुने कहे हैं, वे यह बताने के

लिए कहे हैं कि जिसे पाँच पदोंकी शंका निवृत्त हो गयी है उसे मोक्षोपाय समझना कुछ कठिन ही नहीं है, तथा शिष्यकी विशेष जिज्ञासावृत्ति जानकर उसे अवश्य मोक्षोपाय परिणमित होगा, ऐसा भासित होनेसे (वे शब्द) कहे हैं; ऐसा सद्गुरुके वचनका आशय है ॥ ९८ ॥

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास।
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥ ९८ ॥

जो कर्मभाव है वह जीवका अज्ञान है और जो मोक्षभाव है वह जीवके अपने स्वरूपमें स्थिति होना है। अज्ञानका स्वभाव अंधकार जैसा है। इसलिए जैसे प्रकाश होते ही बहुतसे कालका अंधकार होनेपर भी वह नष्ट हो जाता है, वैसे ज्ञानका प्रकाश होते ही अज्ञान भी नष्ट हो जाता है ॥ ९८ ॥

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ।
ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअंत ॥ ९९ ॥

जो जो कारण कर्मबंधके हैं, वे वे कर्मबंधके मार्ग हैं; और उन कारणोंका छेदन करनेवाली जो दशा है वह मोक्षका मार्ग है, भवका अंत है ॥ ९९ ॥

राग, द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

राग, द्वेष और अज्ञान इनका एकत्व कर्मकी मुख्य गांठ है, अर्थात् इनके बिना कर्मका बंध नहीं होता; जिससे उनकी निवृत्ति हो, वही मोक्षका मार्ग है ॥ १०० ॥

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास रहित।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥१०१॥

'सत्' अर्थात् अविनाशी, और 'चैतन्यमय' अर्थात् सर्वभावको प्रकाशित करनेरूप स्वभावमय, 'अन्य सर्व विभाव और देहादि संयोगके आभाससे रहित' ऐसा, 'केवल' अर्थात् शुद्ध आत्मा प्राप्त करें इस प्रकार प्रवृत्ति की जाये तो वह मोक्षमार्ग है ॥१०१॥

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनके मुख्य ज्ञानावरण आदि आठ भेद होते हैं। उनमें भी मुख्य मोहनीय कर्म है। जिससे उस मोहनीय कर्मका नाश किया जाये, उसका पाठ कहता हूँ ॥ १०२ ॥

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

उस मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—एक 'दर्शनमोहनीय' अर्थात् 'परमार्थमें अपरमार्थबुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिरूप'; दूसरा 'चारित्रमोहनीय', 'तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्मस्वभावमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताके रोधक पूर्वसंस्काररूप कषाय और नोकषाय, यह चारित्रमोहनीय है।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं। इस तरह वे उसके अचूक उपाय हैं, क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, उसका प्रतिपक्ष सत्यात्मबोध है।

और चारित्रमोहनीय रागादिक परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है। अर्थात् जिस तरह प्रकाश होनेसे अंधकारका नाश होता है, वह उसका अचूक उपाय है; उसी तरह बोध और वीतरागता दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अंधकारको दूर करनेमें प्रकाशस्वरूप हैं; इसलिए वे उसके अचूक उपाय हैं ॥ १०३ ॥

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो संदेह? ॥ १०४ ॥

क्रोधादि भावसे कर्मबंध होता है, और क्षमादि भावसे उसका नाश होता है; अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, सरलतासे माया रोकी जा सकती है, संतोषसे लोभ रोका जा सकता है, इस तरह रति, अरतिके प्रतिपक्षसे वे वे दोष रोके जा सकते हैं, यही कर्मबंधका निरोध है; और यही उसकी निवृत्ति है। तथा इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है। क्रोधादि रोकनेसे रुकते हैं, और जो कर्मबंधको रोकता है, वह अकर्मदशाका मार्ग है। यह मार्गपर परलोक-में नहीं, परंतु यहाँ अनुभवमें आता है, तो फिर इसमें संदेह क्या करना ? ॥ १०४ ॥

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिए मुझे इससे चिपटा ही रहना चाहिए; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिए चाहे जैसे मुझे उसे सिद्ध करना चाहिए, ऐसे आग्रह अथवा ऐसे विकल्पको छोड़कर, यह जो मार्ग कहा है, इसका जो साधन करेगा, उसके अल्प जन्म समझना।

यहाँ 'जन्म' शब्दका बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह इतना ही बतानेके लिए है कि क्वचित् वे साधन अधूरे रहे हों उससे, अथवा जघन्य या मध्यम परिणामकी धारासे आराधित हुए हों, उससे सर्व कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना संभव है; परंतु वे बहुत नहीं, बहुत ही अल्प। 'समकित आनेके पश्चात् यदि जीव उसका वमन न करे तो अधिकसे अधिक पंद्रह भव हों,' ऐसा जिनने कहा है। और 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसका उसी भवमें भी मोक्ष हो;' यहाँ इस बातका विरोध नहीं है ॥ १०५ ॥

षट्पदनां षट्प्रश्न तें, पूछ्यां करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य ! तूने छ पदोंके छ प्रश्न विचार कर पूछे हैं, और उन पदोंकी सर्वांगतामें मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् उसमेंसे किसी भी पदका एकान्तसे या अविचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता ॥ १०६ ॥

जाति, वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, वह हो तो चाहे जिस जाति या वेशसे मोक्ष हो, इसमें कोई भेद नहीं है। जो साधन करे वह मुक्तिपद पाये; और उस मोक्षमें भी दूसरे किसी प्रकारके ऊंच, नीच आदि भेद नहीं हैं, अथवा यह जो वचन कहे हैं उनमें कोई दूसरा भेद या अंतर नहीं है ॥ १०७ ॥

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद अंतर दया, ते कहीए जिज्ञास ॥ १०८ ॥

क्रोध आदि कषाय जिसके पतले पड़ गये हैं, आत्मामें मात्र मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी दूसरी कोई इच्छा नहीं है, और संसारके भोगके प्रति उदासीनता रहती है, तथा अंतरमें प्राणियों-पर दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् उसे मार्ग प्राप्त करनेके योग्य कहते हैं ॥ १०८ ॥

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध।
तो पामे समकितने, वर्ते अंतरशोध ॥ १०९ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश प्राप्त हो जाये तो वह समकित प्राप्त करे, और अंतरकी शोधमें रहे ॥ १०९ ॥

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुके लक्ष्यमें प्रवृत्त होता है, वह शुद्ध समकित पाता है कि जिसमें भेद तथा पक्ष नहीं है ॥ ११० ॥

वर्ते निज स्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित ॥ १११ ॥

जहाँ आत्मस्वभावका अनुभव, लक्ष्य, और प्रतीति रहती है, तथा वृत्ति आत्माके स्वभावमें बहती है, वहाँ परमार्थसे समकित है ॥ १११ ॥

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

वह समकित, बढती हुई धारासे हास्य, शोक आदिसे जो कुछ आत्मामें मिथ्याभास भासित हुआ, उसे दूर करे, और स्वभाव समाधिरूप चारित्रका उदय हो, जिससे सर्व रागद्वेषके क्षयरूप वीतरागपदमें स्थिति हो ॥ ११२ ॥

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्ते ज्ञान।
कहीए केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्मस्वभावका अखंड अर्थात् कभी भी खंडित न हो, मंद न हो, नष्ट न हो; ऐसा ज्ञान रहे, उसे केवलज्ञान कहते हैं। जिस केवलज्ञानको पानेसे उत्कृष्ट जीवन्-मुक्तदशारूप निर्वाण, देहके रहनेपर ही, यहाँ अनुभवमें आता है ॥ ११३ ॥

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षका स्वप्न हो तो भी जाग्रत होनेपर तुरत शांत हो जाता है, उसी तरह अनादि-का जो विभाव है, वह आत्मज्ञान होनेपर दूर हो जाता है ॥ ११४ ॥

छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म;
नहि भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य ! देहमें जो आत्मभाव मान लिया है, और उसके कारण स्त्री, पुत्र आदि सर्वमें अहंता-ममता रहती है, वह आत्मा यदि आत्मामें ही मानी जाये, और वह देहाध्यास अर्थात् देहमें आत्मबुद्धि तथा आत्मामें देहबुद्धि है, वह दूर हो जाये; तो तू कर्मका कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं, और यही धर्मका मर्म है ॥ ११५ ॥

ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्ष स्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

इसी धर्मसे मोक्ष है, और तू ही मोक्षस्वरूप है, अर्थात् शुद्ध आत्मपद यही मोक्ष है। तू अनंत ज्ञान-दर्शन तथा अव्याबाध सुखस्वरूप है ॥ ११६ ॥

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
बीजुं कहीए केटलुं? कर विचार तो पाम ॥ ११७ ॥

तू देह आदि सब पदार्थोंसे भिन्न है। किसीमें आत्मद्रव्य मिलता नहीं है, कोई उसमें मिलता नहीं है। परमार्थसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे सदा ही भिन्न है, इसलिए तू शुद्ध है, बोधस्वरूप है, चैतन्य-प्रदेशात्मक है, स्वयंज्योति अर्थात् कोई भी तुझे प्रकाशित नहीं करता है, स्वभावसे ही तू प्रकाश-स्वरूप है, अव्याबाध सुखका धाम है। और कितना कहें ? अथवा अधिक क्या कहें ? संक्षेपमें इतना ही कहते हैं यदि तू विचार करेगा तो उस पदको पायेगा ॥ ११७ ॥

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र समाय।
धरी मौनता एम कही, सहजसमाधि मांय ॥ ११८ ॥

सर्व ज्ञानियोंका निश्चय इसमें आकर समा जाता है, ऐसा कहकर सद्गुरु मौन धारण कर सहज समाधिमें स्थित हुए, अर्थात् उन्होंने वाणी योगकी प्रवृत्ति बंद कर दी ॥ ११८ ॥

× × ×

शिष्यबोधबीजप्राप्तिकथन

सद्गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान।
निजपद निजमांही लह्युं, दूर थयुं अज्ञान ॥ ११९ ॥

शिष्यको सद्गुरुके उपदेशसे अपूर्व अर्थात् जैसा पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था ऐसा भान आया, और उसे अपना स्वरूप अपनेमें यथातथ्य भासित हुआ; और देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान दूर हुआ ॥ ११९ ॥

भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप।
अजर, अमर, अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥ १२० ॥

अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी और देहसे स्पष्ट भिन्न भासित हुआ ॥ १२० ॥

कर्ता भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्ते ज्यांय।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्ता त्यांय ॥ १२१ ॥

जहाँ विभाव अर्थात् मिथ्यात्व रहता है, वहाँ मुख्य नयसे कर्मका कर्तृत्व और भोक्तृत्व है; आत्मस्वभावमें वृत्ति वही, उससे अकर्ता हुआ ॥ १२१ ॥

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्धचेतनारूप।
कर्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्पस्वरूप ॥ १२२ ॥

अथवा आत्मपरिणाम जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका निर्विकल्परूपसे कर्ता-भोक्ता हुआ ॥ १२२ ।

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ।
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रंथ ॥ १२३ ॥

आत्माका जो शुद्ध पद है वह मोक्ष है और जिससे वह प्राप्त किया जाये, वह उसका मार्ग है। श्री सद्गुरुने कृपा करके निर्ग्रंथका सकल मार्ग समझाया ॥ १२३ ॥

अहो! अहो! श्री सद्गुरु, करुणा सिंधु अपार।
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो! अहो! उपकार ॥ १२४ ॥

अहो! अहो! करुणाके अपार समुद्रस्वरूप, आत्मलक्ष्मीसे युक्त सद्गुरु, आप प्रभुने इस पामर जीवपर आश्चर्यकारक उपकार किया है ॥ १२४ ॥

शुं प्रभु चरण कने धरुं, आत्माथी सौ हीन।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ॥ १२५ ॥

मैं प्रभुके चरणोंमें क्या रखूँ? (सद्गुरु तो परम निष्काम हैं; एक मात्र निष्काम करुणासे उपदेशके दाता हैं, परंतु शिष्यने शिष्यधर्म यह वचन कहा है।) जगतमें जो जो पदार्थ हैं वे सब आत्माकी अपेक्षासे मूल्यहीनसे हैं; तो वह आत्मा जिसने दी उसके चरणोंमें मैं दूसरा क्या रखूँ? मैं केवल उपचारसे इतना करनेको समर्थ हूँ कि मैं एक प्रभुके चरणोंके ही अधीन रहूँ ॥ १२५ ॥

आ देहादि आजथी, वर्तो प्रभु आधीन।
दास, दास हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन ॥ १२६ ॥

यह देह, 'आदि' शब्दसे जो कुछ मेरा माना जाता है, वह आजसे सद्गुरु प्रभुके अधीन रहे। मैं उस प्रभुका दास हूँ, दास हूँ, दीन दास हूँ ॥ १२६ ॥

षट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप।
म्यान थकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥ १२७ ॥[1]

छः स्थान समझाकर हे सद्गुरु देव! आपने देहादिसे आत्माको, जैसे म्यानसे तलवार अलग निकालकर दिखाते हैं वैसे स्पष्ट भिन्न बताया। आपने ऐसा उपकार किया जिसका माप नहीं हो सकता।

× × ×

उपसंहार

दर्शन षटे समाय छे, आ षट् स्थानक मांही।
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांई ॥ १२८ ॥

छः दर्शन इन छः स्थानोंमें समा जाते हैं। इनका विशेषतासे विचार करनेसे किसी भी प्रकारका संशय नहीं रह जाता ॥ १२८ ॥

आत्मभ्रांति सम रोग नहि, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरुआज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान ॥ १२९ ॥

आत्माको अपने स्वरूपका भान न होनेके समान दूसरा कोई रोग नहीं है, सद्गुरुके समान उसका कोई सच्चा अथवा निपुण वैद्य नहीं है, सद्गुरुकी आज्ञामें चलनेके समान और कोई पथ्य नहीं है, और विचार तथा निदिध्यासनके समान उस रोगकी कोई औषध नहीं है ॥ १२९ ॥

---

१. यह 'आत्मसिद्धिशास्त्र' की रचना श्री सोभागभाई आदिके लिए हुई थी, यह इस अतिरिक्त गाथासे मालूम होगा।

श्री सुभाग्य ने श्री अचळ, आदि मुमुक्षु काज।
तथा भव्यहित कारणे, कह्यो बोध सुखसाज ॥

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहि आत्मार्थ ॥ १३० ॥

यदि परमार्थकी इच्छा करते हैं तो सच्चा पुरुषार्थ करें, और भवस्थिति आदिका नाम लेकर आत्मार्थका छेदन न करें ॥ १३० ॥

निश्चयवाणी सांभळी, साधन तजवां नो'य।
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय ॥ १३१ ॥

आत्मा अबंध है, असंग है, सिद्ध है, ऐसी निश्चय-प्रधान वाणीको सुनकर साधनोंका त्याग करना योग्य नहीं है। परंतु तथारूप निश्चयको लक्ष्यमें रखकर साधन अपनाकर उस निश्चय-स्वरूपको प्राप्त करें ॥ १३१ ॥

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल।
एकांते व्यवहार नहि, बन्ने साथ रहेल ॥ १३२ ॥

यहाँ एकांतसे निश्चयनय नहीं कहा है, अथवा एकांतसे व्यवहारनय नहीं कहा है, दोनों जहाँ जहाँ जिस तरह घटित होते हैं उस तरह साथ रहते हैं ॥ १३२ ॥

गच्छमतनी जे कल्पना, ते नहि सद्व्यवहार।
भान नहीं निजरूपनुं, ते निश्चय नहि सार ॥ १३३ ॥

गच्छ-मतकी जो कल्पना है वह सद्व्यवहार नहीं है, परंतु आत्मार्थीके लक्षणोंमें जो दशा कही है और मोक्षोपायमें जिज्ञासुके जो लक्षण आदि कहे हैं, वे सद्व्यवहार हैं; जिसे यहाँ संक्षेपमें कहा है। अपने स्वरूपका भान नहीं है, अर्थात् जिस तरह देह अनुभवमें आती है उस तरह आत्माका अनुभव नहीं हुआ है, देहाध्यास रहता है, और जो वैराग्य आदि साधन प्राप्त किये विना निश्चय निश्चय चिल्लाया करता है, वह निश्चय सारभूत नहीं है ॥ १३३ ॥

आगळ ज्ञानी थई गया, वर्तमानमां होय।
थाशे काळ भविष्यमां, मार्गभेद नहि कोय ॥ १३४ ॥

भूतकालमें जो ज्ञानीपुरुष हो गये हैं, वर्तमानकालमें जो हैं, और भविष्यकालमें जो होंगे; उन्हें किसीको मार्गका भेद नहीं है, अर्थात् परमार्थसे उन सबका एक मार्ग है, और उसे प्राप्त करने योग्य व्यवहार उसी परमार्थके साधकरूपसे देश, काल आदिके कारण भेद भी कहा हो, फिर भी एक फलका उत्पादक होनेसे उसमें परमार्थसे भेद नहीं है ॥ १३४ ॥

सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।
सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय ॥ १३५ ॥

सब जीवोंमें सिद्धके समान सत्ता है, परंतु वह तो जो समझता है उसे प्रगट होती है। उसके प्रगट होनेमें ये दो निमित्त कारण हैं—सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना और सद्गुरुसे उप-देश की हुई जिनदशाका विचार करना ॥ १३५ ॥

उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त।
पामे नहि सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित ॥ १३६ ॥

सद्गुरुकी आज्ञा आदि उस आत्मसाधनमें निमित्त कारण है, और आत्माके ज्ञान-दर्शद आदि उपादान कारण हैं, ऐसा शास्त्रमें कहा है; इससे उपादानका नाम लेकर जो कोई उस निमित्तका त्याग करेगा वह सिद्धत्वको प्राप्त नहीं करेगा, और भ्रांतिमें रहा करेगा; क्योंकि सच्चे निमित्तके नर्षिधके लिए शास्त्रमें उस उपादानकी व्याख्या नहीं कही है, परंतु शास्त्रकारकी कही हुई

व्याख्याका परमार्थ यह है कि उपादानको अजाग्रत रखनेसे सच्चा निमित्त मिलनेपर भी काम नहीं होगा, इसलिए सच्चा निमित्त मिलनेपर उस निमित्तका अवलंबन लेकर उपादानको सन्मुख करना और पुरुषार्थरहित नहीं होना ॥ १३६ ॥

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर् छूटचो न मोह।
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥ १३७ ॥

मुखसे निश्चय-प्रधान वचन कहता है, परंतु अंतरसे अपना ही मोह नहीं छूटा, ऐसा पामर प्राणी मात्र ज्ञानी कहलवानेकी कामनासे सच्चे ज्ञानीपुरुषका द्रोह करता है ॥ १३७ ॥

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य।
होय मुमुक्षु घट विषे, एह सदाय सुजाग्य ॥ १३८ ॥

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग और वैराग्य ये गुण मुमुक्षुके घटमें सदा ही जाग्रत रहते हैं, अर्थात् इन गुणोंके विना मुमुक्षुता भी नहीं होती ॥ १३८ ॥

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत।
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी कहीए भ्रांत ॥ १३९ ॥

जहाँ मोहभावका क्षय हुआ हो, अथवा जहाँ मोहदशा अति क्षीण हुई हो, वहाँ ज्ञानीकी दशा कही जाती है और बाकी तो जिसने अपनेमें ज्ञान मान लिया है उसे भ्रांति कहते हैं ॥ १३० ॥

सकळ जगत ते एठवत्, अथवा स्वप्न समान।
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥ १४० ॥

जिसने समस्त जगत्को जूठनके समान जाना है, अथवा जिसे ज्ञानमें जगत् स्वप्नके समान लगता है; वह ज्ञानीकी दशा है, बाकी मात्र वाचाज्ञान अर्थात् कथनमात्र ज्ञान है ॥ १४० ॥

स्थानक पांच विचारीने, छट्ठे वर्ते जेह।
पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहि संदेह ॥ १४१ ॥

पांचों स्थानकोंका विचारकर जो छठे स्थानकमें रहता है; अर्थात् वह, मोक्षके जो उपाय कहे हैं, उनमें प्रवृत्ति करता है, वह पाँचवें स्थानक अर्थात् मोक्षपदको पाता है ॥ १४१ ॥

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरणमां, हो वंदन अगणित ॥ १४२ ॥

पूर्वप्रारब्धयोगसे जिसे देह रहती है, परंतु वह देहसे अतीत अर्थात् अर्थात् देहादिकी कल्पना रहित आत्मामय जिसकी दशा रहती है, उस ज्ञानीपुरुषके चरणकमलमें अगणित वार वंदन हो ॥ १४२ ॥

साधन सिद्ध दशा अहीं, कही सर्व संक्षेप।
षट्दर्शन संक्षेपमां, भाख्यां निर्विक्षेप ॥

यहाँ सब साधन और सिद्ध दशा संक्षेपमें कहे हैं, और संक्षेपमें विक्षेपरहित षड्दर्शन बताये हैं।

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु।

●

[६६३] ७१९ नडियाद, आसोज वदी १०, शनि, १९५२

श्री स्थंभतीर्थस्थित आत्मार्थी, मुनिपथाभ्यासी श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजी आदिके प्रति,

पत्र प्राप्त हुआ था।

श्री सद्गुरुदेवके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है।

इसके साथ एकांतमें अवगाहन करनेके लिए 'आत्मसिद्धिशास्त्र' भेजा है। वह अभी श्री लल्लुजीको अवगाहन करना योग्य है।

श्री लल्लुजी अथवा श्री देवकरणजीको यदि जिनागमका विचार करनेकी इच्छा हो तो 'आचारांग' 'सूयगडांग', 'दशवैकालिक', 'उत्तराध्ययन' और 'प्रश्नव्याकरण' विचारणीय हैं।

'आत्मसिद्धिशास्त्र' का अवगाहन श्री देवकरणजीके लिए आगे चलकर अधिक हितकारी समझकर, अभी मात्र श्री लल्लुजीके लिए उसका अवगाहन लिखा है। तो भी यदि श्री देवकरणजीकी अभी विशेष आकांक्षा रहती हो तो उन्हें भी, प्रत्यक्ष सद्गुरु जैसा मेरा किसीने परमोपकार नहीं किया, ऐसा अखंड निश्चय आत्मामें लाकर, और 'इस देहके भविष्य जीवनमें भी उस अखंड निश्चयको छोड़ दूँ तो मैंने आत्मार्थका ही त्याग कर दिया और सच्चे उपकारीके उपकारका विस्मरण करनेका दोष किया, ऐसा ही समझूँगा; और नित्य सत्पुरुषका आज्ञाकारी रहनेमें ही आत्माका कल्याण है', ऐसा, भेदभावरहित, लोकसंबंधी दूसरे प्रकारकी सर्व कल्पना छोड़कर, निश्चय लाकर, श्री लल्लुजी मुनिके साहचर्यमें इस ग्रंथका अवगाहन करनेमें अभी आपत्ति नहीं है। बहुतसी शंकाओंका समाधान होना संभव है।

सत्पुरुषकी आज्ञामें चलनेका जिसका दृढ़ निश्चय रहता है और जो उस निश्चयका आराधन करता है, उसे ही ज्ञान सम्यक् परिणामी होता है, यह बात आत्मार्थी जीवको अवश्य ध्यानमें रखना योग्य है। हमने जो ये वचन लिखे हैं, उसके सर्व ज्ञानीपुरुष साक्षी हैं।

दूसरे मुनियोंको भी जिस जिस प्रकारसे वैराग्य, उपशम और विवेककी वृद्धि हो, उस उस प्रकारसे श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजीको उन्हें यथाशक्ति सुनाना और प्रवृत्ति करना योग्य है। तथा अन्य जीव भी आत्मार्थके सन्मुख हों, और ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाके निश्चयको प्राप्त करें तथा विरक्त परिणामको प्राप्त करें, रसादिकी लुब्धता मंद करें इत्यादि प्रकारसे एक आत्मार्थके लिए उपदेश कर्तव्य है।

अनंतबार देहके लिए आत्माको बिताया है। जो देह आत्माके लिए बितायी जायगी उस देहमें आत्मविचार जन्म पाने योग्य जानकर, सर्व देहार्थकी कल्पना छोड़कर, एक मात्र आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना, ऐसा निश्चय मुमुक्षुजीवको अवश्य करना चाहिए। यही विनती।

सर्व मुमुक्षुओंको नमस्कार प्राप्त हो।

श्री सहजात्मस्वरूप

[६६४] ७२० नडियाद, आसोज वदी १२, सोम, १९५२

शिरछत्र श्री पिताजी,

आपकी चिट्ठी आज मिली है। आपके प्रतापसे यहाँ सुखवृत्ति है।

मुंबईसे इस ओर आनेमें केवल निवृत्तिका हेतु हैं; ऐसा नहीं है कि शरीरकी बाधासे इस तरफ आना हुआ। आपकी कृपासे शरीर ठीक रहता है। मुंबईमें रोगके उपद्रवके कारण आपकी तथा रेवाशंकरभाईकी आज्ञा होनेसे इस ओर विशेष स्थिरता की है; और इस स्थिरतामें आत्माको विशेषतः निवृत्ति रही है। अभी मुंबईमें रोगकी शांति बहुत हो गयी है, संपूर्ण शांति हो जानेपर उस ओर जानेका विचार रखा है, और वहाँ जानेके बाद प्रायः भाई मनसुखको आपकी

तरफ थोड़े वक्तके लिए भेजनेका चित्त है; जिससे मेरी माताजीके मनको भी अच्छा लगेगा। आपके प्रतापसे पैसा कमानेका प्रायः लोभ नहीं है, परंतु आत्माका परम कल्याण करनेकी इच्छा है। मेरी माताजीको पादवंदन प्राप्त हो। बहिन झवक तथा भाई पोपट आदिको यथायोग्य।

बालक रायचंदके दंडवत्

●

[६६५] ७२१ नडियाद, आसोज ३०, १९५२

श्री डुंगरको 'आत्मसिद्धि' कंठस्थ करनेकी इच्छा है। उसके लिए वह प्रति उन्हें देनेके बारेमें पूछा है, तो वैसा करनेमें आपत्ति नहीं है। श्री डुंगरको यह शास्त्र कंठस्थ करनेकी आज्ञा है, परंतु अभी उसकी दूसरी प्रति न लिखते हुए इस प्रतिसे ही कंठस्थ करना योग्य है, और अभी यह प्रति आप डुंगरको दीजियेगा। उसे सूचित कीजियेगा कि कंठस्थ करनेके बाद वापस लौटायें, परंतु दूसरी नकल न करें।

जो ज्ञान महा निर्जराका हेतु होता है वह ज्ञान अनधिकारी जीवके हाथमें जानेसे उसे प्रायः अहितकारी होकर परिणत होता है।

श्री सोभागके पाससे पहले कितने ही पत्रोंकी नकल किसी किसी अनधिकारीके हाथमें गयी है। पहले उनके पाससे किसी योग्य व्यक्तिके पास जाये और बादमें उस व्यक्तिके पाससे अयोग्य व्यक्तिके पास जाये ऐसा होना संभव हुआ यह हम जानते हैं। "आत्मसिद्धि" के संबंधमें आप दोनोंमेंसे किसीको आज्ञाके अतिरिक्त बरताव करना योग्य नहीं है। यही विनती।

●

३०वाँ वर्ष

[६६६]

७२२ ववाणिया, कार्त्तिक सुदी १०, शनि, १९५३

माताजीको बुखार आ जानेसे तथा कुछ समयसे यहाँ आनेके संबंधमें उनकी विशेष आकांक्षा होनेसे गत सोमवारको यहाँसे आज्ञा मिलनेसे, नडियादसे मंगलवारको रवाना हुआ था। यहाँ बुधवारकी दोपहरको आना हुआ है।

शरीरमें वेदनीयका असातारूपसे परिणमन हुआ हो उस वक्त शरीरके विपरिणामी स्वभावका विचारकर, उस शरीर और शरीरके संबंधसे प्राप्त हुए स्त्री, पुत्र आदिका मोह विचारवान पुरुष छोड़ देते हैं; अथवा उस मोहको मंद करनेमें प्रवृत्त होते हैं।

'आत्मसिद्धिशास्त्र' विशेष विचार करने योग्य है।

श्री अचल इत्यादिको यथायोग्य।

●

[६६७]

७२३ ववाणिया कार्त्तिक सुदी ११, रवि १९५३

जब तक यह जीव लोकदृष्टिका वमन न करे तथा उसमेंसे अंतर्वृत्ति छूट न जाय तब तक ज्ञानीकी दृष्टिका वास्तविक माहात्म्य ध्यानगत न हो सके, उसमें संशय नहीं है।

●

[६६८] ७२४ ववाणिया, कार्तिक, १९५३

गीति[1]

पंथ परमपद बोध्यो, जेह प्रमाणे परम वीतरागे।
ते अनुसरी कहीशुं, प्रणमीने ते प्रभु भक्ति रागे॥ १॥
मूळ परमपद कारण, सम्यक्‌दर्शन ज्ञान चरण पूर्ण।
प्रणमे एक स्वभावे, शुद्ध समाधि त्यां परिपूर्ण॥ २॥
जे चेतन जड भावो, अवलोक्या छे मुनींद्र सर्वज्ञे।
तेवी अंतर आस्था, प्रगटये दर्शन कह्यु छे तत्त्वज्ञे॥ ३॥
सम्यक् प्रमाणपूर्वक, ते ते भावो ज्ञान विषे भासे।
सम्यग् ज्ञान कह्युं ते, संशय, विभ्रम, मोह त्यां नाशे॥ ४॥
विषयारंभ-निवृत्ति, राग-द्वेषनो अभाव ज्यां थाय।
सहित सम्यक्‌दर्शन, शुद्ध चरण त्यां समाधि सदुपाय॥ ५॥
त्रणे अभिन्न स्वभावे, परिणमी आत्मस्वरूप ज्यां थाय।
पूर्ण परमपदप्राप्ति, निश्चयथी त्यां अनन्य सुखदाय॥ ६॥
जीव अजीव पदार्थो, पुण्य पाप आस्रव तथा बंध।
संवर, निर्जरा, मोक्ष, तत्त्व कह्यां नव पदार्थ संबंध॥ ७॥

परमपद पंथ

भावार्थ—परम वीतरागने जिस प्रकार परमपद—मोक्षके पंथका उपदेश किया है, उसका अनुसरण कर, उस प्रभुको परम भक्तिभावसे प्रणाम करके, उस पंथको यहाँ कहेंगे॥ १॥

पूर्ण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये परमपदके मूल कारण हैं। जहाँ ये तीनों एक स्वभावसे आत्मस्वभावरूपसे पूर्णतया परिणमन करते हैं, वहाँ परिपूर्ण शुद्ध सहज आत्मदशारूप समाधि प्राप्त होती है॥ २॥

मुनींद्र सर्वज्ञने जड और चेतन पदार्थोंका जैसा अवलोकन किया है, वे पदार्थ वैसे ही हैं ऐसी अंतर आस्था श्रद्धा प्रगट होनेपर तत्त्वज्ञोंने उस श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहा है॥ ३॥

वे सब पदार्थ सम्यक्, प्रमाणपूर्वक ज्ञानमें भासित हों; उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा है। वहाँ संशय, विभ्रम और मोहका नाश हो जाता है॥ ४॥

जहाँ सम्यग्दर्शनसहित विषयों तथा आरंभ-परिग्रहकी निवृत्ति हो जाती है और राग-द्वेषका अभाव हो जाता है, वहाँ समाधिका सदुपाय शुद्ध चारित्र प्रकट होता है॥ ५॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनोंका जहाँ अभिन्न स्वभावसे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रगट होता है, वहाँ निश्चयसे अनन्य-अद्वितीय सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है॥ ६॥

जड और चेतनके संयोग संबंधके कारण, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ या तत्त्व कहे गये हैं। पुण्य और पापको छोड़कर बाकीके सातको सात तत्त्व कहा जाता है॥७॥

---

१. श्रीमद्‌जीके देहांतके बाद उनके वचनोंका संग्रह किया गया। तब इस विषयकी ३६ या ५० गीतियाँ थीं, परंतु बादमें संभाल न रहनेसे बाकीकी गुम हो गयी है।

जीव अजीव विषे तें, नवे तत्त्वनो समावेश थाय।
वस्तु विचार विशेषे, भिन्न प्रबोध्या महान मुनिराय॥ ८॥

●

जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें नौ तत्त्वोंका समावेश हो जाता है, परंतु वस्तुका विशेषरूपसे विचार करनेके लिए महान मुनिराज भगवानने इन्हें भिन्न भिन्न प्ररूपित किया है॥ ८॥

●

[६६९] ७२५ ववाणिया, कार्तिक वदी २, रवि, १९५३

ज्ञानियोंने मनुष्यभवको चिंतामणिरत्नतुल्य कहा है, इसका विचार करें तो प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली बात है। विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यभवका एक समय भी चिंतामणिरत्नसे परम माहात्म्यवान और मूल्यवान मालूम होता है। और यदि यह मनुष्यभव देहार्थमें ही व्यतीत हो गया तो वह एक फूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं है, यह निःसंदेह मालूम होता है।

●

[६७०] ७२६ ववाणिया, कार्त्तिक वदी ३०, शुक्र, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

जब तक देह और प्रारब्धका उदय बलवान है, तब तक देहसंबंधी कुटुंब कि जिसके भरण-पोषण करनेका संबंध न छूट सकनेवाला हो अर्थात् आगारवासपर्यंत जिसका भरण-पोषण करना योग्य हो, उसका भरण-पोषण मात्र मिलता हो तो उसमें संतोष करके मुमुक्षुजीव आत्महितका ही विचार करे, तथा पुरुषार्थ करे। देह और देहसंबंधी कुटुंबके माहात्म्यादिके लिए परिग्रह आदिकी परिणामपूर्वक स्मृति भी न होने दे; क्योंकि उस परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि कार्य ऐसे हैं कि वे प्रायः आत्महितके अवसरको ही प्राप्त न होने दें।

●

[६७१] ७२७ ववाणिया, मगसिर सुदी १, शनि, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः।

अल्प आयु और अनियत प्रवृत्ति, असीम बलवान असत्संग, पूर्वकी प्रायः अनाराधकता, बलवीर्यकी हीनता ऐसे कारणोंसे रहित कोई ही जीव होगा, ऐसे इस कालमें, पूर्वकालमें कभी भी न जाना हुआ, प्रतीत न किया हुआ, आराधित न किया हुआ और स्वभावसिद्ध न हुआ हुआ ऐसा 'मार्ग' प्राप्त करना दुष्कर हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। तथापि जिसने उसे प्राप्त करनेके सिवाय दूसरा कोई लक्ष्य रखा ही नहीं वह इस कालमें भी अवश्य ही उस मार्गको प्राप्त करता है।

मुमुक्षुजीव लौकिक कारणोंमें अधिक हर्ष-विषाद न करे।

●

[६७२] ७२८ ववाणिया, मगसिर सुदी ६, गुरु, १९५३

श्री माणेकचंदकी देहके छूट जानेकी खबर मालूम हुई।

सभी देहधारी जीव मरणके समीप शरणरहित हैं। मात्र उस देहके यथार्थ स्वरूपको पहलेसे जानकर, उसके ममत्वको नष्ट कर निजस्थिरताको अथवा ज्ञानीके मार्गकी यथार्थ प्रतीतिको पाया है वही जीव उस मरणकालमें शरणसहित होकर प्रायः फिरसे देह धारण नहीं करता, अथवा

मरणकालमें देहके ममत्व भावकी अल्पता होनेसे भी निर्भय रहता है। देह छूटनेका काल अनियत होनेसे विचारवान पुरुष अप्रमादभावसे पहलेसे ही उसके ममत्वको निवृत्त करनेके अविरुद्ध उपायका साधन करते हैं; और यही आपको, हमें और सबको ध्यानमें रखना योग्य है। प्रीतिबंधनसे खेद होना योग्य है, तथापि इसमें दूसरा कोई उपाय न होनेसे, उस खेदका वैराग्यस्वरूपमें परिणमन करना ही विचारवानका कर्तव्य है।

●

[६७३] ७२९ ववाणिया, मगसिर सुदी १०, सोम, १९५३

सर्वज्ञाय नमः।

'योगवासिष्ठ' के पहले दो प्रकरण, 'पंचीकरण', 'दासबोध' तथा 'विचारसागर' ये ग्रंथ आपको विचार करने योग्य हैं। इनमेंसे किसी ग्रंथको आपने पहले पढ़ा हो तो फिर पढ़ने योग्य है और विचार करने योग्य है। ये ग्रंथ जैनपद्धतिके नहीं हैं, यह जानकर उन ग्रंथोंका विचार करते हुए क्षोभ प्राप्त करना योग्य नहीं है।

लोकदृष्टिमें जो जो बातें या वस्तुएँ—जैसे शोभायमान गृहादि आरंभ, अलंकारादि परिग्रह, लोकदृष्टिकी विचक्षणता, लोकमान्यधर्मकी श्रद्धा—बड़प्पनवाली मानी जाती हैं उन सब बातों और वस्तुओंका ग्रहण करना प्रत्यक्ष जहरका ही ग्रहण करना है यों यथार्थ समझे बिना उन्हें धारण करते हैं।

●

[६७४] ७३० ववाणिया, मगसिर सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः।

'आत्मसिद्धि' की टीकाके पन्ने मिले हैं।

यदि सफलताका मार्ग समझमें आ जाये तो इस मनुष्य देहका एक समय भी सर्वोत्कृष्ट चिंतामणि है, इसमें संशय नहीं है।

●

[६७५] ७३१ ववाणिया, मगसिर सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः।

वृत्तिका लक्ष्य तथारूप सर्वसंगपरित्यागके प्रति रहनेपर भी जिस मुमुक्षुको प्रारब्ध विशेषसे उस योगका अनुदय रहा करता है, और कुटुंब आदिके प्रसंग तथा आजीविका आदिके कारण जिसकी प्रवृत्ति रहती है, जो यथान्याय करनी पड़ती है, परंतु उस त्यागके उदयको प्रतिबंधक जानकर खिन्नताके साथ करता है। उस मुमुक्षुको ऐसा विचारकर कि पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मानुसार आजीविकादि प्राप्त होगी, मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना योग्य है, परंतु भयाकुल होकर चिंता या न्याय त्याग करना योग्य नहीं है; क्योंकि वह तो मात्र व्यामोह है, यह शांत करना योग्य है। प्राप्ति शुभाशुभ प्रारब्धानुसार है। प्रयत्न व्यावहारिक निमित्त है, इसलिए करना योग्य है, परंतु चिंता तो मात्र आत्मगुणरोधक है।

●

[६७६] ७३२ ववाणिया, मगसिर वदी ११, बुध, १९५३

श्री लल्लुजी आदि मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

आरंभ-परिग्रहकी प्रवृत्ति आत्महितको बहुत प्रकारसे रोधक है, अथवा सत्समागमके योगमें एक विशेष अंतरायका कारण समझकर ज्ञानीपुरुषोंने उसके त्यागरूपसे बाह्यसंयमका उपदेश दिया है, जो प्राय: आपको प्राप्त है, और यथार्थ भावसंयमकी अभिलाषासे प्रवृत्ति करते हैं, इसलिए अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ समझकर सत्शास्त्र, अप्रतिबंधता, चित्तकी एकाग्रता और सत्पुरुषोंके वचनोंकी अनुप्रेक्षा द्वारा उसे सफल करना योग्य है।

●

[६७७] ७३३ ववाणिया, मगसिर वदी ११, बुध, १९५३

वैराग्य और उपशमकी विशेष वृद्धिके लिए 'भावनाबोध', योगवासिष्ठ' के पहले दो प्रकरण, 'पंचीकरण' इत्यादि ग्रंथ विचार करने योग्य है।

जीवमें प्रमाद विशेष है, इसलिए आत्मार्थके कार्यमें जीवको नियमित होकर उस प्रमादको दूर करना चाहिए, अवश्य दूर करना चाहिए।

●

७३४ ववाणिया, मगसिर वदी ११, बुध, १९५३

श्री सुभाग्य आदिके प्रति लिखे गये पत्रोंमेंसे जो परमार्थसंबंधी पत्र हों उनकी अभी हो सके तो एक अलग प्रति लिखें।

सौराष्ट्रमें अभी कब तक स्थिति होगी, इसे लिखना अशक्य है।

यहाँ अभी थोड़े दिन स्थिति होगी ऐसा संभव है।

●

[६७८] ७३५ ववाणिया, पौष सुदी १०, मंगल, १९५३

विषमभावके निमित प्रबलतासे प्राप्त होनेपर भी जो ज्ञानीपुरुष अविषम उपयोगमें रहे हैं, रहते हैं, और भविष्यकालमें रहेंगे उन सबको वारंवार नमस्कार है।

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट व्रत, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट तप, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट नियम, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट लब्धि, और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य ये जिसमें सहज ही शांत हो जाते हैं ऐसे निरपेक्ष अविषम उपयोगको नमस्कार। यही ध्यान है।

●

[६७९] ७३६ ववाणिया, पौष सुदी ११, बुध, १९५३

रागद्वेषके प्रत्यक्ष बलवान निमित्त प्राप्त होनेपर भी जिसका आत्मभाव किंचित् मात्र भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता, उस ज्ञानीके ज्ञानका विचार करते हुए भी महती निर्जरा होती है, इसमें संशय नहीं है।

●

[६८०] ७३७ ववाणिया, पौष वदी ४, शुक्र, १९५३

आरंभ और परिग्रहका इच्छापूर्वक प्रसंग हो तो आत्मलाभको विशेष घातक है, और वारंवार अस्थिर एवं अप्रशस्त परिणामका हेतु है, इसमें तो संशय नहीं है; परंतु जहाँ अनिच्छासे

उदयके किसी एक योगसे वह प्रसंग रहता हो वहाँ भी आत्मभावकी उत्कृष्टताको बाधक तथा आत्म-स्थिरताको अंतराय करनेवाला, उस आरंभ-परिग्रहका प्रसंग प्रायः होता है, इसलिए परम कृपालु ज्ञानीपुरुषोंने त्यागमार्गका उपदेश दिया है, वह मुमुक्षुजीवको देशसे और सर्वथा अनुसरण करने योग्य है।

[४५६] ७३८ ववाणिया, सं० १९५३*

ॐ

अपूर्व अवसर ऐवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो ?
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो ? ॥ अपूर्व० १ ॥
सर्व भावथी औदासीन्यवृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो ॥ अपूर्व० २ ॥
दर्शनमोह व्यतीत थई ऊपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो।
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिये,
वर्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो ॥ अपूर्व० ३ ॥
आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यन्त जो।
घोर परीषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ॥ अपूर्व० ४ ॥

अपूर्व अवसर

भावार्थ—ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा कि जब मैं बाह्य तथा अभ्यंतरसे निर्ग्रंथ बनूँगा। अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, भवन आदि बाह्य परिग्रहके त्यागरूप बाह्य निर्ग्रंथता और मिथ्यात्व, कषाय आदि अभ्यंतर परिग्रहके त्यागरूप अभ्यंतर निर्ग्रंथताको प्राप्त करूँगा। समस्त संबंधोंके बंधनका तीक्ष्णतासे छेदनकर महापुरुषोंके मार्गपर कब विचरूँगा ? ऐसा अपूर्व० ॥ १ ॥

मन सभी परभावोंके प्रति सर्वथा उदासीन हो जाये, देह भी संयमसाधनाके लिए ही रहे, किसी सांसारिक प्रयोजनके लिए न तो उसका भरण-पोषण किया जाये और नहीं उसका कोई अन्य उपयोग किया जाये, और फिर देहमें भी किंचिन्मात्र मूर्च्छा न रहे। ऐसा अपूर्व० ॥ २ ॥

दर्शनमोह अर्थात् देह आदि परभावका ममत्व जाता रहा। और देहसे भिन्न केवल चैतन्यस्वरूप आत्माका ज्ञान एवं अनुभव हुआ। ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूपमें एकाग्रतारूप ध्यान निरंतर रहे कि जिससे विघ्नकारी विषयकषाय-नोकषायरूप चारित्रमोह एकदम क्षीण हो जाये। ऐसा अपूर्व० ॥३॥

मन, वचन और कायाके तीन योगोंकी प्रवृत्तिको निरुद्ध करके ध्यानमग्न होनेसे वह आत्म-

* इस काव्यका निर्णीत समय नहीं मिलता।

संयमना हेतुथी योगप्रवर्तना,
स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो।
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो ॥ अपूर्व० ५ ॥
पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो।
द्रव्य, क्षेत्र ने काळ, भाव प्रतिबंधवण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ॥ अपूर्व० ६ ॥
क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो।
माया प्रत्ये माया साक्षी भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो ॥ अपूर्व० ७ ॥
बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो।
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबळ सिद्धि निदान जो ॥ अपूर्व० ८ ॥
नग्नभाव, मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो।
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो ॥ अपूर्व० ९ ॥

स्थिरता मुख्यतः देहपर्यंत अखंड बनी रहे। तथा घोर परिषहसे अथवा उपसर्ग भयसे उस स्थिरताका अंत न आ सके। ऐसा अपूर्व० ॥ ४ ॥

संयमके हेतुसे ही तीन योगोंकी प्रवृत्ति हो, और वह भी जिनाज्ञाके अनुसार आत्मस्वरूपमें अखंड स्थिर रहनेके लक्ष्यसे हो। तथा वह प्रवृत्ति प्रति क्षण घटती हुई स्थितिमें हो ताकि अंतमें निजस्वरूपमें लीन हो जाये। ऐसा अपूर्व० ॥ ५ ॥

पाँच इंद्रियोंके विषयोंमें रागद्वेष न रहे; (१) इन्द्रिय, (२) विकथा, (३) कषाय, (४) स्नेह और (५)निद्रा इन पाँच प्रमादोंसे मनमें किसी प्रकारका क्षोभ न हो। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके प्रतिबंधके विना ही लोभरहित होकर उदयवशात् विचरण हो। ऐसा अपूर्व० ॥ ६ ॥

क्रोधके प्रति क्रोध स्वभावता रहे अर्थात् क्रोधके प्रति क्रोध करनेकी वृत्ति रहे, मानके प्रति अपनी दीनताका मान हो, मायाके प्रति साक्षी भावकी माया रहे अर्थात् माया करनी हो तो साक्षी भावकी माया की जाये, लोभके प्रति उसके समान लोभ न रहे अर्थात् लोभ करना हो तो लोभ जैसा न हुआ जाये—लोभका लोभ न किया जाये। ऐसा अपूर्व० ॥ ७ ॥

बहुत उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी क्रोध न आये, यदि चक्रवर्ती भी पैरोंमें गिरे तो भी लेश मात्र भी मान न हो, देहका नाश होता हो तो भी एक रोममें भी माया उत्पन्न न हो। आत्मशुद्धिके अनुपातमें ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने या उसका उपयोग करनेकी लेश भी इच्छा न रहे। फिर उसके अधिकाधिक प्रगट होनेका लोभ तो क्यों हो? ऐसा अपूर्व० ॥ ८ ॥

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो।
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ॥ अपूर्व० १० ॥
एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां,
वळी पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन, ने मनमां नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ॥ अपूर्व० ११ ॥
घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो ॥ अपूर्व० १२ ॥
एम पराजय करीने चारित्रमोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो,
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ॥ अपूर्व० १३ ॥
मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो,
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रगटावुं निज केवळज्ञान निधान जो ॥ अपूर्व० १४ ॥

दिगंबरता, केशलुंचन, स्नान तथा दंत-धावनका त्याग, केश, रोम, नख और शरीरका शृंगार न करना इत्यादि अत्यधिक प्रसिद्ध मुनिचर्यासे बाह्य त्यागरूप द्रव्यसंयम और कषायादि निवृत्तिरूप भावसंयमसे पूर्ण निर्ग्रंथ अवस्था प्राप्त हो। ऐसा अपूर्व० ॥ ९ ॥

शत्रु-मित्रके प्रति समदर्शिता रहे, मान-अपमानके प्रति समभाव रहे, जीवन-मरणमें न्यूनाधिक भाव न हो, तथा संसार-मोक्षमें भी शुद्ध समभाव रहे। ऐसा अपूर्व० ॥ १० ॥

और स्मशान आदि निर्जन स्थानमें अकेले विचरते हुए, पर्वत, वन आदिमें बाघ; सिंह आदि क्रूर एवं हिंसक प्राणियोंका संयोग होनेपर भी मनमें जरा भी क्षोभ न हो; प्रत्युत ऐसा समझूँ कि मानो परम मित्र मिले हैं, ऐसी आत्मदृष्टिसे उनके समीपमें भी निर्भय एवं स्थिर आसनसे ध्यानमग्न रहूँ। ऐसा अपूर्व० ॥ ११ ॥

घोर तपश्चर्यामें भी मनको संताप न हो, स्वादिष्ट भोजनसे मनमें प्रसन्नता न हो, रजकण और वैमानिक देवकी ऋद्धिमें अंतर न मानूँ—दोनोंको समान समझूँ। तत्त्वदृष्टिसे खाद्य पदार्थ, धूल और वैमानिक देवकी धन-संपत्ति सभी पुद्गलरूप ही हैं। ऐसा अपूर्व० ॥ १२ ॥

इस प्रकार आत्मस्थिरतामें विघ्नभूत कषाय–नोकषायरूप चारित्रमोहका पराजय करके आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानकी प्राप्ति हो, जिससे मोहनीयकर्मका क्षय करनेमें समर्थ क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर आत्माके अतिशय शुद्ध स्वभावके अनन्य चिन्तनमें तल्लीन हो जाऊँ। ऐसा अपूर्व० ॥ १३ ॥

स्वयंभूरमणरूपी मोहसमुद्रको पार करके क्षीणमोह नामके बारहवें गुणस्थानमें आकर

७४७ ववाणिया, फागुन सुदी २, शुक्र, १९५३

सर्व मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

मुनि श्री देवकरणजी 'दीनता' के बीस दोहे मुखाग्र करना चाहते हैं, इससे आज्ञाका अतिक्रम नहीं है। अर्थात् वे दोहे मुखाग्र करने योग्य हैं।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्य मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ॥
कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, उपाय अचूक आम॥

—श्री 'आत्मसिद्धिशास्त्र'

●

[६८६-२] ७४८ ववाणिया, फागुन सुदी ४, रवि, १९५३

जहाँ उपाय नहीं वहाँ खेद करना योग्य नहीं। उन्हें शिक्षा अर्थात उपदेश दे कर सुधार करनेका बंद रखकर, मिलते रहकर काम निबाहना ही योग्य है।

जाननेसे पहले उपालंभ लिखना ठीक नहीं। उपालंभसे अक्ल ला देना मुश्किल है। अवलकी वर्षा की जाती है तो भी इन लोगोंकी रीति रास्तेपर नहीं आती। वहाँ क्या उपाय?

उनके प्रति कोई दूसरा खेद करना व्यर्थ है। कर्मबंधकी विचित्रता है अर्थात् यह न हो सके कि सभीको अच्छी बात समझमें आ जाये। इसलिए उनके दोषका क्या विचार करना?

●

[६८८] ७४९ ववाणिया, फागुन वदी ११, १९५३

त्रिभोवनकी लिखी चिट्ठी तथा सुणाव और पेटलादके पत्र मिले हैं।

'कर्मग्रंथ' का विचार करनेसे कषाय आदिका वहुतसा स्वरूप यथार्थ समझमें नहीं आता, उसे विशेषतः अनुप्रेक्षासे, त्यागवृत्तिके वलसे और समागममें समझमें आना योग्ग है।

'ज्ञानका फल विरति है'। वीतरागका यह वचन सभी मुमुक्षुओंको नित्य स्मरणमें रखना योग्य है। जिसे पढ़नेसे, समझनेसे और विचारनेसे आत्मा विभावसे, विभावके कार्योंसे और विभावके परिणामसे उदास न हुई, विभावकी त्यागी न हुई, विभावके कार्योंकी ओर विभावके फलकी त्यागी न हुई; उसका पढ़ना, उसका विचारना और उसका समझना अज्ञान है। विचारवृत्तिके साथ त्यागवृत्तिको उत्पन्न करना यही विचार सफल है, यों कहनेका ज्ञानीका परमार्थ है।

समयका अवकाश प्राप्त करके नियमितरूपसे दो-से चार घड़ी तक मुनियोंको शांत और विरक्त चित्तसे 'सूयगडांग' का विचार करना योग्य है।

●

[८७४-१८] ७५०* ववाणिया, फागुन सुदी ६, सोम, १९५३

मुनि श्री लल्लुजी तथा देव करणजी आदिके प्रति-

---

* देखें पत्र नं० ५०२। पत्र नं० ५०२ के छपनेके वाद यह पत्र मितिसहित सारा मिला है, इसलिए यहाँ फिरसे दिया है।

सहज समागम हो जाये अथवा ये लोग इच्छापूर्वक समागम करनेके लिए आते हों तो समागम करनेमें क्या हानि है? कदाचित् विरोधवृत्तिसे ये लोग समागम करते हों तो भी क्या हानि है? हमें तो उनके प्रति केवल हितकारी वृत्तिसे, अविरोध दृष्टिसे समागममें भी वर्ताव करना है। इसमें क्या पराभव है? मात्र उदीरणा करके समागम करनेका अभी कारण नहीं है। आप सब मुमुक्षुओंके आचारसंबंधी उन्हें कोई संशय हो तो भी विकल्पका अवकाश नहीं है। वडवामें सत्पुरुषके समागममें गये आदिका प्रश्न करें तो उसके उत्तरमें तो इतना ही कहना योग्य है कि आप हम सब आत्महितकी कामनासे निकले हैं; और करने योग्य भी यही है। जिस पुरुषके समागममें हम आये हैं उसके समागममें आप कभी आकर प्रतीति कर देखें कि उनकी आत्माकी दशा कैसी है? और वे हमें कैसे उपकारी हैं। अभी आप इस बातको जाने दें। वडवा तक सहजमें भी जाना हो सके, और यह तो ज्ञान, दर्शन आदिके उपकाररूप-प्रसंगमें जाना हुआ है, इसलिए आचारकी मर्यादाके भंगका विकल्प करना योग्य नहीं है। रागद्वेष परिक्षीण होनेका मार्ग जिस पुरुषके उपदेशसे कुछ भी समझमें आये, प्राप्त हो, उस पुरुषका उपकार कितना? और वैसे पुरुषकी कैसे भक्ति करनी, उसे आप ही शास्त्र आदिसे विचार कर देखें! हम तो वैसा कुछ नहीं कर सके क्योंकि उन्होंने स्वयं यों कहा था कि :—

"आपके मुनिपनका सामान्य व्यवहार ऐसा है कि इस अविरति पुरुषके प्रति बाह्य वन्दनादि व्यवहार कर्तव्य नहीं। उस व्यवहारकी आप भी रक्षा करें। उस व्यवहारको आप रखें इसमें आपका स्वच्छंद नहीं है। इसलिए रखना योग्य है। बहुतसे जीवोंको संशयका हेतु न हो। हमें कुछ वंदनादिकी अपेक्षा नहीं है।" इस प्रकारसे जिन्होंने सामान्य व्यवहारकी भी रक्षा की थी, उनकी दृष्टि कैसी होनी चाहिए, इसका आप विचार करें। कदाचित् अभी आपको यह बात समझमें न आये तो आगे जाकर समझमें आयेगी, इस बातमें आप निःसंदेह हो जायें!

'दूसरे कुछ सन्मार्गरूप आचार-विचारमें हमारी शिथिलता हुई हो तो आप कहें क्योंकि वैसी शिथिलता तो दूर किये विना हितकारी मार्ग प्राप्त न हो, ऐसी हमारी दृष्टि है।' इत्यादि प्रसंगसे कहना योग्य हो तो कहें; और उनके प्रति अद्वेषभाव है ऐसा स्पष्ट उनके ध्यानमें आये वैसी वृत्ति एवं रीतिसे वर्तन करें, इसमें संशय कर्तव्य नहीं।

दूसरे साधुओंके बारेमें आपको कुछ कहना कर्तव्य नहीं है। समागममें आनेके बाद भी उनके चित्तमें कुछ न्यूनाधिकता रहे तो भी विक्षिप्त न हों। उनके प्रति प्रबल अद्वेष भावनासे वर्ताव करना ही स्वधर्म है।

•

[६८९] ७५१ ववाणिया, फागुन वदी ११, रवि, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः।

'आत्मसिद्धि'में कहे हुए समकितके प्रकारोंका विशेषार्थ जाननेकी इच्छासंबंधी पत्र मिला है।

आत्मसिद्धिमें तीन प्रकारके समकित उपदिष्ट हैं—

(१) आप्तपुरुषके वचनकी प्रतीतिरूप, आज्ञाकी अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंदनिरोधतासे आप्त-पुरुषकी भक्तिरूप, यह समकितका पहला प्रकार है।

(२) परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति यह समकितका दूसरा प्रकार है।

(३) निर्विकल्प परमार्थअनुभव यह समकितका तीसरा प्रकार है।

पहला समकित दूसरे समकितका कारण है। दूसरा समकित तीसरे समकितका कारण है। वीतरागने तीनों समकित मान्य किये हैं। तीनों समकित उपासना करने योग्य हैं, सत्कार करने योग्य हैं; और भक्ति करने योग्य हैं।

केवलज्ञान उत्पन्न होनेके अंतिम समय तक वीतरागने सत्पुरुषके वचनोंके आलंबनका विधान किया है; अर्थात् बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानकपर्यंत श्रुतज्ञानसे आत्माके अनुभवको निर्मल करते करते उन निर्मलताकी संपूर्णता प्राप्त करनेपर 'केवलज्ञान' उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होनेके पहले समय तक सत्पुरुषका उपदिष्ट मार्ग आधारभूत है, यह जो कहा है वह निःसंदेह सत्य है।

●

[६९०] ७५२ ववाणिया, फागुन वदी ११, रवि, १९५३

लेश्या—जीवके कृष्ण आदि द्रव्यकी तरह भासमान परिणाम।

अध्यवसाय—लेश्या-परिणामकी कुछ स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति।

संकल्प—कुछ भी प्रवृत्ति करनेका निर्धारित अध्यवसाय।

विकल्प—कुछ भी प्रवृत्ति करनेका अपूर्ण अनिर्धारित, संदेहात्मक अध्यवसाय।

संज्ञा—कुछ भी आगे पीछेकी चिंतनशक्तिविशेष अथवा स्मृति।

परिणाम—जलके द्रवणस्वभावकी तरह द्रव्यकी कथंचित् अवस्थांतर पानेकी शक्ति है, उस अवस्थांतरकी विशेष धारा, वह परिणत्ति।

अज्ञान—मिथ्यात्वसहित मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान।

विभंगज्ञान—मिथ्यात्वसहित अतींद्रिय ज्ञान।

विज्ञान—कुछ भी विशेषरूपसे जानना।

●

[६९२] ७५३ ववाणिया, १९५३

(१)

'ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुँ रे कंत।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ॥' ऋषभ० १ ॥

नाभिराजाके पुत्र श्री ऋषभदेवजी तीर्थंकर मेरे परम प्रिय हैं, जिससे मैं दूसरे स्वामीको नहीं चाहूँ। ये स्वामी ऐसे हैं कि प्रसन्न होनेपर फिर कभी संग नहीं छोड़ते। जबसे संग हुआ तबसे उसकी आदि है, परंतु वह संग अटल होनेसे अनंत है॥ १॥

विशेषार्थः—जो स्वरूपजिज्ञासु पुरुष हैं वे, जो पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ऐसे भगवानके स्वरूपमें अपनी वृत्तिको तन्मय करते हैं; जिससे अपनी स्वरूपदशा जागृत होती जाती है और सर्वोत्कृष्ट यथाख्यातचारित्रको प्राप्त होती है। जैसा भगवानका स्वरूप है, वैसा ही शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्माका स्वरूप है। इस आत्मा और सिद्ध भगवानके स्वरूपमें औपाधिक भेद है। स्वाभाविकरूपसे देखें तो आत्मा सिद्ध भगवानके तुल्य ही है। सिद्ध भगवानका स्वरूप निरावरण है; और वर्तमानमें इस आत्माका स्वरूप आवरणसहित है, और यही भेद है; वस्तुतः भेद नहीं है। उस आवरणके क्षीण हो जानेसे आत्माका स्वाभाविक सिद्धरूप प्रगट होता है।

और जब तक वह स्वाभाविक सिद्ध स्वरूप प्रगट नहीं हुआ, तब तक स्वाभाविक शुद्ध स्वरूपका प्राप्त हुए हैं ऐसे सिद्ध भगवानकी उपासना कर्तव्य है, इसी तरह अर्हंत भगवानकी उपासना भी कर्तव्य है, क्योंकि वे भगवान सयोगी सिद्ध हैं। सयोगरूप प्रारब्धके कारण वे देहधारी हैं; परंतु वे भगवान स्वरूपसमवस्थित हैं। सिद्ध भगवान और उनके ज्ञानमें, दर्शनमें, चारित्रमें या वीर्यमें कुछ भी भेद नहीं है; इसलिए अर्हंत भगवानकी उपासनासे भी यह आत्मा स्वरूपलयको पा सकती है।

पूर्व महात्माओंने कहा है :—

जो जाणइ अरिहंते, दव्व गुण पज्जवेहिं य।
सो जाणइ निय अप्पं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं॥

जो अर्हंत भगवानका स्वरूप द्रव्य, गुण और पर्यायसे जानता है, वह अपनी आत्माके स्वरूपको जानता है और निश्चयसे उसके मोहका नाश हो जाता है। उस भगवानकी उपासना किस अनुक्रमसे जीवोंको कर्तव्य है, उसे श्री आनंदघनजी नौवें स्तवनमें कहनेवाले हैं, जिससे उस प्रसंगपर विस्तारसे कहेंगे।

भगवान सिद्धके नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु इन कर्मोंका भी अभाव है; वे भगवान सर्वथा कर्मरहित हैं। भगवान अर्हंतके आत्मस्वरूपको आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षय रहता है, परंतु उपर्युक्त चार कर्मोंका पूर्वबंध, वेदन करके क्षीण करने तक उन्हें रहता है, जिससे वे परमात्मा साकार भगवान कहने योग्य हैं!

उन अर्हंत भगवानमें जिन्होंने पूर्वकालमें 'तीर्थंकरनामकर्म' का शुभयोग उत्पन्न किया होता है, वे 'तीर्थंकर भगवान' कहे जाते हैं। जिनके प्रताप, उपदेशबल आदिकी शोभा महापुण्ययोगके उदयसे आश्चर्यकारी होती है। भरतक्षेत्रमें वर्तमान अवसर्पिणीकालमें ऐसे चौवीस तीर्थंकर हुए हैं—श्री ऋषभदेवसे श्री वर्धमान तक।

वर्तमानकालमें वे भगवान सिद्धालयमें स्वरूपस्थितिरूपसे विराजमान हैं। परंतु 'भूतप्रज्ञापनीयनय' से उनके विषयमें 'तीर्थंकरपद' का उपचार किया गया है। उस औपचारिकनयदृष्टिसे उन चौबीस भगवानकी स्तुतिरूपसे इन चौबीस स्तवनोंकी रचना की है।

सिद्ध भगवान सर्वथा अमूर्तपदमें स्थित होनेसे उनके स्वरूपका सामान्यतः चिंतन करना दुष्कर है। अर्हंत भगवानके स्वरूपका मूलदृष्टिसे चिंतन करना तो वैसा ही दुष्कर है, परंतु सयोगी पदके अवलंबनपूर्वक चिंतन करनेसे वह सामान्य जीवोंके लिए भी वृत्ति स्थिर होनेका कुछ सुगम उपाय है। इस कारण अर्हंत भगवानके स्तवनसे सिद्धपदका स्तवन हो जानेपर भी इतना विशेष उपकार समझकर श्री आनंदघनजीने चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनरूप इस चौवीसीकी रचना की है। नमस्कारमंत्रमें भी अर्हंतपद प्रथम रखनेका हेतु इतना ही है कि उनकी विशेष उपकारिता है।

भगवानके स्वरूपका चिंतन करना यह परमार्थदृष्टिवान पुरुषोंके लिए गौणतासे स्वस्वरूपका ही चिंतन है। 'सिद्धप्राभृत' में कहा है—

जारिस सिद्ध सहावो, तारिस सहावो सव्वजीवाणं।
तम्हा सिद्धंतरुई, कायव्वा भव्वजीवेहिं॥

जैसा सिद्ध भगवानका आत्मस्वरूप है वैसा सब जीवोंका आत्मस्वरूप है, इसलिए भव्य जीवोंको सिद्धत्वमें रुचि कर्तव्य है।

इसी तरह श्री देवचंद्रस्वामीने श्री वासुपूज्यके स्तवनमें कहा है कि 'जिनपूजा रे ते निज-पूजना' यदि यथार्थदृष्टिसे देखें तो जिनकी पूजा ही आत्मस्वरूपका ही पूजन है।

स्वरूपाकांक्षी महात्माओंने यों जिन भगवान तथा सिद्ध भगवानकी उपासनाको स्वरूपकी प्राप्तिका हेतु माना है। क्षीणमोह गुणस्थानपर्यंत यह स्वरूपचिंतन जीवके लिए प्रबल अवलंबन है। और फिर मात्र अकेला अध्यात्मस्वरूपचिंतन जीवको व्यामोह उत्पन्न करता है; बहुतसे जीवोंको शुष्कता प्राप्त कराता है, अथवा स्वेच्छाचारिता उत्पन्न करता है, अथवा उन्मत्त प्रलाप-दशा उत्पन्न करता है। भगवानके स्वरूपके ध्यानावलंबनसे भक्तिप्रधानदृष्टि होती है, और अध्यात्म-दृष्टि गौण होती है। जिससे शुष्कता, स्वेच्छाचारिता और उन्मत्त प्रलापता नहीं होती, आत्मदशा बलवान हो जानेसे स्वाभाविक अध्यात्मप्रधानता होती है। आत्मा स्वाभाविक उच्च गुणोंको भजती है। इसलिए शुष्कता आदि दोष उत्पन्न नहीं होते, और भक्तिमार्गके प्रति जुगुप्सित नहीं होती। स्वाभाविक आत्मदशा स्वरूपलीनताको प्राप्त करती जाती है। जहाँ अर्हंत आदिके स्वरूप-ध्यानके आलंबनके विना वृत्ति आत्माकारता भजती है, वहाँ[1] ....[अपूर्ण]

× × ×

(२)

वीतराग स्तवन

[2]वीतरागोंमें ईश्वर ऋषभदेव भगवान मेरे स्वामी है। इसलिए अब मैं दूसरे कांतकी इच्छा नहीं करती; क्योंकि यह प्रभु रीझनेके बाद साथ नहीं छोड़ते। इस प्रभुका योग प्राप्त होना उसकी आदि है; परंतु वह योग कभी भी निवृत्त नहीं होता, इसलिए अनंत है।

जगतके भावोंसे उदासीन होकर चैतन्यवृत्ति शुद्ध चैतन्यस्वभावमें समवस्थित भगवानमें प्रीतिमान हो गयी है; आनंदघनजी उसका हर्ष प्रदर्शित करते हैं।

अपनी श्रद्धा नामकी सखीको आनंदघनजीकी चैतन्यवृत्ति कहती है—"हे सखी! मैंने ऋषभदेव भगवानसे लग्न किया है, और यह भगवान मुझे सबसे प्यारा है। यह भगवान मेरे पति हुए हैं, इसलिए अब मैं दूसरे किसी भी पतिकी इच्छा ही नहीं करूँ। क्योंकि दूसरे सब जन्म, जरा, मरण आदि दुखोंसे आकुल-व्याकुल हैं, क्षणभरके लिए भी सुखी नहीं हैं; ऐसे जीवको पति बनानेसे मुझे सुख कहाँसे हो सके? भगवान ऋषभदेव तो अनंत अव्याबाध सुखसमाधिको प्राप्त हुए हैं, इसलिए उनका आश्रय लूँ तो मुझे उसी वस्तुकी प्राप्ति हो। यह योग वर्तमानमें प्राप्त होनेसे हे सखी! मुझे परमशीतलता हुई। दूसरे पतिका तो किसी समय वियोग भी हो जाये, परंतु मेरे इन स्वामीका तो किसी भी समय वियोग होता ही नहीं। जबसे ये स्वामी प्रसन्न हुए हैं तबसे किसी भी दिन संग नहीं छोड़ते। इन स्वामीके योगके स्वभावको सिद्धांतमें 'सादि-अनंत' अर्थात् इस योगके होनेकी आदि है, परंतु किसी दिन इनका वियोग होनेवाला नहीं है, इसलिए अनंत है, ऐसा कहा है; इसलिए अब मुझे कभी भी इन पतिका वियोग नहीं होगा॥ १॥

---

१. आनंदघन तीर्थंकर स्तवनावलीका यह विवेचन लिखते हुए इस जगह अपूर्ण छोड़ दिया गया है।
—संशोधक

२. श्री ऋषभजिनस्तवन—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत॥ ऋषभ०॥ १॥

"हे सखी ! इस जगतमें पतिका वियोग न होनेके लिए स्त्रियाँ जो नाना प्रकारके उपाय करती हैं वे उपाय सच्चे नहीं हैं, और इस तरह मेरे पतिको प्राप्ति नहीं होती। उन उपायोंके मिथ्यापनको बतलानेके लिए उनमेंसे थोड़ेसे उपाय तुझे बताती हूँ:—

[1]कोई एक स्त्री तो पतिके साथ काष्ठमें जल जानेकी इच्छा करती है, कि जिससे पतिके साथ मिलाप ही बना रहे; परंतु उस मिलापका कुछ संभव नहीं है, क्योंकि वह पति तो अपने कर्मानुसार उसे जहाँ जाना था वहाँ चला गया। और जो स्त्री सती होकर मिलापकी इच्छा करती है वह स्त्री भी मिलापके लिए एक चितामें जलकर मरनेकी इच्छा करती है, तो भी वह अपने कर्मानुसार देहको प्राप्त होनेवाली है; दोनों एक ही जगह देहधारण करें, और पति-पत्नीरूपसे योग प्राप्तकर निरंतर सुख भोगें ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए उस पतिका वियोग हुआ, और उसका योग भी असंभव रहा, ऐसे पतिके मिलापको मैंने झूठा माना है, क्योंकि उसका ठौर-ठिकाना कुछ नहीं है।

अथवा प्रथम पदका यह अर्थ भी होता है कि परमेश्वररूप पतिकी प्राप्तिके लिए कोई काष्ठका भक्षण करता है, अर्थात् पंचाग्निकी धूनि जलाकर उसमें काष्ठ होमकर उस अग्निका परिषह सहन करता है, और इससे ऐसा समझता है कि परमेश्वररूप पतिको पा लेंगे, परंतु यह समझना मिथ्या है, क्योंकि पंचाग्नि तापनेमें उसकी प्रवृत्ति है; उस पतिका स्वरूप जानकर, उस-पतिके प्रसन्न होनेके कारणोंको जानकर उन कारणोंकी उपासना वह नहीं करता, इसलिए वह परमेश्वररूप पतिको कहाँसे पायेगा ? उसकी मतिका जिस स्वभावमें परिणमन हुआ है उसी प्रकार-की गतिको वह पायेगा, जिससे उस मिलापका कोई ठौर-ठिकाना नहीं है ॥ ३ ॥

"हे[2] सखी ! कोई पतिको रिझानेके लिए अनेक प्रकारके तप करती है, परंतु वह मात्र शरीरको संताप है। इसे मैंने पतिको राजी करनेका मार्ग नहीं समझा। पतिके रंजन करनेके लिए तो दोनोंकी धातुओंका मिलाप होना चाहिए। कोई स्त्री चाहे जितने कष्टसे तपश्चर्या करके अपने पतिको रिझानेकी इच्छा करे तो भी जब तक वह स्त्री अपनी प्रकृतिको पतिकी प्रकृतिके स्वाभावानुसार न कर सके तब तक प्रकृतिकी प्रतिकूलताके कारण वह पति प्रसन्न होता ही नहीं और उस स्त्रीको मात्र अपने शरीरमें क्षुधा आदिकी प्राप्ति हो जाये। इसी तरह किसी मुमुक्षुकी वृत्ति भगवानको पतिरूपसे प्राप्त करनेकी हो तो वह भगवानके स्वरूपानुसार वृत्ति न करे और अन्य स्वरूपमें रुचिमान होते हुए अनेक प्रकारका तप करके कष्टका सेवन करे, तो भी वह भगवानको न पाये; क्योंकि जैसे पति-पत्निका सच्चा मिलाप, और सच्ची प्रसन्नता धातुका एकत्वमें है, वैसे हे सखि ! भगवानमें इस वृत्तिका पतित्व स्थापन करके उसे यदि अचल रखना हो तो उस भगवानके साथ धातुमिलाप करना ही योग्य है; अर्थात् वे भगवान जिस शुद्धचैतन्यधातुरूपसे परिणमित हुए हैं वैसी शुद्धचैतन्यवृत्ति करनेसे ही उस धातुमेसे प्रतिकूल स्वभाव निवृत्त होनेसे ऐसा होना संभव है; और उसी धातुमिलापसे उस भगवानरूप पतिकी प्राप्तिका किसी भी समय वियोग नहीं होगा ॥ ४ ॥

---

१. कोई कंत कारण काष्ठभक्षण करे रे, मिलशुं कंतने धाय।
ए मेळो नव कहिये संभवे रे, मेळो ठाम न ठाय ॥ ऋषभ० ३ ॥

२. कोई पतिरंजन अति घणुं तप करे रे, पतिरंजन तनताप।
ए पतिरंजन में नव चित्त धर्युं रे, रंजन धातु मेळाप ॥ ऋषभ० ४ ॥

"हे[1] सखी ! कोई फिर ऐसा कहता है कि यह जगत ऐसे भगवानकी लीला है कि जिसके स्वरूपको पहचाननेका लक्ष्य न हो सके; और वह अलक्ष्य भगवान सबकी इच्छा पूर्ण करता है; इसलिए वह यों समझकर इस जगतको भगवानकी लीला मानकर, उस भगवानकी उस स्वरूपसे महिमा गानेमें ही अपनी इच्छा पूर्ण होगी, (अर्थात् भगवान प्रसन्न होकर उसमें लग्नता करेगा) ऐसा मानता है, परंतु यह मिथ्या है, क्योंकि वह भगवानके स्वरूपके अज्ञानसे ऐसा कहता है।

जो भगवान अनंत ज्ञानदर्शनमय सर्वोत्कृष्ट सुखसमाधिमय है, वह भगवान इस जगतका कर्त्ता कैसे हो सकता है ? और लीलाके लिए प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? लीलाकी प्रवृत्ति तो सदोषमें ही संभव है। जो पूर्ण होता है वह कुछ भी इच्छा नहीं करता। भगवान तो अनंत अव्याबाध सुखसे पूर्ण है, उसमें अन्य कल्पनाका अवकाश कहाँसे हो ? लीलाकी उत्पत्ति तो कुतूहलवृत्तिसे होती है। वैसी कुतूहलवृत्ति तो ज्ञान-सुखकी अपरिपूर्णतासे ही होती है। भगवानमें तो वे दोनों (ज्ञान और सुख) परिपूर्ण हैं, इसलिए उसकी प्रवृत्ति जगतको रचनेरूप लीलामें हो ही नहीं सकती। यह लीला तो दोषका विलास है और वह सरागीको ही उसका संभव है। जो सरागी होता है वह द्वेषसहित होता है, और जिसे ये दोनों होते हैं, उसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सभी दोषोंका होना संभव है। इसलिए यथार्थ दृष्टिसे देखते हुए तो लीला दोषका ही विलास है, और ऐसे दोषविलासकी तो इच्छा अज्ञानी ही करता है। विचारवान मुमुक्षु भी ऐसे दोषविलासकी इच्छा नहीं करते, तो अनंत ज्ञानमय भगवान उसकी इच्छा क्यों करे ? इसलिए जो उस भगवानके स्वरूपको लीलाके कर्तृत्वभावसे समझता है, वह भ्रांति है, और उस भ्रांतिका अनुसरण करके भगवानको प्रसन्न करनेका वह जो मार्ग अपनाता है वह भी भ्रांतिमय ही है; जिससे भगवानरूप पतिकी उसे प्राप्ति नहीं होती।

हे[2] सखी ! पतिको प्रसन्न करनेके तो बहुतसे प्रकार हैं। अनेक प्रकारके शब्द, स्पर्श आदिके भोगसे पतिकी सेवा की जाती है। ऐसे अनेक प्रकार हैं; परंतु इन सबमें चित्तप्रसन्नता ही सबसे उत्तम सेवा है, और वह ऐसी सेवा है जो कभी खंडित नहीं होती। कपटरहित होकर आत्मसमर्पण करके पतिकी सेवा करनेसे अत्यंत आनंदके समूहकी प्राप्तिका भाग्योदय होता है।

भगवानरूप पतिकी सेवाके अनेक प्रकार हैं। द्रव्यपूजा, भावपूजा और आज्ञापूजा। द्रव्यपूजाके भी बहुतसे भेद हैं; परंतु उनमें सर्वोत्कृष्ट पूजा तो चित्तप्रसन्नता अर्थात् उस भगवानमें चैतन्यवृत्तिका परम हर्षसे एकत्वको प्राप्त करना ही है; इसीमें सब साधन समा जाते हैं। यही अखंडित पूजा है, क्योंकि यदि चित्त भगवानमें लीन हो तो दूसरे योग भी चित्ताधीन होनेसे भगवानके अधीन ही हैं; और चित्तकी लीनता भगवानमेंसे दूर न हो तो ही जगतके भावोंमें उदासीनता रहे और उनमें ग्रहण-त्यागरूप विकल्पकी प्रवृत्ति न हो; जिससे वह सेवा अखंड ही बनी रहे।

जब तक चित्तमें दूसरा भाव हो तब तक यदि यह प्रदर्शित करें कि आपके सिवाय दूसरेमें मेरा कोई भी भाव नहीं है तो यह वृथा ही है और कपट है। और जब तक कपट है तब तक भगवानके चरणोंमें आत्मसमर्पण कहाँसे हो सके ? इसलिए जगतके सभी भावोंसे विराम प्राप्त करके, वृत्तिको

---

१. कोई कहे लीला रे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मनआश।
दोपरहितने लीला नव घटे रे, लीला दोप विलास ॥ ऋषभ० ५ ॥

२. चित्तप्रसन्ने रे पूजन फळ कह्युं रे, पूजा अखंडित एह।
कपटरहित थई आतम अरपणा रे, आनंदघन पदरेह ॥ ऋषभ० ६ ॥

शुद्ध चैतन्यभाववाली करनेसे ही उस वृत्तिमें अन्यभाव न रहनेसे शुद्ध कही जाये और वह निष्कपट कही जाये। ऐसी चैतन्यवृत्ति भगवानमें लीन की जाये तो ही आत्मसमर्पणता कहलाये।

धन-धान्य आदि सभी भगवानको अर्पित किये हो; परंतु यदि आत्मसमर्पण न किया हो अर्थात् उस आत्माकी वृत्तिको भगवानमें लीन न किया हो तो उस धन-धान्य आदिका अर्पण करना सकपट ही है, क्योंकि अर्पण करनेवाली आत्मा अथवा उसकी वृत्ति तो अन्यत्र लीन है। जो स्वयं अन्यत्र लीन है उसके अर्पण किये हुए दूसरे जड पदार्थ भगवानमें कहाँसे अर्पित हो सकें ? इसलिए भगवानमें चित्तवृत्तिकी लीनता ही आत्मसमर्पणता है, और यही आनंदघनपदकी रेखा अर्थात् परम अव्याबाध सुखमय मोक्षपदकी निशानी है। अर्थात् जिसे ऐसी दशाकी प्राप्ति हो जाये वह परम आनंदघनस्वरूप मोक्षको प्राप्त होगा। ऐसे लक्षण ही लक्षण हैं ॥ ६ ॥

ऋषभजिनस्तवन संपूर्ण

× × ×

(३)[1]

प्रथम स्तवनमें भगवानमें वृत्तिके लीन होनेरूप हर्ष बताया, परंतु वह वृत्ति अखंड और पूर्णरुपसे लीन हो तो ही आनंदघनपदकी प्राप्ति होती है, जिससे उस वृत्तिकी पूर्णताकी इच्छा करते हुए आनंदघनजी दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथका स्तवन करते हैं। जो पूर्णताकी इच्छा है, उसे प्राप्त होनेमें जो जो विघ्न देखे उन्हें आनंदघनजी संक्षेपमें इस दूसरे स्तवनमें भगवानसे निवेदन करते हैं; और अपने पुरुषत्वको मंद देखकर खेदखिन्न होते हैं, ऐसा बताकर ऐसी भावनाका चिंतन करते हैं जिससे पुरुषत्व जाग्रत रहे।

हे सखी ! दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ भगवानने पूर्ण लीनताका मार्ग प्रदर्शित किया है अर्थात् जो सम्यक् चारित्ररूप मार्ग प्रकाशित किया है वह, देखता हूँ, तो अजित है अर्थात् ऐसा कि जो मेरे जैसे निर्बल वृत्तिके मुमुक्षुसे जीता न जा सके। और भगवानका नाम अजित है वह तो सत्य है; क्योंकि जो बड़े बड़े पराक्रमी पुरुष कहे जाते हैं, उनसे भी जिस गुणोंके धामरूप पंथका जय नहीं हुआ, उसका भगवानने जय किया है, इसलिए भगवानका अजित नाम तो सार्थक है। और अनंत गुणोंके धामरूप उस मार्गको जीतनेसे भगवानका गुणधामत्व सिद्ध है। हे सखी ! परंतु मेरा नाम पुरुष कहा जाता है, वह सत्य नहीं है। भगवानका नाम अजित है। जैसे वह तद्रूप गुणके कारण है वैसे मेरा नाम पुरुष तद्रूप गुणके कारण नहीं है। क्योंकि पुरुष तो उसे कहा जाता है कि जो पुरुषार्थसहित हो—स्वपराक्रमसहित हो, परंतु मैं तो वैसा नहीं हूँ। इसलिए भगवानसे कहता हूँ कि हे भगवान ! आपका नाम जो अजित है वह तो सच्चा है; परंतु मेरा नाम जो पुरुष है वह तो झूठा है। क्योंकि आपने राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका जय किया है, इसलिए आप अजित कहे जाने योग्य हैं, परंतु उन्हीं दोषोंने मुझे जीत लिया है, इसलिए मेरा नाम पुरुष कैसे कहा जाये ॥ १ ॥

---

१. दूसरा श्री अजितजिनस्तवन—

पंथडो निहाळुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम।
जे तें जीत्या रे तेणे हुं जीतियो रे, पुरुष किस्युं मुज नाम ? ॥ पंथडो० १ ॥

'हे सखी ! उस मार्गको पानेके लिए दिव्य नेत्रोंकी जरुरत है। चर्मनेत्रोंसे देखते हुए तो समस्त संसार भूला हुआ है। उस परमतत्त्वका विचार होनेके लिए जो दिव्य नेत्र चाहिए, उस दिव्य नेत्रका निश्चयसे वर्तमानकालमें वियोग हो गया है।

हे सखी ! उस अजित भगवानने अजित होनेके लिए अपनाया हुआ मार्ग कुछ इन चर्म-चक्षुओंसे दिखायी नहीं देता। क्योंकि वह मार्ग दिव्य है, और अंतरात्मदृष्टिसे ही उसका अवलोकन किया जा सकता है। जिस तरह एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जानेके लिए पृथ्वीतलपर सड़क वगैरह मार्ग होते हैं, उस तरह यह कुछ बाह्य मार्ग नहीं है, अथवा चर्मचक्षुसे देखनेपर दीखने-वाला मार्ग नहीं है, चर्मचक्षुसे वह अतींद्रिय मार्ग दिखायी न दे॥ २॥ [अपूर्ण]

●

[६९३] ७५४ संवत् १९५३

हे ज्ञातपुत्र भगवन् ! कालकी बलिहारी है। इस भारतके हीनपुण्य मनुष्योंको तेरा सत्य अखंड और पूर्वापर अविरुद्ध शासन कहाँसे प्राप्त हो ? उसके प्राप्त होनेमें इस प्रकारके विघ्न उत्पन्न हुए हैं—तेरे उपदेश किये हुए शास्त्रोंकी कल्पित अर्थसे विराधना की; कितनोंका तो समूल ही खंडन कर दिया, ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारणरूप जो तेरी प्रतिमा है, उससे कटाक्षदृष्टिसे लाखों लोग फिर गये, तेरे बादमें परंपरासे जो आचार्य पुरुष हुए उनके वचनोंमें और तेरे वचनोंमें शंका डाल दी। एकांतका उपयोग करके तेरे शासनकी निंदा की।

हे शासन देवी ! कुछ ऐसी सहायता दे कि जिससे मैं दूसरोंको कल्याणके मार्गका बोध कर सकूँ—उसे प्रदर्शित कर सकूँ,—सच्चे पुरुष प्रदर्शित कर सकें। सर्वोत्तम निर्ग्रंथ-प्रवचनके बोधकी ओर मोड़कर उन्हें इन आत्मविराधक पंथोंसे पीछे खींचनेमें सहायता दे !! तेरा धर्म है कि समाधि और बोधिमें सहायता देना। [निजी]

●

[६९४-१-२] ७५५ संवत् १९५३

ॐ नमः।

अनंत प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे आकुल-व्याकुल जीवोंकी उन दुःखोंसे छूट-नेकी अनेक प्रकारसे इच्छा होते हुए भी मुक्त नहीं हो सकते, इसका क्या कारण है ? ऐसा प्रश्न अनेक जीवोंको हुआ करता है, परंतु उसका यथार्थ समाधान तो किसी विरल जीवको ही प्राप्त होता है। जब तक दुःखका मूल कारण यथार्थरूपसे जाननेमें न आया हो, तब तक उसे दूर करनेके लिए चाहे जैसा प्रयत्न किया जाये, तो भी दुःखका क्षय नहीं हो सकता, और उस दुःखके प्रति चाहे जितनी अरुचि, अप्रियता और अनिच्छा हो, तो भी उसका अनुभव करना ही पड़े। अवास्त-विक उपायसे उस दुःखको मिटानेका प्रयत्न किया जाये, और वह प्रयत्न असह्य परिश्रमपूर्वक किया गया हो, फिर भी वह दुःख न मिटनेसे दुःख मिटानेके इच्छुक मुमुक्षुको अत्यन्त व्यामोह हो जाता है, अथवा हुआ करता है कि इसका क्या कारण ? यह दुःख दूर क्यों नहीं होता ? किसी भी तरह मुझे उस दुःखकी प्राप्ति इच्छित नहीं होनेपर भी, स्वप्नमें भी उसके प्रति कुछ भी वृत्ति

---

१. चरम नयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोवियें रे, नयण ते दिव्य विचार॥ पंथडो० २॥

न होनेपर भी, उसकी प्राप्ति हुआ करती है, और मैं जो जो प्रयत्न करता हूँ वे सब निष्फल जाकर दुःखका अनुभव किया ही करता हूँ, इसका क्या कारण ?

क्या यह दुःख किसीका मिटता ही नहीं होगा ? दुःखी होना ही जीवका स्वभाव होगा ? क्या कोई एक जगतकर्त्ता ईश्वर होगा, जिसने इसी तरह करना योग्य समझा होगा ? क्या यह बात भवितव्यताके अधीन होगी ? अथवा किन्हीं पूर्वकृत मेरे अपराधोंका फल होगा ? इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्प, जीव जो मनसहित देहधारी हैं वे किया करते हैं, और जीव मनरहित हैं वे अव्यक्तरूपसे दुःखका अनुभव करते हैं और वे अव्यक्तरूपसे उस दुःखके मिटनेकी इच्छा रखा करते हैं।

इस जगतमें प्राणी मात्रकी व्यक्त अथवा अव्यक्त इच्छा भी यही है, कि किसी भी प्रकारसे मुझे दुःख न हो, और सर्वथा सुख हो। इसीके लिए प्रयत्न होनेपर भी यह दुःख किस लिए नहीं मिटता ? ऐसा प्रश्न अनेकानेक विचारवालोंको भी भूतकालमें हुआ था, वर्तमानकालमें भी होता है, और भविष्यकालमें भी होगा। तथा उन अनंतानंत विचारवानोंमेंसे अनंत विचारवानोंने उसका यथार्थ समाधान पाया, और दुःखसे मुक्त हुए। वर्तमानकालमें भी जो जो विचारवान यथार्थ समाधान प्राप्त करते हैं, और भविष्यकालमें भी जो जो विचारवान यथार्थ समाधान प्राप्त करेंगे वे सब तथारूप फल प्राप्त करेंगे इसमें संशय नहीं है।

शरीरका दुःख मात्र औषध करनेसे मिट जाता होता, मनका दुःख धन आदिके मिलनेसे जाता रहता, और बाह्य संसर्गसंबंधी दुःख मनपर कुछ असर न डाल सकता होता तो दुःख मिटनेके लिए जो जो प्रयत्न किये जाते हैं वे सब सभी जीवोंके सफल हो जाते। परंतु जब यह होता दिखायी न दिया तभी विचारवानोंको प्रश्न उत्पन्न हुआ कि दुःख मिटनेका कोई दूसरा ही उपाय होना चाहिए; यह जो उपाय किया जाता है वह यथार्थ है, और सारा श्रम वृथा है। इसलिए उस दुःखका यथार्थ मूल कारण यदि जाननेमें आ जाये और तदनुसार उपाय किया जाये, तो दुःख मिटे, नहीं तो मिटे ही नहीं।

जो विचारवान दुःखके यथार्थ मूल कारणका विचार करनेके लिए खड़े हुए, उनमें भी किन्हींको ही उसका यथार्थ समाधान हाथ लगा और बहुतसे यथार्थ समाधान न पानेपर भी मतिव्यामोह आदि कारणोंसे ऐसा मानने लगे कि वे यथार्थ समाधान पा गये हैं और तदनुसार उपदेश करने लगे और बहुतसे लोग उनका अनुसरण भी करने लगे। जगतमें भिन्न भिन्न धर्ममत देखनेमें आते हैं उनकी उत्पत्तिका मुख्य कारण यही है।

'धर्मसे दुःख मिटे', ऐसी बहुतसे विचारवानोंकी मान्यता हुई परंतु धर्मका स्वरूप समझनेमें एक दूसरेमें बहुत अंतर पड़ गया। बहुतसे तो अपने मूल विषयको चूक गये, और बहुतसे तो उस विषयमें मतिके थक जानेसे अनेक प्रकारसे नास्तिक आदि परिणामोंको प्राप्त हो गये।

दुःखका मूल कारण और उसकी किस तरह प्रवृत्ति हुई, इसके संबंधमें यहाँ थोड़ेसे मुख्य अभिप्राय संक्षेपमें बताये गये हैं।

दुःख क्या है ? उसके मूल कारण क्या हैं ? और किस तरह मिट सके ? तत्संबंधी जिनों अर्थात् वीतरागोंने अपना जो मत प्रदर्शित किया है उसे यहाँ संक्षेपमें कहते हैं :—

अब वह यथार्थ है कि नहीं ? उसका अवलोकन करते हैं :—

जो उपाय बताये हैं वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, अथवा तीनोंका एक नाम 'सम्यक्मोक्ष' है।

उन वीतरागोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें सम्यग्दर्शनकी मुख्यता अनेक स्थलोंमें कही है; यद्यपि सम्यग्ज्ञानसे ही सम्यग्दर्शनकी भी पहचान होती है, तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विनाका ज्ञान संसार अर्थात् दुःखका हेतुरूप होनेसे सम्यग्दर्शनकी मुख्यताको ग्रहण किया है।

ज्यों ज्यों सम्यग्दर्शन शुद्ध होता जाता है, त्यों त्यों सम्यक्चारित्रके प्रति वीर्य उल्लसित होता जाता है, और क्रमसे सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होनेका वक्त आ जाता है; जिससे आत्मामें स्थिर स्वभाव सिद्ध होता जाता है, और क्रमसे पूर्ण स्थिर स्वभाव प्रगट होता है, और आत्मा निजपदमें लीन होकर सर्व कर्मकलंकसे रहित होनेसे एक शुद्ध आत्मस्वभावरूप मोक्षमें परम अव्याबाध, सुखके अनुभवसमुद्रमें स्थित हो जाती है।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे जैसे ज्ञान सम्यक्स्वभाव प्राप्त करता है, यह सम्यग्दर्शनका परम उपकार है, वैसे ही सम्यग्दर्शन क्रमसे शुद्ध होता जाकर पूर्ण स्थिर स्वभाव सम्यक्चारित्रको प्राप्त हो इसके लिए सम्यग्ज्ञानके बलकी उसे सच्ची आवश्यकता है। उस सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय वीतरागश्रुत और उस श्रुततत्त्वका उपदेष्टा महात्मा है।

वीतरागश्रुतके परम रहस्यको प्राप्त हुए असंग तथा परम करुणाशील महात्माका योग प्राप्त होना अतिशय कठिन है। महद्भाग्योदयके योगसे ही वह योग प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं है। कहा है :—

तहा रुवाणं समणाणं—

उन श्रमण महात्माओंके प्रवृत्तिलक्षण परमपुरुषने इस प्रकार कहे हैं :—

उन महात्माओंके प्रवृत्तिलक्षणोंसे अभ्यंतरदशाके चिह्न निर्णीत किये जा सकते हैं, यद्यपि प्रवृत्तिलक्षणोंकी अपेक्षा अभ्यंतरदशासंबंधी निश्चय अन्य भी निकलता है। किसी एक शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षुको वैसी अभ्यंतरदशाकी परीक्षा आती है।

ऐसे महात्माओंके समागम और विनयकी क्या जरूरत है? चाहे जैसा भी पुरुष हो, परंतु जो अच्छी तरह शास्त्र पढ़कर सुना दे ऐसे पुरुषसे जीव कल्याणका यथार्थ मार्ग किसलिए प्राप्त न कर सके? ऐसी आशंकाका समाधान किया जाता है :—

ऐसे महात्मापुरुषोंका योग अतीव दुर्लभ है। अच्छे देशकालमें भी ऐसे महात्माओंका योग दुर्लभ है; तो ऐसे दुःख मुख्यकालमें वैसा हो तो इसमें कुछ कहना ही नहीं रहता। कहा है कि :—

यद्यपि वैसे महात्मापुरुषोंका क्वचित् योग मिलता है, तो भी शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षु हो तो

वह वैसे मुहूर्त्तमात्रमें अपूर्व गुणको प्राप्तकर सकता है। जिन महापुरुषोंके वचन-प्रतापसे चक्रवर्ती मुहूर्त्तमात्रमें अपना राजपाट छोड़कर भयंकर वनमें तपश्चर्या करनेके लिए चल निकलते थे, उन महात्मापुरुषोंके योगसे अपूर्व गुण क्यों न प्राप्त हो ?

अच्छे देशकालमें भी क्वचित् वैसे महात्माओंका योग हो जाता है, क्योंकि वे अप्रतिबद्ध विहारी होते हैं। तब ऐसे पुरुषोंका नित्य संग रह सकना किस तरह हो सके कि जिससे मुमुक्षुजीव सब दुःखोंका क्षय करनेके अनन्य कारणोंकी पूर्णरूपसे उपासना कर सके ? भगवान जिनने उसके मार्गका अवलोकन इस तरह किया है :--

नित्य उनके समागममें आज्ञाधीन रहकर प्रवृत्ति करनी चाहिए, और इसके लिए बाह्या-भ्यंतर परिग्रह आदिका त्याग करना ही योग्य है।

जो सर्वथा वैसा त्याग करनेके लिए समर्थ नहीं हैं, उन्हें इस प्रकार देशत्यागपूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है। उसके स्वरूपका इस तरह उपदेश किया है :—

उस महात्मापुरुषके गुणोंकी अतिशयतासे, सम्यक्आचरणसे, परमज्ञानसे, परमशांतिसे, परमवृत्तिसे मुमुक्षुजीवकी अशुभ वृत्तियोंका परावर्तन होकर शुभस्वभावको पाकर स्वरूपके प्रति मुड़ती जाती है।

उस पुरुषके वचन आगमस्वरूप हैं, तो भी बारंबार अपनेसे वचनयोगकी प्रवृत्ति न होनेसे तथा निरंतर समागमका योग न बननेसे, उस वचनका श्रवण स्मरणमें तादृश न रह सकनेसे, बहुतसे भावोंका स्वरूप जाननेमें परावर्तनकी जरूरत होनेसे, और अनुप्रेक्षाके बलकी वृद्धि प्राप्त करनेके लिए वीतरागश्रुत-वीतरागशास्त्र एक बलवान उपकारी साधन है। यद्यपि प्रथम तो वैसे महात्मापुरुषों द्वारा ही उसका रहस्य जानना चाहिए, फिर विशुद्ध दृष्टि हो जानेपर वह श्रुत महात्माके समागमके अंतरायमें भी बलवान उपकार करता है, अथवा जहाँ केवल वैसे महात्माओंका योग हो ही नहीं सकता, वहाँ भी विशुद्ध दृष्टिमानको वीतरागश्रुत परमोपकारी है, और इसीलिए महा-पुरुषोंने एक श्लोकसे लेकर द्वादशांग पर्यंत रचना की है।

उस द्वादशांगके मूल उपदेष्टा सर्वज्ञ वीतराग हैं, कि जिनके स्वरूपका महात्मापुरुष निरन्तर ध्यान करते हैं, और उस पदकी प्राप्तिमें ही सर्वस्व समाया हुआ है, ऐसा प्रतीतिसे अनुभव करता है। सर्वज्ञ वीतरागके वचनोंको धारण करके महान आचार्योंने द्वादशांगीकी रचना की थी, और तदाश्रित आज्ञाकारी महात्माओंने दूसरे अनेक निर्दोष शास्त्रोंकी रचना की है। द्वादशांगके नाम इस प्रकार हैं—

(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) भगवती, (६) ज्ञाताधर्मकथांग, (७) उपासकदशांग, (८) अंतकृतदशांग, (९) अनुत्तरौपपातिक, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

उनमें इस प्रकारसे निरूपण है:—

कालदोषसे उनमेंसे बहुतसे स्थलोंका विसर्जन हो गया और मात्र अल्प स्थल रहे हैं।

जो अल्प स्थल रहे हैं उन्हें एकादशांगके नामसे श्वेताम्बर आचार्य कहते हैं। दिगम्बर इससे अनुमत न होते हुए यों कहते हैं कि:—

विसंवाद या मताग्रहकी दृष्टिसे उसमें दोनों सम्प्रदाय भिन्न भिन्न मार्गकी भाँति देखनेमें आते हैं। दीर्घदृष्टिसे देखनेपर उसके भिन्न ही कारण देखनेमें आते हैं।

चाहे जैसा हो, परंतु इस प्रकारसे दोनों बहुत पासमें आ जाते हैं:—

विवादके अनेक स्थल तो अप्रयोजन जैसे हैं, प्रयोजन जैसे हैं वे भी परोक्ष हैं।

अपात्र श्रोताको द्रव्यानुयोग आदि भावोंका उपदेश करनेसे नास्तिक आदिभाव उत्पन्न होनेका अवसर आता है।

अब यह प्रस्तावना यहाँ संक्षिप्त करते हैं; और जिस महापुरुषने····

यदि इस तरह सुप्रतीत हो तो

[1]हिंसारहिए धम्मे अट्ठारस दोस विवज्जिए देवे।
निग्गंथे पवयणे सद्दहणं होई सम्मत्तं ॥ १ ॥

तथा

जीवके लिए मोक्षमार्ग है, नहीं तो उन्मार्ग है।

सर्व दुःखोंका क्षय करनेवाला एक परम सदुपाय,

सर्व जीवोंको हितकारी, सर्व दुःखोंके क्षयका एक आत्यंतिक उपाय, परम सदुपायरूप वीतरागदर्शन है, उसकी प्रतीतिसे, उसके अनुसरणसे, उसकी आज्ञाके परम अवलंबनसे जीव भव-सागर तर जाता है। समवायांग सूत्रमें कहा है :—

---

१. हिंसारहित धर्म, अठारह दोषोंसे रहित देव और निर्ग्रंथप्रवचनमें श्रद्धा करना सम्यक्त्व है।

आत्मा क्या है ? कर्म क्या है ? उसका कर्त्ता कौन है ? उसका उपादान कौन है ? निमित्त कौन है ? उसकी स्थिति कितनी है ? कर्त्ता किससे है ? किस परिमाणमें वह बाँध सकता है ? इत्यादि भावोंका स्वरूप जैसा निग्रंथसिद्धांतमें स्पष्ट, सूक्ष्म और संकलनापूर्वक हैं वैसा किसी भी दर्शनमें नहीं है। [अपूर्ण]

●

[६९४-३] ७५६ संवत् १९५३

जैनमार्गविवेक

अपने समाधानके लिए यथाशक्ति जैनमार्गको जाना है, उसका संक्षेपमें कुछ भी विवेक-विचार करता हूँ :—

वह जैनमार्ग जिस पदार्थका अस्तित्व है उसका अस्तित्व और जिसका अस्तित्व नहीं है उसका नास्तित्व मानता है।

जिसका अस्तित्व है, वह दो प्रकारसे है, ऐसा जीव और अजीव। ये पदार्थ स्पष्ट भिन्न हैं। कोई अपने स्वभावका त्याग नहीं कर सकता।

अजीव रूपी और अरूपी दो प्रकारसे हैं।

जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव तीनों कालोंमें भिन्न भिन्न है। ज्ञान, दर्शन आदि लक्षणोंसे जीव पहचाना जाता है।प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशकी अवगाहनासे रहता है। संकोच-विकासका भाजन है। अनादिसे कर्मग्राहक है। तथारुप स्वरूप जाननेसे, प्रतीतिमें लानेसे, स्थिर परिणाम होनेपर उस कर्मकी निवृत्ति होती है। स्वरूपसे जीव वर्ण, गंध, रस और स्पर्शसे रहित है। अजर, अमर और शाश्वत वस्तु है। [अपूर्ण]

●

[६९४-४] ७५७

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः ।

मोक्षसिद्धांत

भगवानको परम भक्तिसे नमस्कार करके अनंत अव्यावाध सुखमय परमपदकी प्राप्तिके लिए भगवान सर्वज्ञद्वारा निरूपण किये हुए 'मोक्षसिद्धांत'को कहता हूँ।

द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और धर्मकथानुयोगके महानिधि वीतराग-प्रवचनको नमस्कार करता हूँ।

कर्मरूप वैरीका पराजय करनेवाले अर्हंत भगवान, शुद्ध चैतन्यपदमें सिद्धालयमें विराजमान सिद्ध भगवान; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन मोक्षके पाँच आचारोंका आचरण करनेवाले और भव्य जीवोंको उस आचारमें प्रवृत्त करनेवाले आचार्य भगवान; द्वादशांगके अभ्यासी और उस श्रुत शब्द, अर्थ और रहस्यसे अन्य भव्य जीवोंको अध्ययन करानेवाले उपाध्याय भगवान; और मोक्षमार्गका आत्मजागृतिपूर्वक साधन करनेवाले साधु भगवानको मैं परम भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

श्री ऋषभदेवसे श्री महावीरपर्यंत भरतक्षेत्रके वर्तमान चौवीस तीर्थंकरोंके परम उपकारका मैं वारंवार स्मरण करता हूँ।

वर्तमानकालके चरम तीर्थंकरदेव श्रीमान वर्धमानजिनकी शिक्षासे अभी मोक्षमार्ग अस्तित्व-में है, उनके इस उपकारको सुविहित पुरुष वारंवार आश्चर्यमय देखते हैं।

कालके दोषसे अपार श्रुतसागरके बहुतसे भागका विसर्जन होता गया और बिन्दुभाव अथवा अल्पमात्र वर्तमानमें विद्यमान हैं।

अनेक स्थलोंके विसर्जनसे, अनेक स्थलोंमें स्थूल निरूपण रहा होनेसे निर्ग्रंथ भगवानके उस श्रुतका पूर्ण लाभ, वर्तमान मनुष्योंको इस क्षेत्रमें प्राप्त नहीं होता।

अनेक मतमतांतर आदिके उत्पन्न होनेका हेतु भी यही है, और इसलिए निर्मल आत्मतत्त्वके अभ्यासी महात्माओंकी अल्पता हो गयी।

श्रुतके अल्प रह जानेपर भी, मतमतांतर अनेक होनेपर भी, समाधानके कितने ही साधन परोक्ष होनेपर भी, महात्मापुरुषोंके क्वचित् क्वचित् ही रहनेपर भी, हे आर्यजनो! सम्यग्दर्शन, श्रुतका रहस्यभूत परमपदका पंथ, आत्मानुभवके हेतु, सम्यक्चारित्र और विशुद्ध आत्मध्यान आज भी विद्यमान हैं, यह परम हर्षका कारण है।

वर्तमानकालका नाम दुःषमकाल है, इसलिए अनेक अंतरायोंसे, प्रतिकूलतासे, साधनकी दुर्लभता होनेसे मोक्षकी प्राप्ति दुःखसे होती है; परंतु वर्तमानमें मोक्षका विच्छेद है, ऐसा सोचनेकी जरूरत नहीं है।

पंचमकालमें होनेवाले महर्षियोंने भी ऐसा ही कहा है। तदनुसार भी यहाँ कहता हूँ।

सूत्र और दूसरे प्राचीन आचार्यों द्वारा तदनुसार रचे हुए अनेक शास्त्र विद्यमान हैं। सुविहित पुरुषोंने तो हितकारी बुद्धिसे ही रचे हैं। किन्हीं मतवादी, हठवादी और शिथिलताके पोषक पुरुषों-की रची हुई कुछ पुस्तकें सूत्रसे अथवा जिनाचारसे मेल न खाती हों और प्रयोजनकी मर्यादासे बाह्य हों, उन पुस्तकोंके उदाहरणसे प्राचीन सुविहित आचार्योंके वचनोंका उत्थापन करनेका प्रयत्न भवभीरू महात्मा नहीं करते; परन्तु उससे उपकार होता है, ऐसा समझकर उनका बहुत मान करते हुए यथायोग्य सदुपयोग करते हैं।

जिनदर्शनमें दिगंबर और श्वेतांबर ये दो भेद मुख्य हैं। मतदृष्टिसे उनमें बड़ा अंतर देखनेमें आता है। तत्त्वदृष्टिसे जिनदर्शनमें वैसा विशेषभेद मुख्यतः परोक्ष है, जो प्रत्यक्ष कार्यभूत हो सकें उनमें वैसा भेद नहीं है। इसलिए दोनों सम्प्रदायोंमें उत्पन्न होनेवाले गुणवान पुरुष सम्यग्दृष्टिसे देखते हैं, और जैसे तत्त्वप्रतीतिका अन्तराय कम हो वैसे प्रवृत्ति करते हैं।

जैनाभाससे प्रवर्तित दूसरे अनेक मतमतांतर हैं, उनके स्वरूपका निरूपण करते हुए भी वृत्ति संकुचित होती है। जिनमें मूल प्रयोजनका भान नहीं है, इतना ही नहीं परन्तु मूल प्रयोजनसे विरुद्ध पद्धतिका अवलंबन रहता है उन्हें मुनित्वका स्वप्न भी कहाँसे हो? क्योंकि मूल प्रयोजनको विसार कर क्लेशमें पड़े हैं, और अपनी पूज्यता आदिके लिए जीवोंको परमार्थमार्गमें अंतराय करते हैं।

वे मुनिका लिंग भी धारण नहीं करते, क्योंकि स्वकपोलरचनासे उनकी सारी प्रवृत्ति है। जिनागम अथवा आचार्यकी परंपराका नाम मात्र भी उनके पास नहीं है, वस्तुतः तो वे उससे पराङ्मुख हैं।

एक तुंबे जैसी और डोरे जैसी अल्पसे अल्प वस्तुके ग्रहण-त्यागके आग्रहसे भिन्न मार्ग खड़ा करके प्रवृत्ति करते हैं, और तीर्थका भेद पैदा करते हैं, ऐसे महामोहमूढ जीव लिंगाभासतासे भी आज वीतरागके दर्शनको घेर बैठे हैं, यह असंयति पूजा नामका आश्चर्य मालूम होता है।

महात्मा पुरुषोंकी अल्प भी प्रवृत्ति स्व-परको मोक्षमार्गसन्मुख करनेकी होती है। लिंगा-

भासी जीव मोक्षमार्गसे पराङ्मुख करनेमें अपने वलका प्रवर्तन देखकर हर्षित होते हैं; और यह सव कर्मप्रकृतिमें बढ़ते हुए अनुभाग और स्थिति-बंधके स्थानक है, ऐसा मैं मानता हूँ। [अपूर्ण]

•

[६९४-५] ७५८ संवत् १९५३

द्रव्यप्रकाश

द्रव्य अर्थात् वस्तु, तत्त्व, पदार्थ। इसमें मुख्य तीन अधिकार हैं।

प्रथम अधिकारमें जीव और अजीव द्रव्यके मुख्य प्रकार कहे हैं।

दूसरे अधिकारमें जीव और अजीवका परस्पर संबंध और उससे जीवका हिताहित क्या है, उसे समझानेके लिए, उसके विशेष पर्यायरूपसे पुण्य, पाप आदि दूसरे सात तत्त्वोंका निरूपण किया है। जो सात तत्त्व जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें समा जाते हैं।

तीसरे अधिकारोंमें यथास्थित मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया है, कि जिसके लिए ही समस्त ज्ञानी-पुरुषोंका उपदेश है।

पदार्थके विवेचन और सिद्धांतपर जिनकी नींव रखी गयी है, और उस द्वारा जो मोक्षमार्ग-का प्रतिबोध करते हैं ऐसे छः दर्शन हैं—(१) बौद्ध, (२) न्याय, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) मीमांसा और (६) वैशेषिक। वैशेषिकको यदि न्यायमें अंतर्भूत किया जाये तो नास्तिक विचारका प्रतिपादक चार्वाक दर्शन छट्ठा माना जाता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसा ये छः दर्शन वेद परिभाषामें माने गये हैं, उसकी अपेक्षा उपर्युक्त दर्शन भिन्न पद्धतिसे माने हैं इसका क्या कारण है? ऐसा प्रश्न हो तो उसका समाधान यह है:—

वेद परिभाषामें बताये हुए दर्शन वेदको मानते हैं, इसलिए उन्हें इस दृष्टिसे माना है; और उपर्युक्त क्रममें तो विचारकी परिपाटीके भेदसे माने हैं। जिससे यही क्रम योग्य है।

द्रव्य और गुणका अनन्यत्व-अविभक्तत्व अर्थात् प्रदेशभेद रहितत्व है, क्षेत्रांतर नहीं है। द्रव्यके नाशसे गुणका नाश और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश होता है ऐसा [1]ऐक्यभाव है। द्रव्य और गुण-का भेद कथनसे कहते हैं, वस्तुसे नहीं। संस्थान, संख्याविशेष आदिसे ज्ञान और ज्ञानीका सर्वथा भेद हो तो दोनों अचेतन हो जायें ऐसा सर्वज्ञ वीतरागका सिद्धांत है। ज्ञानके साथ समवाय संवंधसे आत्मा ज्ञानी नहीं है। समवर्तित्व समवाय है।

वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श परमाणु-द्रव्यके विशेष हैं। [अपूर्ण]

•

[६९४-६] ७५९ संवत् १९५३

यह अत्यंत सुप्रसिद्ध है कि प्राणीमात्रको दुःख प्रतिकूल और अप्रिय है और सुख अनुकूल तथा प्रिय है। उस दुःखसे रहित होनेके लिए और सुखकी प्राप्तिके लिए प्राणीमात्रका प्रयत्न है।

प्राणीमात्रका ऐसा प्रयत्न होनेपर भी वे दुःखका अनुभव करते हुए ही दृष्टिगोचर होते है। क्वचित् कुछ सुखका अंश किसी प्राणीको प्राप्त हुआ दीखता है, तो भी दुःखकी वहुलतासे देखनेमें आता है।

प्राणीमात्रको दुःख अप्रिय होनेपर भी, और फिर उसे मिटानेके लिए उसका प्रयत्न रहने

---

१. देखें आंक नं० ७६६ 'पंचास्तिकाय' ४६, ४८, ४९ और ५०।

पर भी वह दुःख नहीं मिटता, तो फिर यों समझमें आता है कि उस दुःखको दूर होनेका कोई उपाय ही नहीं है, क्योंकि जिसमें सभीका प्रयत्न निष्फल चल जाये वह बात निरुपाय ही होनी चाहिए, ऐसी यहाँ आशंका होती है।

इसका समाधान इस प्रकारसे है—दुःखका स्वरूप यथार्थ न समझनेसे, उसके होनेके मूल कारण क्या हैं और वे किससे मिट सके, इसे यथार्थ न समझनेसे, दुःख मिटानेके संबंधमें उनका प्रयत्न स्वरूपसे अयथार्थ होनेसे दुःख मिट नहीं सकता।

दुःख अनुभवमें आता है, तो भी वह स्पष्ट ध्यानमें आनेके लिए थोड़ीसी उसकी व्याख्या करते हैं:—

प्राणी दो प्रकारके हैं :—एक त्रस—स्वयं भय आदिका कारण देखकर भाग जाते हैं और चलने-फिरने इत्यादिकी शक्तिवाले हैं। दूसरे स्थावर—जिस स्थलमें देह धारण की है, उसी स्थलमें स्थितिमान, अथवा भय आदिके कारणको जानकर भाग जाने आदिकी समझशक्ति जिनमें नहीं है।

अथवा एकेंद्रिय आदिसे लेकर पाँच इंद्रिय तकके प्राणी हैं। एकेंद्रिय प्राणी स्थावर कहे जाते हैं, और दो इंद्रियवाले प्राणियोंसे लेकर पाँच इंद्रियवाले प्राणी तकके त्रस कहे जाते हैं। किसी भी प्राणीको पाँच इंद्रियोंसे अधिक इंद्रियाँ नहीं होतीं।

ऐकेंद्रिय प्राणीके पाँच भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति।

वनस्पतिका जीवत्व साधारण मनुष्योंको भी कुछ अनुमानगोचर होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका जीवत्व आगम-प्रमाणसे और विशेष विचारबलसे कुछ भी समझा जा सकता है, सर्वथा तो प्रकृष्ट ज्ञानगोचर है।

अग्नि और वायुके जीव कुछ गतिमान देखनेमें आते हैं, परंतु उनकी गति अपनी समझ-शक्तिपूर्वक नहीं होती, इस कारण उन्हें स्थावर कहा जाता है।

एकेंद्रिय जीवोंमें वनस्पतिमें जीवत्व सुप्रसिद्ध है, फिर भी उसके प्रमाण इस ग्रंथमें अनुक्रमसे आयेंगे। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका जीवत्व इस प्रकारसे सिद्ध किया है— [अपूर्ण]

●

[६९४-७] ७६० संवत् १९५३

जीवलक्षण—

- चैतन्य जिसका मुख्य लक्षण है,
- देह प्रमाण है,
- असंख्यात प्रदेशप्रमाण है। वह असंख्यात प्रदेशतः लोकपरिमित है,
- परिणामी है,
- अमूर्त्त है,
- अनंत अगुरुलघु परिणत द्रव्य है,
- स्वाभाविक द्रव्य है,
- कर्त्ता है,
- भोक्ता है,
- अनादि संसारी है,
- भव्यत्व लब्धि परिपाक आदिसे मोक्षसाधनमें प्रवृत्ति करता है,
- मोक्ष होता है,
- मोक्षमें स्वपरिणामी है।

संसारीजीव— संसार अवस्थामें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग उत्तरोत्तर बंधके स्थानक हैं।

सिद्धात्मा— { सिद्धावस्थामें योगका भी अभाव है।
मात्र चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य सिद्धपद है। }

विभाव परिणाम 'भावकर्म' है।

पुद्‌गलसंबंध 'द्रव्यकर्म' है।

[अपूर्ण]

●

[६९४-८] ७६१ संवत् १९५३

आस्रव—ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके योग्य जो पुद्‌गल ग्रहण होता है उसे 'द्रव्यास्रव' जानें। जिन भगवानने उसके अनेक भेद कहे हैं।

बंध—जीव जिस परिणामसे कर्मका बंध करता है वह 'भावबंध' है। कर्मप्रदेश, परमाणु और जीवका अन्योन्य प्रवेशरूपसे संबंध होना 'द्रव्यबंध' है।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इस तरह चार प्रकारका बंध है। प्रकृति और प्रदेशबंध योगसे होता है; स्थिति और अनुभागबंध कषायसे होता है।

संवर—जो आस्रवको रोक सके वह चैतन्यस्वभाव 'भावसंवर' है, और उससे जो द्रव्यास्रवको रोके वह 'द्रव्यसंवर' है।

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय तथा चारित्रके जो अनेक प्रकार हैं उन्हें 'भावसंवर'के विशेष जानें।

निर्जरा—जिस भावसे, तपश्चर्या द्वारा या यथासमय कर्मके पुद्‌गल रस भोगा जानेपर गिर जाते हैं, वह 'भावनिर्जरा' है। उन पुद्‌गल परमाणुओंका आत्मप्रदेशसे अलग हो जाना 'द्रव्यनिर्जरा' है।

मोक्ष—सर्व कर्मोंका क्षय होनेरूप आत्मस्वभाव 'भावमोक्ष' है। कर्मवर्गणासे आत्मद्रव्यका अलग हो जाना 'द्रव्यमोक्ष' है।

पुण्य और पाप—शुभ और अशुभ भावके कारण जीवको पुण्य और पाप होते हैं। साता, शुभ आयु, शुभनाम और उच्च गोत्रका हेतु 'पुण्य' है, 'पाप' से उससे विपरीत होता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र मोक्षके कारण हैं। व्यवहारनयसे वे तीनों हैं। निश्चयसे आत्मा ही इन तीनोंरूप है।

आत्माको छोड़कर ये तीनों रत्न दूसरे किसी भी द्रव्यमें नहीं रहते, इसलिए आत्मा इन तीनोंरूप हैं, और इसलिए मोक्षका कारण भी आत्मा ही है।

जीव आदि तत्त्वोंके प्रति आस्थारूप आत्मस्वभाव सम्यग्दर्शन है; जिससे मिथ्या आग्रहसे रहित 'सम्यग्ज्ञान' होता है।

संशय, विपर्यय और भ्रांतिसे रहित आत्मस्वरूप और परस्वरूपको यथार्थरूपसे ग्रहण कर सके वह 'सम्यग्ज्ञान' है, जो साकारोपयोगरूप है। उसके अनेक भेद हैं।

भावोंके सामान्यस्वरूपको जो उपयोग ग्रहण कर सके वह 'दर्शन' है, ऐसा आगममें कहा है। 'दर्शन' शब्द श्रद्धाके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है।

छद्‌मस्थको पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है। केवल भगवानको दोनों साथसे होते हैं।

अशुभ भावसे निवृत्ति और शुभ भावमें प्रवृत्ति होना 'चारित्र' है। व्यवहारनयसे उस चारित्रको श्री वीतरागोंने व्रत, समिति और गुप्तिरूपसे कहा है।

संसारके मूल हेतुओंका नाश करनेके लिए ज्ञानीपुरुषकी बाह्य और अंतरंग क्रियाका जो निरोध होना है, उसे वीतरागोंने 'परम सम्यक्चारित्र' कहा है।

मुनि ध्यानद्वारा मोक्षके हेतुरूप इन दोनों चारित्रोंको अवश्य प्राप्त करते हैं, इसके लिए प्रयत्नवान चित्तसे ध्यानका उत्तम अभ्यास करें।

यदि आप अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिए चित्तकी स्थिरता चाहते हैं तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमें मोह न करें, राग न करें और द्वेष न करें।

पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक अक्षरके परमेष्ठीपदका वाचक जो मंत्र हैं, उनका जपपूर्वक ध्यान करें। विशेषस्वरूपको श्री गुरुके उपदेशसे जानना योग्य है। [अपूर्ण]

●

[६९४-९] ७६२ संवत् १९५३

ॐ नमः।

सर्व दुःखका आत्यंतिक अभाव और परम अव्याबाध सुखकी प्राप्ति ही मोक्ष है और वही परमहित है।

वीतराग सन्मार्ग उसका सदुपाय है।

वह सन्मार्ग संक्षेपमें इस प्रकार है :—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकत्रता 'मोक्षमार्ग' है।

सर्वज्ञके ज्ञानमें भासमान तत्त्वोंकी सम्यक्प्रतीति होना 'सम्यग्दर्शन' है।

उन तत्त्वोंका बोध होना 'सम्यग्ज्ञान' है।

उपादेय तत्त्वका अभ्यास होना सम्यक्चारित्र है।

शुद्ध आत्मपद स्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होना, यह तीनोंकी एकत्रता है।

सर्वज्ञदेव, निर्ग्रंथगुरु और सर्वज्ञोपदिष्ट धर्मकी प्रतीतिसे ,तत्त्वप्रतीति प्राप्त होती है। सर्व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, सर्व मोह और सर्व वीर्य आदि अंतरायका क्षय होनेसे आत्माका सर्वज्ञ-वीतराग स्वभाव प्रगट होता है।

निर्ग्रंथपदके अभ्यासका उत्तरोत्तर क्रम उसका मार्ग है। उसका रहस्य सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म है।

●

[६९४-१०] ७६३ सं० १९५३

सर्वज्ञके कहे हुए गुरुके उपदेशसे आत्माका स्वरूप जानकर, सुप्रतीत करके उसका ध्यान करें।

ज्यों ज्यों ध्यानविशुद्धि होगी त्यों त्यों ज्ञानावरणीयका क्षय होगा।

अपनी कल्पनासे वह ध्यान सिद्ध नहीं होता।

जिन्हें ज्ञानमय आत्मा परमोत्कृष्ट भावसे प्राप्त हुई है, और जिन्होंने परद्रव्यमात्रका त्याग किया है, उन देवको नमस्कार हो ! नमन हो !

बारह प्रकारके निदानरहित तपसे वैराग्यभावनासे भावित और अहंभावसे रहित ज्ञानीके कर्मोंकी निर्जरा होती है।

वह निर्जरा भी दो प्रकारकी जानें—स्वकाल प्राप्त और तपसे । एक चारों गतियोंमें होती है, दूसरी व्रतधारीको ही होती है ।

ज्यों ज्यों उपशमकी वृद्धि होती है त्यों त्यों तप करनेसे कर्मकी वहुत निर्जरा होती है ।

उस निर्जराका क्रम कहते हैं । मिथ्यादर्शनमें रहता हुआ भी थोड़े वक्तमें उपशम सम्यग्दर्शन पानेवाला है, ऐसे जीवकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिको असंख्यातगुण निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुण निर्जरा देशविरतिको होती है, उससे असंख्यातगुण निर्जरा सर्वविरतिको होती है; उससे.......... [अपूर्ण]

[६९४-११] ७६४ सं० १९५३

ॐ

हे जीव ! इतना अधिक प्रमाद क्या ?

शुद्ध आत्मपदकी प्राप्तिके लिए वीतराग सन्मार्गकी उपासना कर्तव्य है ।

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु } शुद्ध आत्मदृष्टि होनेके अवलंवन हैं ।
दया मुख्यधर्म

श्री गुरुसे सर्वज्ञके अनुभूत शुद्धात्मप्राप्तिका उपाय जानकर, उसका रहस्य ध्यानमें लेकर आत्मप्राप्ति करें ।

यथाजातलिंग सर्वविरतिधर्म ।

द्वादशविध देशविरतिधर्म ।

द्रव्यानुयोग सुसिद्ध—स्वरूपदृष्टि होनेसे,

करणानुयोग सुसिद्ध—सुप्रतीतदृष्टि होनेसे,

चरणानुयोग सुसिद्ध—पद्धति विवाद शांत करनेसे,

धर्मकथानुयोग सुसिद्ध—वालबोधहेतु समझानेसे ।

[६९४-१२] ७६५ सं० १९५३

(१)	(२)	(१)	(२)
मोक्षमार्गका अस्तित्व	प्रमाण	निर्जरा	आगम
आप्त	नय	वंध	संयम
गुरु	अनेकांत	मोक्ष	वर्तमानकाल
धर्म	लोक	ज्ञान	गुणस्थानक
धर्मकी योग्यता	अलोक	दर्शन	द्रव्यानुयोग
कर्म	अहिंसा	चारित्र	करणानुयोग
जीव	सत्य	तप	चरणानुयोग
अजीव	असत्य	द्रव्य	धर्मकथानुयोग
पुण्य	ब्रह्मचर्य	गुण	मुनित्व
पाप	अपरिग्रह	पर्याय	गृहधर्म
आस्रव	आज्ञा	संसार	परिषह
संवर	व्यवहार	एकेंद्रियका अस्तित्व	उपसर्ग

[७००] ७६६ संवत् १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः । नमः सद्गुरवे ।

पंचास्तिकाय[१]

सौ इन्द्रोंसे वंदनीय, तीनलोकके कल्याणकारी, मधुर और निर्मल जिनके वाक्य हैं, अनंत जिनके गुण हैं, जिन्होंने संसारका पराजय किया है ऐसे भगवान सर्वज्ञ वीतरागको नमस्कार ॥ १ ॥

सर्वज्ञ महामुनिके मुखसे उत्पन्न अमृत, चार गतिसे जीवको मुक्तकर निर्वाण प्राप्त करानेवाले आगमको नमन करके यह शास्त्र कहता हूँ उसे श्रवण करें ॥ २ ॥

पाँच अस्तिकायके समूहरूप अर्थसमयको सर्वज्ञ वीतरागदेवने 'लोक' कहा है। उसके अनन्तरमात्र आकाशरूप अनंत 'अलोक' है ॥ ३ ॥

जीव पुद्गलसमूह, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पदार्थ अपने अस्तित्वमें नियमसे रहते हैं, अपनी सत्तासे अभिन्न हैं, और अनेक प्रदेशात्मक हैं ॥ ४ ॥

अनेक गुणों और पर्यायोंसहित जिसका अस्तित्वस्वभाव है वे 'अस्तिकाय' होते हैं। उनसे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

ये अस्तिकाय तीनोंकालमें भावरूपसे परिणामी हैं, नित्य हैं, और परावर्तन लक्षणवाले कालसहित छहों 'द्रव्यसंज्ञा' को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

ये द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, और अलग हो जाते हैं; परंतु अपने अपने स्वभावका त्याग नहीं करते ॥ ७ ॥

सत्ता एक है, वह समस्त पदार्थोंमें स्थित हैं, अर्थात् सत्तास्वरूपसे सब पदार्थ एकत्ववाले हैं, नाना प्रकारके स्वरूपवाली है, अनंत पर्यायवाली, उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है, सप्रतिपक्ष अर्थात् सामान्य विशेषात्मक है ॥ ८ ॥

जो उन उन अपने सद्भावपर्यायों-गुणपर्याय स्वभावोंको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं, जो सत्तासे अनन्य है ॥ ९ ॥

द्रव्य सत् लक्षणवाला है, अथवा जो उत्पादव्ययध्रौव्यसहित है, अथवा जो गुणपर्यायका आश्रय है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं ॥ १० ॥

द्रव्यकी उत्पत्ति और विनाश नहीं हैं, उसका 'अस्ति' स्वभाव ही है। उसीकी पर्याय उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्वको करते हैं ॥ ११ ॥

पर्यायरहित द्रव्य नहीं है और द्रव्यरहित पर्याय नहीं है, दोनोंका अनन्यभूतभाव-अभेदस्वरूप हैं, ऐसा महामुनि कहते हैं ॥ १२ ॥

द्रव्यके विना गुण नहीं होते और गुणोंके विना द्रव्य नहीं होता, इसलिए द्रव्य और गुणका अभिन्न स्वरूप है ॥ १३ ॥

'स्यात् अस्ति' 'स्यात् नास्ति,' 'स्यात् अवक्तव्य', 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य,' 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' 'स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्य', यों विवक्षावश द्रव्यके सात भंग होते हैं ॥ १४ ॥

भाव-द्रव्यका नाश नहीं होता, और अभाव-अद्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती। गुणपर्यायके स्वभावसे उत्पाद और व्यय होते हैं। भाव-पदार्थ गुणपर्यायोंमें ही उत्पाद और व्यय करते हैं ॥१५॥

---

१. देखें आंक ८६६।

जीव आदि पदार्थ है। जीवके गुण चेतना और उपयोग हैं। देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच आदि जीवके अनेक पर्याय हैं ॥ १६ ॥

मनुष्यपर्यायसे नष्ट हुआ जीव देव या अन्य पर्यायसे उत्पन्न होता है। दोनोंमें जीवभाव ध्रुव है। वह नष्ट होकर दूसरा नहीं होता ॥ १७ ॥

वही जीव उत्पन्न होता है और वही जीव नष्ट होता है। वस्तुतः वह जीव न तो उत्पन्न हुआ और न ही नष्ट हुआ। देवपर्याय उत्पन्न हुआ और मनुष्यपर्याय नष्ट हुआ ॥ १८ ॥

इस तरह सत्का विनाश, और असत् जीवका उत्पाद नहीं होता। जीवके देव, मनुष्य आदि पर्याय गतिनामकर्मसे होते हैं ॥ १९ ॥

ज्ञानावरणीय आदि कर्मभाव जीवने सुदृढ (अवगाढ) रूपसे बांधे हैं, उनका अभाव करनेसे वह अभूतपूर्व 'सिद्ध' होता है ॥ २० ॥

इस तरह गुणपर्यायसहित जीव भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभावसे संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ २१ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, आकाश तथा दूसरे अस्तिकाय किसीके बनाये हुए नहीं हैं, स्वरूपसे ही अस्तित्ववाले हैं, और लोकके कारणभूत हैं ॥ २२ ॥

सद्भाव स्वभाववाले जीवों और पुद्गलके परिवर्तनसे उत्पन्न जो काल है उसे निश्चयकाल कहा है ॥ २३ ॥

वह काल पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्शसे रहित है, अगुरुलघु है, अमूर्त्त और वर्तनालक्षणवाला है ॥ २४ ॥

समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, मास, ऋतु अयन और संवत्सर आदि यह व्यवहारकाल है ॥ २५ ॥

कालके किसी भी परिमाण (माप) के विना वहुत काल, अल्प काल यों नहीं कहा जा सकता। उसकी मर्यादा पुद्गलद्रव्यके विना नहीं होती। इस कारण कालका पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होना कहा जाता है ॥ २६ ॥

जीवत्ववाला, ज्ञाता, उपयोगवाला, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, वस्तुतः अमूर्त्त और कर्मावस्थामें मूर्त्त कर्मसंयुक्त ऐसा जीव है ॥ २७ ॥

कर्ममलसे सर्वथा मुक्त सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हो जानेसे ऊर्ध्व लोकांतको प्राप्त होकर अतींद्रिय अनंत सुखको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

अपने स्वाभाविक भावसे आत्मा सर्वज्ञ और सर्वलोकदर्शी होता है। वह अनंत, अव्यावाध अतींद्रिय और आत्मिक सुखको पाता है ॥ २९ ॥

वल, इंद्रिय, आयु और उच्छ्‌वास इन चार प्राणोंसे जो भूतकालमें जीता था, वर्तमानकालमें जीता है, और भविष्यकालमें जियेगा वह 'जीव' है ॥ ३० ॥

अनंत अगुरुलघु गुणोंसे निरंतर परिणत अनंत जीव हैं। वे असंख्यात प्रदेशप्रमाण हैं। कितने ही जीव लोकप्रमाण अवगाहनाको प्राप्त हैं ॥ ३१ ॥

कितने ही जीव उस अवगाहनाको प्राप्त नहीं हुए हैं। मिथ्यादर्शन, कषाय और योगसहित अनंत संसारी जीव हैं। उनसे रहित अनत सिद्ध हैं ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार पद्मराग नामका रत्न दूधमें डालनेसे दूधसे परिमाणके अनुसार प्रकाशित होता है, उसी प्रकार देहमें स्थित आत्मा मात्र देहप्रमाण प्रकाशक-व्यापक है ॥ ३३ ॥

जैसे एक कायामें सर्व अवस्थाओंमें वहीका वही जीव रहता है, वैसे सर्वत्र संसारावस्थामें भी वहीका वही जीव रहता है। अध्यवसायविशेषसे कर्मरूपी रजोमलसे वह जीव मलिन होता है ॥ ३४ ॥

जिनकी प्राणधारिता नहीं है—जिनकी प्राणधारिताका सर्वथा अभाव हो गया है, वे देहसे भिन्न और वचनसे अगोचर 'सिद्ध' जीव हैं ॥ ३५ ॥

वास्तवमें देखें तो सिद्ध जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह किसी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला कार्य नहीं है, इसी तरह वह किसीके प्रति कारणरूप भी नहीं है, क्योंकि किसी अन्य संबंधसे उसकी प्रवृत्ति नहीं है ॥ ३६ ॥

यदि मोक्षमें जीवका अस्तित्व ही न हो तो शाश्वत, अशाश्वत, भव्य, अभव्य, शून्य, अशून्य, विज्ञान और अविज्ञान ये भाव किसके हों ? ॥ ३७ ॥

कोई जीव कर्मके फलका वेदन करते हैं, कोई कर्मबंधकर्तृत्वका वेदन करते हैं, और कोई जीव मात्र शुद्ध ज्ञानस्वभावका वेदन करते हैं; इस तरह वेदकभावसे जीवराशिके तीन भेद हैं ॥३८॥

स्थावर जीव अपने अपने किये हुए कर्मोंके फलका वेदन करते हैं। त्रस जीव कर्मबंध चेतनाका वेदन करते हैं, और प्राणरहित अतींद्रिय जीव शुद्धज्ञानचेतनाका वेदन करते हैं ॥ ३९ ॥

ज्ञान और दर्शनके भेदसे उपयोग दो प्रकारका है, उसे जीवसे सर्वदा अनन्यभूत समझें ॥ ४० ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये ज्ञानके पाँच भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंग ये अज्ञानके तीन भेद हैं। ये सब ज्ञानोपयोगके भेद हैं ॥ ४१ ॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अविनाशी अनंत केवलदर्शन ये दर्शनोपयोगके चार भेद हैं ॥ ४२ ॥

ज्ञानगुणसे आत्मा भेदभावको प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् परमार्थसे तो गुणगुणीका भेद नहीं होता है। आत्मामें ज्ञान तो अनेक हैं। इसलिए ज्ञानियोंने द्रव्यको अनेक प्रकारका कहा है ॥ ४३ ॥

यदि गुणोंसे द्रव्य भिन्न हो और द्रव्यसे गुण भिन्न हों तो एक द्रव्यके अनंत द्रव्य हो जायें, अथवा द्रव्यका अभाव हो जाये ॥ ४४ ॥

द्रव्य और गुण अनन्यरूपसे हैं, दोनोंमें प्रदेशभेद नहीं है। उनमें ऐसी एकता है कि द्रव्यके नाशसे गुणका नाश हो जाता है और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश हो जाता है ॥ ४५ ॥

व्यपदेश (कथन), संस्थान, संख्या और विषय इन चार प्रकारकी विवक्षाओंसे द्रव्यगुणके अनेक भेद हो सकते हैं, परंतु परमार्थनयसे इन चारोंका अभेद है ॥ ४६ ॥

जिस तरह यदि पुरुषके पास धन हो तो वह धनवान कहा जाता है, इसी तरह आत्माके पास ज्ञान है, जिससे वह ज्ञानवान कही जाती है। इस तरह भेद-अभेदका स्वरूप है, तत्त्वज्ञ जिसे दोनों प्रकारसे जानते हैं ॥ ४७ ॥

यदि आत्मा और ज्ञानका सर्वथा भेद हो तो दोनों ही अचेतन हो जायें, ऐसा वीतराग सर्वज्ञका सिद्धांत है ॥ ४८ ॥

यदि ऐसा मानें कि ज्ञानके संबंधसे आत्मा ज्ञानी होती है तो आत्मा और अज्ञान-जडत्वका ऐक्य होनेका प्रसंग आता है ॥ ४९ ॥

समवर्तित्व समवाय है। वह अपृथग्भूत और अयुतसिद्ध है; इसलिए वीतरागोंने द्रव्य और गुणके संबंधको अयुतसिद्ध कहा है ॥ ५० ॥

परमाणुके वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये चार विशेष—गुण पुद्गलद्रव्यसे अभिन्न हैं। व्यवहारसे वे पुद्गलद्रव्यसे भिन्न कहे जाते हैं॥ ५१॥

इसी तरह दर्शन और ज्ञान भी जीवसे अनन्यभूत हैं। व्यवहारसे उनका आत्मासे भेद कहा जाता है॥ ५२॥

आत्मा (वस्तुतः) अनादि-अनंत है, और संतानकी अपेक्षासे सादि-सांत भी है और सादि-अनंत भी है। पाँच भावोंकी प्रधानतासे वे सब भंग होते हैं। सद्भाव—सत्तास्वरूपसे जीव द्रव्य अनंत है॥ ५३॥

इस तरह सत् (जीव-पर्याय)का विनाश और असत् जीवका उत्पाद होता है, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध होनेपर भी सर्वज्ञ वीतरागने अविरुद्ध—विरोधरहित कहा है॥ ५४॥

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये नामकर्मकी प्रकृतियाँ सत्का विनाश और असत् भावका उत्पाद करती हैं॥ ५५॥

उदय, उपशम, क्षायिक, क्षयोपशम और पारिणामिक भावोंसे जीवके गुणोंका बहुत विस्तार है॥ ५६॥

॥ ५७॥ ५८॥ ५९॥

द्रव्यकर्मके निमित्तको पाकर जीव उदय आदि भावोंमें परिणमन करता है; भावकर्मका निमित्त पाकर द्रव्यकर्मका परिणमन होता है। कोई किसीके भावका कर्ता नहीं है, इसी तरह कर्ताके बिना होते नहीं हैं॥ ६०॥

सब अपने अपने स्वभावका कर्त्ता हैं, इसी तरह आत्मा भी अपने ही भावका कर्त्ता है, आत्मा पुद्गलकर्मका कर्त्ता नहीं है; यह जिन-वचन समझने योग्य है॥ ६१॥

कर्म अपने स्वभावके अनुसार यथार्थ परिणमन करता है, जीव अपने स्वभावके अनुसार भावकर्मको करता है॥ ६२॥

यदि कर्म ही कर्मका कर्त्ता हो, और आत्मा ही आत्माका कर्त्ता हो, तो फिर उस कर्मका फल कौन भोगेगा? और कर्म अपने फलको किसे देगा?॥ ६३॥

संपूर्ण लोक सूक्ष्म-बादर, अनंतानंत और विविध पुद्गल-समूहोंसे भरपूर भरा हुआ है॥६४॥

आत्मा जब भावकर्मरूप अपने स्वभावको करती है, तब वहाँ रहे हुए पुद्गलपरमाणु अपने स्वभावके कारण कर्मभावको प्राप्त होते हैं, और परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूपसे अवगाढता पाते हैं॥ ६५॥

जैसे पुद्गलद्रव्यसे दूसरोंसे न की हुई अनेक स्कंधोंकी परिणति देखी जाती है, वैसे ही कर्मरूपसे स्वभावतः पुद्गलद्रव्य परिणमित होते हैं॥ ६६॥

जीव और पुद्गलसमूह परस्पर अवगाढ-ग्रहणसे प्रतिबद्ध हैं। इसलिए यथाकाल उदय होनेपर जीव सुखदुःखरूप फलका वेदन करता है॥ ६७॥

इसलिए कर्मभावका कर्ता जीव है और भोक्ता भी जीव है। वेदक भावके कारण वह कर्म-फलका अनुभव करता है॥ ६८॥

इस तरह आत्मा अपने भावसे कर्त्ता और भोक्ता होती है। मोहसे भलीभांति आच्छादित जीव संसारमें परिभ्रमण करता है॥ ६९॥

(मिथ्यात्व) मोहका उपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे वीतरागकथित मार्गको प्राप्त हुआ धीर, शुद्ध ज्ञानाचारवान जीव निर्वाणपुरको जाता है॥ ७०॥

एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार गतियोंके भेदसे, पाँच गुणोंकी मुख्यतासे, छः कायके भेदसे, सात भंगोंके उपयोगसे, आठ गुणों अथवा आठ कर्मोंके भेदसे, नव तत्त्वसे, और दशस्थानकसे जीवका निरूपण किया गया है ॥ ७१–७२ ॥

प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंधसे सर्वथा मुक्त होनेसे जीव ऊर्ध्वगमन करता है। संसार अथवा कर्मावस्थामें जीव विदिशाको छोड़कर दूसरी दिशाओंमें गमन करता है ॥ ७३ ॥

स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु इस तरह पुद्गलास्तिकायके चार भेद समझें ॥७४॥

सकल समस्तको 'स्कंध', उसके आधेको 'देश', उसके आधेको 'प्रदेश' और अविभागीको 'परमाणु' कहते हैं ॥ ७५ ॥

बादर और सूक्ष्म परिणमन प्राप्त स्कंधोंमें पूरण (बढ़ना) और गलन (घटना) स्वभाव होनेसे परमाणु पुद्गल कहा जाता है। उसके छः भेद हैं, जिनसे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ॥ ७६ ॥

सर्व स्कंधोंका जो अंतिम भेद है वह परमाणु है। वह शाश्वत, शब्दरहित, एक, अविभागी और मूर्त होता है ॥ ७७ ॥

जो विवक्षासे मूर्त्त और चार धातुओंका कारण है उसे परमाणु समझें, वह परिणामी है, स्वयं अशब्द-शब्दरहित है, परंतु शब्दका कारण है ॥ ७८ ॥

स्कंधसे शब्द उत्पन्न होता है। अनंत परमाणुओंके मिलापके संघात-समूहको 'स्कंध', कहा है। इन 'स्कंधों' का परस्पर स्पर्श होनेसे—संघर्ष होनेसे निश्चित अन्य वर्गणाओंको शब्दायमान करनेवाला 'शब्द' उत्पन्न होता है ॥ ७९ ॥

वह परमाणु नित्य है, अपने रूप आदि गुणोंको अवकाश-आश्रय देता है, स्वयं एकप्रदेशी होनेसे एक प्रदेशके बाद अवकाशको प्राप्त नहीं होता, दूसरे द्रव्यको अवकाश (आकाशकी तरह) नहीं देता, स्कंधके भेदका कारण है, स्कंधके खंडका कारण है, स्कंधका कर्त्ता है, और कालके परिमाण (माप) और संख्याका हेतु है ॥ ८० ॥

जो द्रव्य एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शसे युक्त है, शब्दकी उत्पत्तिका कारण है, एकप्रदेशात्मकतासे शब्दरहित है स्कंधपरिणमित होनेपर भी उससे भिन्न है, उसे परमाणु समझें ॥ ८१ ॥

जो इंद्रियोंसे उपभोग्य है, तथा काया, मन और कर्म आदि जो जो मूर्त्त पदार्थ हैं उन सबको पुद्गलद्रव्य समझें ॥ ८२ ॥

धर्मास्तिकाय अरस, अवर्ण, अगंध, अशब्द और अस्पर्श है; सकल लोकप्रमाण है; अखंडित, विस्तीर्ण और असंख्यातप्रदेशात्मक द्रव्य है ॥ ८३ ॥

वह अनंत अगुरुलघुगुणोंसे परिणमित है; नित्य है; गतिक्रियायुक्त जीव आदिके लिए कारणभूत है; और स्वयं अकार्य है; अर्थात् किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है ॥ ८४ ॥

जिस तरह मत्स्यकी गतिमें जल उपकारक है, उसी तरह जो जीव और पुद्गलकी गतिमें उपकारक है, उसे 'धर्मास्तिकाय' जानें ॥ ८५ ॥

जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य है वैसे अधर्मास्तिकाय भी द्रव्य है। वह स्थितिक्रियायुक्त जीव और पुद्गलको पृथ्वीकी भाँति कारणभूत है ॥ ८६ ॥

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके कारण लोक-अलोकका विभाग होता है, और जिनसे

गति-स्थिति होती है। धर्म और अधर्म दोनों अपने अपने प्रदेशोंसे भिन्न भिन्न हैं। एक लोकाकाश क्षेत्रकी अपेक्षासे भिन्न नहीं हैं। स्वयं हलन-चलन क्रियासे रहित हैं, और लोकप्रमाण हैं ॥ ८७ ॥

धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलको चलाता है, ऐसी बात नहीं है; जीव और पुद्गल गति करते हैं, उन्हें सहायक है ॥ ८८ ॥

॥ ८९ ॥

जो सब जीवों तथा शेष पुद्गल आदि द्रव्योंको संपूर्ण अवकाश देता है, उसे 'लोकाकाश' कहते हैं ॥ ९० ॥

जीव, पुद्गलसमूह, धर्म और अधर्म, ये द्रव्य लोकसे अनन्य हैं; अर्थात् लोकमें हैं, लोकसे बाहर नहीं हैं। आकाश लोकसे भी बाहर है, और वह अनंत है, जिसे अलोक कहते हैं ॥ ९१ ॥

यदि गति और स्थितिका कारण आकाश होता, तो धर्म और अधर्म द्रव्यके अभावके कारण सिद्ध भगवानका अलोकमें भी गमन हो जाता ॥ ९२ ॥

इसीलिए सर्वज्ञ वीतरागदेवने सिद्ध भगवानका स्थान ऊर्ध्वलोकांतमें बताया है। इसलिए यह जानें कि आकाश गति और स्थितिका कारण नहीं है ॥ ९३ ॥

यदि आकाश जीव-पुद्गलोंकी गति-स्थितिमें कारण होता, तो अलोककी हानि होती और लोकके अंतकी वृद्धि भी हो जाती ॥ ९४ ॥

इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्य गति तथा स्थितिके कारण हैं, परंतु आकाश नहीं है। इस प्रकार सर्वज्ञ वीतरागदेवने श्रोता जीवोंको लोकका स्वभाव बताया है ॥ ९५ ॥

धर्म, अधर्म और लोकाकाश अपृथग्भूत (एकक्षेत्रावगाही) और समान परिमाणवाले हैं। निश्चयसे तीनों द्रव्योंकी पृथक् उपलब्धि है, पृथक् उपलब्ध होते हैं, और अपनी अपनी सत्तासे रहते हैं। इस तरह इनमें एकता और अनेकता, दोनों हैं ॥ ९६ ॥

आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त्त हैं; और पुद्गलद्रव्य मूर्त्त है, उनमें जीवद्रव्य चेतन है ॥ ९७ ॥

जीव और पुद्गल एक दूसरेकी क्रियामें सहायक हैं। उस तरह दूसरे द्रव्य सहायक नहीं हैं। जीव पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे क्रियावान होता है। कालके कारणसे पुद्गल अनेक स्कंधरूपसे परिणमन करता है ॥ ९८ ॥

जीवद्वारा जो इंद्रियग्राह्य विषय अर्थात् पुद्गल-जनित पदार्थ हैं वे मूर्त्त हैं, शेष अमूर्त हैं। मन मूर्त्त एवं अमूर्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानता है। अर्थात् मन अपने विचारसे निश्चित पदार्थोंको जानता है ॥ ९९ ॥

काल परिणामसे उत्पन्न होता है, परिणाम द्रव्यकालसे उत्पन्न होता है। दोनोंका यह स्वभाव है। 'निश्चयकाल' से 'क्षणभंगुरकाल' होता है ॥ १०० ॥

काल शब्द अपने सद्भाव—अस्तित्वका बोधक है, उनमेंसे एक—निश्चयकाल नित्य है। दूसरा समयरुप व्यवहारकाल उत्पत्ति विनाशवाला है, और दीर्घांतर स्थायी है ॥ १०१ ॥

काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव, इन सबकी द्रव्य संज्ञा है। कालकी अस्तिकाय संज्ञा नहीं है ॥ १०२ ॥

इस तरह निर्ग्रंथके प्रवचनके रहस्यभूत इस पंचास्तिकायके स्वरूप-विवेचनके संक्षेपको जो यथार्थरूपसे जानकर राग और द्वेषसे मुक्त हो जाता है वह सब दुःखोंसे परिमुक्त हो जाता है॥१०३॥

इस परमार्थको जानकर जो जीव मोहका नाशक हुआ है और जिसने रागद्वेषको शांत किया है वह जीव संसारकी दीर्घ परंपराका नाश करके शुद्धात्मपदमें लीन हो जाता है ॥ १०४ ॥

इति पंचास्तिकाय प्रथम अध्याय ।

× × ×

ॐ जिनाय नमः । नमः श्री सद्गुरवे ।

मोक्षके कारण श्री भगवान महावीरको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उस भगवानके कहे हुए पदार्थप्रभेदरुप मोक्षके मार्गको कहता हूँ ॥ १०५ ॥

सम्यक्त्व एवं ज्ञानसे युक्त रागद्वेषरहित चारित्र मोक्षका मार्ग है, जो स्वपरविवेकबुद्धि-वाले भव्य जीवोंके लिए होता है ॥ १०६ ॥

तत्त्वार्थकी प्रतीति 'सम्यक्त्व' है, तत्त्वार्थका ज्ञान 'ज्ञान' है और विषयके विमूढ मार्गके प्रति शांतभाव 'चारित्र' है ॥ १०७ ॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष-ये नव तत्त्व हैं ॥ १०८ ॥

जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और असंसारी । दोनों चैतन्यस्वरूप और उपयोगलक्षणवाले हैं । संसारी देहसहित और असंसारी देहरहित होते हैं ॥ १०९ ॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति-ये जीवसंश्रित काय हैं । इन जीवोंको मोहकी प्रबलता है और स्पर्श-इंद्रियका ज्ञान है ॥ ११० ॥

स्थावरनामकर्मके उदयसे पृथिवी, जल और वनस्पति इन तीन प्रकारके जीवोंको एकेंद्रिय जानें । उन पाँच स्थावरोंमें वायुकाय और अग्निकायमें दो प्रकारके जीव यद्यपि त्रस हैं तथापि स्थावरनामकर्मके उदयसे स्थावर-एकेंद्रिय ही कहे जाते हैं । ये एकेंद्रिय जीव मनः परिणाम विरहित-मनोयोगरहित हैं ॥ १११ ॥

पृथिवी आदि पाँच प्रकारके जीव मनोयोगरहित एकेंद्रिय जीव हैं ऐसा सर्वज्ञने कहा है ॥ ११२ ॥

जिस तरह अंडेमें पक्षीका गर्भ बढ़ता है, जिस तरह मनुष्य गर्भमें मूर्च्छागत अवस्था होने पर जीवत्व है; उसी तरह एकेंद्रिय जीव भी समझें ॥ ११३ ॥

शंबूक, शंख, सीप, कृमि इत्यादि जीव रस और स्पर्शको जानते हैं, वे दो इन्द्रिय हैं ॥११४॥

जूँ, मकड़ी, चींटी, बिच्छू इत्यादि और अनेक प्रकारके दूसरे भी कीड़े रस, गंध और स्पर्शको जानते हैं, वे तीन इंद्रिय जीव हैं ॥ ११५ ॥

डांस, मच्छर, मक्खी, भ्रमरी, भ्रमर, पतंग आदि रूप, रस, गंध और स्पर्शको जानते हैं, वे चार इंद्रिय जीव हैं ॥ ११६ ॥

देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच, जलचर, स्थलचर और खेचर वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्दको जानते हैं, तथा वलवान हैं, ये पाँच इंद्रिय जीव हैं ॥ ११७ ॥

देवताके चार निकाय हैं । मनुष्य कर्म और अकर्म भूमिके भेदसे दो प्रकारके हैं । तिर्यंचके अनेक प्रकार हैं । नारकी जितने नरक-पृथ्वीके भेद हैं उतने ही हैं ॥ ११८ ॥

पूर्वकालमें बाँधे हुए गतिनामकर्म और आयुनामकर्मके क्षीण हो जानेपर अपनी लेश्याके प्रभावसे अन्य गति और आयुको प्राप्त होते हैं ॥ ११९ ॥

पूर्वोक्त जीव देह-परिवर्तनको प्राप्त हुए बताये गये हैं। ये भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकारके हैं। देहरहित जीव 'सिद्ध' है ॥ १२० ॥

इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं, काय भी जीव नहीं है; परंतु जीवके ग्रहण किये हुए साधन मात्र हैं। जो उन इंद्रियों और शरीरोंमें चैतन्यभाव है उसको ही जीव कहा गया है ॥ १२१ ॥

जो सब जानता है, देखता है, सुख चाहता है, दुःखसे डरता है, शुभ-अशुभ क्रियाको करता है और उनका फल भोगता है, वह 'जीव' है ॥ १२२ ॥

॥ १२३ ॥

आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्यमें जीवगुण नहीं हैं; उन्हें अचेतन कहते हैं, और जीवको सचेतन कहते हैं ॥ १२४ ॥

सुख-दुःखका वेदन, हितमें प्रवृत्ति, अहितसे भीति–ये तीन कालमें जिसमें नहीं है उसे सर्वज्ञ महामुनि अजीव कहते हैं ॥ १२५ ॥

संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द इस तरह पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होनेवाले अनेक गुणपर्याय हैं ॥ १२६ ॥

जीवको अरस, अरूप, अगंध अशब्द, अव्यक्त, चेतना-गुणवाला, इन्द्रियादिसे अगोचर, और अनिर्दिष्ट संस्थान अर्थात् निराकार जानें ॥ १२७ ॥

जो निश्चयसे संसारस्थित जीव है, उसका अशुद्ध परिणाम होता है। उस परिणामसे कर्म उत्पन्न होता है, उससे शुभ और अशुभ गति होती है ॥ १२८ ॥

गतिकी प्राप्तिसे देह होती है, देहसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण होता है, और उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं ॥ १२९ ॥

संसाररूपी चक्रके परिभ्रमणमें जीवका इस प्रकारका अशुद्धभाव उत्पन्न होता है। वह अशुद्धभाव अभव्यजीवकी अपेक्षा अनादि-अनंत है अथवा भव्यजीवकी अपेक्षा अंतसहित है ॥१३०॥

जिसके भावोंमें अज्ञान, रागद्वेष और चित्तप्रसन्नता रहती है, उसके शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं ॥ १३१ ॥

जीवको शुभ परिणामसे पुण्य होता है, और अशुभ परिणामसे पाप होता है। उससे शुभाशुभ पुद्गलके ग्रहणरूप कर्मत्व प्राप्त होता है ॥ १३२ ॥

॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

तृषातुर, क्षुधातुर और दुःखितको देखकर जो मनमें दुःखी होता है वह दया भावसे दुःख मिटानेकी प्रवृत्ति करता है उसे अनुकंपा कहा जाता है ॥ १३७ ॥

जिस समय क्रोध, मान, माया और लोभ मनको प्राप्त होकर आत्मामें क्षोभ अर्थात् अति आकुलतारूप भावको उत्पन्न करता है उसे महाज्ञानी कालुष्य चित्तकी मलिनता कहते हैं ॥१३८॥

बहुत प्रमादवाली क्रिया, चित्तकी मलिनता, इन्द्रिय-विषयमें लोलुपता, दूसरे जीवोंको दुःख देना और उनकी निंदा करना इत्यादि आचरणोंसे जीव पापास्रव करता है ॥ १३९ ॥

चार संज्ञा, कृष्णादि तीन लेश्या, इन्द्रियवशता, आर्त्त और रौद्र ध्यान, असत्क्रियामें ज्ञानका उपयोग करना तथा मोह पापरूप आस्रवके कारण हैं ॥ १४० ॥

इन्द्रियों, कषाय और संज्ञाको जय करनेवाले कल्याणकारी मार्गमें जीव जिस समय रहता है उस समय उसके पापास्रवरूप छिद्रका निरोध हो जाता है ॥ १४१ ॥

जिसके सब द्रव्योंमें राग, द्वेष और मोह नहीं रहते हैं, ऐसे सुख-दुःखमें समदृष्टिके स्वामी निर्ग्रंथ महात्माको शुभाशुभ आस्रव नहीं होता ॥ १४२ ॥

जिस संयमीके योगोमें जब पुण्य-पापकी प्रवृत्ति नहीं होती तब उसके शुभाशुभ कर्मके कर्तृत्वका 'संवर'—'निरोध' हो जाता है ॥ १४३ ॥

जो संवर और योगसे युक्त संयमी अनेक प्रकारके तप करता है वह निश्चयसे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥ १४४ ॥

जो आत्मार्थका साधक संवरयुक्त होकर, आत्मस्वरूपको जानकर तद्रूप ध्यान करता है वह महात्मा साधु कर्मरजको झाड़ डालता है ॥ १४५ ॥

जिसके राग, द्वेष, मोह और योगपरिणमन नहीं है उसके शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर भस्म कर देनेवाली ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है ॥ १४६ ॥

॥ १४७ ॥ १४८ ॥ १४९ ॥ १५० ॥ १५१ ॥

दर्शनज्ञानसे परिपूर्ण, अन्य द्रव्यके संसर्गसे रहित ऐसा ध्यान जो निर्जराहेतुसे करता है वह महात्मा 'स्वभावसहित' है ॥ १५२ ॥

जो संवरयुक्त सब कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयुकर्मसे रहित होता है, वह महात्मा उसी भवमें 'मोक्ष' जाता है ॥ १५३ ॥

जीवका स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन है। उसके अनन्यमय आचरण (शुद्ध निश्चयमय स्थिर स्वभाव) को सर्वज्ञ वीतरागने 'निर्मल चारित्र' कहा है ॥ १५४ ॥

यद्यपि यह आत्मा स्वभाव नियत अर्थात् निश्चयसे अपने शुद्ध आत्मिक भावोंमें निश्चल है, तथापि व्यवहारनयसे अनादि अविद्याकी वासनासे परद्रव्यमें उपयोग होनेसे परद्रव्यके पर्यायोंमें रत है, अपने गुण पर्यायोंमें निश्चल नहीं है ऐसा यह जीव परसमयवाला कहा जाता है। यदि स्वसमयको प्राप्त हो जाता है तो कर्मबंधसे रहित हो जाता है ॥ १५५ ॥

जो परद्रव्यमें शुभ अथवा अशुभ राग करता है वह जीव स्वचारित्रसे भ्रष्ट है और परचारित्रका आचरण करता है, ऐसा समझें ॥ १५६ ॥

जिस भावसे आत्माको पुण्य अथवा पाप-आस्रवकी प्राप्ति होती है, उसमें प्रवृत्ति करनेवाली आत्मा परचारित्रका आचरण करती है, इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञने कहा है ॥ १५७ ॥

जो सर्व संगसे मुक्त होकर अनन्यमयतासे आत्मस्वभावमें स्थित है, निर्मल ज्ञाता-दृष्टा है, वह जीव स्वचारित्रका आचरण करनेवाला है ॥ १५८ ॥

परद्रव्यमें अहंभावरहित, निर्विकल्प ज्ञानदर्शनमय परिणामी आत्मा है वह स्वचारित्राचरण है ॥ १५९ ॥

धर्मास्तिकायादिके स्वरूपकी प्रतीति 'सम्यक्त्व' है, बारह अंग और चौदह पूर्वका जानना 'ज्ञान' है; और तपश्चर्यादिमें प्रवृत्ति करना 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' है ॥ १६० ॥

उन तीनसे समाहित आत्मा, जहाँ आत्माके सिवाय अन्य किंचित् मात्र नहीं करती, मात्र अनन्य आत्मामय है वहाँ सर्वज्ञ वीतरागने 'निश्चय-मोक्षमार्ग' कहा है ॥ १६१ ॥

जो आत्मा आत्मस्वभावमय ज्ञानदर्शनका अनन्यमयतासे आचरण करती है, उसे वह निश्चय ज्ञान, दर्शन और चारित्र है ॥ १६२ ॥

जो इस सबको जानता है, देखता है वह अव्याबाध सुखका अनुभव करता है। इन भावोंकी प्रतीति भव्यको होती है, अभव्यको नहीं होती ॥ १६३ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह मोक्षमार्ग है; इसके सेवनसे 'मोक्ष' प्राप्त होता है और अमुक हेतुसे बंध होता है ऐसा मुनियोंने कहा है ॥ १६४ ॥

॥ १६५ ॥

अर्हंत्, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिगण, ज्ञानकी भक्तिसे परिपूर्ण आत्मा अनेक प्रकारके शुभ कर्मको बाँधती है, किंतु वह आत्मा कर्मक्षय नहीं करती ॥ १६६ ॥

जिसके हृदयमें अणुमात्र भी परद्रव्यके प्रति राग रहता है, वह सभी आगमोंका ज्ञाता हो तो भी 'स्वसमय'को नहीं जानता है, ऐसा समझें ॥ १६७ ॥

॥ १६८ ॥

इसलिए मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्ममत्व होकर सिद्धस्वरूपकी भक्ति करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ १६९ ॥

जिसे नव पदार्थ और परमेष्ठीमें श्रद्धापूर्वक भक्ति है, जो निर्ग्रंथ-प्रवचनमें श्रद्धा रखता है और संयमतपसहित है, उसके लिए मोक्ष दूर नहीं है ॥ १७० ॥

अर्हंत्, सिद्ध, चैत्य और प्रवचनका भक्त होकर जो उत्कृष्ट संयमसे तपश्चर्या करता है, वह देवलोकको अंगीकार करता है ॥ १७१ ॥

इसलिए मोक्षाभिलाषी सर्वत्र किंचित् मात्र भी राग न करे, जिससे वह जीव वीतराग होता हुआ भव्य होकर भवसागरको तर जाता है ॥ १७२ ॥

मैंने प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिए प्रवचनके रहस्यभूत 'पंचास्तिकाय'के संग्रहरूप इस शास्त्रको कहा है ॥ १७३ ॥

इति पंचास्तिकायसमाप्तम् ।

[७०३] ७६७ ववाणिया, चैत्र सुदी ३, रवि, १९५३

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं है और परमद्वेषसे उपसर्ग करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं है, उस पुरुषरूप भगवानको वारंवार नमस्कार ।

अद्वेषवृत्तिसे वर्तन करना योग्य है, धीरज कर्तव्य है ।

मुनि देवकीर्णजीको 'आचारांग' पढ़ते हुए दीर्घशंका आदि कारणोंके विषयमें भी साधुका मार्ग अत्यंत कठिन देखनेमें आया, जिससे यह आशंका हुई कि ऐसी साधारण क्रियामें भी इतनी अधिक कठिनता रखनेका क्या कारण होगा ? उस आशंकाका समाधान :—

सतत अंतर्मुख उपयोगमें स्थिति रखना ही निर्ग्रंथका परम धर्म है । यह निर्ग्रंथका मुख्य मार्ग है कि एक समयके लिए भी बहिर्मुख उपयोग न किया जाये; परन्तु उस संयमके लिए देह आदि साधन हैं, उनके निर्वाहके लिए सहज भी प्रवृत्ति होना योग्य है । कुछ भी वैसी प्रवृत्ति करते हुए उपयोग बहिर्मुख होनेका निमित्त हो जाता है । इसलिए उस प्रवृत्तिको इस ढंगसे करनेका विधान है कि उपयोगकी अंतर्मुखता बनी रहे । केवल और सहज अंतर्मुख उपयोग तो मुख्यतया केवलभूमिका नामके तेरहवें गुणस्थानकमें होता है । और निर्मल विचारधाराकी प्रबलतासहित अन्तर्मुख उपयोग सातवें गुणस्थानकमें होता है । प्रमादसे वह उपयोग स्खलित होता है; और कुछ विशेष अंशमें स्खलित हो जाये; तो विशेष बहिर्मुख उपयोग हो जाता है, जिससे भाव-असंयमरूप-

से उपयोगकी प्रवृत्ति होती है। उसे न होने देनेके लिए और देह आदि साधनोंके निर्वाहकी प्रवृत्ति न छोड़ी जा सकनेवाली जैसी होनेसे, वह प्रवृत्ति अंतर्मुख उपयोगसे हो सके, ऐसी अद्भुत संकलनासे उसका उपदेश किया है, जिसे पाँच समिति कहा जाता है।

चलना पड़े तो आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक चलना; बोलना पड़े तो आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक बोलना; आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक आहार आदिका ग्रहण करना; आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक वस्त्र आदिका लेना और रखना; और आज्ञानुसार उपयोगपूर्वक दीर्घशंका आदि शरीर-मलका त्याग करने योग्य त्याग करना; इस प्रकार प्रवृत्तिरूप पाँच समिति कही है। संयममें प्रवृत्ति करनेके लिए जिन जिन दूसरे प्रकारोंका उपदेश किया है, उन सबका इन पाँच समितियोंमें समावेश हो जाता है; अर्थात् जो कुछ निर्ग्रंथको प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा दी है, उनमेंसे जिस प्रवृत्तिका त्याग करना अशक्य है, उसी प्रवृत्तिकी आज्ञा दी है, और वह इस प्रकारसे दी है कि मुख्य हेतुभूत अंतर्मुख उपयोग अस्खलित बना रहे। तदनुसार प्रवृत्ति की जाये तो उपयोग सतत जाग्रत बना रहे, और जिस जिस समय जीवकी जितनी ज्ञानशक्ति तथा वीर्यशक्ति है वह सब अप्रमत्त बनी रहे।

दीर्घशंका आदि क्रियाओंको करते हुए भी अप्रमत्त संयमदृष्टिका विस्मरण न हो जाये इस हेतुसे वैसी कठोर क्रियाओंका उपदेश दिया है, परंतु सत्पुरुषकी दृष्टिके बिना वे समझमें नहीं आतीं। यह रहस्यदृष्टि संक्षेपमें लिखी है, इस पर अधिकाधिक विचार करना चाहिए। सभी क्रियाओंमें प्रवृत्ति करते हुए इस दृष्टिको स्मरणमें रखनेका ध्यान रखना योग्य है।

श्री देवकीर्णजी आदि सभी मुनियोंको इस पत्रकी वारंवार अनुप्रेक्षा करना योग्य है। श्री लल्लुजी आदि मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो। कर्मग्रंथकी वाचना पूरी होनेपर पुनः आवर्तन करके अनुप्रेक्षा कर्तव्य है।

●

[७०४-१] ७६८ ववाणिया, चैत्र सुदी ४, सोम, १९५३

श्री भावनगर स्थित शुभेच्छायुक्त श्री केशवलालके प्रति,

पत्र प्राप्त हुआ है। आशंका समाधान इस प्रकार है :—

एकेंद्रिय जीवको अव्यक्तरूपसे अनुकूल स्पर्श आदिकी प्रियता है, वह 'मैथुनसंज्ञा' है।

एकेंद्रिय जीवको देह और देहके निर्वाह आदिके साधनोंमें अव्यक्त मूर्च्छारूप 'परिग्रहसंज्ञा' है।

वनस्पति एकेंद्रिय जीवमें यह संज्ञा कुछ विशेष व्यक्त है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान—ये आठों जीवके उपयोगरूप होनेसे अरूपी कहे हैं। ज्ञान और अज्ञान इन दोनोंमें मुख्य अंतर इतना ही है कि जो ज्ञान समकितसहित है वह 'ज्ञान' है और जो मिथ्यात्वसहित है वह 'अज्ञान' है। परंतु वस्तुतः दोनों ज्ञान हैं।

'ज्ञानावरणीयकर्म' और 'अज्ञान' दोनों एक नहीं हैं। 'ज्ञानावरणीयकर्म' ज्ञानका आवरणरूप है, और 'अज्ञान' ज्ञानावरणीयकर्मका क्षयोपशमरूप अर्थात् आवरण दूर होनेरूप है।

साधारण भाषामें 'अज्ञान' शब्दका अर्थ 'ज्ञानरहित' होता है, जैसे कि जड़ ज्ञानसे रहित है। परंतु निर्ग्रंथ-परिभाषामें तो मिथ्यात्वसहित ज्ञानका नाम अज्ञान है; इसलिए उस दृष्टिसे अज्ञानको अरूपी कहा है।

यह आशंका हो सकती है कि यदि अज्ञान अरूपी हो तो सिद्धमें भी होना चाहिए। इसका समाधान यह है :—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही 'अज्ञान' कहा है, उसमेंसे मिथ्यात्व निकल जानेसे

बाकी ज्ञान रहता है, वह ज्ञान संपूर्ण शुद्धतासहित सिद्ध भगवानमें रहता है। सिद्ध, केवलज्ञानी और सम्यग्दृष्टिका ज्ञान मिथ्यात्वरहित है। मिथ्यात्व जीवको भ्रांतिरूप है। वह भ्रांति यथार्थ समझमें आ जानेपर निवृत्त हो सकने योग्य है। मिथ्यात्व दिशाभ्रमरूप है।

श्री कुंवरजीकी अभिलाषा विशेष थी, परंतु किसी एक हेतुविशेषके विना पत्र लिखना अभी बन नहीं पाता। यह पत्र उन्हें पढ़वानेकी विनती है।

●

[७०४-२] ७६९ ववाणिया, चैत्र सुदी ४, १९५३

तीन प्रकारके समकितोंमेंसे चाहे जिस प्रकारका समकित प्रगट हो तो भी अधिकसे अधिक पंद्रह भवोंमें मोक्ष हो जाता है, और यदि उस समकित होनेके बाद जीव उसका वमन कर दे तो अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तनकाल तक संसारभ्रमण होकर मोक्ष हो।

तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथनियों, श्रावक और श्राविकाओं सभीको जीव-अजीवका ज्ञान था इसलिए उन्हें समकित कहा हो, यह बात नहीं है। उनमेंसे अनेक जीवोंको मात्र सच्चे अंतरंग भावसे तीर्थंकरकी और उनके उपदिष्ट मार्गकी प्रतीतिसे भी समकित कहा है। इस समकितको पानेके बाद यदि उसका वमन न किया हो तो अधिकसे अधिक पंद्रह भव हों। सच्चे मोक्षमार्गको प्राप्त किये हुए पुरुषकी तथारूप प्रतीतिसे सिद्धांतमें अनेक स्थलोंमें समकित कहा है। इस समकितके आये विना जीवको प्रायः जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता। जीव-अजीवका ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य मार्ग यही है।

●

[७०४-३] ७७० ववाणिया, चैत्र सुदी ४, १९५३

ज्ञान जीवका रूप है, इसलिए वह अरूपी है, और ज्ञान जब तक विपरीतरूपसे जाननेका कार्य करता है, तब तक उसे अज्ञान कहना ऐसी निर्ग्रंथ-परिभाषा की है, परन्तु यहाँ यह समझना कि ज्ञानका दूसरा नाम ही अज्ञान है।

ज्ञानका दूसरा नाम अज्ञान हो तो जिस तरह ज्ञानसे मोक्ष होना कहा है, उसी तरह अज्ञानसे भी मोक्ष होना चाहिए। इसी तरह जैसे मुक्त जीवमें भी ज्ञान कहा है वैसे अज्ञान भी कहना चाहिए, ऐसी आशंका की है, जिसका समाधान यह है:—

गाँठ पड़नेसे उलझा हुआ सूत्र और गाँठ निकल जानेसे सुलझा हुआ सूत्र ये दोनों सूत्र ही हैं; फिर भी गाँठकी अपेक्षासे उलझा हुआ सूत्र और सुलझा हुआ सूत्र कहा जाता है। उसी तरह मिथ्यात्वज्ञान 'अज्ञान' और सम्यग्ज्ञान 'ज्ञान' ऐसी परिभाषा की है; परंतु मिथ्यात्वज्ञान जड है और सम्यग्ज्ञान चेतन है यह बात नहीं है। जिस तरह गाँठवाला सूत्र और गाँठके बिनाका सूत्र दोनों सूत्र ही हैं, उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानसे संसार-परिभ्रमण और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष होता है। जैसे कि यहाँसे पूर्व दिशामें दस कोस दूर एक गाँव है; वहाँ जानेके लिए निकला हुआ मनुष्य दिशाभ्रमसे पूर्वके बदले पश्चिममें चला जाये, तो वह पूर्व दिशावाला गाँव प्राप्त न हो, परंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने चलनेकी क्रिया नहीं की; उसी तरह देह और आत्मा भिन्न होनेपर भी जिसने देह और आत्माको एक समझा है वह जीव देहबुद्धिसे संसारपरिभ्रमण करता है; परंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने जाननेका कार्य नहीं किया है। पूर्वसे पश्चिमकी ओर चला है, यह जिस तरह पूर्वको पश्चिम माननेरूप भ्रम है, उसी तरह देह और आत्मा भिन्न होनेपर

भी दोनोंको एक माननेरूप भ्रम है; परंतु पश्चिममें जाते हुए—चलते हुए जिस तरह चलनेरूप स्वभाव है, उसी तरह देह और आत्माको एक माननेमें भी जाननेरूप स्वभाव भी है। जिस तरह पूर्वके वदले पश्चिमको पूर्व मान लेना भ्रम है, वह भ्रम तथारूप हेतु-सामग्रीके मिलनेपर समझमें आनेसे जब पूर्व पूर्व ही समझमें आता है, और पश्चिम पश्चिम ही समझमें आता है, तव वह भ्रम दूर हो जाता है, और पूर्वकी तरफ चलने लगता है; उसी तरह देह और आत्माको एक मान लेनेका भ्रम सद्गुरु उपदेशादि सामग्री मिलनेपर दोनों भिन्न हैं यों यथार्थ समझमें आ जाता है, तब भ्रम दूर होकर आत्माके प्रति ज्ञानोपयोग परिणमित होता है। भ्रममें पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व मान लेनेपर भी पूर्व पूर्व ही और पश्चिम पश्चिम ही था, मात्र भ्रमसे विपरीत भासित होता था। उसी तरह अज्ञानमें भी देह देह ही और आत्मा आत्मा ही होनेपर भी वे उस तरह भासित नहीं होते, यह विपरीत भासना है। वह यथार्थ समझमें आनेपर, भ्रम निवृत्त हो जानेसे देह देह ही और आत्मा आत्मा ही भासित होती है; और जाननेरूप स्वभाव जो विपरीत भावको भजता था वह सम्यग्भावको भजता है। वस्तुतः दिशाभ्रम कुछ भी नहीं है, और चलनेरूप क्रियासे इष्ट गाँव प्राप्त नहीं होता, उसी तरह मिथ्यात्व भी वस्तुतः कुछ भी नहीं है, और उसके साथ जाननेरूप स्वभाव भी है; परंतु साथमें मिथ्यात्वरूप भ्रम होनेसे स्वस्वरूपतामें परमस्थिति नहीं होती। दिशाभ्रम दूर हो जानेसे इष्ट गाँवकी ओर मुड़नेके वाद मिथ्यात्वका भी नाश हो जाता है, और स्वस्वरूप शुद्ध ज्ञानात्मपदमें स्थिति हो सकती है इसमें किसी संदेहका स्थान नहीं है।

[७०५] ७७१ ववाणिया, चैत्र सुदी ५, १९५३

[1]यहाँसे पिछले पत्रमें लिखे तीन समकित वताये थे। उन तीन समकितोंमेंसे चाहे जो समकित प्राप्त करनेसे जीव अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें मोक्ष प्राप्त करता है, और कमसे-कम उसी भवमें भी मोक्ष होता है; और यदि वह समकितका वमन कर दे, तो अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तनकाल तक संसारपरिभ्रमण करके भी मोक्षको प्राप्त करता है। समकित प्राप्त करनेके वाद अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तन संसार होता है।

क्षयोपशम समकित हो अथवा उपशम समकित हो, तो जीव उसका वमन कर सकता है; परंतु क्षायिक समकित हो तो उसका वमन नहीं किया जाता। क्षायिक समकिती जीव उसी भवमें मोक्ष प्राप्त करता है, अधिक भव करे तो तीन भव करता है, और किसी एक जीवकी अपेक्षा कभी चार भव होते हैं। युगलियाकी आयुके वंध होनेके वाद क्षायिक समकित उत्पन्न हुआ हो, तो चार भव होना संभव है; प्रायः किसी जीवको ही ऐसा होता है।

भगवान तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथनियों, श्रावक तथा श्राविकाओंको कुछ सभीको जीवाजीवका ज्ञान था, इसलिए उन्हें समकित कहा है यह सिद्धांतका अभिप्राय नहीं है। उनमेंसे कितने जीवोंको, तीर्थंकर सच्चे पुरुष हैं, सच्चे मोक्षमार्गके उपदेष्टा हैं, जिस तरह वे कहते हैं उसी तरह मोक्षमार्ग है, ऐसी प्रतीतिसे, ऐसी रुचिसे, श्री तीर्थंकरके आश्रयसे, और निश्चयसे समकित कहा है। ऐसी प्रतीति, ऐसी रुचि, और ऐसे आश्रयका तथा आज्ञाका निश्चय है, वह भी एक तरहसे जीवाजीवका ज्ञानस्वरूप है। पुरुष सच्चे हैं और उनकी प्रतीति भी सच्ची हुई है कि जिस तरह ये परमकृपालु कहते हैं उसी तरह मोक्षमार्ग है। उसी तरह मोक्षमार्ग होता है, उस पुरुषके लक्षण

१. देखें आँक ७५१।

आदि भी वीतरागताकी सिद्धि करते हैं। तथा जो वीतराग होता है वह पुरुष यथार्थ वक्ता होता है, और उसी पुरुषकी प्रतीतिसे मोक्षमार्ग स्वीकार करना योग्य होता है ऐसी सुविचारणा भी एक प्रकारका गौणतासे जीवाजीवका ही ज्ञान है। उस प्रतीतिसे, उस रुचिसे और उस आश्रयसे फिर अनुक्रमसे स्पष्ट विस्तारसहित जीवाजीवका ज्ञान होता है। तथारूप पुरुषकी आज्ञाकी उपासनासे रागद्वेषका क्षय होकर, वीतरागदशा होती है। तथारूप पुरुषके प्रत्यक्ष योगके विना यह समकित होना कठिन है। वैसे पुरुष... ...नरूप शास्त्रोंसे पूर्वकालमें आराधक किसी जीवको समकित होना संभव है; अथवा कोई एक आचार्य प्रत्यक्षरूपसे उस वचनके हेतुसे किसी जीवको समकित प्राप्त कराता है।

[७०७] ७७२ ववाणिया, चैत्र सुदी १०, सोम, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

औषधादि संप्राप्त होनेपर कितने ही रोगादिपर असर करती हैं; क्योंकि उस रोगादिके हेतुका कुछ कर्मबंध उसी प्रकारका होता है, औषधादिके निमित्तसे वह पुद्गल विस्तारसे फैलकर अथवा दूर होकर वेदनीयके उदयके निमित्तपनको छोड़ देता है। यदि उसी तरह निवृत्त होने योग्य उस रोगादि संबंधी कर्मबंध न हो तो उस पर औषधादिका असर नहीं होता, अथवा औषधादि प्राप्त नहीं होती या सम्यक् औषधादि प्राप्त नहीं होती।

अमुक कर्मबंध किस प्रकारका है उसे तथारूप ज्ञानदृष्टिके विना जानना कठिन है। इसलिए औषधादि व्यवहारकी प्रवृत्तिका एकांतसे निषेध नहीं किया जा सकता। अपनी देहके संबधमें कोई एक परम आत्मदृष्टिवाला पुरुष उस तरह आचरण करे, अर्थात् वह औषधादिका ग्रहण न करे, तो वह योग्य है; परन्तु दूसरे सामान्य जीव उस तरह आचरण करने लग जायें तो वह एकांतिक दृष्टिसे कितनी ही हानि कर डालें। फिर उसमें भी अपने आश्रित जीवोंके प्रति अथवा किसी दूसरे जीवके प्रति रोगादि कारणोंमें वैसा उपचार करनेके व्यवहारमें प्रवृत्ति की जा सके, फिर भी उपचार आदिके करनेमें उपेक्षा करे तो अनुकंपा-मार्गका छोड़ देने जैसा हो जाये। कोई जीव चाहे जैसा पीडित हो तो भी उसे दिलासा देने तथा औषधादि देनेके व्यवहारका छोड़ दिया जाये तो उसे आर्तध्यानका हेतु होने जैसा हो जाये। गृहस्थ व्यवहारमें ऐसी एकांतिक दृष्टि करनेसे बहुत विरोध उत्पन्न हो जायें।

ज्ञानियोंने त्याग-व्यवहारमें भी एकांतसे उपचारादिका निषेध नहीं किया है। निर्ग्रन्थको स्वपरिग्रहित शरीरमें रोगादि हो जायें तब औषधादिके ग्रहण करनेके बारेमें ऐसी आज्ञा है कि जब तक आर्तध्यान उत्पन्न न होने योग्य दृष्टि रहे तब तक औषधादिका ग्रहण न किया जाये, और वैसा विशेष कारण दिखायी दे तो निरवद्य औषधादिका ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता, अथवा यथाशुभ औषधादिका ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता। तथा दूसरे निर्ग्रंथको शरीरमें रोगादि हुआ हो तब उसकी वैयावृत्यादि करनेका प्रकार जहाँ प्रदर्शित किया है वहाँ उसे इसी तरह प्रदर्शित किया है कि जिससे कुछ भी विशेष अनुकंपादि दृष्टि रहे। इसलिए यह बात समझमें आ जायेगी कि गृहस्थ-व्यवहारमें उसका त्याग करना अशक्य है।

वह औषधादि कुछ भी पापक्रियासे उत्पन्न हुई हों तो भी वे अपने निजी गुणको दिखाये विना न रहें, और उसमें हुई पापक्रिया भी अपना गुण दिखाये विना न रहे। अर्थात् जिस तरह

औषधादिके पुद्‌गलोंमें रोगादिके पुद्‌गलोंके पराभव करनेका गुण है उसी प्रकार उसे करनेसे की गयी पापक्रियामें भी पापरूपसे परिणमन करनेका गुण है, और इससे कर्मबंध होकर यथावसर उस पापक्रियाका फल उदयमें आता है। उस पापक्रियावाली औषधादि करनेमें, करानेमें और अनुमोदन करनेमें, ग्रहण करनेवाले जीवकी जैसी देहादिके प्रति मूर्च्छा है, जैसी मनकी आकुल-व्याकुलता है, जैसा आर्त्तध्यान है, तथा उस औषधादिकी पापक्रिया है, वे सब अपने अपने स्वभाव-से परिणमन कर यथावसर फल देते हैं। जिस तरह रोगादिका कारणरूप कर्मबंध अपना जैसा स्वभाव है वैसा प्रदर्शित करता है, जिस तरह औषधादिके पुद्‌गल अपना स्वभाव दिखाते हैं, उसी तरह औषधादिकी उत्पत्ति आदिमें हुई क्रिया, अपने कर्त्ताकी ज्ञानादि वृत्ति तथा उस ग्रहणकर्त्ताके जैसे परिणाम है, उसका जैसा ज्ञानादि है, वृत्ति है, उसे अपना स्वभाव दिखाना योग्य है, तथारूप शुभ शुभ स्वरूपसे और अशुभ अशुभ स्वरूपसे सफल है।

गृहस्थ-व्यवहारमें भी अपनी देहमें रोगादि होनेपर जितनी मुख्य आत्मदृष्टि रहे उतनी रखनी, और यदि यथादृष्टिसे देखनेसे आर्तध्यानका परिणाम अवश्य आने योग्य दिखायी दे, अथवा आर्तध्यान उत्पन्न होता हुआ दिखायी दे तो औषधादिके व्यवहारका ग्रहण करते हुए निरवद्य (निष्पाप) औषधादिकी वृत्ति रखनी। क्वचित् अपने लिए अथवा अपने आश्रित अथवा अनुकम्पा योग्य दूसरे जीवके लिए सावद्य औषधादिका ग्रहण हो तो उसकी सावद्यता निर्ध्वंस (क्रूर) परिणामके हेतु जैसी अथवा अधर्म-मार्गका पोषण करनेवाली नहीं होनी चाहिए, यह ध्यानमें रखना योग्य है।

सर्व जीव हितकारी ज्ञानीपुरुषकी वाणीको किसी भी एकांत दृष्टिको ग्रहण करके अहित-कारी अर्थमें न ले जायें, यह उपयोग निरंतर स्मरणमें रखना योग्य है।

●

[७०८] ७७३ ववाणिया, चैत्र सुदी १५, शनि, १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः।

जिस वेदनीयपर औषध असर करती है, वह औषध वस्तुतः वेदनीयके बंधको निवृत्त कर सकती है, ऐसा नहीं कहा है; क्योंकि वह औषध कर्मरूप वेदनीयका नाश करे तो अशुभ कर्म निष्फल हो जाये अथवा औषध शुभ कर्मरूप कही जाये। परन्तु यहाँ यह समझना योग्य है कि वह अशुभ वेदनीयकर्म इस प्रकारका है कि उसे परिणामांतर प्राप्त करनेमें औषधादि निमित्त-कारणरूप हो सकती हैं। मंद या मध्यम शुभ अथवा अशुभ बंधको किसी स्वजातीय कर्मके मिलने-से उत्कृष्ट बंध भी हो सकता है। मंद या मध्यम बांधे हुए कितने ही शुभ बंधका किसी एक अशुभ कर्मविशेषके पराभवसे अशुभ परिणाम होता है। उसी तरह वैसे अशुभ बंधका किसी एक शुभ कर्मके योगसे शुभ परिणाम होता है।

मुख्यतः बंध परिणामानुसार होता है। किसी एक मनुष्यने किसी एक मनुष्य प्राणीका तीव्र परिणामसे नाश करनेसे उसने निकाचित कर्म उत्पन्न किया। फिर भी कितने ही बचावके कारणोंसे और साक्षी आदिके अभावसे, राजनीतिके नियमसे वह कर्म करनेवाला मनुष्य छूट जाये तो इससे यह समझना योग्य नहीं है कि उसका बंध निकाचित नहीं होता, उसके विपाकके उदय होनेका समय दूर होनेसे भी ऐसा हो सकता है। फिर बहुतसे अपराधोंमें राजनीतिके नियमानुसार दंड होता है वह भी कर्त्ताके परिणामके समान ही है, यह एकांतिक बात नहीं है, अथवा वह दंड

किसी पूर्वकालमें उत्पन्न किये हुए अशुभ कर्मके उदयरूप भी होता है, और वर्तमान कर्मबंध सत्तामें पड़े रहते हैं, जो यथावसर विपाक देते हैं।

सामान्यतः असत्यादिकी अपेक्षा हिंसाका पाप विशेष है। परन्तु विशेष दृष्टिसे तो हिंसाकी अपेक्षा असत्यादिका पाप एकांतसे कम है, ऐसा न समझें अथवा अधिक है, ऐसा भी एकांतसे न समझें। हिंसाके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और उसके कर्ताके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार कर्ताको उसका बंध होता है। इसी तरह असत्यादिके सम्बन्धमें समझना योग्य है। किसी एक हिंसाकी अपेक्षा किसी एक असत्यादिका फल एक गुना, दो गुना अथवा अनंत गुना विशेष तक होता है; इसी तरह किसी एक असत्यादिकी अपेक्षा किसी एक हिंसाका फल एक गुना, दो गुना अथवा अनंत गुना विशेष तक होता है।

त्यागकी वारंवार विशेष अभिलाषा होनेपर भी, संसारके प्रति विशेष उदासीनता होनेपर भी, किसी एक पूर्वकर्मके प्रावल्यसे जो जीव गृहस्थावासका त्याग नहीं कर सकता, वह पुरुष गृहस्थावासमें कुटुंब आदिके निर्वाहके लिए जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसमें उसके परिणाम जैसे जैसे रहते हैं, तदनुसार बंधादि होते हैं। मोहके होनेपर अनुकम्पा माननेसे अथवा प्रमाद होनेपर भी उदय माननेसे कर्मबंध कुछ भूल नहीं करता। वह तो यथापरिणाम बंधको प्राप्त होता है। कर्मके सूक्ष्म प्रकारोंका मति यदि विचार न कर सके तो भी शुभ और अशुभ कर्म सफल हैं, इस निश्चयका जीव विस्मरण न करे।

प्रत्यक्ष परम उपकारी होनेसे तथा सिद्धपदके बतानेवाले भी होनेसे सिद्धकी अपेक्षा अर्हत्को प्रथम नमस्कार किया है।

•

[८७४–२४] ७७४

(१) शुभ बंध मंद हो और उसे किसी अशुभकर्मका योग मिले तो शुभ बंध पहलेकी अपेक्षा अधिक मंद हो जाता है। (२) शुभ बंध मंद हो और उसमें किसी शुभ कर्मयोगका मिलना हो जाये तो मूलकी अपेक्षा अधिक दृढ़ होता है अथवा निकाचित होता है। (३) कोई अशुभ बंध मंद हो और उसे किसी एक शुभ कर्मका योग मिले तो मूलकी अपेक्षा अशुभ बंध कम मंद होता है। (४) अशुभ बंध मंद हो उसमें अशुभ कर्म मिल जाये तो अशुभ बंध अधिक दृढ़ होता है अथवा निकाचित होता है।(५) अशुभ बंधको अशुभ कर्म दूर नहीं कर सकता और शुभ बंधको शुभ कर्म दूर नहीं कर सकता। (६) शुभ कर्मबंधका फल शुभ होता है और अशुभ कर्मबंधका फल अशुभ होता है। दोनोंके फल तो होने ही चाहिए, निष्फल नहीं हो सकते।

रोग आदि औषधसे दूर हो सकते हैं, इससे किसीको यह लगे कि पापवाली औषध करना अशुभकर्मरूप है, फिर भी उससे अशुभ कर्मका फल जो रोग है वह मिट सकता है, अर्थात् यह कि अशुभसे शुभ हो सकता है; ऐसी शंका हो सकती है; परंतु ऐसा नहीं है। इस शंकाका समाधान निम्नलिखित है :—

किसी एक पुद्गलके परिणामसे हुई वेदना (पुद्गलविपाकी वेदना) तथा मंद रसकी वेदना कितने संयोगोंसे दूर हो सकती है और कितने संयोगोंसे अधिक होती है अथवा निकाचित होती है। ऐसी वेदनामें परिवर्तन होनेमें बाह्य पुद्गलरूप औषध आदि निमित्त कारण देखनेमें आते हैं; परंतु वास्तवमें तो वह बंध पूर्वसे ही ऐसा बाँधा हुआ है कि उस प्रकारकी औषध आदिसे दूर हो सकता है। औषध आदि मिलनेका कारण यह है कि अशुभ बंध मंद बाँधा था, और बंध भी

ऐसा था कि उसे ऐसे निमित्त कारण मिलें तो दूर हो सके। परंतु इससे यों कहना ठीक नहीं है कि पाप करनेसे उस रोगका नाश हो सका; अर्थात् पाप करनेसे पुण्यका फल प्राप्त किया जा सका। पापवाली औषधकी इच्छा और उसे प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिसे अशुभ कर्म बंधने योग्य है और उस पापवाली क्रियासे कुछ शुभ फल नहीं होता। ऐसा लगे कि अशुभ कर्मके उदयरूप असाताको उसने दूर किया जिससे वह शुभरूप हुआ, तो इस समझनेमें अंतर है; असाता ही इस प्रकारकी थी कि उस तरह मिट सके और इतनी आर्त्तध्यानकी प्रवृत्ति कराकर दूसरा बंध कराये।

'पुद्गलविपाकी' अर्थात् जिस किसी बाहर पुद्गलके संयोगसे पुद्गलविपाकरूपसे उदयमें आये और किसी बाह्य पुद्गलके संयोगसे निवृत्त भी हो जाये; जैसे ऋतुके परिवर्तनके कारणसे सरदीकी उत्पत्ति होती है और ऋतु-परिवर्तनसे उसका नाश हो जाती है, अथवा किसी गरम औषध आदिसे निवृत्त हो जाती है।

निश्चयमुख्यदृष्टिसे तो औषध आदि कथनमात्र है। बाकी तो जो होनेका होता है वही होता है।

●

[७०३-७०९]　　७७५　　ववाणिया, चैत्र वदी ५, १९५३

दो पत्र प्राप्त हुए हैं।

ज्ञानीकी आज्ञारूप जो जो क्रिया है उस उस क्रियामें तथारूपसे प्रवृत्ति की जाये तो वह अप्रमत्त उपयोग होनेका मुख्य साधन है, ऐसे [1]भावार्थमें यहाँसे पहला पत्र लिखा है। उसका ज्यों ज्यों विशेष विचार किया जायेगा त्यों त्यों अपूर्व अर्थका उपदेश मिलेगा। नित्य अमुक शास्त्र-स्वाध्याय करनेके बाद उस पत्रका विचार करनेसे अधिक स्पष्ट बोध होना योग्य है।

छकायका स्वरूप भी सत्पुरुषकी दृष्टिसे प्रतीत करनेसे तथा उसका विचार करनेसे ज्ञान ही है। यह जीव किस दिशासे आया है, इस वाक्यसे शस्त्रपरिज्ञा अध्ययनका आरंभ हुआ है। सद्गुरुके मुखसे इस प्रारंभवाक्यका आशय समझनेसे समस्त द्वादशांगीका रहस्य समझमें आना योग्य है। अभी तो जो आचारांग आदि पढ़ें उसका अधिक अनुप्रेक्षन कीजिये। कितने ही उपदेश पत्रोंसे वह सहजमें समजमें आ सकेगा।

सभी मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो। सभी मुमुक्षुओंको प्रणाम प्राप्त हो।

●

[७१०]　　७७६　　सायला, वैशाख सुदी १५, १९५३

ॐ

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मबंधके पाँच कारण हैं। किसी जगह प्रमादके सिवाय चार कारण बताये होते हैं। वहाँ मिथ्यात्व, अविरति और कषायमें प्रमादका अंतर्भाव किया होता है।

शास्त्रपरिभाषासे 'प्रदेशबंध' शब्दका अर्थ :—परमाणु सामान्यतः एक प्रदेशावगाही है। ऐसे एक परमाणुका ग्रहण एक प्रदेश कहा जाता है। जीव कर्मबंधमें अनंत परमाणुओंको ग्रहण करता

१. देखें आंक ७६७।

है। वे परमाणु यदि फैले हुए हों तो अनंतप्रदेशी हो सकें, जिससे अनंत प्रदेशका बंध कहा जाये। उसमें बंध अनंत आदिसे भेद पड़ता है; अर्थात् जहाँ अल्प प्रदेशबंध कहा हो वहाँ परमाणु अनंत समझें, परंतु उस अनंतकी सघनता अल्प समझें। यदि उससे विशेषातिविशेष लिखा हो तो अनंतता-की सघनता समझें।

जरा भी व्याकुल न होते हुए कर्मग्रन्थको आद्यंत पढ़ें और विचारें।

●

[७११] ७७७ ईडर, वैशाख वदी १२, शुक्र, १९५३

तथारूप (यथार्थ) आप्त (जिसके विश्वाससे मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति की जा सके) पुरुषका जीवको समागम होनेमें किसी एक पुण्यहेतुकी जरूरत है, उसकी पहचान होनेमें महान पुण्यकी जरूरत है, और उसकी आज्ञाभक्तिसे प्रवृत्ति करनेमें महान महान पुण्यकी जरूरत है, ऐसे जो ज्ञानीके वचन हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभवमें आने जैसी बात है।

तथारूप आप्तपुरुषका अभाव जैसा यह काल चल रहा है। तो भी ऐसे समागमके इच्छुक आत्मार्थी जीवको उसके अभावमें भी विशुद्धिस्थानकके अभ्यासका ध्यान अवश्य ही कर्तव्य है।

●

[७१२] ७७८ ईडर, वैशाख वदी १२, शुक्र, १९५३

दो पत्र मिले हैं। यहाँ प्रायः मंगलवार तक स्थिति होगी। बुधवार शामको अहमदाबादसे मेलगाड़ीमें मुंबई जानेके लिए बैठना होगा। प्रायः गुरुवार सवेरे मुंबई उतरना होगा।

सर्वथा निराश हो जानेसे जीवको सत्समागमका प्राप्त हुआ लाभ भी शिथिल हो जाता है। सत्समागमके अभावका खेद रखते हुए भी सत्समागम हुआ है, यह परमपुण्यका योग मिला है। इसलिए सर्वसंगत्यागका योग बनने तक जब तक गृहस्थावासमें स्थिति हो तब तक उस प्रवृत्तिकी नीतिसहित कुछ भी रक्षा करके परमार्थमें उत्साहसहित प्रवृत्ति करके विशुद्धिस्थानकका नित्य अभ्यास करते रहना यही कर्तव्य है।

●

[७१३] ७७९ मुंबई, ज्येष्ठ सुदी, १९५३

ॐ सर्वज्ञ

स्वभावजागृतदशा

[1]चित्रसारी न्यारी, परजंक न्यारौ, सेज न्यारी।
चादरि भी न्यारी, इहाँ झूठी मेरी थपना॥
अतीत अवस्था सैन, निद्रावाहि कोऊ पै न।
विद्यमान पलक न, यामैं अब छपना॥
स्वास औ सुपन दोऊ, निद्राकी अलंग बूझै।
सूझै सब अंग लखि, आतम दरपना॥
त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाग त्यागि।
भालै दृष्टि खोलिकैं, संभालै रूप अपना॥

---

१. भावार्थ—जब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ तब जीव विचारता है—शरीररूप महल जुदा है, कर्मरूप पलंग जुदा है, मायारूप सेज जुदी है, कल्पनारूप चादर जुदी है, यह निद्रावस्था मेरी नहीं है :—पूर्वकालमें

अनुभवउत्साहदशा

[1]जैसौ निरभेदरूप, निहचै अतीत हुतौ।
तैसौ निरभेद अब, भेदकौ न गहैगौ॥
दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान।
पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगौ॥
कबहूँ कदापि अपनौ सुभाव त्यागि करि।
राग रस राचिकैं न परवस्तु गहैगौ॥
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ।
याहि भांति आगम अनंत काल रहैगौ॥

स्थितिदशा

[2]एक परिनामके न करता दरव दोई।
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है॥
एक करतूति दोई दर्व कबहूँ न करै।
दोई करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोऊ।
अपनें अपनें रूप दोऊ कोऊ न टरतु है॥
जड परिनामनिकौ करता है पुद्गल।
चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है॥

× × ×

श्री सुभागको विचार करनेके लिए यह पत्र लिखा है, इसे अभी श्री अंबालाल अथवा किसी दूसरे योग्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें ही सुनाना योग्य है।

आत्मा सर्व अन्यभावसे रहित है, जिसे सर्वथा ऐसा अनुभव रहता है वह 'मुक्त' है।

जिसे अन्य सर्व द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे सर्वथा असंगता रहती है, वह 'मुक्त' है।

अटल अनुभवस्वरूप आत्मा जहाँसे सब द्रव्योंसे प्रत्यक्ष भिन्न भासित हो वहाँसे मुक्तदशा रहती है। वह पुरुष मौन हो जाता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध हो जाता है, वह पुरुष असंग हो जाता है, वह पुरुष निर्विकल्प हो जाता है और वह पुरुष मुक्त हो जाता है।

सोनेवाला मेरा दूसरा ही पर्याय था। अब वर्तमानका एक पल भी निद्रामें नहीं बिताऊँगा। उदयका निश्वास और विषयका स्वप्न ये दोनों निद्राके संयोगसे दिखते थे। अब आत्मरूप दर्पणमें मेरे समस्त गुण दिखने लगे। इस प्रकार आत्मा अचेतन भावोंका त्यागी होकर ज्ञानदृष्टिसे देखकर अपने स्वरूपको सम्भालती है।

१. भावार्थ—संसारी दशामें निश्चयनयसे आत्मा जिस प्रकार अभेदरूप थी उसी प्रकार प्रगट हो गयी। उस परमात्माको अब भेदरूप कोई नहीं कहेगा। जो कर्मरहित और सुख-शांतिसहित दिखायी देती है, तथा जिसने अपने स्थान-मोक्षको पा लिया है, वह अब जन्म-मरणरूप संसारमें नहीं आयेगी। वह कभी भी अपना स्वभाव छोड़कर रागद्वेषमें पड़कर परवस्तुको ग्रहण नहीं करेगी; क्योंकि वर्तमानकालमें जो निर्मल पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है, वह तो आगामी अनंतकाल तक ऐसा ही रहेगा।

२. देखें आँक ३१७।

जिन्होंने इस तरहकी असंगदशा उत्पन्न की है कि तीन कालमें देहादिसे अपना कुछ भी संबंध न था, उन भगवानरूप सत्पुरुषोंको नमस्कार हो।

तिथि आदिका विकल्प छोड़कर निज विचारमें रहना यही कर्तव्य है।

शुद्ध सहज आत्मस्वरूप

०

[७१४] ७८० मुंबई, जेठ सुदी ८, मंगल, १९५३

जिसे किसीके प्रति भी रागद्वेष नहीं रहा, उस महात्माको वारंवार नमस्कार।

परम उपकारी, आत्मार्थी, सरलतादि गुणसंपन्न श्री सोभाग,

त्रंबकभाईका लिखा एक पत्र आज मिला है।

'आत्मसिद्धि' ग्रंथके संक्षिप्त अर्थकी पुस्तक तथा कितने ही उपदेश-पत्रोंकी प्रति यहाँ थी, उन्हें आज डाकसे भेजा है। दोनोंमें मुमुक्षु जीवके लिए विचार करने योग्य अनेक प्रसंग हैं।

परमयोगी श्री ऋषभदेव आदि पुरुष भी जिस देहको नहीं रख सके, उस देहमें एक विशेषता यह है कि जब तक उसका सम्बन्ध रहे, तब तकमें जीवको असंगता, निर्मोहता प्राप्त करके अबाध्य अनुभवस्वरूप निजस्वरूपको जानकर, दूसरे सभी भावोंसे व्यावृत्त (मुक्त) हो जाना कि जिससे फिर जन्म-मरणका फेरा न रहे। उस देहको छोड़ते वक्त जितने अंशमें असंगता, निर्मोहता, यथार्थ समरसता रहती है, उतना ही मोक्षपद समीप है, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंका निश्चय है।

मन, वचन और कायाके योगसे जाने-अनजाने कुछ भी अपराध हुआ हो, उसकी विनयपूर्वक क्षमा माँगता हूँ, अति नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ।

इस देहसे करने योग्य कार्य तो एक ही है कि किसीके प्रति राग अथवा किसीके प्रति किंचित्मात्र द्वेष न रहे। सर्वत्र समदशा रहे। यही कल्याणका मुख्य निश्चय है। यही विनती।

श्री रायचंदके नमस्कार

●

[७१५] ७८१ मुंबई, जेठ वदी ६, रवि, १९५३

परमपुरुषदशावर्णन

'कीचसौ कनक जाकै, नीच सौ नरेसपद,
मीचसी मिताई, गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग जाति, कहरसी करामाति,
हहरसी हौंस, पुद्गलछवि छारसी॥
जालसौ जगविलास, भालसौ भुवनवास,
कालसौ कुटुम्बकाज, लोकलाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै, बीठसौ बखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताही, वंदत बनारसी॥'

जो कंचनको कीचड़के समान जानता है, राजगद्दीको नीचपदके समान समझता है, किसीसे मित्रता करनेको मृत्युके समान मानता है, बड़प्पनको लीपनेके गारे जैसा समझता है, कीमिया आदि योगको जहरके समान गिनता है, सिद्धि आदि ऐश्वर्यको दुःखके समान समझता है, जगतमें

पूज्यता होने आदिकी हवसको अनर्थके समान मानता है, पुद्गलकी मूर्ति औदारिकादि कायाको राखके समान मानता है, जगतके भोगविलासको दुविधारूप जालके समान समझता है, गृहवासको भालेके समान मानता है, कुटुंबके कार्यको काल-मृत्युके समान गिनता है, लोकमें लाज बढ़ानेकी इच्छाको मुखकी लारके समान समझता है, कीर्तिकी इच्छाको नाकके मैलके समान मानता है, और पुण्यके उदयको जो विष्टाके समान समझता है ऐसी जिसकी रीति हो उसे बनारसीदास वंदन करते हैं।

किसीके लिए कुछ विकल्प न करते हुए असंगता ही रखें। ज्यों ज्यों उन्हें सत्पुरुषके वचन प्रतीतिमें, आयेंगे ज्यों ज्यों उसकी आज्ञासे अस्थिमज्जा रंगी जायेगी, त्यों त्यों वे सब जीव आत्म-कल्याणको सुगमतासे प्राप्त करेंगे, यह निःसंदेह है।

त्र्म्वक, मणि आदि मुमुक्षुओंको तो इस बारके समागममें कुछ आंतरिक इच्छासे सत्समागममें रुचि हुई है, इसलिए एकदम दशा विशेष न हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

सच्चे अंतःकरणसे विशेष सत्समागमके आश्रयसे जीवको उत्कृष्ट दशा भी बहुत थोड़े वक्तमें प्राप्त होती है।

व्यवहार अथवा परमार्थसंबंधी किसी भी जीवविषयक वृत्ति हो, उसे उपशांत करके सर्वथा असंग उपयोगसे अथवा परमपुरुषकी उपर्युक्त दशाके अवलंबनसे आत्मस्थिति करें, यह विज्ञापना है; क्योंकि दूसरा कोई भी विकल्प रखने जैसा नहीं है। जो कोई सच्चे अंतःकरणसे सत्पुरुषके वचनोंको ग्रहण करेगा वह सत्यको पायेगा, इसमें कोई संशय नहीं है; और शरीर-निर्वाह आदि व्यवहार सबके अपने अपने प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होने योग्य हैं, इसलिए तत्संबंधी भी कोई विकल्प रखना योग्य नहीं है। जिस विकल्पको आपने प्रायः शांत कर दिया है, तो भी निश्चयकी प्रबलताके लिए बताया है।

सब जीवोंके प्रति, सभी भावोंके प्रति अखंड एक रस वीतरागदशा रखना ही सर्व ज्ञानका फल है। आत्मा शुद्ध चैतन्य, जन्मजरामरणरहित असंग स्वरूप है, इसमें सर्व ज्ञान समा जाता है। उसकी प्रतीतिमें सर्व सम्यक्‌दर्शन समा जाता है, आत्माको असंगस्वरूपसे जो स्वभावदशाका रहना है वह सम्यक्‌चारित्र, उत्कृष्ट संयम और वीतरागदशा है। जिसकी संपूर्णताका फल सर्व दुःखक्षय है, यह सर्वथा निःसंदेह है, सर्वथा निःसंदेह है। यही विनती।

●

[७१६] ७८२ मुंबई, जेठ वदी १२, शनि, १९५३

आर्य श्री सोभागने जेठ वदी १० गुरुवार सवेरे १० बजकर ५० मिनिटपर देह त्याग किया, यह समाचार पढ़कर बहुत खेद हुआ है। ज्यों ज्यों उनके अद्भुत गुणोंके प्रति दृष्टि जाती है, त्यों त्यों अधिकाधिक खेद होता है।

जीव और देहका संबंध इसी तरहका है। ऐसा होनेपर भी जीव अनादिसे देहका त्याग करते हुए खेद प्राप्त किया करता है, और उसमें दृढमोहसे अभेददृष्टि रखता है। यही जन्ममरणादि संसारका मुख्य बीज है। श्री सोभागने ऐसी देहका त्याग करते हुए महामुनियोंको भी दुर्लभ ऐसी निश्चल असंगतासे निज उपयोगमयदशा रखकर अपूर्व हित किया है, इसमें संशय नहीं है।

गुरुजन होनेसे, आपके प्रति उनका बहुत उपकार होनेसे तथा उनके गुणोंकी अद्भुततासे उनका वियोग आपके लिए अधिक खेदकारक हुआ है, और होने योग्य है। उनकी सांसारिक

गुरुजनताके खेदका विस्मरणकर, उन्होंने आप सब पर जो परम उपकार किया हो तथा उनके गुणोंकी जो अद्भुतता आपको मालूम हुई हो, उसको वारंवार याद करके, वैसे पुरुषके वियोगका अंतरमें खेद रखकर, उन्होंने आराधन करने योग्य जो जो वचन और गुण बताये हों उनका स्मरण कर उनमें आत्माको प्रेरित करें, यह आप सबसे विनती है। समागममें आये हुए मुमुक्षुओंको श्री सोभागका स्मरण सहज ही बहुत वक्त तक रहने योग्य है।

मोहसे जिस समय खेद उत्पन्न हो उस समय भी उनकी गुणोंकी अद्भुतताका स्मरण करके मोहजन्य खेदको शांत करके, उनके गुणोंकी अद्भुतताके विरहमें उस खेदका लगाना योग्य है।

इस क्षेत्रमें इस कालमें श्री सोभाग जैसे विरले पुरुष ही मिलें, यह हमें वारंवार भासित होता है।

धीरजसे सभी खेदको शांत करें, और उनके अद्भुत गुणों तथा उपकारी वचनोंका आश्रय लें, यह योग्य है। मुमुक्षुको श्री सोभागका विस्मरण करना योग्य नहीं है।

जिसने संसारका स्वरूप स्पष्ट जाना है उसे संसारके पदार्थकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिसे हर्ष-शोक होना योग्य नहीं है, तो भी ऐसा मालूम होता है कि सत्पुरुषके समागमकी प्राप्तिसे कुछ भी हर्ष और उसके वियोगसे कुछ भी खेद अमुक गुणस्थानक तक उसे भी होना योग्य है।

'आत्मसिद्धि' ग्रन्थ अपने पास रखें। त्रंबक और मणि विचार करना चाहें तो विचार करें; परंतु उससे पहले बहुतसे वचनों और सद्ग्रंथोंका विचार किया जा सके तो आत्मसिद्धिशास्त्र प्रबल उपकारका हेतु होगा, ऐसा लगता है।

श्री सोभागकी सरलता, परमार्थसंबंधी निश्चय, मुमुक्षुके प्रति उपकारता आदि गुण वारं-वार विचारणीय हैं।

शांतिः शांतिः शांति

•

[७१७] ७८३ मुंबई, आषाढ़ सुदी ४, रवि, १९५३

श्री सोभागको नमस्कार

श्री सोभागकी मुमुक्षुदशा तथा ज्ञानीके मार्गके प्रति उनका अद्भुत निश्चयकी याद वारंवार आया करती है।

सर्व जीव सुखकी इच्छा करते हैं, परंतु कोई विरला पुरुष उस सुखके यथार्थ स्वरूपको जानता है।

जन्म, मरण आदि अनंत दुःखोंके आत्यंतिक (सर्वथा) क्षय होनेके उपायको जीव अनादि-कालसे नहीं जानता, उस उपायको जानने और करनेकी सच्ची इच्छा उत्पन्न होनेपर जीव यदि सत्पुरुषके समागमका लाभ प्राप्त करे तो वह उस उपायको जान सकता है, और उस उपायकी उपासना करके सर्व दुःखसे मुक्त हो जाता है।

जीवको ऐसी सच्ची इच्छा भी सत्पुरुषके समागमसे ही प्राप्त होती है। ऐसा समागम, उस समागमकी पहचान, प्रदर्शित मार्गकी प्रतीति और उस तरह चलनेकी प्रवृत्ति जीवको परम दुर्लभ है

मनुष्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण प्राप्त होना, उसकी प्रतीति होना, और उनके कहे हुए मार्गमें प्रवृत्ति होना परम दुर्लभ है, ऐसा श्री वर्धमानस्वामीने उत्तराध्ययनके तीसरे अध्ययनमें उपदेश किया है।

प्रत्यक्ष पुरुषका समागम और उसके आश्रयमें विचरनेवाले मुमुक्षुओंको मोक्षसंबंधी सभी साधन प्रायः अल्प प्रयाससे और अल्पकालमें सिद्ध हो जाते हैं। परंतु उस समागमका योग मिलना दुर्लभ है। मुमुक्षुजीवका चित्त निरंतर उसी समागमके योगमें रहता है।

जीवको सत्पुरुषका योग मिलना तो सर्व कालमें दुर्लभ है। उसमें ऐसे दुःषमकालमें तो वह योग क्वचित् ही मिलता है। विरले ही सत्पुरुष विचरते हैं। उस समागमका लाभ अपूर्व है, यों समझकर जीव मोक्षमार्गकी प्रतीति कर, उस मार्गका निरंतर आराधन करना योग्य है।

जब उस समागमका योग न हो तब आरंभ-परिग्रहकी ओरसे वृत्तिको हटाकर सत्शास्त्रका परिचय विशेषतः कर्तव्य है। व्यावहारिक कार्योंकी प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी जो जीव उसमें वृत्तिको मंद करनेकी इच्छा करता है वह जीव उसे मंद कर सकता है, और सत्शास्त्रके परिचयके लिए बहुत अवकाश प्राप्त कर सकता है।

आरंभ-परिग्रहसे जिनकी वृत्ति खिन्न हो गई है, अर्थात् उसे असार समझकर जो जीव उससे पीछे हट गये हैं, उन जीवोंको सत्पुरुषोंका समागम और सत्शास्त्रका श्रवण विशेषतः हितकारी होता है। जिस जीवकी आरंभ-परिग्रहमें विशेष वृत्ति रहती हो, उस जीवमें सत्पुरुषके वचनोंका अथवा सत्शास्त्रका परिणमन होना कठिन है।

आरंभ परिग्रहमें वृत्तिको मंद करना और सत्शास्त्रके परिचयमें रुचि करना प्रथम तो कठिन पड़ता है, क्योंकि जीवका अनादि प्रकृतिभाव उससे भिन्न है; तो भी जिसने वैसा करनेका निश्चय कर लिया है वह वैसा कर सका है, इसलिए विशेष उत्साह रखकर वह प्रवृत्ति कर्तव्य है।

सब मुमुक्षुओंको इस बातका निश्चय और नित्य नियम करना योग्य है। प्रमाद और अनियमितता दूर करना योग्य है।

●

[७१८] ७८४ मुंबई, आषाढ़ सुदी ४, रवि, १९५३

सच्चे ज्ञान और सच्चे चारित्रके विना जीवका कल्याण न हो, यह निःसंदेह है।

सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण, उसकी प्रतीति, और उसकी आज्ञासे प्रवृत्ति करते हुए जीव सच्चे चारित्रको प्राप्त करते हैं, ऐसा निःसंदेह अनुभव होता है।

यहाँसे 'योगवासिष्ठ'की पुस्तक भेजी है, उसे पाँच-सात वार पुनः पुनः पढ़ना और वारंवार विचारना योग्य है।

●

[७१९] ७८५ मुंबई, आषाढ़ वदी १, गुरु, १९५३

श्री धुरीभाईने 'अगुरुलघु' के विषयमें प्रश्न लिखवाया, उसे प्रत्यक्ष समागममें समझना विशेष सुगम है।

शुभेच्छासे लेकर शैलेशीकरण तककी सभी क्रियाएँ जिस ज्ञानीको मान्य है, उस ज्ञानीके वचन त्याग-वैराग्यका निषेध नहीं करते। त्याग-वैराग्यके साधनरूपसे प्रथम जो त्याग-वैराग्य आता है, उसका भी ज्ञानी निषेध नहीं करते।

कोई एक जड-क्रियामें प्रवृत्ति करके ज्ञानीके मार्गसे विमुख रहता हो, अथवा मतिकी मूढ़ताके कारण ऊँची दशाको पानेसे रुक जाता हो, अथवा असत्समागमसे मतिव्यामोह प्राप्त

करके जिसने अन्यथा त्याग-वैराग्यको सच्चा त्याग-वैराग्य मान लिया हो, तो यदि उसका निषेध करनेके लिए करुणाबुद्धिसे ज्ञानी योग्य वचनसे क्वचित् उसका निषेध करता हो, तो व्यामोह प्राप्त न कर उसका सद्हेतु समझकर यथार्थ त्याग-वैराग्यकी अंतर तथा बाह्य क्रियामें प्रवृत्ति करना योग्य है।

●

[७२०] ७८६ मुंबई, आषाढ़ वदी १, गुरु, १९५३

'[1]सकळ संसारी इंद्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निःकामी रे॥'

हे मुनियो! आपको आर्य सोभागकी अंतरंगदशा और देहमुक्त समयकी दशाकी वारंवार अनुप्रेक्षा करना योग्य है।

हे मुनियो! आपको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे असंगतापूर्वक विचरनेका सतत उपयोग सिद्ध करना योग्य है। जिन्होंने जगतसुखस्पृहा छोड़कर ज्ञानीके मार्गका आश्रय ग्रहण किया है, वे अवश्य उस असंग उपयोगको प्राप्त करते हैं। जिस श्रुतसे असंगता उल्लसित हो उस श्रुतका परिचय कर्तव्य है।

●

७८७ मुंबई, आषाढ़ वदी १, गुरुवार, १९५३

ॐ

श्री सोभागके देहमुक्त समयकी दशाके बारेमें जो पत्र लिखा है वह भी यहाँ मिला है। कर्मग्रन्थका संक्षिप्त स्वरूप लिखा वह भी यहाँ मिला है।

आर्य सोभागकी बाह्याभ्यंतर दशाकी वारंवार अनुप्रेक्षा कर्तव्य है।

श्री नवलचंदजीसे प्रदर्शित प्रश्नका विचार आगे पर कर्तव्य है।

जगतसुखस्पृहामें ज्यों ज्यों खेद उत्पन्न होता है त्यों त्यों ज्ञानीका मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

●

[७२१] ७८८ मुंबई, आषाढ़ वदी ११, रवि, १९५३

परम संयमी पुरुषोंको नमस्कार

असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी भाँति करनेका उदय रहनेपर भी जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाव स्वधर्ममें निश्चलतासे रहे हैं, उन पुरुषोंके भीष्मव्रतका वारंवार स्मरण करते हैं।

सब मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

●

७८९ मुंबई, आषाढ़ वदी १४, बुध, १९५३

ॐ नमः

प्रथम पत्र मिला था। अभी एक चिट्ठी मिली है।

मणिरत्नमालाकी पुस्तक फिरसे पढ़नेसे अधिक मनन हो सकेगा।

---

१. देखें आंक ७४३।

श्री डुंगर तथा लेहराभाई आदि मुमुक्षुओंको धर्मस्मरण प्राप्त हो। श्री डुंगरसे कहियेगा कि प्रसंगोपात्त कोई ज्ञानवार्ता लिखें अथवा लिखवायें।

सत्शास्त्रका परिचय नियमपूर्वक निरंतर करना योग्य है। एक दूसरेके समागममें आनेपर आत्मार्थ वार्ता कर्तव्य है।

●

[७२२] ७९० मुंबई, श्रावण सुदी ३, रवि, १९५३

परम उत्कृष्ट संयम जिनके ध्यानमें निरंतर रहा करता है,
उन सत्पुरुषोंके समागमका ध्यान निरंतर रहता है।

प्रतिष्ठित व्यवहारकी श्री देवकीर्णजीकी अभिलाषासे अनंतगुणविशिष्ट अभिलाषा रहती है। बलवान और वेदन किये बिना अटल उदय होनेसे अंतरंग खेदका समतासहित वेदन करते हैं। दीर्घकालको अति अल्पकालमें लानेके ध्यानमें रहते हैं।

यथार्थ उपकारी पुरुषके प्रत्यक्षमें एकत्वभावना आत्मशुद्धिकी उत्कृष्टता करती है।

●

[७२३] ७९१ मुंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

जिसकी दीर्घकालकी स्थिति है, उसे अल्पकालकी स्थितिमें लाकर,
जिन्होंने कर्मक्षय किया है,
उन महात्माओंको नमस्कार।

सद्वर्तन, सद्ग्रन्थ और सत्समागममें प्रमाद करना योग्य नहीं है।

●

[७२४] ७९२ मुंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

दो पत्र मिले हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नामक ग्रन्थ आज डाकसे भिजवाया है, वह मुमुक्षु-जीवको विचार करने योग्य है। अवकाश निकालकर प्रथम श्री लल्लुजी और देवकीर्णजी उसे संपूर्ण पढ़कर और मनन करनेके बाद बहुतसे प्रसंग दूसरे मुनियोंको श्रवण कराने योग्य है।

श्री देवकीर्ण मुनिने दो प्रश्न लिखे हैं। उनका उत्तर प्राय: अबके पत्रमें लिखूँगा।

'मोक्षमार्गप्रकाश' का अवलोकन करते हुए किसी विचारमें मतांतर जैसा लगे तो उद्विग्न न हो कर उस स्थलका अधिक मनन करना, अथवा सत्समागममें उस स्थलको समझना योग्य है।

परमोत्कृष्ट संयममें स्थितिकी बात तो दूर रही, परंतु उसके स्वरूपका विचार होना भी विकट है।

●

[७२५] ७९३ मुंबई, श्रावण सुदी १५, गुरु, १९५३

'क्या सम्यग्दृष्टि अभक्ष्य आहार करे?' इत्यादि प्रश्न लिखे। उन प्रश्नोंके हेतुका विचार करनेसे बताना योग्य है कि प्रथम प्रश्नमें कोई दृष्टांत लेकर जीवको शुद्ध परिणामकी हानि करने जैसा है। मतिकी अस्थिरतासे जीव परिणामका विचार नहीं कर सकता। श्रेणिक आदिके संबंधमें

किसी एक स्थलपर ऐसी बात किसी एक ग्रन्थमें कही है, परंतु किसीके प्रवृत्ति करनेके लिए नहीं कही है; तथा यह बात यथार्थ इसी तरह है यह भी नहीं है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुषको अल्पमात्र व्रत नहीं होता तो भी सम्यग्दर्शन होनेके बाद जीव उसका वमन न करे तो अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें मोक्ष प्राप्त करे, ऐसा सम्यग्दर्शनका बल है, इस हेतुसे कही हुई बातको दूसरे रूपमें न ले जायें। सत्पुरुषकी वाणी विषय और कषायके अनुमोदनसे अथवा रागद्वेषके पोषणसे रहित होती है, यह निश्चय रखें, और चाहे जैसे प्रसंगमें उसी दृष्टिसे अर्थ करना योग्य है।

श्री डुंगर आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य। अभी डुंगर कुछ पढ़ते हैं? यह लिखियेगा।

●

७९४ मुंबई, श्रावण वदी १, शुक्र, १९५३

पहले एक पत्र मिला था। दूसरा पत्र अभी मिला है।

आर्य सोभागका समागम आपको अधिक वक्त रहा होता तो बहुत उपकार होता। परंतु भावी प्रबल है। उसके लिए उपाय यह है कि उनके गुणोंका बारंबार स्मरण करके ऐसा वर्तन करें कि अपनेमें वैसे गुण उत्पन्न हों।

नियमितरूपसे नित्य सद्ग्रंथका पठन तथा मनन रखना योग्य है। पुस्तक आदि कुछ अपेक्षित हों तो यहाँ मनसुखको लिखें। वे आपको भेज देंगे। ॐ

●

[७२६] ७९५ मुंबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

श्री खेडास्थित शुभेच्छासंपन्न श्री मनसुख आदि,

पत्र मिला है।

आपकी तरफ विचरनेवाले मुनि श्रीमान लल्लुजी आदिको नमस्कार प्राप्त हो। मुनि श्री देवकीर्णजीके प्रश्न मिले थे। उन्हें विनयसहित विदित करें कि 'मोक्षमार्गप्रकाश' पढ़नेसे उन प्रश्नोंका बहुतसा समाधान हो जायेगा और विशेष स्पष्टता समागमके अवसरपर होना योग्य है।

पारमार्थिक करुणाबुद्धिसे निष्पक्षतासे कल्याणके साधनके उपदेष्टा पुरुषका समागम, उसकी उपासना और आज्ञाका आराधन कर्तव्य है। ऐसे समागमके वियोगमें सत्शास्त्रका यथामति परिचय रखकर सदाचारसे प्रवृत्ति करना योग्य है। यही विनती। ॐ

●

७९६ मुंबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

'मोहमुद्गर' और 'मणिरत्नमाला' ये दो पुस्तकें पढ़नेका अभी अभ्यास रखें। इन दो पुस्तकोंमें मोहके स्वरूपके तथा आत्मसाधनाके कितने ही उत्तम प्रकार बताए हैं।

●

७९७ मुंबई, श्रावण वदी ८, शुक्र, १९५३

ॐ

पत्र मिला है।

श्री डुंगरकी दशा लिखी सो जानी है। श्री सोभागके वियोगसे उन्हें सबसे अधिक खेद

होना योग्य है। एक वलवान सत्समागमका योग चला जानेसे आत्मार्थीके अंतःकरणमें वलवान खेद होना योग्य है।

आप, लल्लुभाई, मगन आदि सभी मुमुक्षु सत्शास्त्रका परिचय रखनेसे न चूकें।

कोई कोई प्रश्न यहाँ लिखते हैं; उसका उत्तर लिखना अभी प्रायः नहीं वन पाता, इसलिए किसी भी विकल्पमें न पड़ते हुए यह विचार करना योग्य है कि अनुक्रमसे वह उत्तर मिल जायेगा।

थोड़े दिनके बाद प्रायः श्री डुंगरको पढ़नेके लिए एक पुस्तक भेजी जायेगी ताकि उन्हें निवृत्तिकी प्रधानता रहे। यहाँसे मणिलालको राधनपुर एक चिट्ठी लिखी थी।

•

[७२७]   ७९८   मुंवई, श्रावण वदी १०, रवि, १९५३

जिन जिज्ञासुओंकी 'मोक्षमार्गप्रकाश' का श्रवण करनेकी अभिलाषा है, उन्हें श्रवण करायें। अधिक स्पष्टीकरणसे और धीरजसे श्रवण करायें। श्रोताको किसी एक स्थानपर विशेष संशय हो तो उसका समाधान करना योग्य है। किसी एक स्थानपर समाधान अशक्य जैसा मालूम हो तो उस किसी महात्माके योगसे समझनेके लिए कहकर श्रवणको न रोकें, तथा उस संशयको किसी महात्माके सिवाय अन्य किसी स्थानमें पूछनेसे वह विशेष भ्रमका हेतु होगा, और निःसंशयतासे श्रवण किये हुए श्रवणका लाभ वृथासा होगा, ऐसी दृष्टि श्रोताकी हो तो अधिक हितकारी हो।

•

[७२८]   ७९९   मुंबई, श्रावण वदी १२, १९५३

ॐ

सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें स्थिति होने तक, श्रुतज्ञानका अवलंवन लेकर सत्पुरुष भी स्वदशामें स्थिर रह सकते हैं, ऐसा जिनका अभिमत है, वह प्रत्यक्ष सत्य दिखायी देता है।

सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत श्रुतज्ञान (ज्ञानी पुरुषोंके वचनों) का अवलंवन जब जब मंद पड़ता है तब तब सत्पुरुष भी कुछ न कुछ चपलता पा जाते हैं, तो फिर सामान्य मुमुक्षु जीव अथवा जिन्हें विपरीत समागम, विपरीत श्रुत आदि अवलंवन रहे हैं उन्हें वारंवार विशेष अति विशेष चपलता होना संभव है।

ऐसा है तो भी जो मुमुक्षु सत्समागम, सदाचार और सत्शास्त्रविचाररूप अवलंवनमें दृढ़ निवास करते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत पहुँचना कठिन नहीं है, कठिन होनेपर भी कठिन नहीं है।

•

[७२९]   ८००   मुंवई, श्रावण वदी १२, १९५३

ॐ

पत्र मिला है। दीवाली तक प्रायः इस क्षेत्रमें स्थिति होगी।

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जिन सत्पुरुषोंको प्रतिवंध नहीं है उन सत्पुरुषोंको नमस्कार।

सत्समागम, सत्शास्त्र और सदाचारमें दृढ़ निवास, ये आत्मदशा होनेके प्रवल अवलंवन हैं। सत्समागमका योग दुर्लभ है, तो भी मुमुक्षुको उस योगकी तीव्र अभिलाषा रखना और प्राप्ति

करना योग्य है। उस योगके अभावमें जीवको अवश्य ही सत्शास्त्ररूप विचारके अवलंबनसे सदाचारकी जाग्रति रखना योग्य है।

●

[७३०] ८०१ मुंबई, भादों सुदी ६, गुरु, १९५३

ववाणियाबंदरवासी परमकृपालु श्री पिताजी,—

आज-दिन तक मैंने आपकी कुछ भी अविनय, अभक्ति या अपराध किया हो, तो दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर शुद्ध अंतःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपा करके आप क्षमा प्रदान करें। अपनी माताजीसे भी इसी तरह क्षमा माँगता हूँ। इसी प्रकार अन्य सब साथियोंके प्रति मैंने जाने-अनजाने किसी भी प्रकारका अपराध या अविनय किया हो उसके लिए कुछ अंतःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपया सब क्षमा प्रदान करें।

●

[७३१] ८०२ मुंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

बाह्य क्रिया और गुणस्थानकादिमें रहनेवाली क्रियाके स्वरूपकी चर्चा करना, अभी प्रायः स्व-पर उपकारी नहीं होगा। इतना कर्तव्य है कि तुच्छ मतमतांतरपर दृष्टि न डालते हुए असद्वृत्तिके निरोधके लिए सत्शास्त्रके परिचय और विचारमें जीवकी स्थिति करना।

●

८०३ मुंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

शुभेच्छा योग्य;

आपका पत्र मिला है। इस क्षण तक आपका तथा आपके समागमवासी भाइयोंका कोई भी अपराध या अविनय मुझसे हुआ हो उसके लिए नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ। ॐ

●

८०४ मुंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

श्री खेडास्थित मुनिपथानुगामी श्री लल्लुजी आदि मुमुक्षु तथा शुभेच्छायोग्य भावसार मनसुखलाल आदि मुमुक्षु,

आजतक आपका कोई अपराध या अविनय इस जीवसे हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमा माँगता हूँ। ॐ

●

८०५ मुंबई, भादों सुदी ९, रवि, १९५३

आजतक आपका तथा अंबालाल आदि सभी मुमुक्षुओंका मुझसे कोई अपराध या अविनय हुआ हो उसके लिए आप सबसे क्षमा चाहता हूँ।

फेणायसे पोपटभाईका पत्र मिला था। अभी किसी सद्ग्रंथको पढ़नेके लिए उन्हें लिखें।

यही विनती।

●

[७३२] ८०६ मुंबई, भादों वदी ८, रवि, १९५३

श्री डुंगर आदि मुमुक्षु,

मगनलालने मन आदिकी पहचानके प्रश्न लिखे हैं, उन्हें समागममें पूछनेसे समझना बहुत सुलभ होगा। पत्रद्वारा समझमें आने कठिन हैं।

श्री लहेराभाई आदि मुमुक्षुओंको आत्मस्मरणपूर्वक यथाविनय प्राप्त हो।

जीवको परमार्थ पानेमें अपार अंतराय है; उसमें भी इस कालमें तो अंतरायोंका अवर्णनीय बल होता है। शुभेच्छासे लेकर कैवल्यपर्यंतकी भूमिकामें पहुँचते हुए जगह जगह वे अंतराय देखनेमें आते हैं, और वे अंतराय जीवको वारंवार परमार्थसे गिराते हैं। जीवको महापुण्यके उदयसे यदि सत्समागमका अपूर्व लाभ मिलता रहे तो वह निर्विघ्नतासे कैवल्यपर्यंतकी भूमिकामें पहुँच जाता है। सत्समागमके वियोगमें जीवको आत्मबलको विशेष जाग्रत रखकर सत्शास्त्र और शुभेच्छा-संपन्न पुरुषोंके समागममें रहना योग्य है।

●

[७३३] ८०७ मुंबई, भादों वदी ३०, रवि, १९५३

शरीर आदि बलके घटनेसे सब मनुष्योंसे मात्र दिगंबर-वृत्तिसे रहकर चारित्रका निर्वाह नहीं हो सकता, इसलिए वर्तमानकाल जैसे कालमें मर्यादापूर्वक श्वेताम्बर-वृत्तिसे चारित्रका निर्वाह करनेके लिए ज्ञानीने जिस प्रवृत्तिका उपदेश किया है, उसका निषेध करना योग्य नहीं है। इसी तरह वस्त्रका आग्रह रखकर दिगंबर-वृत्तिका एकांत निषेध करके वस्त्रमूर्च्छा आदि कारणोंसे चारित्रमें शिथिलता करना भी कर्तव्य नहीं है।

दिगंबरत्व और श्वेतांबरत्व, देश, काल और अधिकारीके योगसे उपकारके हेतु हैं। इसलिए जहाँ ज्ञानीने जिस प्रकार उपदेश किया है उस तरह प्रवृत्ति करनेसे आत्मार्थ ही है।

'मोक्षमार्गप्रकाश' में, वर्तमान जिनागम जो श्वेतांबर संप्रदायको मान्य है, उनका निषेध किया है, वह निषेध करना योग्य नहीं है। वर्तमान आगममें अमुक स्थल अधिक संदेहास्पद हैं, परंतु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेसे उसका निराकरण हो जाता है, इसलिए उपशमदृष्टिसे उन आगमोंके अवलोकन करनेमें संशय करना योग्य नहीं है।

●

[७३४-१] ८०८ मुंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

सत्पुरुषोंके अगाध गंभीर संयमको नमस्कार

अविषम परिणामसे जिन्होंने कालकूट विष पिया ऐसे श्री ऋषभ आदि परम पुरुषोंको नमस्कार।

परिणाममें तो जो अमृत ही है, परन्तु प्रथम दशामें कालकूट विषकी भाँति उद्विग्न करता है, ऐसे श्री संयमको नमस्कार।

उस ज्ञानको, उस दर्शनको और उस चारित्रको वारंवार नमस्कार।

●

[७३४-२] ८०९ मुंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

आप सबके लिखे पत्र अनेक बार हमें मिले हैं; और उनकी पहुँच भी लिखना अशक्य हो जाये, अथवा तो वैसा करना योग्य भासित होता है। इतनी बात स्मरणमें रखनेके लिए लिखी है। वैसा प्रसंग होनेपर जीवके विषयमें कुछ आपके पत्रादिके लेखन-दोषसे ऐसा हुआ होगा कि नहीं इत्यादि विकल्प न होनेके लिए यह स्मरण रखनेके लिए लिखा है।

जिनकी भक्ति निष्काम है ऐसे पुरुषोंका सत्संग या दर्शन महापुण्यरूप समझना योग्य है।

आपके निकट सत्संगियोंको समस्थितिसे यथायोग्य।

●

[७३४-३] ८१० मुंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

पारमार्थिक हेतुविशेषसे पत्रादि वन नहीं पाता।

जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरणरूप है वह इस जीवकी प्रीतिका कारण क्यों होता है यह बात रात-दिन विचार करने योग्य है।

लोकदृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टिमें पूर्व और पश्चिम जितना अंतर है। ज्ञानीकी दृष्टि प्रथम तो निरालंबन है, रुचि उत्पन्न नहीं करती, जीवकी प्रकृतिसे मेल नहीं खाती, जिससे जीव उस दृष्टिमें रुचिमान नहीं होता। परंतु जिन जीवोंने परिषह सहन करके थोड़े समय तक उस दृष्टिका आराधन किया है, वे सर्व दुःखके क्षयरूप निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, उसके उपायको प्राप्त हुए हैं।

जीवको प्रमादमें अनादिसे रति है, परंतु उसमें रति करने योग्य कुछ भी तो दिखायी नहीं देता। ॐ

●

[७३५] ८११ मुंबई, आसोज सुदी ८, रवी, १९५३

ॐ

सब जीवोंके प्रति हमारी तो क्षमादृष्टि है।

सत्पुरुषका योग और सत्समागम मिलना बहुत कठिन है, इसमें संशय नहीं है, ग्रीष्म ऋतुके तापसे संतप्त प्राणीको शीतल वृक्षकी छायाकी तरह मुमुक्षुजीवको सत्पुरुषका योग तथा सत्समागम उपकारी है। सर्व शास्त्रोंमें वैसा योग मिलना दुर्लभ कहा है।

'शांतसुधारस' और 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथोंका अभी विचार करना रखें। ये दोनों ग्रन्थ प्रकरणरत्नाकर पुस्तकमें छपे हैं। ॐ

●

[७३६] ८१२ मुंबई, आसोज सुदी ८, रवि, १९५३

ॐ

किसी एक पारमार्थिक हेतुविशेषसे पत्रादि लिखना नहीं हो सकता।

विशेष ऊँची भूमिकाको प्राप्त मुमुक्षुओंको भी सत्पुरुषोंका योग अथवा सत्समागम आधारभूत है, इसमें संशय नहीं है। निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका योग होनेसे जीव उत्तरोत्तर ऊँची भूमिकाको प्राप्त करता है। निवृत्तिमान भाव-परिणाम होनेके लिए जीवको

निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र और काल प्राप्त करना योग्य है। शुद्ध समझसे रहित जीवको किसी भी योगसे शुभेच्छा, कल्याण करनेकी इच्छा प्राप्त हो और निःस्पृह परम पुरुषका योग मिले तो ही इस जीवको भान आना संभव है।

उसके वियोगमें सत्शास्त्र और सद्विचारका परिचय कर्तव्य है। अवश्य कर्तव्य है।

श्री डुंगर आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य।

•

[७३७] ८१३ मुंबई, आसोज वदी ७, १९५३

ऊपरकी भूमिकाओंमें भी अवकाश मिलनेपर अनादि वासनाका संक्रमण हो आता है, और आत्माको वारंवार आकुल-व्याकुल कर देता है। वारंवार यों हुआ करता है कि अब ऊपरकी भूमिकाकी प्राप्ति होना दुर्लभ ही है, और वर्तमान भूमिकामें स्थिति भी फिर होना दुर्लभ है। ऐसे असंख्य अंतराय-परिणाम ऊपरकी भूमिकामें भी होते हैं, तो फिर शुभेच्छादि भूमिकामें वैसा हो, यह कुछ आश्चर्यकारक नहीं है। वैसे अंतरायसे खिन्न न होते हुए आत्मार्थी जीव पुरुषार्थदृष्टि रखे, शूरवीरता रखे, हितकारी द्रव्य, क्षेत्र आदिका अनुसंधान करे, सत्शास्त्रका विशेष परिचय रखकर, वारंवार हठ करके भी मनको सद्विचारमें लगाये और मनके दुरात्म्यसे आकुल-व्याकुल न होते हुए धैर्यसे सद्विचारपथपर जानेका उद्यम करते हुए जय पाकर ऊपरकी भूमिका पाता है और अविक्षिप्तता प्राप्त करता है। 'योगदृष्टिसमुच्चय' वारंवार अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

•

[७३८] ८१४ मुंबई, आसोज वदी १४, रवि, १९५३

ॐ

श्री हरिभद्राचार्यने 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रन्थ संस्कृतमें रचा है। 'योगबिंदु' नामक योगका दूसरा ग्रन्थ भी उन्होंने रचा है। हेमचंद्राचार्यने 'योगशास्त्र' नामक ग्रन्थ रचा है। श्री हरिभद्रकृत 'योगदृष्टिसमुच्चय' की पद्धतिसे गुर्जर भाषामें श्री यशोविजयजीने स्वाध्यायकी रचना की है। शुभेच्छासे लेकर निर्वाणपर्यंतकी भूमिकाओंमें मुमुक्षु जीवको वारंवार श्रवण करने योग्य, विचार करने योग्य और स्थिति करने योग्य आशयसे बोध-तारतम्य तथा चारित्र-स्वभावका तारतम्य उस ग्रन्थमें प्रकाशित किया है। यमसे लेकर समाधिपर्यंत अष्टांगयोग दो प्रकारसे है—एक प्राणादिका निरोधरूप और दूसरा आत्मस्वभावपरिणामरूप। 'योगदृष्टिसमुच्चय' में आत्मस्वभावपरिणामरूप योगका मुख्य विषय है। वारंवार वह विचार करने योग्य है।

श्री धुरीभाई आदि मुमुक्षुओंको यथायोग्य प्राप्त हो।

•

३१वाँ वर्ष

[७४०]　　　　　　८१५　　　　　मुंबई, कार्त्तिक वदी १, बुध, १९५४

आत्मार्थी श्री मनसुख द्वारा लिखे हुए पत्रोंका समाधान विशेष करके सत्समागममें मिलनेसे यथायोग्य समझमें आयेगा।

जो आर्य अब अन्य क्षेत्रमें विहार करनेके आश्रममें हैं, उन्हें जिस क्षेत्रमें शांतरसप्रधान वृत्ति रहे; निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका लाभ हो, उस क्षेत्रमें विचरना योग्य है। समागमकी आकांक्षा है, तो अभी अधिक दूर क्षेत्रमें विचरना न हो सके, चरोतर आदि क्षेत्रमें विचरना योग्य है। यही विनती। ॐ

●

[७४१]　　　　　　८१६　　　　　मुंबई, कार्तिक वदी ५, १९५४

आपके लिखे पत्र मिले हैं।

अमुक ग्रंथोंका लोकहितार्थ प्रचार हो; ऐसा करनेकी वृत्ति बतायी सो ध्यानमें है।

मगनलाल आदिने दर्शन तथा समागमकी आकांक्षा जिनमें प्रदर्शित की है वे पत्र भी मिले हैं।

सर्वथा अंतर्मुख होनेका सत्पुरुषोंका मार्ग सर्व दुःखक्षयका उपाय है, परंतु वह किसी ही जीवकी समझमें आता है। महापुण्यके योगसे, विशुद्ध मतिसे, तीव्र वैराग्यसे और सत्पुरुषके समा-

गमसे वह उपाय समझमें आने योग्य है। उसे समझनेका अवसर एक मात्र यह मनुष्य देह, है। वह भी अनियमित कालके भयसे ग्रस्त है, उसमें प्रमाद होता है, यह खेद और आश्चर्य है। ॐ

•

[७४२] ८१७ मुंबई, कार्त्तिक वदी १२, १९५४

पहले आपके दो पत्र और अभी एक पत्र मिला है। अभी यहाँ स्थिति होना संभव है।

आत्मदशाको पाकर जो निर्द्वन्द्वतासे यथाप्रारब्ध विचरते हैं, ऐसे महात्माओंका योग जीवको दुर्लभ है। वैसा योग मिलनेपर जीवको उस पुरुषकी पहचान नहीं होती, और तथारूप पहचान हुए विना उस महात्माका दृढ़ाश्रय नहीं होता। जब तक आश्रय दृढ़ न हो तब तक उपदेश फलित नहीं होता। उपदेशके फलित हुए विना सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना जन्मादि दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति नहीं बन पाती। वैसे महात्मा पुरुषोंका योग तो दुर्लभ है, इसमें संशय नहीं है। परंतु आत्मार्थी जीवोंका योग मिलना भी कठिन है। तो भी क्वचित् क्वचित् वह योग वर्तमानमें होना संभव है। सत्समागम और सत्शास्त्रका परिचय कर्तव्य है। ॐ

•

[७४३] ८१८ मुंबई, मगसिर सुदी ५, रवि, १९५४

ॐ

क्षयोपशम, उपशम, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक और सान्निपातिक, इन छः भावोंको ध्यानमें रखकर आत्माको उन भावोंसे अनुप्रेक्षित करके देखनेसे सद्विचारमें विशेष स्थिति होगी।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र जो आत्मभावरूप हैं, उन्हें समझनेके लिए उपर्युक्त भाव विशेष अवलंबनभूत हैं।

•

[७४४] ८१९ मुंबई, मगसिर सुदी ५, रवि, १९५४

ॐ

खेद न करते हुए शूरवीरता ग्रहण कर ज्ञानीके मार्गसे चलनेसे मोक्षपट्टन सुलभ ही है। विषय-कषाय आदि विशेष विकार कर डालें, उस समय विचारवानको अपनी निर्वीर्यता देखकर बहुत ही खेद होता है, और वह आत्माकी वारंवार निंदा करता है, पुनः पुनः तिरस्कार-वृत्तिसे देखकर, पुनः महापुरुषके चरित्र और वाक्यका अवलंबन ग्रहण कर, आत्मामें शौर्य उत्पन्न कर, उन विषयादिके विरुद्ध अति हठ करके उन्हें हटा देता है, तब तक हिम्मत हारकर बैठ नहीं जाता, और केवल खेद करके रुक नहीं जाता। आत्मार्थी जीवोंने इसी वृत्तिका अवलंबन लिया है; और इसीलिए अंतमें जय प्राप्त की है। इस बातको सभी मुमुक्षुओंको मुखाग्र करके हृदयमें स्थिर करना योग्य है।

•

[७४५] ८२० मुंबई, मगसिर सुदी ५, रवि, १९५४

त्रंबकलालका लिखा एक पत्र तथा मगनलालका लिखा एक पत्र तथा मणिलालका लिखा एक पत्र यों तीन पत्र मिले हैं। मणिलालका लिखा पत्र अभी तक चित्तपूर्वक पढ़ा नहीं जा सका।

श्री डुंगरकी अभिलाषा 'आत्मसिद्धि' पढ़नेकी है। इसलिए उनके पढ़नेके लिए उस पुस्तककी व्यवस्था कर दें। 'मोक्षमार्गप्रकाश' नामक ग्रंथ श्री रेवाशंकरके पास है वह डुंगरके लिए पढ़ने योग्य है, प्रायः थोड़े दिनोंमें उन्हें वह ग्रंथ भेजेंगे।

'कौनसे गुण अंगमें आनेसे यथार्थ मार्गानुसारिता कही जाये?' 'कौनसे गुण अंगमें आनेसे यथार्थ सम्यग्दृष्टिता कही जाये ?' 'कौनसे गुण अंगमें आनेसे श्रुतकेवलज्ञान हो ?' 'तथा कौनसी दशा होनेसे यथार्थ केवलज्ञान हो, अथवा कहा जाये ?' इन प्रश्नोंके उत्तर लिखवानेके लिए श्री डुंगरसे कहें।

आठ दिन रुककर उत्तर लिखनेमें बाधा नहीं है, परंतु सांगोपांग, यथार्थ और विस्तारसे लिखवायें। सद्विचारवानके लिए ये प्रश्न हितकारी हैं। सभी मुमुक्षुओंको यथायोग्य।

●

[७४६] ८२१ मुंबई, पौष सुदी ३, रवि, १९५४

त्रंबकलालने क्षमा चाहकर लिखा है कि सहजभावसे व्यावहारिक बात लिखी गयी है, उस संबंधमें आप खेद न करें। यहाँ वह खेद नहीं है, परन्तु जब तक आपकी दृष्टिमें वह बात रहेगी अर्थात् व्यावहारिकवृत्ति रहेगी तब तक आत्महितके लिए बलवान प्रतिबंध है, यों समझें और यह ध्यानमें रखिये कि स्वप्नमें भी उस प्रतिबंधमें न रहा जाये।

हमने जो यह अनुरोध किया है, उस पर आप यथाशक्ति पूर्ण विचार कर देखें, और उस वृत्तिका मूल अंतरसे सर्वथा निवृत्त कर डालें। नहीं तो समागमका लाभ प्राप्त होना असंभव है। यह बात शिथिलवृत्तिसे नहीं परंतु उत्साहवृत्तिसे सिरपर चढ़ानी योग्य है।

मगनलालने मार्गानुसारीसे लेकर केवलपर्यंत दशासंबंधी प्रश्नोंके उत्तर लिखे थे, वे उत्तर शक्तिके अनुसार हैं, परंतु सद्बुद्धिसे लिखे हैं।

मणिलालने लिखा कि गोशळियाको 'आत्मसिद्धि' ग्रंथ घरमें न देनेसे बुरा लगा इत्यादि लिखा, उसे लिखनेका कारण न था। हम इस ग्रंथके लिए कुछ रागदृष्टि कि मोहदृष्टिमें पड़कर डुंगरको अथवा दूसरेको देनेमें प्रतिबंध करते हैं, यह होना संभव नहीं है। इस ग्रंथकी दूसरी नकल करनेकी प्रवृत्ति न करें।

ॐ

●

८२२ आणंद, पौष वदी ११, मंगल, १९५४

आज सवेरे यहाँ आना हुआ है। लीमड़ीवाले भाई केशवलालका भी आज यहाँ आना हुआ है। भाई केशवलालने आप सबको तार किया सो सहजभावसे था। आप सब कोई न आ सके यों विचार कर इस प्रसंगपर चित्तमें खिन्न न होवें। आपके लिखे पत्र और चिट्ठी मिले हैं। किसी एक हेतुविशेषसे समागमके प्रति अभी विशेष उदासीनता रहा करती थी, और वह अभी योग्य है, ऐसा लगनेसे अभी मुमुक्षुओंका समागम कम हो ऐसी वृत्ति थी। मुनियोंसे कहें कि विहार करनेसे अभी अप्रवृत्ति न करें; क्योंकि अभी तुरत प्रायः समागम नहीं होगा। पंचास्तिकाय ग्रंथका विचार ध्यानपूर्वक करें।

●

[७४७] ८२३ आणंद, पौष वदी १२, गुरु, १९५४

मंगलवार सुबह यहाँ आना हुआ था। प्रायः कल सवेरे यहाँसे जाना होगा। मोरबी जाना संभव है।

सर्व मुमुक्षु बाइयों और भाइयोंको स्वरूपस्मरण कहियेगा।

श्री सोभागभाईकी विद्यमानतामें कुछ पहलेसे सूचित किया जाता था, और अभी वैसा नहीं हुआ, ऐसी किसी भी लोकदृष्टिमें पड़ना योग्य नहीं है।

अविषमभावके विना हमें भी अबंधताके लिए दूसरा कोई अधिकार नहीं है। मौन रहना योग्य मार्ग है।

रायचंद्र

●

[७४८] ८२४ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध, १९५४

ॐ

मुनियोंको विज्ञप्ति कि—

शुभेच्छासे लेकर क्षीणमोहपर्यंत सत्श्रुत और सत्समागमका सेवन करना योग्य है। सर्वकालमें जीवके लिए इस साधनकी दुर्लभता है। उसमें फिर ऐसे कालमें दुर्लभता रहे यह यथासंभव है।

दुःषमकाल और 'हुंडावसर्पिणी' नामका आश्चर्यभाव अनुभवसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने जैसा है। आत्मश्रेयके इच्छुक पुरुष उससे क्षुब्ध न होकर बारंबार उस योगपर पैर रखकर सत्श्रुत, सत्समागम और सद्वृत्तिको बलवान करना योग्य है।

●

[७४९] ८२५ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध, १९५४

आत्मस्वभावकी निर्मलता होनेके लिए मुमुक्षुजीवको दो साधन अवश्य ही सेवन करने योग्य हैं—सत्श्रुत और सत्समागम। प्रत्यक्ष सत्पुरुषोंका समागम जीवको कभी कभी ही प्राप्त होता है, परन्तु यदि जीव सद्दृष्टिमान हो तो सत्श्रुतके बहुत कालके सेवनसे होनेवाला लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागमसे बहुत अल्पकालमें प्राप्त कर सकता है; क्योंकि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चेतनके प्रभाववाले वचन और वृत्ति क्रिया-चेष्टित्व है। जीवको वैसा समागमयोग प्राप्त हो इस तरहका विशेष प्रयत्न करना योग्य है। वैसे योगके अभावमें सत्श्रुतका परिचय अवश्य ही करना योग्य है। जिसमें शांतरसकी मुख्यता है, शांतरसके हेतुसे जिसका समस्त उपदेश है, और जिसमें सभी रसोंका वर्णन शांतरसगर्भित है, ऐसे शास्त्रका परिचय सत्श्रुतका परिचय है।

●

[७५०-१] ८२६ मोरबी, माघ सुदी ४, बुध १९५४

ॐ

यदि हो सके तो बनारसीदासके जो ग्रंथ आपके पास हों (समयसार-भाषाके सिवाय), दिगम्बर 'नयचक्र', 'पंचास्तिकाय' (दूसरी प्रति हो तो), 'प्रवचनसार' (श्री कुंदकुंदाचार्यकृत हो तो) और 'परमात्मप्रकाश' यहाँ भेजें।

जीवको सत्श्रुतका परिचय अवश्य ही कर्तव्य है। मल; विक्षेप और प्रमाद उसमें बारंबार अंतराय करते हैं, क्योंकि दीर्घकालसे परिचित हैं, परन्तु यदि निश्चय करके उन्हें अपरिचित करनेकी प्रवृत्ति की जाये तो यह हो सकता है। यदि मुख्य अंतराय हो तो वह जीवका अनिश्चय है।

●

[७५१] ८२७ ववाणिया, माघ वदी ४, गुरु, १९५४

इस जीवके उत्तापका मूल हेतु क्या है तथा उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती, और वह कैसे हो ? ये प्रश्न विशेषतः विचार करने योग्य है, अंतरमें उतारकर विचार करने योग्य है। जब तक इस क्षेत्रमें स्थिति रहे तब तक चित्तको अधिक दृढ रखकर प्रवृत्ति करें। यही विनती।

●

[८२८-२] ८२८ मुंबई, माघ वदी ३०, १९५४

श्री भाणजीस्वामीको पत्र लिखवाते हुए सूचित करें—'विहार करके अहमदावाद स्थिति करनेमें मनको भय, उद्वेग या क्षोभ नहीं है, परंतु हितबुद्धिसे विचार करते हुए हमारी दृष्टिमें यह आता है कि अभी उस क्षेत्रमें स्थिति करना योग्य नहीं है। यदि आप कहेंगे तो उसमें आत्म-हितको क्या बाधा आती है, उसे विदित करेंगे, और उसके लिए आप सूचित करेंगे तो उस क्षेत्रमें समागममें आयेंगे। अहमदावादका पत्र पढ़कर आप सबको कुछ भी उद्वेग कि क्षोभ कर्तव्य नहीं है, समभाव कर्तव्य है। लिखनेमें यदि कुछ अनम्रभाव हुआ हो तो क्षमा करें।'

यदि तुरत ही उनका समागम होनेवाला हो तो ऐसा कहें—'आपने विहार करनेके विषयमें सूचित किया, उस विषयमें आपका समागम होनेपर जैसा कहेंगे वैसा करेंगे।' और समागम होनेपर कहें—'पहलेकी अपेक्षा संयममें शिथिलता की हो ऐसा आपको मालूम होता हो तो वह बतायें, जिससे उसकी निवृत्ति की जा सके, और यदि आपको वैसा न मालूम होता तो फिर यदि कोई जीव विषमभावके अधीन होकर वैसा कहें तो उस बातपर ध्यान न देकर आत्मभावका ध्यान रखकर प्रवृत्ति करना योग्य है।

ऐसा जानकर अभी अहमदावाद-क्षेत्रमें जानेकी वृत्ति योग्य नहीं लगती, क्योंकि रागदृष्टि-वाले जीवके पत्रकी प्रेरणासे, और मानके रक्षणके लिए उस क्षेत्रमें जाने जैसा होता है, जो बात आत्माके अहितका हेतु है। कदाचित् आप ऐसा समझते हों कि जो लोग असंभव बात कहते हैं उन लोगोंके मनमें अपनी भूल मालूम होगी और धर्मकी हानि होती हुई रुक जायेगी तो यह एक हेतु ठीक है; परन्तु वैसा रक्षण करनेके लिए उपर्युक्त दो दोष न आते हों तो किसी अपेक्षासे लोगोंकी भूल दूर होनेके लिए विहार कर्तव्य है। परन्तु एक बार तो अविषमभावसे उस बातको सहन करके अनुक्रमसे स्वाभाविक विहार होते होते उस क्षेत्रमें जाना हो और किन्हीं लोगोंको वहम हो वह निवृत्त हो ऐसा करना उचित है; परन्तु रागदृष्टिवालेके वचनोंकी प्रेरणासे, तथा मानके रक्षणके लिए अथवा अविषमता न रहनेसे लोगोंकी भूल मिटानेका निमित्त मानना, वह आत्महितकारी नहीं है, इसलिए अभी इस बातको उपशांत कर अहमदावाद आप बतायें कि क्वचित् लल्लुजी आदि मुनियोंके लिए किसीने कुछ कहा हो तो इससे वे मुनि दोष पात्र नहीं होते; उनके समागममें आनेसे जिन लोगोंको वैसा संदेह होगा वह सहज ही निवृत्त हो जायेगा, अथवा समझनेकी भूलसे संदेह हो या दूसरा कोई स्वपक्षके मानके लिए संदेह प्रेरित करे तो वह विषम मार्ग है; इसलिए विचारवान मुनियोंको वहाँ समदर्शी होना योग्य है; आपको चित्तमें कोई क्षोभ करना योग्य नहीं है, ऐसा बतायें। आप ऐसा करेंगे तो हमारी आत्माका, आप-की आत्माका, और धर्मका रक्षण होगा।' इस प्रकार जैसे उनकी वृत्तिमें जचे, वैसे योगमें बात-चीत करके समाधान करें, और अभी अहमदावाद-क्षेत्रमें स्थिति करना न बने ऐसा करें तो आगे जाकर विशेष उपकारका हेतु है। ऐसा करते हुए भी यदि किसी भी प्रकारसे भाणजीस्वामी न

मानें तो अहमदावाद-क्षेत्रकी ओर भी विहार कीजिये, और संयमके उपयोगमें सावधान रहकर आचरण करें। आप अविषम रहें।

●

[७५२] ८२९

मुमुक्षुता जैसे दृढ़ हो वैसे करें, हारने अथवा निराश होनेका कोई हेतु नहीं है। जीवको दुर्लभ योग प्राप्त हुआ तो फिर थोड़ासा प्रमाद छोड देनेमें जीवको उद्विग्न अथवा निराश होने जैसा कुछ भी नहीं है।

●

८३० मोरबी, चैत्र वदी १२, रवि १९५४

'पंचास्तिकाय' ग्रंथ रजिस्टर्ड बुक-पोस्टसे भेजनेकी व्यवस्था करें।

आप, छोटालाल, त्रिभोवन, कीलाभाई, धुरीभाई और झवेरभाई आदिको 'मोक्षमार्ग-प्रकाश' आदिसे अंत तक पढ़ना अथवा सुनना योग्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे नियमित शास्त्रावलोकन कर्तव्य है।

●

[७५४] ८३१ मोरबी, चैत्र वदी १२, रवि, १९५४

श्री देवकीर्ण आदि मुमुक्षुओंको यथाविनय नमस्कार प्राप्त हो।

'कर्मग्रंथ', 'गोम्मटसारशास्त्र' आदिसे अंत तक विचार करने योग्य है।

दुःषमकालका प्रबल राज्य चल रहा है, तो भी अडिग निश्चयसे, सत्पुरुषकी आज्ञामें वृत्तिका संधान करके जो पुरुष अगुप्तवीर्यसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी उपासना करना चाहता है, उसे परम शांतिका मार्ग भी प्राप्त होना योग्य है।

●

[७५९] ८३२ ववाणिया, ज्येष्ठ, १९५४

देहसे भिन्न स्वपरप्रकाशक परम ज्योतिस्वरूप यह आत्मा है, इसमें निमग्न होवें। हे आर्य जनो! अंतर्मुख होकर, स्थिर होकर उसी आत्मामें ही रहें तो अनंत अपार आनंदका अनुभव करेंगे।

सर्व जगतके जीव कुछ न कुछ प्राप्त करके सुख प्राप्त करना चाहते हैं, महान चक्रवर्ती राजा बढ़ते हुए वैभव, परिग्रहके संकल्पमें प्रयत्नवान है, और प्राप्त करनेमें सुख मानता है; परंतु अहो! ज्ञानियोंने तो उससे विपरीत ही सुखका मार्ग निर्णीत किया कि किंचित्मात्र भी ग्रहण करना ही सुखका नाश है।

विषयसे जिसकी इंद्रियाँ आर्त्त है उसे शीतल आत्मासुख, आत्मतत्त्व कहाँसे प्रतीतिमें आये?

परम धर्मरूप चंद्रके प्रति राहु जैसे परिग्रहसे अब मैं विराम पाना ही चाहता हूँ।

हमें परिग्रहको क्या करना है?

कुछ प्रयोजन नहीं है।

'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि।'

हे आर्यजनो! इस परम वाक्यका आत्मभावसे आप अनुभव करें।

●

[७६०] ८३३ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १, शनि, १९५४

सर्व द्रव्यसे, सर्व क्षेत्रसे, सर्व कालसे और सर्व भावसे जो सर्वथा अप्रतिबद्ध होकर निजस्वरूपमें स्थित हुए उन परम पुरुषोंको नमस्कार।

जिन्हें कुछ प्रिय नहीं, जिन्हें कुछ अप्रिय नहीं, जिनका कोई शत्रु नहीं, जिनका कोई मित्र नहीं, जिन्हें मान-अपमान; लाभ-अलाभ, हर्ष-शोक, जन्म-मरण आदि द्वन्द्वोंका अभाव होकर जो शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थित हुए हैं, स्थित होते हैं और स्थित होंगे उनका अति उत्कृष्ट पराक्रम सानंदाश्चर्य उत्पन्न करता है।

देहसे जैसा वस्त्रका संबंध है, वैसा जिन्होंने आत्मासे देहका संबंध यथातथ्य देखा है, म्यानसे जैसा तलवारका संबंध है वैसा जिन्होंने देहसे आत्माका संबंध देखा है, और जिन्होंने अबद्ध स्पष्ट आत्माका अनुभव किया है, उन महापुरुषोंको जीवन और मरण समान हैं।

जिस अचिंत्य द्रव्यकी शुद्धचितिस्वरूप कांति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परम कृपालु सत्पुरुषने प्रकाशित किया उसका अपार उपकार है।

चंद्र भूमिको प्रकाशित करता है, उसकी किरणोंकी कांतिके प्रभावसे समस्तभूमि श्वेत हो जाती है, परंतु चंद्र कुछ भूमिरूप किसी कालमें वैसा नहीं होता, इसी तरह समस्त विश्वका प्रकाशक यह आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होती, सदा-सर्वदा चैतन्यस्वरूप ही रहती है। विश्वमें जीव अभेदता मानता है यही भ्रांति है।

जैसे आकाशमें विश्वका प्रवेश नहीं है, सर्व भावकी वासनासे आकाश रहित ही है, वैसे सम्यग्दृष्टि पुरुषोंने सर्व द्रव्यसे भिन्न, सर्व अन्य पर्यायसे रहित ही आत्मा प्रत्यक्ष देखी है।

जिसकी उत्पत्ति किसी भी अन्य द्रव्यसे नहीं होती, ऐसी आत्माका नाश भी कहाँसे हो?

अज्ञानसे और स्वस्वरूपसंबंधी प्रमादसे आत्माको मात्र मृत्युकी भ्रांति है। उसी भ्रांतिको निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निजानुभवप्रमाणस्वरूपमें परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदा ही निर्भय है। इसी स्वरूपके ध्यानसे सर्व जीवके प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है। सर्व परद्रव्यसे वृत्तिको व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधिको पाती है।

जिन्होंने परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शांत, शुद्ध चैतन्यस्वरूप समाधिको सदाके लिए प्राप्त किया उन भगवंतको नमस्कार, और जिनका उस पदमें निरंतर ध्यानरूप प्रवाह है उन सत्पुरुषोंको नमस्कार।

सर्वसे सर्वथा मैं भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य सुखस्वरूप मात्र एकांत शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ, वहाँ विक्षेप क्या? विकल्प क्या? भय क्या? खेद क्या? दूसरी अवस्था क्या? मैं मात्र निर्विकल्प शुद्ध, अति शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध परमशांत चैतन्य हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। मैं निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ। तन्मय होता हूँ।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

•

[७६१] ८३४ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी ६, गुरु, १९५४

महद्गुणनिष्ठ स्थविर आर्य श्री डुंगर ज्येष्ठ सुदी ३ सोमवारकी रातको ९॥ बजे समाधिसहित देहमुक्त हुए।

मुनियोंको नमस्कार प्राप्त हो।

•

[७६२] ८३५ मुंबई, ज्येष्ठ वदी ४, बुध, १९५४

ॐ नमः

जिससे मनकी वृत्ति शुद्ध और स्थिर हो ऐसा सत्समागम प्राप्त होना दुर्लभ है। और उसमें यह दुःषमकाल होनेसे जीवको उसका विशेष अंतराय है। जिस जीवको प्रत्यक्ष सत्समागमका विशेष लाभ प्राप्त हो वह महापुण्यवान है। सत्समागमके वियोगमें सत्शास्त्रका सदाचारपूर्वक परिचय अवश्य करने योग्य है।

●

[७५३-२] ८३६

उत्पाद
व्यय
ध्रुव } ये भाव एक वस्तुमें एक समयमें हैं।

जीव और परमाणुओंका
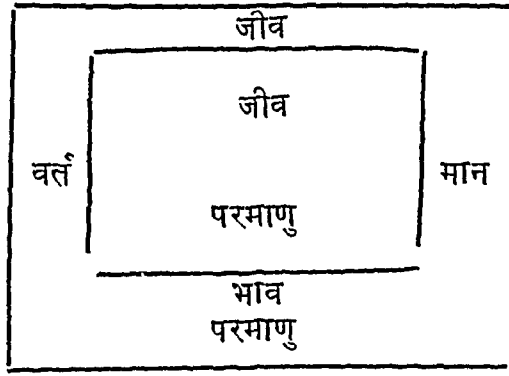
संयोग

कोई एक जीव
,,
,,
,,
,,

एकेंद्रिय रूपसे—पर्याय
दो इन्द्रिय रूपसे—,,
तीन इन्द्रिय रूपसे—,,
चार इन्द्रिय रूपसे—,,
पाँच इन्द्रिय रूपसे—,, } वर्तमान भाव

संज्ञी
असंज्ञी
पर्याप्त
अपर्याप्त } वर्तमान भाव

ज्ञानी
अज्ञानी } वर्तमान भाव

मिथ्यादृष्टि
सम्यग्दृष्टि } वर्तमान भाव

एक अंश क्रोध
यावत् अनंत अंश क्रोध } वर्तमान भाव

सिद्धभाव

●

[७५३-३] ८३७ सं० १९५४

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्ववाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ॥

आत्मसिद्धिशास्त्र, १०वाँ पद

प्रश्न—(१) सद्गुरु योग्य ये लक्षण मुख्यतः किस गुणस्थानकमें संभव हैं ?
(२) समदर्शिता किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) सद्गुरु योग्य जो ये लक्षण बताये हैं वे मुख्यतः —विशेपतः उपदेशक अर्थात् मार्गप्रकाशक सद्गुरुके लक्षण कहे हैं। उपदेशक गुणस्थान छट्ठा और तेरहवाँ हैं; बीचके सातवेंसे बारहवें तकके गुणस्थान अल्पकालवर्ती हैं, इसलिए उनमें उपदेशक-प्रवृत्तिका संभव नहीं है। मार्गोपदेशक-प्रवृत्ति छट्ठेसे शुरू होती है।

छट्ठे गुणस्थानमें संपूर्ण वीतरागदशा और केवलज्ञान नहीं हैं। वे तो तेरहवेंमें हैं, और यथावत् मार्गोपदेशकत्व तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले संपूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न परम श्री जिन तीर्थंकर आदिमें घटता है। तथापि छठे गुणस्थानमें रहनेवाला मुनि, जो संपूर्ण वीतरागता और कैवल्यदशाका उपासक है, उस दशाके लिए जिसका प्रवर्तन-पुरुषार्थ है, जो उस दशाको संपूर्णरूपसे प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि उस संपूर्ण दशा प्राप्त करनेके मार्ग-साधनको स्वयं परम सद्गुरु श्री तीर्थंकर आदि आत्मपुरुषके आश्रय-वचनसे जिसने जाना है, प्रतीत किया है, अनुभव किया है, और उस मार्ग-साधनकी उपासनासे जिसकी वह दशा उत्तरोत्तर विशेपातिविशेप प्रकट होती जाती है, उस सद्गुरुमें भी मार्गका उपदेशकत्व अविरुद्ध है।

उससे नीचेके पाँचवें और चौथे गुणस्थानमें मार्गोपदेशकत्व प्रायः नहीं घटता, क्योंकि वहाँ बाह्य (गृहस्थ) व्यवहारका प्रतिबंध है, और बाह्य अविरतिरूप गृहस्थ व्यवहार होते हुए विरतिरूप मार्गका प्रकाशन करना यह मार्गका विरोधरूप है। चौथेसे नीचेके गुणस्थानकमें तो मार्गका उपदेशकत्व घटता ही नहीं; क्योंकि वहाँ मार्गकी, आत्माकी, तत्त्वकी, ज्ञानीकी पहचान-प्रतीति नहीं है, और सम्यग्विरति नहीं है; और यह पहचान-प्रतीति और सम्यग्विरति न होनेपर भी उसकी प्ररूपणा करना, उपदेशक होना, यह प्रगट मिथ्यात्व, कुगुरुपन और मार्गका विरोध है।

चौथे पाँचवें गुणस्थानमें यह पहचान प्रतीति है, और आत्मज्ञान आदि गुण अंशतः रहते हैं; और पाँचवेंमें देशविरति भावको लेकर चौथेसे विशेपता है, तथापि सर्वविरति जितनी वहाँ शुद्धि नहीं है।

आत्मज्ञान, समदर्शिता आदि जो लक्षण बताये हैं, वे संयतिधर्ममें स्थित वीतरागदशा-साधक उपदेशक-गुणस्थानमें रहनेवाले सद्गुरुको ध्यानमें रखकर मुख्यतः बताये हैं और उनमें वे गुण बहुत अंशोंमें रहते हैं। तथापि वे लक्षण सर्वांशमें संपूर्णरूपसे तो तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले संपूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न जीवमुक्त सयोगी केवली परम सद्गुरु श्री जिन अरिहंत तीर्थंकरमें रहते हैं। उनमें आत्मज्ञान अर्थात् स्वरूपस्थिति संपूर्णरूपसे रहती है, यह उनकी ज्ञानदशा अर्थात् ज्ञानातिशय सूचित करता है। उनमें समदर्शिता अर्थात् इच्छारहितता संपूर्णरूपसे रहती है, यह उनकी वीतराग चारित्रदशा 'अपायापगमातिशय' सूचित करता है। संपूर्णरूपसे इच्छा-रहित होनेसे उनकी विचरने आदिकी दैहिक आदि योगक्रिया पूर्वप्रारब्धोदयका वेदन कर लेने भरकी ही है। इसलिए विचरे 'उदयप्रयोग' कहा। संपूर्ण निज अनुभवरूप उनकी वाणी अज्ञानीकी वाणीसे विलक्षण और एकांत आत्मार्थबोधक होनेसे उनमें वाणीकी अपूर्वता कही है, यह उनका

'वचनातिशय' सूचित करता है। वाणीधर्ममें रहनेवाला श्रुत भी उनमें ऐसी सापेक्षतासे रहता है कि जिससे कोई भी नय बाधित नहीं होता, यह उनका 'परमश्रुत' गुण सूचित करता है, और जिनमें परमश्रुत गुण रहता है वे पूजने योग्य होनेसे उनका 'पूजातिशय' सूचित करता है।

इन श्री जिन अरिहंत तीर्थंकर परम सद्गुरुको भी पहचाननेवाले विद्यमान सर्वविरति गुरु हैं, इसलिए इन सद्गुरुको ध्यानमें रखकर ये लक्षण मुख्यतः बताये हैं।

(२) समदर्शिता अर्थात् पदार्थमें इष्टानिष्टबुद्धिरहितता, इच्छारहितता और ममत्वरहितता। समदर्शिता चारित्रदशा सूचित करती है। रागद्वेषरहित होना यह चारित्रदशा है। इष्टानिष्टबुद्धि; ममत्व और भावाभावका उत्पन्न होना रागद्वेष है। यह मुझे प्रिय है, यह अच्छा लगता है, यह मुझे अप्रिय है, यह अच्छा नहीं लगता ऐसा भाव समदर्शीमें नहीं होता। समदर्शी बाह्य पदार्थको, उसके पर्यायको, वह पदार्थ तथा पर्याय जिस भावसे रहते हैं उन्हें उसी भावसे देखता है, जानता है और कहता है; परंतु उस पदार्थ अथवा उसके पर्यायमें ममत्व कि इष्टानिष्टत्व नहीं करता।

आत्माका स्वाभाविक गुण देखने-जाननेका होनेसे वह ज्ञेय पदार्थको देखती-जानती है; परंतु जिस आत्मामें समदर्शिता प्रगट हुई है, वह आत्मा उस पदार्थको देखते हुए, जानते हुए भी उसमें ममत्वबुद्धि, तादात्म्यभाव और इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करती। विषमदृष्टि आत्माको पदार्थमें तादात्म्यवृत्ति होती है; समदृष्टि आत्माको नहीं होती।

कोई पदार्थ काला हो तो समदर्शी उसे काला देखता है, जानता है और कहता है। कोई श्वेत हो तो उसे वैसा देखता है, जानता है और कहता है। कोई पदार्थ सुरभि (सुगंधी) हो तो उसे वह वैसा ही देखता है, जानता है और कहता है। कोई दुरभि (दुर्गंधी) हो तो उसे वैसा देखता है, जानता है और कहता है। कोई ऊँचा हो, कोई नीचा हो तो उसे वैसा देखता, जानता और कहता है। सर्पको सर्पकी प्रकृतिरूपसे वह देखता है, जानता है और कहता है। वह बाघको बाघकी प्रकृतिरूपसे देखता है, जानता है और कहता है। इत्यादि प्रकारसे वस्तु मात्र जिस रूपसे जिस भावसे होती है, समदर्शी उसे उस रूपसे उस भावसे देखता है, जानता है और कहता है। हेय (छोड़ने योग्य) को हेयरूपसे देखता है; जानता है और कहता है। उपादेय (ग्रहण करने योग्य) को उपादेयरूपसे देखता है, जानता है और कहता है। परंतु समदर्शी आत्मा उन सबमें ममत्व, इष्टानिष्टबुद्धि और रागद्वेष नहीं करता, सुगंध देखकर प्रियता नहीं करता, दुर्गंध देखकर अप्रियता, अरुचि नहीं करता। (व्यवहारसे) अच्छी मानी गयी वस्तुको देखकर ऐसी इच्छाबुद्धि (राग, रति) नहीं करता कि यह वस्तु मुझे मिल जाये तो ठीक। (व्यवहारसे) बुरी मानी गयी वस्तुको देखकर ऐसी अनिच्छाबुद्धि (द्वेष, अरति) नहीं करता कि यह वस्तु मुझे न मिले तो ठीक। प्राप्त स्थिति-संयोगमें अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्टबुद्धि, व्याकुल-आकुलता न करते हुए उसमें समवृत्तिसे अर्थात् अपने स्वभावसे, रागद्वेषरहित भावसे रहना यह समदर्शिता है।

साता-असाता, जीवन-मरण, सुगंध-दुर्गंध, सुस्वर-दुस्वर; सुरूप-कुरूप, शीत-उष्ण आदिमें हर्ष-शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टभाव और आर्तध्यान न रहना यह समदर्शिता है।

हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहका परिहार समदर्शीमें अवश्य होता है। अहिंसा आदि व्रत न हों तो समदर्शिता संभव नहीं। समदर्शिता और अहिंसादि व्रतोंका कार्य-कारण, अविनाभावी और अन्योन्याश्रय संबंध है। एक न हो तो दूसरा न हो, और दूसरा न हो तो पहला न हो।

समदर्शिता हो तो अहिंसादि व्रत हों।
समदर्शिता न हो तो अहिंसादि व्रत न हों।
अहिंसादि व्रत न हों तो समदर्शिता न हो।
अहिंसादि व्रत हों तो समदर्शिता हो।
जितने अंशमें समदर्शिता उतने अंशमें अहिंसादि व्रत और
जितने अंशमें अहिंसादिव्रत उतने अंशमें समदर्शिता।

सद्गुरुयोग्य लक्षणरूप समदर्शिता मुख्यतया सर्वविरति गुणस्थानमें होती है, बादके गुणस्थानोंमें वह उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करती जाती है, विशेष प्रगट होती जाती है; क्षीणमोहगुणस्थानमें उसकी पराकाष्ठा और फिर सम्पूर्ण वीतरागता होती है।

समदर्शिता अर्थात् लौकिकभावमें समान-भाव, अभेद-भाव, एक समान-बुद्धि और निर्विशेषता नहीं, अर्थात् काच और हीरा दोनोंको समान समझना, अथवा असत्श्रुत और सत्श्रुतमें समत्व समझना, अथवा सद्धर्म और असद्धर्ममें अभेद मानना, अथवा सद्गुरु और असद्गुरुमें एकसी-बुद्धि रखना, सद्देव और असद्देवमें निर्विशेषता दिखाना अर्थात् दोनोंको एकसा समझना, इत्यादि समान वृत्ति, यह समदर्शिता नहीं, यह तो आत्माकी मूढ़ता, विवेक-शून्यता, विवेक-विकलता है। समदर्शी सत्को सत् जानता है, सत्का बोध करता है; असत्को असत् जानता है, असत्का निषेध करता है, सत्श्रुतको सत्श्रुत जानता है, उसका बोध करता है; कुश्रुतको कुश्रुत जानता है, उसका निषेध करता है, सद्धर्मको सद्धर्म जानता है, उसका बोध करता है; असद्धर्मको असद्धर्म जानता है, उसका निषेध करता है; सद्गुरुको सद्गुरु जानता है, उसका बोध करता है; असद्गुरुको असद्गुरु जानता है, उसका निषेध करता है, सद्देवको सद्देव जानता है, उसका बोध करता है; असद्देवको असद्देव जानता है, उसका निषेध करता है; इत्यादि जो जैसा होता है, उसे वैसा देखता है, जानता है और उसका प्ररूपण करता है; उसमें रागद्वेष, इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता; इस प्रकारसे समदर्शिता समझना। ॐ

•

[७६३] ८३८ मुंबई, ज्येष्ठ वदी १४, शनि, १९५४

नमो वीतरागाय

मुनियोंके समागममें ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करनेके संबंधमें यथासुख प्रवृत्ति करें, प्रतिबंध नहीं है।

श्री लल्लुजी मुनि तथा देवकीर्ण आदि मुनियोंको जिनस्मरण प्राप्त हो। मुनियोंकी ओरसे पत्र मिला था। यही विज्ञापन।

श्री राजचन्द्र देव

•

[७६४] ८३९ मुंबई, आषाढ़ सुदी ११, गुरु, १९५४

अनंत अंतराय होनेपर भी धीर रहकर जो पुरुष अपार महामोहजलको तर गये उन श्री पुरुष भगवानको नमस्कार।

अनंतकालसे जो ज्ञान भवहेतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमें जात्यंतर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार।

'आत्मसिद्धि'की प्रति तथा पत्र प्राप्त हुए।

निवृत्तियोगमें सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है।

'आत्मसिद्धि'की प्रतिके विषयमें आपने इस पत्रमें विवरण लिखा, तत्संबंधी विकल्प अभी कर्तव्य नहीं है। उसमें निर्विक्षेप रहें।

लिखनेमें अधिक उपयोगका प्रवर्तन अभी शक्य नहीं है।

●

[७६५] ८४० मोहमयीक्षेत्र, श्रावण सुदी १५, सोम १९५४

'मोक्षमार्गप्रकाश' ग्रन्थका विचार करनेके पश्चात् 'कर्मग्रंथ'का विचारना अनुकूल होगा।

दिगंबर संप्रदायमें द्रव्य-मन आठ पंखड़ीका कहा है। श्वेतांबर संप्रदायमें इस वातकी विशेष चर्चा नहीं है। 'योगशास्त्र'में उसके वहुत प्रसंग हैं। समागममें उसका स्वरूप सुगम हो सकता है।

●

८४१ मोहमयीक्षेत्र, श्रावण वदी ४, शुक्र, १९५४

ॐ

समाधिके विषयमें यथाप्रारब्ध विशेष अवसरपर।

[७६६] ८४२ काविठा, श्रावण वदी १२, शनि, १९५४

ॐ नमः

श्री ववाणियास्थित शुभेच्छासंपन्न,

वहुत करके मंगलवारके दिन आपका लिखा एक पत्र मुंवईमें मिला था। वुधवारकी रातको मुंवईसे निवृत्त होकर गुरुवार सवेरे आणंद आना हुआ था। और उसी दिन रातके लग-भग ग्यारह वजे यहाँ आना हुआ।

यहाँ दससे पंद्रह दिन तक स्थिति होना संभव है।

आपने अभी समागममें आनेकी अपनी वृत्ति प्रदर्शित की, उसमें आपको अंतराय जैसा हुआ। क्योंकि इस पत्रके पहुँचनेसे पहले ही लोगोंमें पर्युषणका प्रारंभ हुआ समझा जायेगा। जिसमें आप इस तरफ आयें तो गुण-अवगुणका विचार किये विना मताग्रही मनुष्य निंदा करें, और वैसे निमित्तको ग्रहण कर वे निंदा द्वारा वहुतसे जीवोंको परमार्थप्राप्ति होनेमें अंतराय उत्पन्न करें। इसलिए वैसा न होने देनेके लिए आपको अभी तो पर्युषणमें वाहर न जाने संवंधी लोक-पद्धतिकी रक्षा करना योग्य है।

आप और महेताजी 'वैराग्यशतक', आनंदघन चौवीसी', 'भावनावोध' आदि पुस्तकें पढ़ने-विचारनेके जितना हो उतना निवृत्तिका लाभ प्राप्त करें।

प्रमाद और लोक-पद्धतिमें काल सर्वथा वृथा गँवा देना, यह मुमुक्षुजीवका लक्षण नहीं है। दूसरे शास्त्रोंका योग वनना कठिन है, ऐसा समझकर उपर्युक्त पुस्तकें लिखी हैं। जो पुस्तकें भी विशेष विचार करने योग्य हैं। माताजी तथा पिताजीसे पादवंदनपूर्वक कहें कि सुखवृत्तिमें हैं।

अमुक समय जव निवृत्तिके लिए किसी क्षेत्रमें रहना होता है, तव प्रायः पत्र लिखनेकी वृत्ति कम रहती है, इस वार विशेप कम है; परंतु आपका पत्र इस प्रकारका था कि जिसका उत्तर न मिलनेसे आपको पता न चले कि किस कारणसे ऐसा हुआ।

अमुक स्थलमें स्थिति होना अनिश्चित होनेसे मुंवईसे पत्र नहीं लिखा जा सका था।

●

[७६७] ८४३ वसो, प्रथम आसोज सुदी ६, बुध, १९५४

श्रीमान वीतराग भगवानोंने जिसका अर्थ निश्चित किया है,
जो अचिंत्य चिंतामणिस्वरूप, परम हितकारी,
परम अद्भुत, सर्व दुःखोंका निःसंशय
आत्यंतिक क्षयंकर, परम अमृत-
स्वरूप सर्वोत्कृष्ट शाश्वत है,
वह धर्म जयशाली रहे,
त्रिकाल जयशाली रहे।

उन श्रीमान अनंत चतुष्टयस्थित भगवानका और उस जयशाली धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य है। जिन्हें दूसरी कोई सामर्थ्य नहीं, ऐसे अबुध एवं अशक्त मनुष्योंने भी उस आश्रयके बलसे परम सुखहेतु अद्भुत फलको प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं और करेंगे। इसलिए निश्चय और आश्रय ही कर्तव्य है। अधीरतासे खेद कर्तव्य नहीं है।

चित्तमें देहादि भयका विक्षेप भी करना योग्य नहीं है।

जो पुरुष देहादिसंबंधी हर्षविषाद नहीं करते वे पुरुष पूर्ण द्वादशांगको संक्षेपमें समझे हैं, ऐसा समझें। यही दृष्टि कर्तव्य है।

मैंने धर्म नहीं पाया, मैं धर्म कैसे पाऊँगा? इत्यादि खेद न करते हुए वीतराग पुरुषोंका धर्म जो देहादिसंबंधी हर्षविषादवृत्ति दूर कर, 'आत्मा असंग-शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप है' ऐसी वृत्तिका निश्चय और आश्रय ग्रहण करके उसी वृत्तिका बल रखना, और जहाँ मंदवृत्ति हो वहाँ वीतराग पुरुषोंकी दशाका स्मरण करना, उस अद्भुत चरित्रपर दृष्टि प्रेरित कर वृत्तिका अप्रमत्त करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याणस्वरूप है।

निर्विकल्प

●

[७७७-२] ८४४ आसोज, १९५४

कराल काल! इस अवसर्पिणीकालमें चौवीस तीर्थंकर हुए। उनमें अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर दीक्षित हुए पर अकेले! सिद्धि प्राप्त की पर अकेले! उनका प्रथम उपदेश भी निष्फल गया!

●

८४५ आसोज, १९५४

[1]मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

× × ×

यथाविधि अध्ययन और मनन कर्तव्य है।

●

१. देखें उपदेश नोंध ३७

'आत्मसिद्धि'की प्रति तथा पत्र प्राप्त हुए।

निवृत्तियोगमें सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है।

'आत्मसिद्धि'की प्रतिके विषयमें आपने इस पत्रमें विवरण लिखा, तत्संबंधी विकल्प अभी कर्तव्य नहीं है। उसमें निर्विक्षेप रहें।

लिखनेमें अधिक उपयोगका प्रवर्तन अभी शक्य नहीं है।

●

[७६५] ८४० मोहमयीक्षेत्र, श्रावण सुदी १५, सोम १९५४

'मोक्षमार्गप्रकाश' ग्रन्थका विचार करनेके पश्चात् 'कर्मग्रंथ'का विचारना अनुकूल होगा।

दिगंबर संप्रदायमें द्रव्य-मन आठ पंखड़ीका कहा है। श्वेतांबर संप्रदायमें इस बातकी विशेष चर्चा नहीं है। 'योगशास्त्र'में उसके बहुत प्रसंग हैं। समागममें उसका स्वरूप सुगम हो सकता है।

●

८४१ मोहमयीक्षेत्र, श्रावण वदी ४, शुक्र, १९५४

ॐ

समाधिके विषयमें यथाप्रारब्ध विशेष अवसरपर।

[७६६] ८४२ काविठा, श्रावण वदी १२, शनि, १९५४

ॐ नमः

श्री ववाणियास्थित शुभेच्छासंपन्न,

बहुत करके मंगलवारके दिन आपका लिखा एक पत्र मुंबईमें मिला था। बुधवारकी रातको मुंबईसे निवृत्त होकर गुरुवार सवेरे आणंद आना हुआ था। और उसी दिन रातके लगभग ग्यारह बजे यहाँ आना हुआ।

यहाँ दससे पंद्रह दिन तक स्थिति होना संभव है।

आपने अभी समागममें आनेकी अपनी वृत्ति प्रदर्शित की, उसमें आपको अंतराय जैसा हुआ। क्योंकि इस पत्रके पहुँचनेसे पहले ही लोगोंमें पर्युषणका प्रारंभ हुआ समझा जायेगा। जिसमें आप इस तरफ आयें तो गुण-अवगुणका विचार किये बिना मताग्रही मनुष्य निंदा करें, और वैसे निमित्तको ग्रहण कर वे निंदा द्वारा बहुतसे जीवोंको परमार्थप्राप्ति होनेमें अंतराय उत्पन्न करें। इसलिए वैसा न होने देनेके लिए आपको अभी तो पर्युषणमें बाहर न जाने संबंधी लोक-पद्धतिकी रक्षा करना योग्य है।

आप और महेताजी 'वैराग्यशतक', आनंदघन चौवीसी', 'भावनाबोध' आदि पुस्तकें पढ़ने-विचारनेके जितना हो उतना निवृत्तिका लाभ प्राप्त करें।

प्रमाद और लोक-पद्धतिमें काल सर्वथा वृथा गँवा देना, यह मुमुक्षुजीवका लक्षण नहीं है। दूसरे शास्त्रोंका योग बनना कठिन है, ऐसा समझकर उपर्युक्त पुस्तकें लिखी हैं। जो पुस्तकें भी विशेष विचार करने योग्य हैं। माताजी तथा पिताजीसे पादवंदनपूर्वक कहें कि सुखवृत्तिमें हैं।

अमुक समय जब निवृत्तिके लिए किसी क्षेत्रमें रहना होता है, तब प्रायः पत्र लिखनेकी वृत्ति कम रहती है, इस बार विशेष कम है; परंतु आपका पत्र इस प्रकारका था कि जिसका उत्तर न मिलनेसे आपको पता न चले कि किस कारणसे ऐसा हुआ।

अमुक स्थलमें स्थिति होना अनिश्चित होनेसे मुंबईसे पत्र नहीं लिखा जा सका था।

●

[७६७] ८४३ वसो, प्रथम आसोज सुदी ६, वुध, १९५४

श्रीमान वीतराग भगवानोंने जिसका अर्थ निश्चित किया है,
जो अचिंत्य चिंतामणिस्वरूप, परम हितकारी,
परम अद्भुत, सर्व दुःखोंका निःसंशय
आत्यंतिक क्षयंकर, परम अमृत-
स्वरूप सर्वोत्कृष्ट शाश्वत है,
वह धर्म जयशाली रहे,
त्रिकाल जयशाली रहे ।

उन श्रीमान अनंत चतुष्टयस्थित भगवानका और उस जयशाली धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य है। जिन्हें दूसरी कोई सामर्थ्य नहीं, ऐसे अवुध एवं अशक्त मनुष्योंने भी उस आश्रयके वलसे परम सुखहेतु अद्भुत फलको प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं और करेंगे। इसलिए निश्चय और आश्रय ही कर्तव्य है। अधीरतासे खेद कर्तव्य नहीं है।

चित्तमें देहादि भयका विक्षेप भी करना योग्य नहीं है।

जो पुरुष देहादिसंवंधी हर्पविपाद नहीं करते वे पुरुष पूर्ण द्वादशांगको संक्षेपमें समझे हैं, ऐसा समझें। यही दृष्टि कर्तव्य है।

मैंने धर्म नहीं पाया, मैं धर्म कैसे पाऊँगा ? इत्यादि खेद न करते हुए वीतराग पुरुषोंका धर्म जो देहादिसंवंधी हर्पविपादवृत्ति दूर कर, 'आत्मा असंग-शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप है' ऐसी वृत्तिका निश्चय और आश्रय ग्रहण करके उसी वृत्तिका वल रखना, और जहाँ मंदवृत्ति हो वहाँ वीतराग पुरुषोंकी दशाका स्मरण करना, उस अद्भुत चरित्रपर दृष्टि प्रेरित कर वृत्तिका अप्रमत्त करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याणस्वरूप है।

निर्विकल्प

●

[७७७-२] ८४४ आसोज, १९५४

कराल काल ! इस अवसर्पिणीकालमें चौवीस तीर्थंकर हुए। उनमें अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर दीक्षित हुए पर अकेले ! सिद्धि प्राप्त की पर अकेले ! उनका प्रथम उपदेश भी निष्फल गया !

●

८४५ आसोज, १९५४

[1]मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

× × ×

यथाविधि अध्ययन और मनन कर्तव्य है।

●

१. देखें उपदेश नोंध ३७

७८१] ८४६ वनक्षेत्र उत्तरसंडा, प्रथम आसोज
वदी ९, रवि, १९५४

ॐ नमः

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा॥

अध्ययन ५-९२

भगवान जिनने आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण)का मुनियोंको उपदेश दिया। वह भी किस लिए ?) मात्र मोक्ष-साधनके लिए। मुनिको देहकी जरूरत है, उसके धारणके लिए। किसी भी दूसरे हेतुसे नहीं)।

अहो णिच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णिअं।
जाव लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोयणं॥

—दशवैकालिक अध्ययन ६-२२

सर्व जिन भगवानोंने आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारभूत) तपःकर्मको नित्य करनेके लिए उपदेश किया है। (वह इस प्रकार—) संयमके रक्षणके लिए सम्यग्वृत्तिसे एक वक्त आहारग्रहण।

तथारूप असंग निर्ग्रंथपदका अभ्यास सतत वर्धमान कीजिये। 'प्रश्नव्याकरण', 'दशकालिक' और 'आत्मानुशासन'का अभी संपूर्ण ध्यान देकर विचार करें। एक शास्त्रको पूरा ढ़नेके बाद दूसरेको विचारें।

●

८४७ खेडा, द्वि० आसोज सुदी ६, १९५४

ॐ

विक्षेपरहित रहें। यथावसर अवश्य समाधान होगा। यहाँ समागमके लिए यथासुख र्तन करें।

●

८४८ खेडा, द्वि० आसोज सुदी ९, शनि, १९५४

लगभग अब तीन मास पूर्ण होने आये हैं। इस क्षेत्रमें अब स्थिति करनेकी इस समयके लेए वृत्ति नहीं रही। परिचय बढनेका वक्त आ जाये।

●

[७८३] ८४९ खेडा, द्वि० आश्विन वदी, १९५

हे जीव! इस क्लेशरूप संसारसे निवृत्त हो, निवृत्त हो।

वीतर

●

[७८५-२ [८५०

मेरा चित्त—मेरी चित्तवृत्तियाँ इतनी शांत हो जायें कि कोई मृग ही रहे, भय पाकर भाग न जाये!

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शांत हो जाये कि कोई वृद्ध म वह इस शरीरको जड-पदार्थ समझ कर खुजली मिटानेके लि

●

३२वाँ वर्ष

[८३२-१] ८५१ मोहमयीक्षेत्र, कार्त्तिक सुदी १४, गुरु, १९५५

अभी मैं अमुक मासपर्यंत यहाँ रहनेका विचार रखता हूँ। मैं भरसक ध्यान दूँगा। अपने मनमें निश्चित रहें।

मात्र अन्न-वस्त्र हो तो भी बहुत है। परंतु व्यवहारप्रतिबद्ध मनुष्यको कितने ही संयोगोंके कारण थोड़ा-बहुत तो चाहिए है, इसलिए यह प्रयत्न करना पड़ा। तो वह संयोग जब तक उदयमान हो तब तक धर्मकीर्तिपूर्वक बन पाए।

अभी मानसिक वृत्तिकी अपेक्षा बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रवास करना पड़ता है। तप्त-हृदयसे और शांत आत्मासे सहन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ!

ॐ शांति

●

[७८०-३] ८५२ मुंबई, मगसिर सुदी ३, शुक्र, १९५५

ॐ नमः

प्रायः कल रातके मेलमें यहाँसे उपरामता (निवृत्ति) होगी। थोड़े दिन तक बहुत करके ईडर क्षेत्रमें स्थिति होगी।

मुनियोंको यथाविधि नमस्कार कहियेगा।

वीतरागोंके मार्गकी उपासना कर्तव्य है।

●

[७८१] ८४६ वनक्षेत्र उत्तरसंडा, प्रथम आसोज वदी ९, रवि, १९५४

ॐ नमः

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा॥

अध्ययन ५-९२

भगवान जिनने आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण)का मुनियोंको उपदेश दिया। (वह भी किस लिए ?) मात्र मोक्ष-साधनके लिए। मुनिको देहकी जरूरत है, उसके धारणके लिए। (किसी भी दूसरे हेतुसे नहीं)।

अहो णिच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णिअं।
जाव लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोयणं॥

—दशवैकालिक अध्ययन ६-२२

सर्व जिन भगवानोंने आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारभूत) तपःकर्मको नित्य करनेके लिए उपदेश किया है। (वह इस प्रकार—) संयमके रक्षणके लिए सम्यग्वृत्तिसे एक वक्त आहारग्रहण।

तथारूप असंग निर्ग्रंथपदका अभ्यास सतत वर्धमान कीजिये। 'प्रश्नव्याकरण', 'दशवैकालिक' और 'आत्मानुशासन'का अभी संपूर्ण ध्यान देकर विचार करें। एक शास्त्रको पूरा पढ़नेके बाद दूसरेको विचारें।

●

८४७ खेडा, द्वि० आसोज सुदी ६, १९५४

ॐ

विक्षेपरहित रहें। यथावसर अवश्य समाधान होगा। यहाँ समागमके लिए यथासुख वर्तन करें।

●

८४८ खेडा, द्वि० आसोज सुदी ९, शनि, १९५४

लगभग अब तीन मास पूर्ण होने आये हैं। इस क्षेत्रमें अब स्थिति करनेकी इस समयके लिए वृत्ति नहीं रही। परिचय बढनेका वक्त आ जाये।

●

[७८३] ८४९ खेडा, द्वि० आश्विन वदी, १९५४

हे जीव ! इस क्लेशरूप संसारसे निवृत्त हो, निवृत्त हो।

वीतराग प्रवचन

●

[७८५-२ [८५० आसोज १९५४

मेरा चित्त—मेरी चित्तवृत्तियाँ इतनी शांत हो जायें कि कोई मृग भी इस शरीरको देखता ही रहे, भय पाकर भाग न जाये !

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शांत हो जाये कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आती हो वह इस शरीरको जड-पदार्थ समझ कर खुजली मिटानेके लिए अपना सिर इस शरीरसे घिसे !

●

३२वाँ वर्ष

[८३२-१] ८५१ मोहमयीक्षेत्र, कार्त्तिक सुदी १४, गुरु, १९५५

अभी मैं अमुक मासपर्यंत यहाँ रहनेका विचार रखता हूँ। मैं भरसक ध्यान दूँगा। अपने मनमें निश्चित रहें।

मात्र अन्न-वस्त्र हो तो भी बहुत है। परंतु व्यवहारप्रतिबद्ध मनुष्यको कितने ही संयोगोंके कारण थोड़ा-बहुत तो चाहिए है, इसलिए यह प्रयत्न करना पड़ा। तो वह संयोग जब तक उदयमान हो तब तक धर्मकीर्तिपूर्वक बन पाए।

अभी मानसिक वृत्तिकी अपेक्षा बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रवास करना पड़ता है। तप्त-हृदयसे और शांत आत्मासे सहन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ!

ॐ शांति

●

[७८०-३] ८५२ मुंबई, मगसिर सुदी ३, शुक्र, १९५५

ॐ नमः

प्रायः कल रातके मेलमें यहाँसे उपरामता (निवृत्ति) होगी। थोड़े दिन तक बहुत करके ईडर क्षेत्रमें स्थिति होगी।

मुनियोंको यथाविधि नमस्कार कहियेगा।

वीतरागोंके मार्गकी उपासना कर्तव्य है।

●

[७८७] ८५३ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १४, सोम, १९५५

ॐ नमः

'पंचास्तिकाय' यहाँ भेज सकें तो भेजियेगा। भेजनेमें विलंब होता हो तो न भेजें।

'समयसार' मूल प्राकृत (मागधी) भाषामें है। तथा 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' यह ग्रंथ भी प्राकृत भाषामें है। वह यदि प्राप्त हो सके तो 'पंचास्तिकाय'के साथ भेज दें। थोड़े दिन यहाँ स्थिति संभव है।

जैसे बने वैसे वीतराग श्रुतका अनुप्रेक्षण (चिंतन) विशेष कर्तव्य है। प्रमाद परम रिपु है, यह वचन जिन्हें सम्यक् निश्चित हुआ है वे पुरुष कृतकृत्य होने तक निर्भयतासे वर्तन करनेके स्वप्नकी भी इच्छा नहीं करते।

राज्यचंद्र

•

[७८७-१] ८५४ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १५, सोम, १९५५

ॐ नमः

आपने तथा वनमाळीदासने मुंबई एक पत्र लिखा था वह वहाँ प्राप्त हुआ था।

अभी एक सप्ताहसे यहाँ स्थिति है। 'आत्मानुशासन' ग्रंथ पढ़नेके लिए प्रवृत्ति करते हुए आज्ञाका अतिक्रम (उल्लंघन) नहीं है। अभी आपको और उन्हें वह ग्रन्थ वारंवार पढ़ने तथा विचारने योग्य है। 'उपदेश-पत्र'के वारेमें वहुत करके तुरत उत्तर प्राप्त होगा। विशेष यथावसर।

राजचंद्र

•

[७८७-२] ८५५ ईडर, मार्गशीर्ष सुदी १५, सोम, १९५५

वीतरागश्रुतका अभ्यास रखिए।

•

[७८८] ८५६ ईडर, मार्गशीर्ष वदी ४, शवि, १९५५

ॐ नमः

आपका लिखा पत्र तथा सुखलालके लिखे पत्र मिले हैं।

अभी यहाँ समागम होना अशक्य है। अव विशेप स्थितिका भी संभव मालूम नहीं होता।

आपको जो समाधानविशेपकी जिज्ञासा है, वह किसी निवृत्तियोग समागममें पूर्ण होना संभव है।

जिज्ञासावल, विचारवल, वैराग्यवल, ध्यानवल और ज्ञानवल वर्धमान होनेके लिए आत्मार्थी जीवको तथारूप ज्ञानीपुरुपके समागमकी उपासना विशेपतः करनी योग्य है। उसमें भी वर्तमानकालके जीवोंको उस वलकी दृढ़ छाप पड़ जानेके लिए वहुत अंतराय देखनेमें आते हैं, जिससे तथारूप शुद्ध जिज्ञासुवृत्तिसे दीर्घकालपर्यंत सत्समागमकी उपासनाकी आवश्यकता रहती है। सत्समागमके अभावमें वीतरागश्रुत—परमशांतरसप्रतिपादक वीतरागवचनोंकी अनुप्रेक्षा वारंवार कर्तव्य है। चित्तस्थैर्यके लिए वह परम औषध है।

•

[७८९] ८५७ ईडर, मार्गशीर्ष वदी ३०, गुरु, सवेरे, १९५५

ॐ नमः

स्थंभतीर्थवासी आत्मार्थी भाई अंबालाल तथा मुनदासके प्रति,

मुनदासका लिखा पत्र मिला। वनस्पतिसंबंधी, त्यागमें अमुक दससे पाँच वनस्पतिका अभी आगार रखकर दूसरी वनस्पतियोंसे विरत होनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

आप सबका अभी अभ्यासादि कैसा रहता है?

सद्देवगुरुशास्त्रभक्ति अप्रमत्तासे उपासनीय है।

श्री ॐ

●

[८३२-२] ८५८ ईडर, पौष, १९५५

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥ ४९॥
पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अन्नं च गुरूवएसेण॥ ५०॥

यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिए पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक—इस तरह परमेष्ठीपदके वाचक हैं उनका जपपूर्वक ध्यान करो। विशेष स्वरूप श्री गुरुके उपदेशसे जानना योग्य है।

जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदा हु तं तस्स णिच्चयं झाणे॥ ५६॥

—द्रव्य संग्रह

ध्यानमें एकाग्र वृत्ति रखकर साधु निःस्पृहवृत्ति अर्थात् सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित होता है उसे परम पुरुष निश्चय ध्यान कहते हैं।

●

[७९१] ८५९ ईडर, पौष सुदी १५, गुरु, १९५५

ॐ

आपका लिखा एक पत्र तथा मुनदासके लिखे तीन पत्र मिले हैं।

वसोमें ग्रहण किये हुए नियमके अनुसार मुनदास विरतिरूपसे वनस्पतिमें वर्तन करें। दो श्लोकोंके स्मरणके नियमको शारीरिक उपद्रवविशेषके विना सदा निबाहें। गेहूँ और घीको शारीरिक हेतुसे ग्रहण करते हुए आज्ञाका अतिक्रम नहीं है।

किंचित् दोषका संभव हुआ हो तो उसका प्रायश्चित्त श्री देवकीर्ण मुनि आदिके समीप लेना योग्य है।

आपको अथवा किन्हीं दूसरे मुमुक्षुओंको नियमादिका ग्रहण मुनियोंके समीप कर्तव्य है। प्रबल कारणके विना उस संबंधी पत्रादि द्वारा हमें सूचित न कर मुनियोंसे तत्संबंधी समाधान समझना योग्य है।

ॐ

●

[७९४] ८६० मोरबी, फाल्गुन सुदी १, रवि, १९५५

ॐ नमः

पत्र प्राप्त हुआ।

'नाके रूप निहाळता' इस चरणका अर्थ वीतरागमुद्रासूचक है। रूपावलोकनदृष्टिसे स्थिरता प्राप्त होनेपर स्वरूपावलोकनदृष्टिमें भी सुगमता प्राप्त होती है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे स्वरूपावलोकनदृष्टि परिणमित होती है।

महापुरुषका निरंतर अथवा विशेष समागम, वीतरागश्रुतका चिंतन और गुणजिज्ञासा दर्शनमोहके अनुभागके घटनेके मुख्य हेतु हैं। इससे स्वरूपदृष्टि सहजमें परिणमित होती है।

●

[७९४-२] ८६१ मोरबी, फागुन सुदी १, रवि, १९५५

ॐ नमः

पत्र प्राप्त हुआ।

'पुरुषार्थ सिद्धि उपाय' का भाषांतर गुर्जरभाषामें करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं।

'आत्मसिद्धि' के स्मरणार्थ यथावसर आज्ञा प्राप्त होना योग्य है।

वनमाळीदासको 'तत्त्वार्थसूत्र' विशेषतः विचारना योग्य है।

हिन्दी भाषा समझमें न आती हो तो ऊगरी बहनको कुंवरजीके पाससे उस ग्रंथका श्रवण कर समझना योग्य है।

शिथिलता घटनेका उपाय यदि जीव करे तो सुगम है।

●

[७९४-२] ८६२ मोरबी, फागुन सुदी १, रवि, १९५५

वीतरागवृत्तिका अभ्यास रखियेगा।

●

[७९५] ८६३ ववाणिया, फागुन वदी १०, बुध, १९५५

आत्मार्थीको बोध कब परिणमित हो सकता है, यह भाव स्थिरचित्तसे विचारणीय है, जो मूलभूत है।

अमुक असद्वृत्तियोंका प्रथम अवश्य ही निरोध करना योग्य है। इस निरोधके हेतुका दृढता-से अनुसरण करना ही चाहिए, इसमें प्रमाद करना योग्य नहीं। ॐ

●

[७९६] ८६४ ववाणिया, फागुन वदी ३०, १९५५

***चरमावर्त हो चरमकरण तथा रे, भवपरिणति परिपाक।**
दोष टळे वळी दृष्टि खूले भली रे, प्रापति प्रवचन वाक॥ १॥

---

* **भावार्थ**—जब अंतिम पुद्गल परावर्त आ पहुँचे और तीन करणोंमेंसे तीसरा करण—अनिवृत्तिकरण हो तथा संसारमें भटकनेकी आदतका अंत आ पहुँचे, तब तीन दोष—भय, द्वेष और खेद—दूर हो जाये: भलीदृष्टि खुल जाये और प्रवचन-सिद्धांतके वचनका लाभ हो॥ १॥

परिचय पातिक घातिक साधुशुं रे, अकुशल अपचय चेत।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी रे, परिशीलन नयहेत ॥ २ ॥
मुगध सुगम करी सेवन लेखवे रे, सेवन अगम अनुप।
देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनंदघन रसरूप ॥ ३ ॥

—आनंदघन, संभवजिनस्तवन

किसी निवृतिमुख्य क्षेत्रमें विशेष स्थितिके अवसरपर सत्श्रुत विशेष प्राप्त होना योग्य है। गुर्जर देशकी ओर आपका आगमन हो यों खेराळुक्षेत्रमें मुनिश्री चाहते हैं। वेणासर और टीकरके रास्तेसे होकर ध्रांगध्राकी तरफसे अभी गुर्जर देशमें जा सकना संभव है। उस मार्गमें पिपासा परिषहका कुछ संभव रहता है।

●

[७९७] ८६५ ववाणिया, चैत्र सुदी १, १९५५

उवसंतखीणमोहो, मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वज्जदि धीरो ॥

—पंचास्तिकाय, ७०

जिसका दर्शनमोह उपशांत अथवा क्षीण हुआ है ऐसा धीर पुरुष वीतरागों द्वारा प्रदर्शित मार्गका अंगीकार करके शुद्धचैतन्यस्वभाव परिणामी होकर मोक्षपुरको जाता है।

मुनि महात्मा श्री देवकीर्णस्वामी अंजारकी ओर हैं। यदि खेराळुसे मुनिश्री आज्ञा करेंगे तो वे बहुत करके गुजरातकी तरफ आयेंगे। वेणासर या टीकरके रास्तेसे ध्रांगध्रा आना हो तो रेगिस्तान पार करनेके कष्टको उठानेका संभव कम है। मुनिश्रीको अंजार लिखें।

किसी स्थलमें विशेष स्थिरताका योग होनेपर अमुक सत्श्रुत प्राप्त होना योग्य है।

●

[७९८] ८६६ श्री ववाणिया, चैत्र सुदी ५, १९५५

ॐ

द्रव्यानुयोग परम गंभीर और सूक्ष्म है, निर्ग्रंथ-प्रवचनका रहस्य है, शुक्ल ध्यानका अनन्य कारण है। शुक्ल ध्यानसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। महाभाग्यसे उस द्रव्यानुयोगकी प्राप्ति होती है।

दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे अथवा नाश होनेसे, विषयके प्रति उदासीनतासे, और महापुरुषके चरणकमलकी उपासनाके बलसे द्रव्यानुयोग परिणमित होता है।

फिर पापके नाशक साधुके साथ परिचय बढ़ता चले, मनसंबंधी अकल्याणकारिताकी कमी होती जाये और आत्मिक सेवनके लिए तथा दृष्टिबिंदु धारण करनेके लिए आध्यात्मिक ग्रंथोंका श्रवण एवं मनन बन पाये ॥ २ ॥

भोले भाले मनुष्य सरल एवं सहज मानकर सेवाका कार्य शुरू कर देते हैं, परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि सेवाका कार्य तो अगम्य एवं अनुपम है। यह तो कठिन और बेजोड़ है। तो आनंदघनके रसमय प्रभु! इस सेवककी मांगको कभी सफल कीजिये अथवा आनंदसमुच्चयके रसरूप सेवाकी मांगको कभी सफल कीजिये ॥ ३ ॥

ज्यों ज्यों संयम वर्धमान होता है, त्यों त्यों द्रव्यानुयोग यथार्थ परिणमित होता है। संयमकी वृद्धिका कारण सम्यग्दर्शनका निर्मलत्व है, उसका कारण भी 'द्रव्यानुयोग' होता है।

सामान्यतः द्रव्यानुयोगकी योग्यता प्राप्त करना दुर्लभ है। आत्मारामपरिणामी, परमवीतराग दृष्टिमान और परम असंग ऐसे महात्मापुरुष उसके मुख्य पात्र हैं।

[१]किसी महान पुरुषके मननके लिए पंचास्तिकायका संक्षिप्त स्वरूप लिखा था; उसे मननके लिए इसके साथ भेजा है।

हे आर्य! द्रव्यानुयोगका फल सर्व भावसे विराम पानेरूप संयम है। इस पुरुषके इस वचनको तूने कभी भी अपने अंतःकरणमें शिथिल नहीं करना। अधिक क्या? समाधिका रहस्य यही है। सर्व दुःखसे मुक्त होनेका अनन्य उपाय यही है।

●

[७९९] ८६७ ववाणिया, चैत्र वदी २, गुरु, १९५५

हे आर्य! जैसे रेगिस्तान पार कर पारको संप्राप्त हुए, वैसे भवस्वयंभूरमण तर कर पारको संप्राप्त होवें!

महात्मा मुनिश्रीकी स्थिति अभी प्रांतीज-क्षेत्रमें है। कुछ विज्ञप्ति-पत्र लिखना हो तो परी० घेलाभाई केशवलाल, प्रांतीज, इस पतेपर लिखनेकी विनती है।

आपकी स्थिति ध्रांगध्राकी तरफ होनेका समाचार यहाँसे आज उन्हें लिखा गया है।

अधिक निवृत्तिवाले क्षेत्रमें चातुर्मासका योग बननेसे आत्मोपकार विशेष संभव है। मुनि श्रीमदको भी वैसे सूचित किया है।

●

८६८ ववाणिया, चैत्र वदी २, गुरु १९५५

पत्र प्राप्त हुआ। किसी विशेष निवृत्तिवाले क्षेत्रमें चातुर्मास हो तो आत्मोपकार विशेष हो सकता है। इस तरफ निवृत्तिवाले क्षेत्रका संभव है।

मुनि कच्छका रेगिस्तान समाधिपूर्वक पार कर ध्रांगध्राकी तरफ उनके विचरनेके समाचार प्राप्त हुए हैं।

वे आपका समागम त्वरासे चाहते हैं।

उनका चातुर्मास भी निवृत्तिवाले क्षेत्रमें हो ऐसा करनेका विज्ञापन है।

●

[८०३-१] ८६९ मोरबी, चैत्र वदी ९, गुरु, १९५५

ॐ नमः

पत्र और समाचारपत्र मिले। 'आचारांगसूत्र' के एक वाक्यसंबंधी चर्चा-पत्रादि देखा है। बहुत करके थोड़े दिनोंमें किसी सुज्ञ पुरुषसे उसका समाधान प्रगट होगा। तीनेक दिनसे यहाँ स्थिति है।

आत्महित अति दुर्लभ है ऐसा समझकर विचारवान पुरुष उसकी उपासना करते हैं। आपके समीपवासी सभी आत्मार्थी जनोंको यथाविनय प्राप्त हो। ॐ

●

---

१. देखें आँक ७६६।

८७० मोरवी, वैशाख सुदी ६, सोम, १९५५

ॐ

आत्मार्थी मुनिवर अभी वहाँ स्थित होंगे। उनसे निम्नलिखित निवेदन करें।

ध्यान, श्रुतके अनुकूलक्षेत्रमें चातुर्मास करनेसे भगवानकी आज्ञाका संरक्षण होगा। स्थंभ-तीर्थमें यदि वह अनुकूलता रह सकती हो तो उस क्षेत्रमें चातुर्मास करनेसे आज्ञाका संरक्षण है।

जिस सत्श्रुतकी मुनिश्री देवकीर्ण आदिने जिज्ञासा प्रदर्शित की वह सत्श्रुत लगभग एक मासमें प्राप्त होना योग्य है।

यदि स्थंभतीर्थमें स्थिति न हो तो किसी अन्य निवृत्तिक्षेत्रमें समागमका योग हो सकता है। स्थंभतीर्थके चातुर्माससे वह होना अभी अशक्त है। जहाँ तक बने वहाँ तक किसी अन्य निवृत्तिक्षेत्रकी वृत्ति रखें। कदाचित् मुनियोंको दो विभागोंमें बट जाना पड़े तो वैसा करनेमें भी आत्मार्थदृष्टिसे अनुकूल रहेगा। हमने सहज मात्र लिखा है। आप सबको द्रव्यक्षेत्रादि देखकर जैसे अनुकूल श्रेयस्कर लगे वैसे प्रवृत्ति करनेका अधिकार है।

इस प्रकार सविनय नमस्कारपूर्वक निवेदन करें। वैशाख सुदी पूर्णिमा तक बहुत करके इन क्षेत्रोंकी तरफ स्थिति होगी। ॐ

●

[८१०] ८७१ मोरवी, वैशाख सुदी ७, १९५५

ॐ

यदि किसी निवृत्तिवाले अन्य क्षेत्रमें वर्षा-चातुर्मासका योग बने तो वैसे करना योग्य है। अथवा स्थंभतीर्थमें चातुर्माससे अनुकूलता रहे ऐसा मालूम हो तो वैसा करना योग्य है।

ध्यान और श्रुतके उपकारक साधनवाले चाहे जिस क्षेत्रमें चातुर्मासकी स्थिति होनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं, ऐसा मुनि श्री देवकीर्ण आदिसे सविनय कहें।

इस तरफ एक सप्ताहपर्यंत स्थितिका संभव है। आज बहुत करके श्री ववाणिया जाना होगा। वहाँ एक सप्ताह तक स्थिति संभव है।

जिस सत्श्रुतकी जिज्ञासा है, वह सत्श्रुतके थोड़े दिनमें प्राप्त होना संभव है, ऐसा मुनिश्रीसे निवेदन करें।

वीतराग सन्मार्गकी उपासनामें वीर्यको उत्साहयुक्त करें।

●

[८११] ८७२ ववाणिया, वैशाख सुदी ७, १९५५

ॐ

जिसे गृहवासका उदय रहता है, वह यदि कुछ भी शुभ ध्यानकी प्राप्ति चाहता है तो उसके मूल हेतुभूत अमुक सद्वर्तनपूर्वक रहना योग्य है। जो अमुक नियमोंमें 'न्यायसंपन्न आजीविकादि व्यवहार' यह पहला नियम सिद्ध करना योग्य है। यह नियम सिद्ध होनेसे अनेक आत्मगुण प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है। इस प्रथम नियमपर यदि ध्यान दिया जाये, और इस नियमको सिद्ध ही कर लिया जाये तो कषायादि स्वभावसे मंद पड़ने योग्य हो जाते हैं, अथवा ज्ञानीका मार्ग आत्मपरिणामी होता है, जिस पर ध्यान देना योग्य है।

●

[८१२] ८७३ ईडर, वैशाख वदी ६, मंगलवार, १९५५

ॐ

शनिवार तक यहाँ स्थिरता संभव है। रविवारको उस क्षेत्रमें आगमन होना संभव है।

इस कारण मुनिश्रीको चातुर्मास करने योग्य क्षेत्रमें विचरनेकी त्वरा हो, उसमें कुछ संकोच प्राप्त होता है, तो इस पत्रके प्राप्त होनेपर कहें तो यहाँ एक दिन कम स्थिरता की जायेगी।

निवृत्तिका योग उस क्षेत्रमें विशेष है, तो 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' का वारंवार निदिध्यासन कर्त्तव्य है, ऐसा मुनिश्रीको यथाविनय जताना योग्य है।

जिन्होंने बाह्याभ्यंतर असंगता प्राप्त की है ऐसे महात्माओंके संसारका अंत समीप है, ऐसा निःसंदेह ज्ञानीका निश्चय है।

●

[८१४] ८७४ ईदर, वैशाख वदी १०, शनिवार, १९५५

ॐ

अब स्थंभतीर्थसे किसनदासजीकृत 'क्रियाकोष' की पुस्तक प्राप्त हुई होगी। उसका आद्यंत अध्ययन करनेके बाद सुगम भाषामें उस विषयमें एक निबंध लिखनेसे विशेष अनुप्रेक्षा होगी; और वैसी क्रियाका वर्तन भी सुगम है ऐसी स्पष्टता होगी, ऐसा संभव है। सोमवार तक यहाँ स्थिति संभव है। राजनगरमें परम तत्त्वदृष्टिका प्रसंगोपात्त उपदेश हुआ था, उसे अप्रमत्त चित्तसे एकांत-योगमें वारंवार स्मरण करना योग्य है। यही विनती।

●

[८१७] ८७५ मुंबई, जेठ, १९५५

ॐ

परम कृपालु मुनिवर्यके चरणकमलमें परम भक्तिसे सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम! सुषुप्त चेतनको जागृत करनेवाले, गिरती हुई वृत्तिको स्थिर करनेवाले, दर्शनमात्रसे भी निर्दोष अपूर्व स्वभावके प्रेरक, स्वरूपप्रतीति, अप्रमत्त संयम और पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणभूत, और अंतमें अयोगी स्वभाव प्रगट करके अनंत अव्याबाध स्वरूपमें स्थिति करानेवाले! त्रिकाल जयवंत रहें। जयवंत रहें!

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

●

[८१८] ८७६ मुंबई, जेठ सुदी ११, १९५५

महात्मा मुनिवरोंको परमभक्तिसे नमस्कार हो।

जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजल त्रैलोक। जीव्युं धन्य तेहनुं।
दासी आशा पिशाची थई रही, काम क्रोध ते केदी लोक। जीव्युं०
खातां पीतां बोलतां नित्ये, छे निरंजन निराकार। जीव्युं०

भावार्थ—जिसका काल किंकर हो गया है, और जिसे त्रिलोक मृगतृष्णाके जलके समान मालूम होता है, उसका जीना धन्य है। जिसकी आशारूपी पिशाचिनी दासी है, और काम क्रोध जिसके कैदी हैं,

जाणे संत सलुणा तेहने, जेने होय छेल्लो अवतार। जीव्युं०
जगपावनकर ते अवतर्या, अन्य मात उदरनो भार। जीव्युं०
तेने चौदलोकमां विचरतां, अंतराय कोईये नव थाय। जीव्युं०
ऋद्धि सिद्धि ते दासीओ थई रही, ब्रह्म आनंद हृदे न समाय। जीव्युं०

यदि मुनि अध्ययन करते हों तो 'योगप्रदीप' श्रवण करें। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'का योग आपको वहुत करके प्राप्त होगा। ॐ

●

[८१९] ८७७ मुंवई, जेठ वदी २, रवि, १९५५

ॐ

[1]जिस विषयकी चर्चा की जाती है वह ज्ञात है। उस विषमें यथावसरोदय।

●

[८२०] ८७८ मुंवई, जेठ वदी ७, शुक्र, १९५५

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'की पुस्तक चार दिन पूर्व प्राप्त हुई तथा एक पत्र प्राप्त हुआ।

व्यवहार प्रतिवंधसे विक्षिप्त न होते हुए धैर्य रखकर उत्साहयुक्त वीर्यसे स्वरूपनिष्ठ वृत्ति करनी योग्य है। ॐ

●

[८२१-१-२] ८७९ मोहमयी, आषाढ सुदी ८, रवि, १९५५

ॐ

'क्रियाकोष' इससे दूसरा सरल नहीं है। विशेष अवलोकन करनेसे स्पष्टार्थ होगा।

शुद्धात्मस्थितिके पारमार्थिक श्रुत और इंद्रियजय दो मुख्य अवलंवन हैं। सुदृढतासे उपासना करनेसे वे सिद्ध होते हैं। हे आर्य! निराशाके समय महात्मापुरुषोंका अद्भुत आचरण याद करना योग्य है। उल्लसित वीर्यवान परमतत्त्वकी उपासना करनेका मुख्य अधिकारी है।

शांतिः

●

[८२१-३] ८८० मुंवई, आषाढ सुदी ८, रवि, १९५५

ॐ

दोनों क्षेत्रोंमें सुस्थित मुनिवरोंको यथाविनय वंदन प्राप्त हो।

पत्र प्राप्त हुआ। संस्कृतके अभ्यासके लिए अमुक समयका नित्य नियम रखकर करना योग्य है।

उसका जीना धन्य है। जो यद्यपि खाता, पीता और वोलता हुआ दीखता है, परन्तु वह नित्य निरंजन और निराकार है। उसका जीना धन्य है। उसे सलोना संत जानें और उसका यह अन्तिम भव है, उसका जीना धन्य है। उसने जगतको पावन करनेके लिए अवतार लिया है, वाकी तो सव माताके उदरके भार भूत ही हैं, उसका जीना धन्य है। उसे चौदह राजलोकमें विचरते हुए किसीसे भी अंतराय नहीं होता, उसका जीना धन्य है। उसकी ऋद्धि-सिद्धि सव दासियाँ हो गयी है, और उसके हृदयमें ब्रह्मानन्द नहीं समाता, उसका जीना धन्य है।

१. श्री आचारांगसूत्रके एक वाक्यसंवंधी। देखें आंक ८६९

अप्रमत्त स्वभावका वारंवार स्मरण करते हैं।

पारमार्थिक श्रुत और वृत्तिजयका अभ्यास बढ़ाना योग्य है। ॐ

●

८८१ मुंबई, आषाढ वदी ६, शुक्र, १९५५

ॐ

परमकृपालु मुनिवर्यके चरणकमलमें परम भक्तिसे सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

कल रातके मेलसे यहाँसे भाई त्रिभोवन वीरचंदके साथ 'पद्मनंदी पंचविंशति' नामक सत्शास्त्र मुनिवर्यके मननार्थ भेजनेकी वृत्ति है। इसलिए मेलके वक्त आप स्टेशनपर आ जायें। महात्माश्री उस ग्रंथका मनन कर लेनेके बाद परमकृपालु मुनिश्री श्रीमान देवकीर्णस्वामीको वह ग्रंथ भेज दें।

दूसरे मुनियोंको सविनय नमस्कार प्राप्त हो।

●

[८२२] ८८२ मुंबई, आषाढ वदी ८, रवि, १९५५

ॐ

मुमुक्षु तथा दूसरे जीवोंके उपकारके निमित्त जो उपकारशील बाह्य प्रतापकी सूचना—विज्ञापन किया है, वह अथवा दूसरे कोई कारण किसी अपेक्षासे उपकारशील होते हैं। अभी वैसे प्रवृत्तिस्वभावके प्रति उपशांतवृत्ति है।

प्रारब्ध योगसे जो बने वह भी शुद्ध स्वभावके संधानपूर्वक होना योग्य है। महात्माओंने निष्कारण करुणासे परमपदका उपदेश किया है, इसमें ऐसा मालूम होता है कि उस उपदेशका कार्य परम महान ही है। सब जीवोंके प्रति बाह्य दयामें भी अप्रमत्त रहनेका जिसके योगका स्वभाव है, उसका आत्मस्वभाव सब जीवोंको परमपदके उपदेशका आकर्षक हो, ऐसी निष्कारण करुणावाला हो, यह यथार्थ है।

●

[८२३] ८८३ मुम्बई, आषाढ़ वदी ८, रवि, १९५५

ॐ नमः।

[1]बिना नयन पावे नहीं बिना नयन की बात।

इस वाक्यका मुख्य हेतु आत्मदृष्टि परक है। स्वाभाविक उत्कर्षार्थके लिए यह वाक्य है। समागमके योगमें इसका स्पष्टार्थ समझमें आना संभव है। तथा दूसरे प्रश्नोंके समाधानके लिए अभी बहुत अल्प प्रवृत्ति रहती है। सत्समागमके योगमें सहजमें समाधान हो सकता है।

'बिना नयन' आदि वाक्यका स्वकल्पनासे कुछ भी विचार न करते हुए, अथवा शुद्ध चैतन्यदृष्टिकी वृत्ति जिससे विक्षिप्त न हो ऐसा वर्तन योग्य है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' अथवा दूसरा सत्शास्त्र थोड़े वक्तमें बहुत करके प्राप्त होगा।

दुःषमकाल है, आयु अल्प है, सत्समागम दुर्लभ है, महात्माओंके प्रत्यक्ष वाक्य, चरण और आज्ञाका योग कठिन है। इसलिए बलवान् अप्रमत्त प्रयत्न कर्तव्य है।

---

१. देखें आंक २५८

आपके समीप रहनेवाले मुमुक्षुओंको यथाविनय प्राप्त हो। शांतिः

●

[८७४-१४] ८८४

इस दुषमकालमें सत्समागम और सत्संग अति दुर्लभ हैं। इसमें परम सत्संग और परम असंगताका योग कहाँसे छाजे?

●

[८२४] ८८५ मुंबई, श्रावण सुदी ३, १९५५

ॐ

परम पुरुषकी मुख्य भक्ति ऐसे सद्वर्तनसे प्राप्त होती है कि जिससे उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि हो। चरणप्रतिपत्ति (शुद्ध आचरणकी उपासना) रूप सद्वर्तन ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा है, जो आज्ञा परम पुरुषकी मुख्य भक्ति है।

उत्तरोत्तर गुणकी वृद्धि होनेमें गृहवासी जनोंका सदुद्यमरूप आजीविका-व्यवहारसहित प्रवर्तन करना योग्य है।

अनेक शास्त्रों और वाक्योंका अभ्यास करते हुए भी जीव यदि ज्ञानीपुरुषोंकी एक एक आज्ञाकी उपासना करे, तो अनेक शास्त्रोंसे होनेवाला फल सहजमें प्राप्त हो।

●

[८२५] ८८६ मोहमयी-क्षेत्र, श्रावण सुदी ७, १९५५

ॐ

श्री 'पद्मनंदी शास्त्र'की एक प्रति किसी अच्छे व्यक्तिके साथ वसो-क्षेत्रमें मुनिश्रीको भेजनेकी व्यवस्था करें।

बलवान निवृत्तिवाले द्रव्य-क्षेत्रादिके योगमें आप उस सत्शास्त्रका बारंबार मनन और निदिध्यासन करें। प्रवृत्तिवाले द्रव्यक्षेत्रादिमें वह शास्त्र पढ़ना योग्य नहीं है।

जब तीन योगकी अल्प प्रवृत्ति हो, वह भी सम्यक् प्रवृत्ति हो तब महापुरुषके वचनामृतका मनन परम श्रेयके मूलको दृढ़ीभूत करता है, क्रमसे परमपदको संप्राप्त करता है।

चित्तको विक्षेपरहित रखकर परमशांत श्रुतका अनुप्रेक्षण कर्तव्य है।

●

[८२६] ८८७ मोहमयी श्रावण वदी ३०, १९५५

ॐ

अगम्य होनेपर भी सरल ऐसे महापुरुषोंके मार्गको नमस्कार

सत्समागम निरंतर कर्तव्य है। महान भाग्यके उदयसे अथवा पूर्वकालके अभ्यस्त योगसे जीवको सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न होती है, जो अति दुर्लभ है। वह सच्ची मुमुक्षुता बहुत करके महापुरुषके चरणकमलकी उपासनासे प्राप्त होती है, अथवा वैसी मुमुक्षुतावाली आत्माको महापुरुषके योगसे आत्मनिष्ठत्व प्राप्त होता है, सनातन अनंत ज्ञानीपुरुषों द्वारा उपासित सन्मार्ग

प्राप्त होता है। जिसे सच्ची मुमुक्षुता प्राप्त हुई हो उसे भी ज्ञानीका समागम और आज्ञा अप्रमत्त योग संप्राप्त कराते हैं। मुख्य मोक्षमार्गका क्रम इस प्रकार मालूम होता है।

वर्तमानकालमें वैसे महापुरुषोंका योग अति दुर्लभ है। क्योंकि उत्तम कालमें भी उस योगकी दुर्लभता होती है, ऐसा होनेपर भी जिसे सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न हुई हो, रात-दिन आत्मकल्याण होनेका तथारूप चिंतन रहा करता हो, वैसे पुरुषको वैसा योग प्राप्त होना सुलभ है।

'आत्मानुशासन' अभी मनन करने योग्य है। शांतिः

●

[८२७-१] ८८८ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि १९५५

ॐ

जिन वचनोंकी आकांक्षा है वे बहुत करके थोड़े वक्तमें प्राप्त होंगे।

इंद्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक सत्श्रुत और सत्समागम निरंतर उपासनीय है।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन परम हितकारी है।

आज-दिनपर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी वाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभाव द्वारा जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमाकी याचना है। शमम्

●

[८२७-२] ८८९ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

जो वनवासी शास्त्र[1] भेजा है, वह प्रबल निवृत्तिके योगमें संयतेंद्रियतासे मनन करनेसे अमृत है।

अभी 'आत्मानुशासन'का मनन करें।

आज-दिन तक आपके तथा समीपवासी वाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे कुछ भी अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। ॐ शांतिः

●

८९० मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रविवार, १९५५

ॐ

श्री अंवालाल आदि मुमुक्षुजन,

आज-दिन तक आपके प्रति तथा आपके समीपवासी वाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। ॐ शांतिः

●

८९१ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रविवार; १९५५

ॐ

आपके तथा भाई वणारसीदास आदिके लिखे पत्र मिले थे।

---

१. श्री पद्मनंदी पंचविंशति।

आपके पत्रोंमें कुछ न्यूनाधिक लिखा गया हो, ऐसा विकल्प दिखाया गया हो, वैसा कुछ भासमान नहीं हुआ है। निर्विक्षिप्त रहें। बहुत करके यहाँ वैसा विकल्प संभव नहीं है।

इंद्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्शास्त्रसे परिचित होवें। आपके समीपवासी मुमुक्षुओंका उचित विनय चाहते हैं।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन परम हितकारी है। आज-दिनपर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमा चाहते हैं। शमम्

●

८९२ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रविवार, १९५५

ॐ शान्तिः

काविठा-बोरसदस्थित श्री झवेरचंद और रतनचंद आदि मुमुक्षु,

आज-दिनपर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ, किंचित् भी अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं।

ॐ शांतिः

●

[८२७-३] ८९३ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

पत्र मिला है। किसी मनुष्यके बताये हुए स्वप्न आदि प्रसंगके संबंधमें निर्विक्षिप्त रहें, तथा अपरिचित्त रहें। उस विषयमें कुछ उत्तर-प्रत्युत्तर आदिका भी हेतु नहीं है।

इंद्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्श्रुत उपासनीय हैं।

आज-दिनपर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो उसके लिए क्षमायाचना करते हैं। शमम्

○

८९४ मुंबई, भादों सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको नमस्कार।

आज-दिनपर्यंत योगके प्रमत्त स्वभावके कारण आपके प्रति यत्किंचित् अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं।

भाई वल्लभ आदि मुमुक्षुओंको क्षमापना आदि कंठस्थ करनेके विषयमें आप योग्य आज्ञा करें। ॐ शांतिः

●

[८२८-१] ८९५ मुंबई, आसोज, १९५५

ॐ

जिन ज्ञानीपुरुषोंका देहाभिमान दूर हुआ है उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, ऐसा है, तो भी उन्हें सर्वसंगपरित्यागादि सत्पुरुषार्थता परम पुरुषने उपकारभूत कही है।

□

प्राप्त होता है। जिसे सच्ची मुमुक्षुता प्राप्त हुई हो उसे भी ज्ञानीका समागम और आज्ञा अप्रमत्त योग संप्राप्त कराते हैं। मुख्य मोक्षमार्गका क्रम इस प्रकार मालूम होता है।

वर्तमानकालमें वैसे महापुरुषोंका योग अति दुर्लभ है। क्योंकि उत्तम कालमें भी उस योग-की दुर्लभता होती है, ऐसा होनेपर भी जिसे सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न हुई हो, रात-दिन आत्म-कल्याण होनेका तथारूप चिंतन रहा करता हो, वैसे पुरुषको वैसा योग प्राप्त होना सुलभ है।

'आत्मानुशासन' अभी मनन करने योग्य है। शांतिः

●

[८२७-१] ८८८ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि १९५५

ॐ

जिन वचनोंकी आकांक्षा है वे बहुत करके थोड़े वक्तमें प्राप्त होंगे।

इंद्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक सत्श्रुत और सत्समागम निरंतर उपासनीय है।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन परम हितकारी है।

आज-दिनपर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभाव द्वारा जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमाकी याचना है। शमम्

●

[८२७-२] ८८९ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

जो वनवासी शास्त्र[1] भेजा है, वह प्रबल निवृत्तिके योगमें संयतेंद्रियतासे मनन करनेसे अमृत है।

अभी 'आत्मानुशासन'का मनन करें।

आज-दिन तक आपके तथा समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे कुछ भी अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। ॐ शांतिः

●

८९० मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रविवार, १९५५

ॐ

श्री अंबालाल आदि मुमुक्षुजन,

आज-दिन तक आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं। ॐ शांतिः

●

८९१ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रविवार; १९५५

ॐ

आपके तथा भाई बणारसीदास आदिके लिखे पत्र मिले थे।

---

१. श्री पद्मनंदी पंचविंशति।

आपके पत्रोंमें कुछ न्यूनाधिक लिखा गया हो, ऐसा विकल्प दिखाया गया हो, वैसा कुछ भासमान नहीं हुआ है। निर्विक्षिप्त रहें। बहुत करके यहाँ वैसा विकल्प संभव नहीं है।

इंद्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्शास्त्रसे परिचित होवें। आपके समीपवासी मुमुक्षुओंका उचित विनय चाहते हैं।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन परम हितकारी है। आज-दिनपर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमा चाहते हैं। शमम्

●

८९२ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रविवार, १९५५

ॐ शान्तिः

काविठा-बोरसदस्थित श्री झवेरचंद और रतनचंद आदि मुमुक्षु,

आज-दिनपर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ, किंचित् भी अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं।

ॐ शांतिः

●

[८२७-३] ८९३ मुंबई, भाद्रपद सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

पत्र मिला है। किसी मनुष्यके बताये हुए स्वप्न आदि प्रसंगके संबंधमें निर्विक्षिप्त रहें, तथा अपरिचित्त रहें। उस विषयमें कुछ उत्तर-प्रत्युत्तर आदिका भी हेतु नहीं है।

इंद्रियोंके निग्रहपूर्वक सत्समागम और सत्श्रुत उपासनीय हैं।

आज-दिनपर्यंत आपके प्रति तथा आपके समीपवासी बाइयों और भाइयोंके प्रति योगके प्रमत्त स्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो उसके लिए क्षमायाचना करते हैं। शमम्

●

८९४ मुंबई, भादों सुदी ५, रवि, १९५५

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको नमस्कार।

आज-दिनपर्यंत योगके प्रमत्त स्वभावके कारण आपके प्रति यत्किंचित् अन्यथा हुआ हो, उसके लिए नम्रभावसे क्षमायाचना करते हैं।

भाई वल्लभ आदि मुमुक्षुओंको क्षमापना आदि कंठस्थ करनेके विषयमें आप योग्य आज्ञा करें।

ॐ शांतिः

●

[८२८-१] ८९५ मुंबई, आसोज, १९५५

ॐ

जिन ज्ञानीपुरुषोंका देहाभिमान दूर हुआ है उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, ऐसा है, तो भी उन्हें सर्वसंगपरित्यागादि सत्पुरुषार्थता परम पुरुषने उपकारभूत कही है।

□

३३वाँ वर्ष

[८२९-२] ८९६ मुंबई, कार्तिक, १९५६

ॐ

परम वीतरागोंसे आत्मस्थ किये हुए यथाख्यात चारित्रसे प्रगट किये हुए परम असंगत्वको निरंतर व्यक्ताव्यक्तरूपसे याद करता हूँ।

इस दुःषमकालमें सत्समागमका योग भी अति दुर्लभ है, उसमें परम सत्संग और परम असंगत्वका योग कहाँसे हो ?

सत्समागमका प्रतिबंध करनेके लिए कहे तो वह प्रतिबंध न करनेकी वृत्ति बताना तो वह योग्य है, यथार्थ है, तदनुसार वर्तन करें। सत्समागमका प्रतिबंध करना योग्य नहीं, ऐसा सामान्यतः उनके साथ समाधान रहे ऐसा वर्तन हो तो हितकारक है।

फिर जैसे उस संगमें विशेष आना न हो ऐसे क्षेत्रमें विचरना योग्य है, कि जिस क्षेत्रमें आत्मसाधन सुलभतासे हो।

परम शांत श्रुतके विचारमें इंद्रियनिग्रहपूर्वक आत्मप्रवृत्ति रखनेमें स्वरूपस्थिरता अपूर्वतासे प्रगट होती है।

संतोष आर्या आदिने यथाशक्ति उपर्युक्त किया, वह प्रयत्न योग्य है। ॐ शांतिः
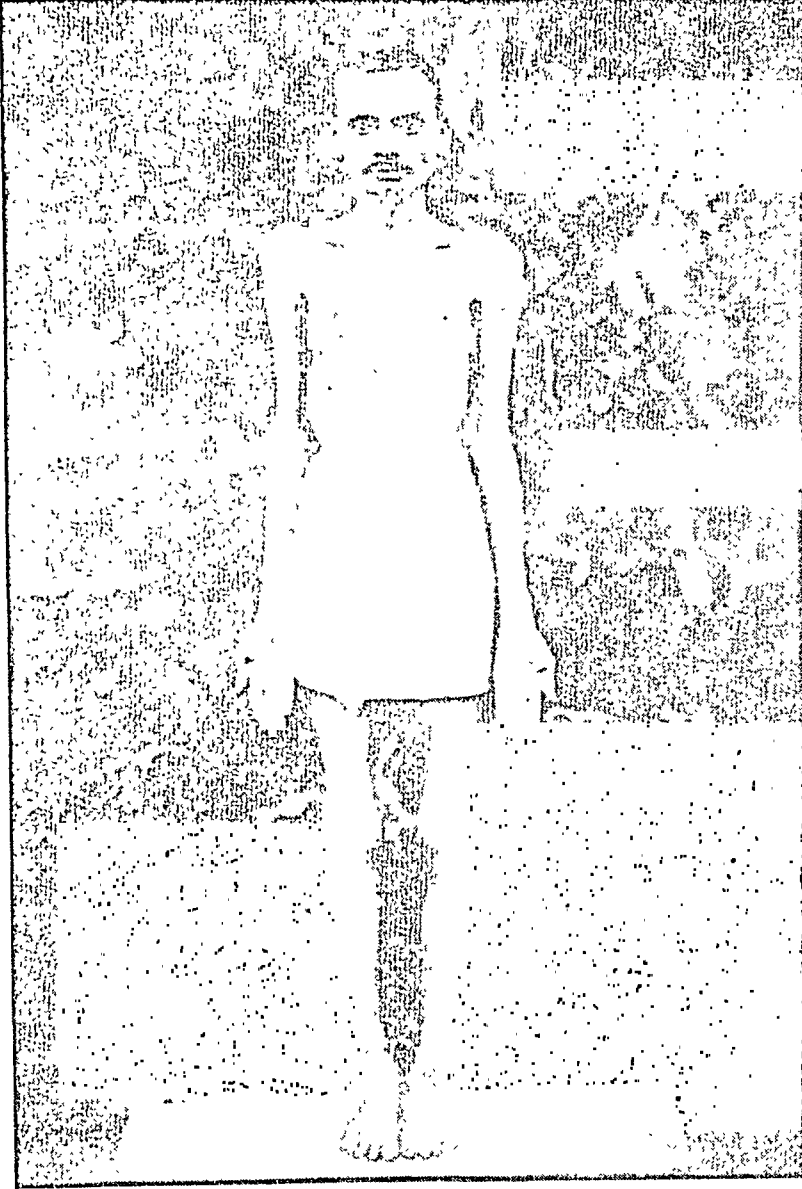
श्रीमद् राजचंद्र

३३ वाँ वर्ष — वि. सं. १९५६

[८२९-१] ८९७ मोहमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी ५, १९५६
(ज्ञानपंचमी)

ॐ

परम शांत श्रुतका मनन नित्य नियमपूर्वक कर्तव्य है। शांतिः

●

[८३०] ८९८ मुंबई, कार्तिक सुदी ५, बुध, १९५६

ॐ

यह पत्र-व्यवहार ऐसा है कि वृत्तिकी यथाशांतता रखना यह असंभव जैसा है। कोई विरला ज्ञानी इसमें शांत स्वरूपनैष्ठिक रह सकता हो, इतना बहुत दुर्घटतासे बनना संभव है। उसमें अल्प अथवा सामान्य मुमुक्षुवृत्तिके जीव शांत रह सकें, स्वरूपनैष्ठिक रह सकें, ऐसा यथारूप नहीं परंतु अमुक अंशमें होनेके लिए जिस कल्याणरूप अवलंबनकी आवश्यकता है, उसका समझमें आना, प्रतीत होना, और अमुक स्वभावसे आत्मामें स्थित होना कठिन है। यदि वैसा कोई योग बने तो और जीव शुद्ध नैष्ठिक हो तो, शांतिका मार्ग प्राप्त हो, ऐसा निश्चय है। प्रमत्त स्वभावकी जय करनेके लिए प्रयत्न करना योग्य है।

इस संसाररणभूमिमें दुःषमकालरूप ग्रीष्मके उदयका योगका वेदन न करे, ऐसी स्थितिका विरल जीव अभ्यास करते है।

●

८९९ मोहमयी, कार्तिक सुदी ५, बुध, १९५६

ॐ

सर्व सावद्य आरंभकी निवृत्तिपूर्वक दो घड़ीसे अर्ध प्रहरप्रर्यंत 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' आदि ग्रंथकी नकल करनेका नित्यनियम योग्य है। (चार मासपर्यंत)।

●

[८३१] ९०० मुंबई, कार्तिक सुदी ५, बुध, १९५६

ॐ

अविरोध और एकता रहे ऐसा कर्तव्य है, और यह सबके उपकारका मार्ग संभव है।

भिन्नता मानकर प्रवृत्ति करनेसे जीव उलटा चलता है। अभिन्नता है, एकता है, इसमें समझ-फेरसे भिन्नता मानते हैं, ऐसी उन जीवोंको शिक्षा प्राप्त हो तो सन्मुखवृत्ति हो सकती है।

जब तक अन्योन्य एकता व्यवहार रहे तब तक वह सर्वथा कर्तव्य है। ॐ

●

[८३३-१] ९०१ मुंबई, कार्तिक सुदी १५, १९५६

ॐ

[1]गुरु गणधर गुणधर, अधिक प्रचुर परंपर और।
व्रततपधर, तनु नगनधर, वंदौं वृषसिरमोर॥

जगत विषयके विक्षेपमें स्वरूपभ्रांतिसे विश्रांति नहीं पाता।

---

१. **भावार्थ**—गुरु गणधर तथा परंपरागत बहुतसे गुणधारी, व्रत-तपधारी, धर्मशिरोमणि, दिगंबर आचार्योंको वंदन करता हूँ।

अनंत अव्याबाध सुखका एक अनन्य उपाय, स्वरूपस्थ होना ही है। यही हितकारी उपाय ज्ञानियोंने देखा है। भगवान जिनने द्वादशांगीका इसीलिए निरूपण किया है, और इसी उत्कृष्टतासे वह शोभित है, जयवंत है।

ज्ञानीके वाक्यके श्रवणसे उल्लासित होता हुआ जीव चेतन-जडको यथार्थरूपसे भिन्न-स्वरूप प्रतीत करता है, अनुभव करता है, और अनुक्रमसे स्वरूपस्थ हो जाता है।

यथास्थित अनुभव होनेसे स्वरूपस्थ हो सकता है।

दर्शनमोह नष्ट हो जानेसे ज्ञानीके मार्गमें परम भक्ति समुत्पन्न होती है, तत्त्वप्रतीति सम्यक्रूपसे उत्पन्न होती है।

तत्त्वप्रतीतिसे शुद्ध-चैतन्यके प्रति वृत्तिका प्रवाह मुड़ता है। शुद्ध-चैतन्यके अनुभवके लिए चारित्रमोह नष्ट करना योग्य है।

चारित्रमोहका, चैतन्यके—ज्ञानीपुरुषके सन्मार्गकी नैष्ठिकतासे प्रलय होता है।

असंगतासे परमावगाढ अनुभव हो सकता है।

हे आर्य मुनिवरो! इसी असंग शुद्ध-चैतन्यके लिए असंगयोगकी अहर्निश इच्छा करते हैं। हे मुनिवरो। असंगताका अभ्यास करें।

दो वर्ष कदापि समागम न करना ऐसा होनेसे अविरोधता होती हो तो अंतमें दूसरा कोई सदुपाय न हो तो वैसा करें।

जो महात्मा असंग चैतन्यमें लीन हुए, होते हैं, और होंगे, उन्हें नमस्कार। ॐ शांतिः

●

[८३६] ९०२ मुंबई, कार्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

जड ने चैतन्य बन्ने द्रव्यनो स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीतपणे बन्ने जेने समजाय छे;
स्वरूप चेतन निज, जड छे संबंध मात्र,
अथवा ते ज्ञेय पण परद्रव्यमांय छे;
एवो अनुभवनो प्रकाश उल्लासित थयो,
जडथी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे;
कायानी विसारी माया, स्वरूपे समाया एवा,
निर्ग्रंथनो पंथ भवअंतनो उपाय छे ॥ १ ॥

भावार्थ—जड़ और चैतन्य दोनों द्रव्योंका स्वभाव भिन्न है, ऐसा यथार्थ प्रतीतिपूर्वक जिसे समझमें आता है; उसे भान होता है कि निजस्वरूप तो चेतन है और जड़ तो सम्वन्ध मात्र है, अथवा जड़ तो ज्ञेयरूप परद्रव्य है और स्वयं तो उसका ज्ञाता-दृष्टा। चैतन्यस्वरूप आत्मा उससे सर्वथा भिन्न है। यों स्वरूपका अनुभव अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हो जानेसे जड पदार्थके प्रति उदासीनता आ जाती है, जिससे वहिर्मुखता दूर होकर अंतर्मुखता हो जाती है अर्थात् आत्मा स्वरूपमें स्थित हो जाती है अथवा आत्म-लीनता आ जाती है। आत्म-जागृति एवं आत्म-भान हो जानेपर कायाकी ममता, आसक्ति नहीं रहती अथवा देहाध्यास दूर हो जाता है और आत्मा स्वरूपस्थ हो जाती है। इसलिए निर्ग्रंथका पंथ भवांत-मोक्षका सच्चा उपाय है ॥ १ ॥

देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे,
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे;
जीवनी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुःख, मृत्यु,
देहनो स्वभाव जीव पदमां जणाय छे;
एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानीनां वचन वडे दूर थई जाय छे;
भासे जड चैतन्यनो प्रगट स्वभाव भिन्न,
बन्ने द्रव्य निज निज रूपे स्थित थाय छे ॥ २ ॥

अज्ञानसे शरीर और आत्मा एकरूप—अभिन्न लगते हैं। यह भ्रांति अभिन्न कालसे चली आ रही है। इसलिए क्रियाकी प्रवृत्ति भी उसी भ्रांतिसे होती रहती है। जन्म, रोग, शोक, दुःख, मृत्यु आदि देहका स्वभाव है, परंतु अज्ञानवश आत्माका स्वभाव माना जाता है। देह और आत्माको एकरूप माननेका जो अनादि मिथ्यात्व भाव है वह ज्ञानीपुरुषके बोधसे दूर हो जाता है। जीव जब ज्ञानीके बोधको आत्मसात् कर लेता है तब जड और चेतनका भिन्न-स्वभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। फिर दोनों द्रव्य अपने-अपने रूपमें स्थित हो जाते हैं अर्थात् आत्मा आत्मरूपमें और कर्मरूप पुद्गल पुद्गलरूपमें स्थित हो जाते हैं ॥ २ ॥

●

[८३६-५] ९०३ मुंबई, कार्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

प्राणीमात्रका रक्षक, बांधव और हितकारी, यदि ऐसा कोई उपाय हो तो वह वीतरागका धर्म ही है।

●

[८३६-६] ९०४ मुंबई, कार्तिक वदी ११, मंगल, १९५६

संतजनो ! जिनवरेंद्रोंने लोक आदि जो स्वरूपनिरुपण किया है; वह आलंकारिक भाषामें निरुपण है, जो पूर्ण योगाभ्यासके बिना ज्ञानगोचर होने योग्य नहीं है। इसलिए आप अपने अपूर्ण ज्ञानके आधारसे वीतरागके वाक्योंका विरोध नहीं करना, परंतु योगका अभ्यास करके पूर्णतासे उस स्वरूपके ज्ञाता होनेका रखें।

●

[८३८] ९०५ मोहमयी-क्षेत्र, पौष वदी १२, रवि, १९५६

महात्मा मुनिवरोंके चरणकी, संगकी उपासना और सत्शास्त्रका अध्ययन मुमुक्षुओंके लिए आत्मबलकी वृद्धिके सदुपाय हैं।

ज्यों ज्यों इंद्रियनिग्रह, ज्यों ज्यों निवृत्तियोग होता है त्यों त्यों वह सत्समागम और सत्शास्त्र अधिकाधिक उपकारी होते है। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

●

९०६ मुंबई, माघ वदी १०, शनि, १९५६

आज-रोज आपका पत्र मिला। बहन इच्छाके वरकी अकाल मृत्युका खेदकारक समाचार जानकर बहुत शोक होता है। संसारकी ऐसी अनित्यताके कारण ही ज्ञानियोंने वैराग्यका उपदेश दिया है।

घटना अत्यंत दुःखकारक है। परंतु निरूपायमें धीरज रखनी चाहिए। तो आप मेरी ओर-

से बहन इच्छाको और घरके आदमियोंको दिलासा और धीरज दिलायें। और बहनकी सार-संभाल इस तरह करें कि जिससे उसका मन शांत हो।

●

९०७ मोहमयी, माघ वदी ११, १९५६

ॐ

शुद्ध गुर्जर भाषामें 'समयसार'की प्रति की जा सके तो वैसा करनेसे अधिक उपकार हो सकता है। यदि वैसा न हो सके तो वर्तमान प्रतिके अनुसार दूसरी प्रति लिखनेमें अप्रतिबंध है।

●

९०८ मुंबई, माघ वदी १४, मंगल, १९५६

बताते हुए अतिशय खेद होता है कि सुज्ञ भाईश्री कल्याणजीभाई (केशवजी)ने आज दोपहरमें लगभग पंद्रह दिनकी मरोड़की तकलीफसे नामधारी देहपर्यायको छोड़ा है।

●

९०९ धर्मपुर, चैत्र सुदी ८, शनि, १९५६

ॐ

यदि 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' और 'समयसार'की नकलें लिखी गयी हो तो यहाँ मूल प्रतियोंके साथ भिजवायें। अथवा मूल प्रतियाँ मुंबई भिजवायें और नकल की हुई प्रतियाँ यहाँ भिजवायें। नकलें अधूरी हों तो कब पूर्ण होना संभव है यह लिखें। शांतिः

●

९१० धर्मपुर, चैत्र सुदी ११, मंगल, १९५६

ॐ

श्री 'समयसार' और 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' भेजनेके बारेमें पत्र मिला होगा।

इस पत्रके मिलनेसे यहाँ आनेकी वृत्ति और अनुकूलता हो तो आज्ञाका अतिक्रम नहीं।

आपके साथ एक मुमुक्षुभाईके आनेसे भी आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता।

यदि 'गोम्मटसार' आदि कोई ग्रंथ प्राप्त हो तो वह और 'कर्मग्रंथ', 'पद्मनंदी पंचविंशति', 'समयसार' तथा श्री 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' आदि ग्रंथ अनुकूलतानुसार साथ रखें।

●

[८३१-१] ९११ धर्मपुर, चैत्र सुदी १३, १९५६

'अष्टप्राभृत'के ११५ पन्ने प्राप्त हुए। शांतिः

स्वामी वर्धमान जन्मतिथि।

●

[८३९] ९१२ धर्मपुर, चैत्र वदी १, रवि, १९५६

ॐ

'धन्य[1] ते मुनिवरा जे चाले समभावे रे,
ज्ञानवंत ज्ञानीशुं मळतां तनमनवचने साचा,
द्रव्यभाव सुधा जे भाखे, साची जिननी वाचा रे;
धन्य ते मुनिवरा, जे चाले समभावे रे।'

---

१. **भावार्थ**—वे मुनिवर धन्य हैं जो समभावपूर्वक आचरण करते हैं। जो स्वयं ज्ञानवान हैं, और ज्ञानियोंसे मिलते हैं। जिनके मन, वचन और काया सच्चे हैं, तथा जो द्रव्यभाव अमृत वाणी बोलते हैं, वह जिन भगवानकी सच्ची वाणी ही है। वे मुनिवर धन्य हैं जो समभावपूर्वक आचरण करते हैं।

पत्र प्राप्त हुए थे।

एक पखवाड़ेसे यहाँ स्थिति है।

श्री देवकीर्ण आदि आर्योंको नमस्कार प्राप्त हो। साणंद और अहमदावादके चातुर्मास-की वृत्ति उपशांत करना योग्य है। यही श्रेयस्कर है।

खेडाकी अनुकूलता न हो तो दूसरे अनेक योग्य क्षेत्र मिल सकते हैं। अभी यह कर्तव्य है कि उनसे अनुकूलता रहे।

वाह्य और अंतर समाधियोग रहता है। परमशांतिः

●

[८४०-१] ९१३ धर्मपुर, चैत्र वदी ४, बुध, १९५५

पत्र प्राप्त हुआ। यहाँ समाधि है।

अकस्मात् शारीरिक असाताका उदय हुआ है और शांत स्वभावसे उसका वेदन किया जाता है, ऐसा जानते थे, और इससे संतोष प्राप्त हुआ था।

समस्त संसारी जीव कर्मवशात् साता-असाताके उदयका अनुभव किया ही करते हैं। जिसमें मुख्यतः तो असाताके ही उदयका अनुभव किया जाता है। क्वचित् अथवा किसी देह संयोगमें साता-का उदय अधिक अनुभवमें आता हुआ मालूम होता है, परंतु वस्तुतः वहाँ भी अंतर्दाह जला ही करता है। पूर्ण ज्ञानी भी जिस असाताका वर्णन कर सकने योग्य वचनयोग नहीं रखते, वैसी अनंतानंत असाता जीवने भोगी है, और यदि अब भी उनके कारणोंका नाश न किया जाये तो भोगनी पड़े, यह सुनिश्चित है, ऐसा समझकर विचारवान उत्तम पुरुष उस अंतर्दाहरूप साता और वाह्याभ्यंतर संक्लेशाग्निरूपसे प्रज्वलित असाताका आत्यंतिक वियोग करनेके मार्गकी गवे-षणा करनेके लिए तत्पर हुए और उस सन्मार्गकी गवेषणा कर, प्रतीति कर, उसका यथायोग्य आराधन कर अव्याबाध सुखस्वरूप आत्माके सहज शुद्ध स्वभावरूप परमपदमें लीन हुए।

साता-असाताका उदय अथवा अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणोंकी गवेषणा करनेवाले उन महान पुरुषोंको ऐसी विलक्षण सानंदाश्चर्यकारी वृत्ति उद्भूत होती कि साताकी अपेक्षा असाताका उदय प्राप्त होनेपर और उसमें भी तीव्रतासे उस उदयके प्राप्त होनेपर उनका वीर्य विशेषरूपसे जाग्रत होता, उल्लसित होता, और वह समय अधिकतासे कल्याणकारी समझा जाता।

कितने ही कारणविशेषके योगसे व्यवहारदृष्टिसे ग्रहण करने योग्य औषध आदि आत्म-मर्यादामें रहकर ग्रहण करते थे; परंतु मुख्यतः वे परम उपशमकी ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूपसे उपासना करते थे।

उपयोग-लक्षणसे सनातन-स्फुरित ऐसी आत्माको देहसे, तैजस और कार्मण शरीरसे भी भिन्न अवलोकन करनेकी दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मकस्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाव-वाली होनेसे अवंधदशाको जब तक संप्राप्त न हो तब तक साता-असातारूप अनुभवका वेदन किये विना रहनेवाली नहीं यह निश्चय करके, जिस शुभाशुभ परिणामधाराकी परिणतिसे वह साता-असाताका संबंध करती है उस धाराके प्रति उदासीन होकर, देह आदिसे भिन्न और स्वरूप-मर्यादामें रही हुई आत्मामें जो चल स्वभावरूप परिणामधारा है उसका आत्यंतिक वियोग करनेका सन्मार्ग ग्रहण करके, परम शुद्धचैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोगसे सकलंक परिणाम प्रदर्शित करती है उससे उपरत होकर, जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये उस उपयोगमें

और उस स्वरूपमें स्थिर हुआ जाये, अचल हुआ जाये, वही लक्ष्य, वही भावना, वही चिंतन और वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना योग्य है। महात्माओंकी वारंवार यही शिक्षा है।

उस सन्मार्गकी गवेषणा करते हुए, प्रतीति करनेकी इच्छा करते हुए, उसे संप्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए आत्मार्थी जनको परमवीतरागस्वरूप देव, स्वरूपनैष्ठिक निःस्पृह निर्ग्रंथ गुरु, परमदयामूल धर्मव्यवहार और परमशांतरस रहस्य-वाक्यमय सत्शास्त्र, सन्मार्गकी संपूर्णता होने तक परमभक्तिसे उपासनीय हैं; जो आत्माके कल्याणके परम कारण हैं।

यहाँ एक स्मरण-संप्राप्त गाथा लिखकर यहाँ इस पत्रको संक्षिप्त करते हैं।

भीसण नरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुयगईए।
पत्तोसि तिव्व दुःखं भावहि जिणभावणा जीव॥

भयंकर नरकगतिमें, तिर्यंचगतिमें और कुदेव तथा मनुष्यगतिमें हे जीव ! तू तीव्र दुःखको प्राप्त हुआ, इसलिए अब तो जिनभावना (जिन भगवान जो परमशांतरससे परिणमन कर स्वरूपस्थ हुए, उस परमशांतस्वरूप चिन्तन)का भावन—चिंतन कर (कि जिससे वैसे अनंत दुःखोंका आत्यंतिक वियोग होकर परम अव्याबाध सुखसंपत्ति संप्राप्त हो)। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

●

[८४०-२] ९१४ धर्मपुर, चैत्र वदी ५, गुरु, १९५६

जहाँ संकुचित जनवृत्तिका संभव न हो और जहाँ निवृत्तिके योग्य विशेष कारण हों, ऐसे क्षेत्रमें महान पुरुषोंको विहार, चातुर्मासरूप स्थिति कर्तव्य है। शान्तिः

●

[८४०-३] ९१५ धर्मपुर, चैत्र वदी ६, शुक्र, १९५६

ॐ नमः

मुमुक्षुजनो,

आपका लिखा पत्र मुंबईमें मिला था। यहाँ वीस दिनसे स्थिति है। पत्रमें आपने दो प्रश्नोंका समाधान जाननेकी अभिलाषा प्रदर्शित की थी। उन दो प्रश्नोंका समाधान यहाँ संक्षेपमें लिखा है।

(१) उपशमश्रेणिमें मुख्यतः उपशमसम्यक्त्व संभव है।

(२) चार घनघाती कर्मोंका क्षय होनेसे अंतराय कर्मकी प्रकृतिका भी क्षय होता है और इससे दानांतराय, लाभांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय इन पांच प्रकारके अंतरायोंका क्षय होकर अनंत दानलब्धि, अनंत लाभलब्धि, अनंत वीर्यलब्धि और अनंत भोग-उपभोगलब्धि संप्राप्त होती है। जिससे जिसके अंतराय कर्मका क्षय हो गया है ऐसा परमपुरुष अनंत दानादि देनेको संपूर्ण समर्थ है; तथापि परमपुरुष पुद्गल-द्रव्यरूपसे इन दान आदि लब्धियोंकी प्रवृत्ति नहीं करता। मुख्यतः तो उस लब्धिकी संप्राप्ति भी आत्माकी स्वरूपभूत है, क्योंकि क्षायिकभावसे वह संप्राप्ति है, औदयिकभावसे नहीं, इसलिए आत्मस्वभाव स्वरूपभूत है, और जो अनंत सामर्थ्य आत्मामें अनादिसे शक्तिरूपसे था वह व्यक्त होकर आत्मा निजस्वरूपमें आ सकती है, तद्रूप शुद्ध स्वच्छ भावसे एक स्वभावसे परिणमन करा सकती है, उसे अनंत दानलब्धि कहना योग्य है। तथा अनंत आत्मसामर्थ्यकी संप्राप्तिमें किंचित्मात्र वियोगका

कारण नहीं रहा, इसलिए उसे अनंत लाभलब्धि कहना योग्य है। और अनंत आत्मसामर्थ्यकी संप्राप्ति संपूर्णरूपसे परमानंदस्वरूपसे अनुभवमें आती है, उसमें भी किंचित्मात्र भी वियोगका कारण नहीं रहा, इसलिए अनंत भोगोपभोगलब्धि कहना योग्य है, तथा अनंत आत्मसामर्थ्यकी संप्राप्ति संपूर्णरूपसे होनेपर भी उस सामर्थ्यके अनुभवसे आत्मशक्ति थक जाये कि उसकी सामर्थ्य झेल न सके, वहन न कर सके अथवा उस सामर्थ्यको किसी प्रकारके देश-कालका असर होकर किंचित्मात्र भी न्यूनाधिकता करा दे, ऐसा कुछ भी नहीं रहा; उस स्वभावमें रहनेकी संपूर्ण सामर्थ्य त्रिकाल संपूर्ण बलसहित रहना है, उसे अनंत वीर्यलब्धि कहना योग्य है।

क्षायिकभावकी दृष्टिसे देखते हुए उपर्युक्त अनुसार उस लब्धिका परम पुरुषको उपयोग है। फिर ये पाँच लब्धियाँ हेतुविशेषसे समझानेके लिए भिन्न बतायी है, नहीं तो अनंत वीर्यलब्धिमें भी उन पाँचोंका समावेश हो सकता है। आत्मा संपूर्ण वीर्यको संप्राप्त होनेसे इन पाँच लब्धियोंका उपयोग पुद्गलद्रव्यरूपसे करे तो वैसी सामर्थ्य उसमें रहती है, तथापि कृतकृत्य परम पुरुषमें संपूर्ण वीतराग स्वभाव होनेसे उस उपयोगका संभव नहीं; और उपदेश आदिके दानरूपसे जो उस कृतकृत्य परम पुरुषकी प्रवृत्ति है, वह योगाश्रित पूर्व-बंधकी उदयमानतासे है, आत्माके स्वभावके किंचित् भी विकृतभावसे नहीं है।

इस प्रकार संक्षेपमें उत्तर समझें। निवृत्तिवाला अवसर संप्राप्त करके अधिकाधिक मनन करनेसे विशेष समाधान और निर्जरा संप्राप्त होंगे। सोल्लास चित्तसे ज्ञानकी अनुप्रेक्षा करनेसे अनंत कर्मका क्षय होता है। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

●

९१६ धर्मपुर, चैत्र वदी १३, शुक्र, १९५६

ॐ

कृपालु मुनिवरोंका यथाविधि नियम चाहते हैं।

बलवान निवृत्तिके हेतुभूत क्षेत्रमें चातुर्मास कर्तव्य है। नडियाद, वसो आदि जो सानुकूल हो वह, एक स्थलके बदले दो स्थलमें हो उसमें विक्षिप्तके हेतुका संभव नहीं है। असत्समागमका योग प्राप्त कर यदि बटवारा करे तो उस संबंधी समयानुसार जैसा योग्य लगे वैसा, उन्हें बताकर उस कारणकी निवृत्ति करके सत्समागमरूप स्थिति करना योग्य है।

यहाँ स्थितिका संभव वैशाख सुदी २ से ५ तक है।

समागमसंबंधी अनिश्चित है।

परमशांतिः

●

[८४१] ९१७ अहमदाबाद, भीमनाथ, वैशाख सुदी ६, १९५६

आज दशा आदि संबंधी जो बताया है और बीज बोया है उसे खोदना नहीं। वह सफल होगा।

'चतुरांगुल है दृगसे मिल है'[1]—यह आगे जाकर समझमें आयेगा।

---

१. देखें आंक २६५ ७वाँ पद।

एक श्लोक पढ़ते हुए हमें हजारों शास्त्रोंका भान होकर उसमें उपयोग घूम जाता है अर्थात् रहस्य समझमें आ जाता है।

•

[८४४] ९१८ ववाणिया, वैशाख, १९५६

आपने कितने ही प्रश्न लिखे उन प्रश्नोंका समाधान समागममें समझना विशेष उपकाररूप जानता हूँ। तो भी किंचित् समाधानके लिए यथामति संक्षेपमें उनके उत्तर यहाँ लिखता हूँ।

सत्पुरुषकी यथार्थ ज्ञानदशा, सम्यक्त्वदशा, और उपशमदशाको तो, जो यथार्थ मुमुक्षु जीव सत्पुरुषके समागममें आता है वह जानता है, क्योंकि प्रत्यक्ष उन तीन दशाओंका लाभ श्री सत्पुरुषके उपदेशसे कितने अंशोंमें होता है। जिनके उपदेशसे वैसी दशाके अंश प्रगट होते हैं उनकी अपनी दशामें वे गुण कैसे उत्कृष्ट रहे होने चाहिए, उसका विचार करना सुगम है; और जिनका उपदेश एकांत नयात्मक हो उससे वैसी एक भी दशा प्राप्त होनी संभव नहीं यह भी प्रत्यक्ष समझमें आयेगा। सत्पुरुषकी वाणी सर्व नयात्मक रहती है।

दूसरे प्रश्नोंके उत्तर—

प्र०—जिनाज्ञाराधक स्वाध्याय-ध्यानसे मोक्ष है या और किसी तरह ?

उ०—तथारूप प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगमें अथवा किसी पूर्व-कालके दृढ़ आराधनसे जिनाज्ञा यथार्थ समझमें आये, यथार्थ प्रतीत हो, और उसकी यथार्थ आराधना की जाये तो मोक्ष हो इसमें संदेह नहीं।

प्र०—ज्ञानप्रज्ञासे जानी हुई सर्व वस्तुका प्रत्याख्यानप्रज्ञासे जो प्रत्याख्यान करता है उसे पंडित कहा है।

उ०—वह यथार्थ है। जिस ज्ञानसे परभावके मोहका उपशम अथवा क्षय न हुआ हो, वह ज्ञान 'अज्ञान' कहने योग्य है अर्थात् ज्ञानका लक्षण परभावके प्रति उदासीन होना है।

प्र०—जो एकांत ज्ञान मानता है उसे मिथ्यात्वी कहा है।

उ०—वह यथार्थ है।

प्र०—जो एकांत क्रिया मानता है उसे मिथ्यात्वी कहा है।

उ०—वह यथार्थ है।

प्र०—मोक्ष जानेके चार कारण कहे हैं। तो क्या उन चारमेंसे किसी एक कारणको छोड़कर मोक्ष जाये या संयुक्त चार कारणसे ?

उ०—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये मोक्षके कारण कहे हैं, परस्पर अविरोधरूपसे प्राप्त होनेपर मोक्ष होता है।

प्र०—समकित अध्यात्मकी शैली किस तरह है ?

उ०—यथार्थ समझमें आनेपर परभावसे आत्यंतिक निवृत्ति करना यह अध्यात्ममार्ग है। जितनी जितनी निवृत्ति होती है उतने उतने सम्यक् अंश होते हैं।

प्र०—'पुद्गलसें रातो रहे' छे, इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उ०—पुद्गलमें आसक्ति होना मिथ्यात्वभाव है।

प्र०—'अंतरात्मा परमात्माने ध्यावे,' इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उ०—अंतरात्मरूपसे जो परमात्मस्वरूपका ध्यान करे तो परमात्मा हो जाये।

प्र०—और अभी कौनसा ध्यान रहता है ? इत्यादि।

उ०—सद्गुरुके वचनका वारंवार विचार कर, अनुप्रेक्षण कर परभावसे आत्माको असंग करना।

प्र०—मिथ्वात्व (?) अध्यात्मकी प्ररुपणा आदि लिखकर आपने पूछा कि वह यथार्थ कहता है कि नहीं? अर्थात् समकिती नाम रखाकर विषय आदिकी आकांक्षा और पुद्गलभावके सेवन करनेमें कोई बाधा नहीं समझता, और 'हमें बंध नहीं है'—ऐसा जो कहता है, क्या वह यथार्थ कहता है?

उ०—ज्ञानीके मार्गकी दृष्टिसे देखते हुए वह मात्र मिथ्यात्व ही कहता है। पुद्गलभावसे भोगे और ऐसा कहे कि आत्माको कर्म नहीं लगता, तो वह ज्ञानीकी दृष्टिका वचन नहीं, वाचाज्ञानीका वचन है।

प्र०—जैनदर्शन कहता है कि पुद्गलभावके कम होनेपर आत्मध्यान फलित होगा, यह कैसे?

उ०—वह यथार्थ कहता है।

प्र०—स्वभावदशा क्या फल देती है?

उ०—वह तथारूप संपूर्ण हो तो मोक्ष होता है।

प्र०—विभावदशा क्या फल देती है?

उ०—जन्म, जरा, मरण आदि संसार।

प्र०—वीतरागकी आज्ञासे पोरसीका स्वाध्याय करे तो क्या फल होता है?

उ०—तथारूप हो तो यावत् मोक्ष होता है।

इस प्रकार आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर लिखता हूँ। लौकिकभावको छोड़कर, वाग्ज्ञान छोडकर, कल्पित विधि-निषेध छोड़कर जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कर, तथारूप उपदेश पाकर तथारूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करे तो उसका अवश्य कल्याण हो।

निज कल्पनासे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिका स्वरूप चाहे जैसा समझकर अथवा निश्चयात्मक बोल सीखकर जो सद्व्यवहारके लोप करनेमें प्रवृत्ति करे, उससे आत्माका कल्याण होना संभव नहीं, अथवा कल्पित व्यवहारके दुराग्रहमें रुके रहकर प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होना संभव नहीं।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह॥

—'आत्मसिद्धिशास्त्र'

एकांत क्रियाजडतामें अथवा एकांत शुष्कज्ञानसे जीवका कल्याण नहीं होता।

●

[८४५] ९१९ ववाणिया, वैशाख वदी ८, मंगल, १९५६

ॐ

प्रमत्तातिप्रमत्त ऐसे वर्तमान जीव हैं, और परम पुरुषोंने अप्रमत्तमें सहज आत्मशुद्धि कही है, इसलिए उस विरोधके शांत होनेके लिए परम पुरुषका समागम, चरणका योग ही परम हितकारी है।

शांति:

९२० ववाणिया, वैशाख वदी ८, मंगल, १९५६

ॐ

भाई छगनलालका और आपका लिखा यों दो पत्र मिले। वीरमगामकी अपेक्षा यहाँ पहले स्वास्थ्य कुछ ढीला रहा था। अब कुछ भी ठीक हुआ होगा ऐसा मालूम होता है।

ॐ **परमशांतिः**

•

[८४६] ९२१ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

ॐ

'मोक्षमाला' में शब्दांतर अथवा प्रसंगविशेषमें कोई वाक्यांतर करनेकी वृत्ति हो तो करें। उपोद्घात आदि लिखनेकी वृत्ति हो तो लिखें। जीवनचरित्रकी वृत्ति उपशांत करें।

उपोद्घातसे वाचकको, श्रोताको अत्यंत अल्प मतांतरकी वृत्तिका विस्मरण होकर ज्ञानी पुरुषोंके आत्मस्वभावरूप परम धर्मका विचार करनेकी स्फुरणा हो, ऐसा ध्यान सामान्यतः रखें। यह सहज सूचना है।

शांतिः

•

९२२ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

साणंदसे मुनिश्रीने श्री अंबालालके प्रति लिखवाया हुआ पत्र स्थंभतीर्थसे आज यहाँ मिला।

ॐ **परमशांतिः**

नडियाद और वसो-क्षेत्रके चातुर्मासमें तीन तीन मुनियोंकी स्थिति हो तो भी श्रेयस्कर ही है।

ॐ परमशांतिः

•

९२३ ववाणिया, वैशाख वदी ९, बुध, १९५६

ॐ

आज पत्र प्राप्त हुआ।

साथके पत्रका उत्तर—पत्रानुसार क्षेत्रमें आज गया है। शरीरप्रकृति उदयानुसार सहज स्वस्थ हुई है।

शांतिः

•

[८४७] ९२४ ववाणिया, वैशाख वदी १३, शनि, १९५६

ॐ

आर्य मुनिवरोंके चरणकमलमें यथाविधि नमस्कार प्राप्त हो। वैशाख वदी ७ सोमवारका लिखा पत्र प्राप्त हुआ।

नडियाद, नरोडा और वसो तथा उनके सिवाय दूसरा कोई क्षेत्र जो निवृत्तिके अनुकूल तथा आहारादि संबंधी विशेष संकोचवाला न हो वैसे क्षेत्रमें तीन तीन मुनियोंके चातुर्मास करनेमें श्रेय ही है।

इस वर्ष जहाँ उन वेषधारियोंकी स्थिति हो उस क्षेत्रमें चातुर्मास करना योग्य नहीं। नरोडा-में आर्याओंका चातुर्मास उन लोगोंके पक्षका हो तो वह होनेपर भी आपको वहाँ चातुर्मास करना

अनुकूल लगता हो तो भी बाधा नहीं; परन्तु वेषधारीके समीपके क्षेत्रमें भी यथासंभव चातुर्मास न हो तो अच्छा।

ऐसा कोई योग्य क्षेत्र दीखता हो कि जहाँ छहों मुनियोंका चातुर्मास रहते हुए आहार आदिका संकोच विशेष न हो सके तो उस क्षेत्रमें छहों मुनियोंका चातुर्मास करनेमें बाधा नहीं, परंतु जहाँ तक बने वहाँ तक तीन तीन मुनियोंका चातुर्मास करना योग्य है।

जहाँ अनेक विरोधी गृहवासी जन या उन लोगोंके रागदृष्टिवाले हों अथवा जहाँ आहारादिका, जनसमूहका संकोचभाव रहता हो वहाँ चातुर्मास योग्य नहीं। बाकी सर्व क्षेत्रोंमें श्रेयस्कर ही है।

आत्मार्थीको विक्षेपका हेतु क्या हो? उसे सब समान ही हैं। आत्मतासे विचरनेवाले आर्य पुरुषोंको धन्य है! ॐ शांतिः

●

[८४८–१] ९२५ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, सोम, १९५६

ॐ

आर्य मुनिवरोंके लिए अविक्षेपता संभव है। विनयभक्ति यह मुमुक्षुओंका धर्म है।

अनादिसे चपल मनको स्थिर करें। प्रथम अत्यंततासे सामने होता हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। क्रमशः उस मनको महात्माओंने स्थिर किया है, शांत किया है, क्षीण किया है, यह सचमुच आश्चर्यकारक है।

●

[८४८–२] ९२६ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, सोम, १९५६

ॐ

मुनियोंके लिए अविक्षेपता ही संभव है। मुमुक्षुओंके लिए विनय कर्तव्य है।

'क्षायोपशमिक असंख्य, क्षायिक एक अनन्य।' (अध्यात्म गीता)

मनन और निदिध्यासन करनेसे, इस वाक्यसे जो अंतरात्मवृत्तिमें प्रतिभासित हो उसे यथाशक्ति लिखना योग्य है। शांतिः

●

[८४८–३] ९२७ ववाणिया, वैशाख वदी ३०, १९५६

पत्र प्राप्त हुआ।

यथार्थ देखें तो शरीर यही वेदनाकी मूर्ति है। समय-समयपर जीव उस द्वारा वेदनाका ही अनुभव करता है। क्वचित् साता और प्रायः असाताका ही वेदन करता है। मानसिक असाताकी मुख्यता होनेपर भी वह सूक्ष्म सम्यग्दृष्टिमानको मालूम होती है। शारीरिक असाताकी मुख्यता स्थूल दृष्टिमानको भी मालूम हो जाती है। जो वेदना पूर्वकालमें सुदृढ बंधसे जीवने बाँधी है, उस वेदनाके उदयका प्राप्त होते हुए इंद्र, चंद्र, नागेंद्र या जिनेंद्र भी रोकनेको समर्थ नहीं। उसके उदयका जीवको वेदन करना ही चाहिए। अज्ञानदृष्टि जीव खेदसे वेदन करें तो भी कुछ वह वेदना घटती नहीं या चली नहीं जाती। सत्यदृष्टिमान जीव शांतभावसे वेदन करें तो उससे वह वेदना बढ़ नहीं जाती, परंतु नवीन बंधका हेतु नहीं होती। पूर्वकी बलवान निर्जरा होती है। आत्मार्थीको यही कर्तव्य है।

'मैं शरीर नहीं, परंतु उससे भिन्न ज्ञायक आत्मा हूँ, और नित्य शाश्वत हूँ। यह वेदना मात्र पूर्व कर्मकी है, परंतु मेरे स्वरूपका नाश करनेको वह समर्थ नहीं, इसलिए मुझे खेद कर्तव्य ही नहीं' इस तरह आत्मार्थीका अनुप्रेक्षण होता है।

●

[८४९] ९२८ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी ११, १९५६

आर्य त्रिभोवनके अल्प समयमें शांतवृत्तिसे देहोत्सर्ग करनेकी खबर सुनी। सुशील मुमुक्षुने अन्य स्थान ग्रहण किया।

जीवके विविध प्रकारके मुख्य स्थान हैं। देवलोकमें इंद्र तथा सामान्य त्रायस्त्रिंशदादिकके स्थान है। मनुष्यलोकमें चक्रवर्त्ती, वासुदेव, बलदेव तथा मांडलिक आदि स्थान हैं। तिर्यंचमें भी कहीं इष्ट भोगभूमि आदि स्थान है। उन सब स्थानोंको जीव छोड़ेगा, यह निःसंदेह है। जाति, गोत्र और बंधु आदि इन सबको अशाश्वत अनित्य ऐसा यह वास हैं। शांतिः

●

[८५०] ९२९ ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १३, सोम, १९५६

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको रोमांचित भक्तिसे नमस्कार हो।

पत्र प्राप्त हुआ।

चातुर्माससंबंधी मुनियोंको कहाँसे विकल्प हो?

निर्ग्रंथ क्षेत्रको किस सिरेसे बाँधें? इस सिरेका संबंध नहीं है।

निर्ग्रंथ महात्माओंके दर्शन और समागम मुक्तिकी सम्यक् प्रतीति कराते हैं।

तथारूप महात्माके एक आर्य वचनका सम्यक् प्रकारसे अवधारण होनेसे यावत् मोक्ष हो, ऐसा श्रीमान तीर्थंकरने कहा है, वह यथार्थ है। इस जीवमें तथारूप योग्यता चाहिए।

परम कृपालु मुनिवरोंको फिर नमस्कार करते हैं। शांतिः

●

[८५०-२] ९३० ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १३, सोम, १९५६

ॐ

पत्र और 'समयसार' की प्रति मिली।

कुंदकुंदाचार्यकृत 'समयसार' ग्रंथ भिन्न है। यह ग्रंथकर्ता अलग है, और ग्रंथका विषय भी अलग है। ग्रंथ उत्तम है।

आर्य त्रिभोवनके देहोत्सर्ग करनेकी खबर आपको मिली, जिससे खेद हुआ, यह यथार्थ है। ऐसे कालमें आर्य त्रिभोवन जैसे मुमुक्षु विरल हैं। दिन प्रति दिन शांतावस्थासे उसकी आत्मा स्वरूपलक्षित होती जाती थी। कर्मतत्त्वका सूक्ष्मतासे विचार कर, निदिध्यासन कर आत्माको तदनुयायी परिणतिका निरोध हो यह उसका मुख्य लक्ष्य था। विशेष आयु होती तो वह मुमुक्षु चारित्रमोहको क्षीण करनेके लिए अवश्य प्रवृत्ति करते। शांतिः शांति शांतिः

●

[८५१] ९३१ ववाणिया, जेठ वदी ९, गुरु, १९५६

मोरबीवासी शुभोपमालायक मेहता चत्रभुज बेचर,

आज आपका एक पत्र डाकमें मिला।

पूज्यश्रीको यहाँ आनेके लिए कहें। उन्हें अपना वजन बढ़ाना अपने हाथमें है। अन्न, वस्त्र या मनकी तंगी नहीं है। केवल उनके समझनेमें अंतर होता है। इसलिए यूँ ही रोष करते हैं, इससे उलटा उनका वजन घटे पर बढ़े नहीं। उनका वजन बढ़े और वे अपनी आत्माको शांत रखकर कुछ भी उपाधिमें न पड़ते हुए इस देह-प्राप्तिको सार्थक करें इतनी ही हमारी विनती है। दोनों व्यसनोंको उन्हें वशमें रखना चाहिए। व्यसन बढ़ानेसे बढ़ता है और नियममें रखनेसे नियममें रहता है। उन्होंने थोड़े वक्तमें व्यसनको तीन गुना कर डाला है, तो उसके लिए उन्हें उलाहना देनेका हेतु इतना ही है कि इससे उनकी कायाको बहुत नुकसान होता है, तथा मन परवश होता जाता है, जिससे इस लोक और परलोकका कल्याण चूक जाता है। समयके अनुसार मनुष्यकी प्रकृति न हो तो मनुष्यका वजन नहीं पड़ता और वजनके विनाका मनुष्य इस जगतमें निकम्मा है। इसलिए उनका वजन रहे इस तरह वर्तन करनेके लिए हमारा अनुरोध है। सहज वातमें वीचमें आनेसे वजन नहीं रहता पर घटता है। यह ध्यान रखना चाहिए। अब तो थोड़ा वक्त रहा है तो जैसे वजन बढ़े वैसे वर्तन करना चाहिए।

अपनेको मिली मनुष्यदेह भगवानकी भक्ति और अच्छे काममें गुजारनी चाहिए।

पूज्यश्रीको आज रातकी ट्रेनमें भेजें।

●

[८५२] ९३२ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी १०, १९५६

ॐ

पत्र प्राप्त हुए। शरीर-प्रकृति स्वस्थास्वस्थ रहती है, विक्षेप कर्तव्य नहीं है।

हे आर्य ! अंतर्मुख होनेका अभ्यास करें। शांतिः

●

[८७४-१७] ९३३

ॐ नमः

अपूर्व शांति और समाधि अचलतासे रहती है। कुंभक, रेचक पाँचों वायु सर्वोत्तम गतिको आरोग्य-बलसहित देती हैं।

○

[८५३-१] ९३४ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, बुध १९५६

ॐ

परम पुरुषको अभिमत अभ्यंतर और बाह्य दोनों संयमको उल्लासित भक्तिसे नमस्कार।

'मोक्षमाला' के विषयमें आप यथासुख प्रवृत्ति करें।

मनुष्यता, आर्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण, उनमें आस्तिकता, संयम, उसके प्रति वीर्यवृत्ति, प्रतिकूल योगोंमें भी स्थिति, अंतपर्यंत संपूर्ण मार्गरूप समुद्रको तर जाना—ये उत्तरोत्तर दुर्लभ और अत्यंत कठिन हैं, यह निःसंदेह है।

शरीर-स्थिति क्वचित् ठीक देखनेमें आती है, क्वचित् उससे विपरीत देखनेमें आती है। अभी कुछ असाताकी मुख्यता देखनेमें आती है। ॐ शांतिः

●

[८५३-२-३] ९३५ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, बुध, १९५६

ॐ

चक्रवर्तीकी समस्त संपत्तिकी अपेक्षा भी जिसका एक समय मात्र भी विशेष मूल्यवान है ऐसी यह मनुष्य-देह और परमार्थके अनुकूल योग प्राप्त होनेपर भी, यदि जन्म-मरणसे रहित परम-पदका ध्यान न रहा तो इस मनुष्य-देहको अधिष्ठित आत्माको अनंतवार धिक्कार हो !

जिन्होंने प्रमादकी जय की उन्होंने परमपदकी जय की।

पत्र प्राप्त हुआ।

शरीर-स्थिति अमुक दिन स्वस्थ रहती है और अमुक दिन अस्वस्थ रहती है। योग्य स्व-स्थताकी ओर अभी वह गमन नहीं करती, तथापि अविक्षेपता कर्तव्य है। शांतिः

●

[८५४] ९३६ ववाणिया, ज्येष्ठ वदी ३०, १९५६

जिससे चिंतित प्राप्त हो उस मणिको चिंतामणि कहा है; यही यह मनुष्य-देह है कि जिस देहमें, योगमें सर्व दुःखके आत्यंतिक क्षयकी चिंता ठानी तो पार पड़ती है।

जिसका माहात्म्य अचिंत्य है, ऐसा सत्संगरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होनेपर जीव दरिद्र रहे, ऐसा हो तो इस जगतमें वह ग्यारहवाँ आश्चर्य ही है।

●

[८५५-१] ९३७ ववाणिया, आषाढ सुदी १, गुरु १९५६

ॐ

परम कृपालु मुनिवरोंको नमस्कार प्राप्त हो।

नडियादसे लिखवाया पत्र आज यहाँ प्राप्त हुआ।

जहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिकी अनुकूलता दिखायी देती हो वहाँ चातुर्मास करनेमें आर्य पुरुषोंको विक्षेप नहीं होता। दूसरे क्षेत्रकी अपेक्षा बोरसद अनुकूल प्रतीत हो तो वहाँ चातुर्मासकी स्थिति कर्तव्य है।

दो वक्त उपदेश और एक वक्त आहार ग्रहण तथा निद्रा-समयके सिवाय बाकीका अवकाश मुख्यतः आत्मविचारमें, 'पद्मनंदी' आदि शास्त्रावलोकनमें और आत्मध्यानमें व्यतीत करना योग्य है। कोई बाई या भाई कभी कुछ प्रश्न आदि करे, तो उसका योग्य समाधान करना, कि जिससे उसकी आत्मा शांत हो। अशुद्ध क्रियाके निषेधक वचन उपदेशरूपसे न बताते हुए, शुद्ध क्रियामें जैसे लोगोंकी रुचि बढ़े वैसे क्रिया कराते जायें।

उदाहरणके लिए, जैसे कोई एक मनुष्य अपनी रूढिके अनुसार सामायिक व्रत करता है, तो उसका निषेध न करते हुए, जिस तरह उसका वह समय उपदेशके श्रवणमें या सत्शास्त्रके अध्ययनमें अथवा कायोत्सर्गमें बीते, उस तरह उसे उपदेश करना। उसके हृदयमें भी सामायिक

व्रत आदिके निषेधका किंचित्मात्र आभास भी न हो ऐसी गंभीरतासे शुद्ध क्रियाकी प्रेरणा देनी। स्पष्ट प्रेरणा करते हुए भी वह क्रियासे रहित होकर उन्मत्त हो जाता है; अथवा 'आपकी यह क्रिया ठीक नहीं' इतना कहनेसे भी, आपको दोष देकर वह क्रिया छोड़ दे, ऐसा प्रमत्त जीवोंका स्वभाव है; और लोगोंकी दृष्टिमें ऐसा आये कि आपने ही क्रियाका निषेध किया है। इसलिए मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थवत् रहकर, स्वात्माका हित करते हुए, ज्यों ज्यों परात्माका हित हो त्यों त्यों प्रवृत्ति करना, और ज्ञानीके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित करना, यही निर्जराका सुंदर मार्ग है।

स्वात्महितमें प्रमाद न हो और दूसरेको अविक्षेपतासे आस्तिक्यवृत्ति बँधे, वैसा उसका श्रवण हो, क्रियाकी वृद्धि हो, फिर भी कल्पित भेद न बढ़े और स्व-पर आत्माको शांति हो ऐसी प्रवृत्ति करनेमें उल्लसित वृत्ति रखिये। जैसे सत्शास्त्रके प्रति रुचि बढ़े वैसे कीजिये।

यह पत्र परम कृपालु श्री लल्लुजी मुनिकी सेवामें प्राप्त हो। ॐ शांतिः

●

[८५५-२] ९३८ ववाणिया, आषाढ सुदी १, १९५६

'ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहिए रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे॥'

—श्रीमान आनंदघनजी

पत्र प्राप्त हुए। शरीरस्थिति स्वस्थास्वस्थ रहती है; अर्थात् क्वचित् ठीक, क्वचित् असातामुख्य रहती है। मुमुक्षुभाई इस तरह तीर्थयात्रा करें कि लोक विरुद्ध न हो, इसमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता। ॐ शांतिः

●

[८५६-१] ९३९ मोरबी, आषाढ वदी ९, शुक्र, १९५६

ॐ नमः

सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परम धर्म परम पुरुषोंने कहा है।
तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूपभ्रंशवृत्ति न हो यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है।
उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरा भासने योग्य है।
ॐ शांतिः

●

[८५६-२] ९४० मोरबी, आषाढ वदी ९, शुक्र, १९५६

ॐ

परमकृपानिधि मुनिवरोंके चरणकमलमें विनय भक्तिसे नमस्कार प्राप्त हो।

पत्र प्राप्त हुए।

शरीरके प्रति असातामुख्य उदयमान रहती है। तो भी अभी स्थिति सुधारपर मालूम होती है।

आषाढ पूर्णिमापर्यंतके चातुर्मासिसंबंधी आपश्रीके प्रति जो कुछ अपराध हुआ हो उसके लिए नम्रतासे क्षमा माँगता हूँ।

गच्छवासीको भी इस वर्ष क्षमापत्र लिखनेमें प्रतिकूलता नहीं लगती।

पद्मनंदी, गोम्मटसार, आत्मानुशासन, समयसारमूल इत्यादि परम शांत श्रुतका अध्ययन होता होगा।

आत्माका शुद्ध स्वरूप याद करते हैं। ॐ शांतिः

●

[८४८] ९४१ मोरबी, श्रावण वदी ४, मंगल, १९५६

ॐ

संस्कृत-अभ्यासके योगके विषयमें लिखा, परंतु जब तक आत्मा सुदृढ प्रतिज्ञासे वर्तन न करे तब तक आज्ञा करना भयंकर हैं।

जिन नियमोंमें अतिचार आदि प्राप्त हुए हों, उनका यथाविधि कृपालु मुनियोंसे प्रायश्चित्त ग्रहण करके आत्मशुद्धता करना योग्य है, नहीं तो भयंकर तीव्र बंधका हेतु है। नियममें स्वेच्छाचारसे प्रवर्तन करनेकी अपेक्षा मरण श्रेयस्कर है, ऐसी महापुरुषोंकी आज्ञाका कुछ विचार नहीं रखा, ऐसा अपराध आत्माके लिए भयंकर क्यों न हो?

मुमुक्षु उमेद आदिको यथायोग्य।

●

[८५९] ९४२ मोरबी, श्रावण वदी ५, बुध, १९५६

ॐ

कदाचित् निवृत्तिमुख्य स्थलकी स्थितिके उदयका अंतराय प्राप्त हुआ हो तो हे आर्य! आप श्रावण वदी ११ से श्री भाद्रपद सुदी पूर्णिमापर्यंत सदा सविनय परम निवृत्तिका इस तरह सेवन कीजिये कि समागमवासी मुमुक्षुओंके लिए आप विशेष उपकारक हो जायें और वे सब निवृत्तिभूत सद्नियमोंका सेवन करते हुए सत्शास्त्रके अध्ययन आदिमें एकाग्र हों, यथाशक्ति व्रत, नियम और गुणका ग्रहण करें।

शरीरस्थितिमें सबल असाताके उदयसे यदि निवृत्तिमुख्य स्थलका अंतराय मालूम होगा तो यहाँसे आपके अध्ययन, मनन आदिके लिए 'योगशास्त्र' पुस्तक भेजनी होगी, जिसके चार प्रकाश दूसरे मुमुक्षुभाइयोंको श्रवण करानेसे परम लाभका संभव है।

हे आर्य! अल्प आयुवाला है, दुषमकालमें प्रमाद कर्तव्य नहीं; तथापि आराधक जीवोंका तद्वत् सुदृढ़ उपयोग रहता है।

आत्मबलाधीनतासे पत्र लिखा गया है। ॐ शांतिः

●

[८६१] ९४३ मोरबी, श्रावण वदी ७, शुक्र, १९५६

ॐ

जिनाय नमः

परम निवृत्तिका निरंतर सेवन करना यही ज्ञानीकी प्रधान आज्ञा है; तथारूप योगमें अस-

मर्थता हो तो निवृत्तिका सदा सेवन करना, अथवा स्वात्मवीर्यका गोपन किये बिना भरसक निवृत्तिका सेवन करने योग्य अवसर प्राप्त कर आत्माको अप्रमत्त करना, ऐसी आज्ञा है।

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियोंमें ऐसे आशयसे सुनियमित वर्तनसे प्रवृत्ति करनेके लिए आज्ञा की है।

काविठा आदि जिस स्थलमें उस स्थितिसे आपको और समागमवासी भाइयों और बाइयों-को धर्म-सुदृढता प्राप्त हो, वहाँ श्रावण वदी ११ से भाद्रपद पूर्णिमापर्यंत स्थिति करना योग्य है। आपको और दूसरे समागम वासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीतिमें निःसंशयता प्राप्त हो, उत्तम गुण, व्रत, नियम, शील और देवगुरुधर्मकी भक्तिमें वीर्य परम उल्लास पाकर वर्तन करे, ऐसी सुदृढता करना योग्य है, और यही परम मंगलकारी है।

जहाँ स्थिति करें वहाँ अपना वर्तन ऐसा रखिये कि उन सब समागम वासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीति सुदृढ हो और वे अप्रमत्ततासे सुशीलकी वृद्धि करें। ॐ शांतिः

●

[८६२] ९४४ मोरबी, श्रावण वदी १०, १९५६

ॐ

स्थंभतीर्थस्थित भाई कीलाभाई तथा त्रिभोवन आदि मुमुक्षु,

आज 'योगशास्त्र' ग्रंथ डाकमें भेजा गया है।

श्री अंबालालकी स्थिति स्थंभतीर्थमें ही होनेका योग बने तो वैसे, नहीं तो आप और कीलाभाई आदि मुमुक्षुओंके अध्ययन और श्रवण-मननके लिए श्रावण वदी ११ से भाद्रपद पूर्णिमा पर्यंत सुव्रत, नियम, और निवृत्ति-परायणताके हेतुसे इस ग्रंथका उपयोग कर्तव्य है।

प्रमत्तभावने इस जीवका बुरा करनेमें कोई न्यूनता नहीं रखी, तथापि इस जीवको निज हितका ध्यान नहीं है, यही अतिशय खेदकारक है।

हे आर्य! अभी उस प्रमत्तभावको उल्लासित वीर्यसे शिथिल करके, सुशीलसहित सत्श्रुत-का अध्ययन करके निवृत्तिसे आत्मभावका पोषण करें।

अभी नित्यप्रति पत्रसे निवृत्ति-परायणता लिखनी योग्य है। अंबालालको पत्र प्राप्त हुआ होगा।

यहाँसे स्थितिमें परिवर्तन होगा और अंबालालको जताना योग्य होगा तो कल तक हो सकता है। यथासंभव तारसे खबर देनी होगी।

●

[८६३] ९४५ मोरबी, श्रावण वदी १०, १९५६

श्री पर्युषण-आराधना

एकांत योग्य स्थलमें,

प्रभातमें—(१) देवगुरुकी उत्कृष्ट भक्तिवृत्तिसे अंतरात्मध्यानपूर्वक दो घड़ीसे चार घड़ी तक उपशांत व्रत।

(२) श्रुत 'पद्मनंदी' आदिका अध्ययन श्रवण।

मध्याह्नमें—(१) चार घड़ी उपशांत व्रत।
　　　(२) श्रुत 'कर्मग्रंथ'का अध्ययन, श्रवण; 'सुदृष्टितरंगिणी' आदिका थोड़ा अध्ययन।
सायंकालमें–(१) क्षमापनाका पाठ।
　　　(२) दो घड़ी उपशांत व्रत।
　　　(३) कर्मविषयकी ज्ञानचर्चा।

सर्व प्रकारके रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग हो सके तो भाद्रपद पूर्णिमा तक एक वक्त आहारग्रहण। पंचमीके दिन घी, दूध, तेल और दहीका भी त्याग। उपशांत व्रतमें विशेष काल-निर्गमन। हो सके तो उपवास करना। हरी वनस्पतिका सर्वथा त्याग। आठों दिन ब्रह्मचर्यका पालन। हो सके तो भाद्रपद पूनम तक।

शमम्

●

[८६५-२]　　　　९४६

श्री 'मोक्षमाला'के 'प्रज्ञावबोध'की संकलना

१. वाचकको प्रेरणा	२. जिनदेव	३. निर्ग्रंथ
४. दयाकी परम धर्मता	५. सच्चा ब्राह्मणत्व	६. मैत्री आदि चार भावना
७. सत्शास्त्रका उपकार	८. प्रमादके स्वरूपका विशेष विचार	९. तीन मनोरथ
१०. चार मुख्य शय्या	११. व्यावहारिक जीवोंके भेद	१२. तीन आत्मा
१३. सम्यग्दर्शन	१४. महात्माओंकी असंगता	१५. सर्वोत्कृष्ट सिद्धि
१६. अनेकांतकी प्रमाणता	१७. मन-भ्रांति	१८. तप
१९. ज्ञान	२०. क्रिया	२१. आरंभ-परिग्रहकी निवृत्तिपर ज्ञानीद्वारा दिया हुआ बहुत बल।
२२. दान	२३. नियमितता	२४. जिनागमस्तुति
२५. नवतत्त्वका सामान्य संक्षिप्त स्वरूप	२६. सार्वत्रिक श्रेय	२७. सद्गुण
२८. देशधर्मसंबंधी विचार	२९. मौन	३०. शरीर
३१. पुनर्जन्म	३२. पंचमहाव्रतसंबंधी विचार	३३. देशबोध
३४. प्रशस्तयोग	३५. सरलता	३६. निरभिमानता
३७. ब्रह्मचर्यकी सर्वोत्कृष्टता	३८. आज्ञा	३९. समाधिमरण
४०. वैतालीय अध्ययन	४१. संयोगकी अनित्यता	४२. महात्माओंकी अनंत समता
४३. सिरपर न चाहिए	४४. (चार) उदय आदि भंग	४५. जिनमतनिराकरण
४६. महामोहनीय स्थानक	४७. तीर्थंकरपद संप्राप्ति स्थानक	४८. माया
४९. परिषहजय	५०. वीरत्व	५१. सद्गुरुस्तुति
५२. पाँच परमपदसंबंधी विशेष विचार	५३. अविरति	५४. अध्यात्म
५५. मंत्र	५६. छः पद निश्चय	५७. मोक्षमार्गकी अविरोधता

५८. सनातन धर्म
५९. सूक्ष्म तत्त्वप्रतीति
६०. समिति-गुप्ति
६१. कर्मके नियम
६२. महापुरुषोंकी अनंत दया
५३. निर्जराक्रम
६४. आकांक्षाके स्थानमें किस तरह वर्तन करना ?
६५. मुनिधर्मयोग्यता
६६. प्रत्यक्ष और परोक्ष
६७. उन्मत्तता
६८. एक अंतर्मुहूर्त
६९. दर्शनस्तुति
७०. विभाव
७१. रसास्वाद
७२. अहिंसा और स्वच्छंदता
७३. अल्प शिथिलतासे महा-दोषका जन्म
७४. पारमार्थिक सत्य
७५. आत्मभावना
७६. जिनभावना
७७–९०. महापुरुष चरित्र
९१–१००. (किसी भागमें वृद्धि)
१०१–१०६. हितार्थी प्रश्न
१०७–१०८. समाप्ति अवसर

●

३४वाँ वर्ष

[८६६] ९४७ वढवाणकेम्प, कार्तिक सुदी ५, रवि, १९५७

ॐ

वर्तमान दुःषमकाल चलता है। मनुष्योंके मन भी दुःषम ही देखनेमें आते हैं। बहुत करके परमार्थसे शुष्क अंतःकरणवाले परमार्थका दिखाव करके स्वेच्छासे चलते हैं।

ऐसे वक्तमें किसका संग करना, किसके साथ कितना काम निकालना, किसके साथ कितना बोलना, और किसके साथ अपने कितने कार्य-व्यवहारका स्वरूप विदित किया जा सके; ये सब ध्यानमें रखनेका वक्त है। नहीं तो सद्वृत्तिमान् जीवको ये सब कारण हानिकर्त्ता होते हैं। इसका आभास तो आपको भी अब ध्यानमें आता होगा। शांतिः

●

[८६९] ९४८ मुंबई, शिव, मगसिर वदी ८, १९५७

मदनरेखाका अधिकार, 'उत्तराध्ययन'के नवम अध्ययनमें नमिराज ऋषिका चरित्र दिया है, उसकी टीकामें है। ऋषिभद्र पुत्रका अधिकार 'भगवतीसूत्र'के......[1]शतकके उद्देशमें आया है। ये दोनों अधिकार अथवा दूसरे वैसे बहुतसे अधिकार आत्मोपकारी पुरुषके प्रति वंदना आदि भक्तिका निरूपण करते हैं। परन्तु जनमंडलके कल्याणका विचार करते हुए वैसे विषयकी चर्चा करनेसे

---

१. शतक ११, उद्देश १२।

श्रीमद् राजचंद्र

जन्म : ववाणिया — देहोत्सर्ग : राजकोट

वि. सं. १९२४ कार्तिक पूर्णिमा रविवार — वि. सं. १९५७ चैत्र वदी ५ मंगलवार

आपको दूर रहना योग्य है। अवसर भी वैसा ही है। इसलिए आप इन अधिकार आदिकी चर्चा करनेमें एकदम शांत रहें। परन्तु दूसरी तरह आप इस प्रकारसे वर्तन करें कि जिससे उन लोगोंकी आपके प्रति उत्तम मनोभाववृत्ति किंवा भावना हो, और जो पूर्वापर बहुतसे जीवोंके हितका ही हेतु हो।

जहाँ परमार्थके जिज्ञासु पुरुषोंका मंडल हो वहाँ शास्त्रप्रमाण आदिकी चर्चा करना योग्य है; नहीं तो बहुत करके उससे श्रेय नहीं होता। यह मात्र छोटा परिषह है। योग्य उपायसे प्रवृत्ति करें, परन्तु उद्वेगवाला चित्त न रखें।

●

९४९ तिथ्थल-वलसाड, पौष वदी १०, मंगल, १९५७

ॐ

भाई मनसुखकी पत्नीके स्वर्गवास होनेकी खबर जानकर आपने दिलासाभरित पत्र लिखा, वह मिला।

परिचर्याका प्रसंग लिखते हुए आपने जो वचन लिखे हैं वे यथार्थ हैं। शुद्ध अंतःकरणपर असर होनेसे निकले हुए वचन हैं।

लोकसंज्ञा जिसकी जिंदगीकी कुतुबनुमा है वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंतता, सत्ता या कुटुंब परिवार आदिके योगवाली हो तो भी वह दुःखका ही हेतु है। आत्मशांति जिस जिंदगीकी कुतुबनुमा है वह जिंदगी चाहे तो एकाकी निर्धन और निर्वस्त्र हो तो भी परम समाधिका स्थान है।

●

[८७०] ९५० वढवाणकैम्प, फागुन सुदी ६, शनि, १९५७

ॐ

कृपालु मुनिवरोंको सविनय नमस्कार हो।

पत्र प्राप्त हुआ।

जो अधिकारी संसारसे विराम पाकर मुनिश्रीके चरणकमलके योगसे विचरना चाहता है, उस अधिकारीको दीक्षा देनेमें मुनिश्रीको दूसरे प्रतिबंधका कोई हेतु नहीं। उस अधिकारीको अपने बड़ोंका संतोष संपादन कर आज्ञा लेना योग्य है, जिससे मुनिश्रीके चरणकमलमें दीक्षित होनेमें दूसरा विक्षेप न रहे।

इस अथवा किसी दूसरे अधिकारीको संसारसे उपरामवृत्ति हुई हो और वह आत्मार्थ-साधक है ऐसा प्रतीत होता हो तो उसे दीक्षा देनेमें मुनिवर अधिकारी हैं। मात्र त्याग लेनेवाले और त्याग देनेवालेके श्रेयका मार्ग वृद्धिमान रहे, ऐसी दृष्टिसे वह प्रवृत्ति होनी चाहिए।

शरीर-स्थिति उदयानुसार है। बहुत करके आज राजकोट जाना होगा। प्रवचनसार ग्रंथ लिखा जाता है, वह यथावसर मुनिवरोंको प्राप्त होना संभव है। राजकोटमें थोड़े दिन स्थितिका संभव है।

ॐ शांतिः

[८७१] ९५१ राजकोट, फागुन वदी ३, शुक्र, १९५७

अति त्वरासे प्रवास पूरा करना था। वहाँ बीचमें सहराका रेगिस्तान संप्राप्त हुआ।

सिरपर बहुत बोझ रहा था उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाये उस तरह योजना करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान थकान ग्रहण की।

जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता, यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है।

शरीर-स्थिति उदयानुसार मुख्यतः कुछ असाताका वेदन कर साताके प्रति। ॐ शांतिः

●

[८७२] ९५२ राजकोट, फागुन वदी १३, सोम, १९५७

ॐ शरीरसंबंधी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ।

ज्ञानियोंका सनातन सन्मार्ग जयवंत रहे।

●

[८७३] ९५३ राजकोट, चैत्र सुदी २, शुक्र, १९५७

ॐ

अनंत शांतमूर्ति चंद्रप्रभस्वामीको नमः।

वेदनीयको तथारूप उदयमानतासे वेदन करनेमें हर्ष-शोक क्या? ॐ शांतिः

●

[८७४] ९५४ राजकोट, चैत्र सुदी ९ १९५७

ॐ

श्री जिन परमात्मने नमः

(१)

इच्छे छे जे जोगी जन, अनंत सुखस्वरूप।
मूळ शुद्ध ते आत्मपद, सयोगी जिनस्वरूप॥ १॥
आत्मस्वभाव अगम्य ते, अवलंबन आधार।
जिनपदथी दर्शावियो, तेहस्वरूप प्रकार॥ २॥
जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहीं कांई।
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई॥ ३॥

अंतिम संदेश

भावार्थ—योगीजन जिस अनंतसुखमय मोक्षपदकी इच्छा करते हैं वह मोक्षपद—परमात्मपद मूलतः शुद्ध आत्मपदरूप है; वह पद सयोगी-स्वरूपसे अर्थात् देहधारी जीवन्मुक्त जिन भगवानमें स्पष्ट प्रकाशित है॥ १॥

वह शुद्ध आत्मस्वभाव अरूपी होनेसे समझमें नहीं आ सकता। इसलिए देहधारी जिन भगवान-के अवलंबनसे समझमें आ सकता है। आत्मार्थियोंके लिए जिनका अवलंबन परम आधार है॥ २॥

मूल स्वरूपकी दृष्टिसे जिन और जीवकी आत्मा दोनों एक है—इनमें कोई भी भेदभाव नहीं है। उसका बोध होनेके लिए सुखदायी शास्त्र रचे गये हैं॥ ३॥

जिन प्रवचन दुर्गम्यता, थाके अति मतिमान।
अवलंबन श्री सद्गुरु, सुगम अने सुखखाण ॥ ४ ॥
उपासना जिनचरणनी, अतिशय भक्तिसहित।
मुनिजन संगति रति अति, संयम योग घटित ॥ ५ ॥
गुणप्रमोद अतिशय रहे, रहे अतर्मुख योग।
प्राप्ति श्री सद्गुरु वडे, जिन दर्शन अनुयोग ॥ ६ ॥
प्रवचन समुद्र बिंदुमां, ऊलटी[1] आवे एम।
पूर्व चौदनी लब्धिनुं, उदाहरण पण तेम ॥ ७ ॥
विषय विकार सहित जे, रह्या मतिना योग।
परिणामनी विषमता, तेने योग अयोग ॥ ८ ॥
मंद विषय ने सरलता, सह आज्ञा सुविचार।
करुणा कोमलतादि गुण, प्रथम भुमिका धार ॥ ९ ॥
रोक्या शब्दादिक विषय, संयम साधन राग।
जगत इष्ट नहि आत्मथी, मध्य पात्र महाभाग्य ॥ १० ॥
नहि तृष्णा जीव्यातणी, मरण योग नहीं क्षोभ।
महापात्र ते मार्गना, परम योग जितलोभ ॥ ११ ॥

जिन-प्रवचन अति दुर्गम हैं, अति मतिमान पंडित भी उसका मर्म पानेमें थक जाते हैं। वह श्रीसद्गुरुके अवलंबनसे सुगम एवं सुखनिधि सिद्ध हो जाता है ॥ ४ ॥

यदि जिनवरकी अतिशय भक्तिसहित उपासना हो; मुनिजनोंकी संगतिमें अति रति हो, मन, वचन और कायाके योगका संयम हो, इसी तरह गुणीजनोंके गुणोंके प्रति प्रमोद भावना रहे और मन, वचन एवं कायाका योग अंतर्मुख रहे; तो श्री सद्गुरुकी कृपासे चार अनुयोगगर्भित जिनसिद्धांतका रहस्य प्राप्त हो। जिस तरह जिनका त्रिपदी वाक्य—उप्पन्नेवा, विगमेवा, धुवेइवा—गणधरोंको चौदह पूर्वका ज्ञान प्रकाशित करनेके लिए लब्धिवाक्य सिद्ध हो जाता था; उसी तरह सद्गुरुका वचनरूप लब्धिवाक्य समस्त शास्त्रसमुद्रका पार पानेका आधार सिद्ध हो जाता है। अर्थात् समुद्रजलके एक बिंदको चखनेसे सारे समुद्रके जलका खयाल आ जाता है, इसी तरह ज्ञानीके एक वाक्यके यथार्थ बोधसे समस्त प्रवचनसमुद्रका पार प्राप्त हो जाता है ॥ ५-६-७ ॥

मतिके योगवाले जीव यदि विषयविकारमें आसक्त हैं तो उनके परिणाम विषम हुआ ही करते हैं अर्थात् रागद्वेष आदिसे युक्त रहते हैं, जिससे उन्हें आत्मप्राप्ति नहीं हो पाती; इसलिए उनका बुद्धिका योग अयोग हो जाता है अर्थात् व्यर्थ सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

विषयासक्तिकी मंदता, सरलता, आज्ञापूर्वक सुविचार तथा करुणा, कोमलता आदि गुण रखनेवाले जीव आत्मप्राप्तिकी प्रथम भूमिकाके योग हैं ॥ ९ ॥

जिन जीवोंने शब्दादि पाँच विषयोंके निरोधरूप इंद्रियसंयमको सिद्ध कर लिया है; सत्संग, सत्शास्त्र आदि संयमके साधनोंमें जिनकी प्रीति है, आत्महितकी दृष्टिसे जिन्हें जगत इष्ट नहीं है; वे महाभाग्य जीव मध्यपात्र अथात् आत्मप्राप्तिकी मध्यम भूमिकाके योग हैं ॥ १० ॥

जिन्हें जीवनकी तृष्णा नहीं है और मरणका क्षोभ नहीं है, तथा जिन्होंने लोभ आदि कषायोंको जीत लिया है, वे आत्मप्राप्तिके परमयोग मार्गके श्रेष्ठ पात्र-अधिकारी है ॥ ११ ॥

---

१. पाठांतर 'उल्लसी'।

(२) आव्ये बहु समदेशमां, छाया जाय समाई।
आव्ये तेम स्वभावमां, मन स्वरूप पण जाई ॥ १
ऊपजे मोह विकल्पथी, समस्त आ संसार।
अन्तर्मुख अवलोकतां, विलय थतां नहि वार ॥ २

× × ×

(३) सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिन रात्र रहे तद्ध्यान महीं।
परशांति अनंत सुधामय जे, प्रणमुं पद ते वर ते जय ते ॥ १

जिस तरह जब सूर्य मध्याह्नमें मध्यमें—बहुत समप्रदेशमें आता है, तब पदार्थोंकी छाया-उन्हींमें समा जाती है; उसी तरह मन भी अपनी विषम परिणतिको छोड़कर आत्माके स्वभावमें स्थिर हो जाये तो उसके संकल्प-विकल्पात्मक स्वरूपका लय हो जाता है अर्थात् वह आत्मामें समा जाता है ॥ १ ॥

यह समस्त संसार मोहविकल्पसे उत्पन्न होता है। अंतर्मुख वृत्तिसे देखनेसे इसका नाश होनेमें देर नहीं लगती ॥ २ ॥

× × ×

जो अनंत सुखका धाम है, जिसे संत जन चाहते हैं, जिसके ध्यानमें वे दिन-रात लीन रहते हैं, जो परमशांति एवं अनंत सुधासे परिपूर्ण है उस पदको प्रणाम करता हूँ, वह श्रेष्ठ है, उसकी जय हो ॥ १ ॥

●

९५५ मोरबी, चैत्र सुदी १, सोम, १९५७

ॐ

यद्यपि बहुत ही धीमा सुधार होता हुआ मालूम होता है, तथापि अब शरीर-स्थिति ठीक है।

ऐसा मालूम नहीं होता कि कोई रोग हो। सभी डाक्टरोंका भी यही अभिप्राय है। निर्बलता बहुत है। वह घटे ऐसे उपायों या कारणोंकी अनुकूलताकी आवश्यकता है, अभी वैसी कुछ भी अनुकूलता मालूम होती है।

कल या परसोंसे यहाँ एक सप्ताहके लिए धारशीभाई रहनेवाले हैं। इसलिए अभी तो सहजतासे आपका आगमन न हो तो भी अनुकूलता है। मनसुख प्रसंगोपात्त घबरा जाता है और दूसरोंको घबरा देता है। वैसी कभी स्थिति भी होती है। आवश्यक जैसा होगा तो मैं आपको बुला लूँगा। अभी आप आना स्थगित रखें। हलके मनसे काम करते जायें। यही विनती। शांतिः

●

उपदेश नोंध

(प्रासंगिक)

९५७ मुंबई, कार्तिक सुदी, १९५०

१*

श्री षड्दर्शनसमुच्चय ग्रंथका भाषांतर श्री मणिभाई नभुभाईने अभिप्रायार्थ भेजा है। अभिप्रायार्थ भेजनेवालेकी कुछ अंतर इच्छा ऐसी होती है कि उससे रंजित होकर उसकी प्रशंसा लिख भेजना। श्री मणिभाईने भाषांतर अच्छा किया है, परंतु वह दोषरहित नहीं।

●

[७०६] २ ववाणिया, चैत्र सुदी ६ बुध, १९५३

वेशभूषा चटकीली न होनेपर भी साफ-सुथरी हो ऐसी सादगी अच्छी है। चटकीलेपनसे कोई पाँच-सौके वेतनके पाँच-सौ-एक नहीं कर देता, और योग्य सादगीसे कोई पाँच-सौके चार-सौ निन्यानबे नहीं कर देता।

धर्ममें लौकिक बड़प्पन, माप, महत्त्वकी इच्छा, यह धर्मके द्रोहरूप हैं।

धर्मके बहानेसे अनार्य देशमें जाने अथवा सूत्रादि भेजनेका निषेध करनेवाले, नगारा बजाकर निषेध करनेवाले, अपने मान, महत्व और बड़प्पनका प्रश्न आये वहाँ इसी धर्मको ठुकराकर,

---

*. मोरबीके मुमुक्षु साक्षर श्री मनसुखभाई किरतचंदने अपनी स्मृतिसे श्रीमद्‌जीके प्रसंगोंकी जो नोंध की थी। १ से २६ तकके आँक उसमेंसे लिए गये हैं।

इसी धर्मपर पैर रखकर, इसी निषेधका निषेध करें, यह धर्मद्रोह ही है। धर्मका महत्त्व तो बहाना-रूप है, और स्वार्थसंबंधी मान आदिका प्रश्न मुख्य है, यह धर्मद्रोह ही है।

श्री वीरचंद गांधीको विलायत आदि भेजने आदिमें ऐसा हुआ है।

जब धर्म ही मुख्य रंग हो तब अहोभाग्य है!

प्रयोगके बहानेसे पशुवध करनेवाले रोग-दुःख दूर करे तो तबकी बात तब, परंतु अब तो बेचारे निरपराधी प्राणियोंको खूब दुःख देकर, मारकर अज्ञानतावश कर्मका उपार्जन करते हैं! पत्रकार भी विवेक-विचारके विना इस कार्यकी पुष्टि करनेके लिए लिख मारते हैं।

●

[८०१] ३ मोरबी, चैत्र वदी ७, १९५५

विशेष हो सके तो अच्छा। ज्ञानियोंको भी सदाचरण प्रिय है। विकल्प कर्तव्य नहीं है।

'जातिस्मृति' हो सकती है। पूर्व भव जाना जा सकता है।

अवधिज्ञान है।

तिथिका पालन करना।

रातको नहीं खाना, न चले तो उबाला हुआ दूध लेना।

वैसा वैसेको मिले; वैसा वैसेको रुचे।

[1]'चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे।
तेम भवि सहज गुणे होवे, उत्तम निमित्त संजोगी रे॥'
[2]'चरमावर्त वळी चरमकरण तथा रे, भवपरिणति परिपाक।
दोष टळे ने दृष्टि खुले अति भली रे, प्राप्ति प्रवचन वाक॥'

अव्यवहार-राशिमेंसे व्यवहार-राशिमें सूक्ष्म निगोदमेंसे मारा-पीटा जाता हुआ कर्मकी अकाम-निर्जरा करता हुआ, दुःख भोगकर उस अकाम-निर्जराके योगसे जीव पंचेंद्रिय मनुष्यभव पाता है। और उसमें प्रायः वह मनुष्यभवमें मुख्यतः छल-कपट, माया, मूर्च्छा, ममत्व, कलह, वंचना, कषाय-परिणति आदि रहे हुए हैं।

सकाम-निर्जरापूर्वक मिली हुई मनुष्यदेह विशेष सकाम-निर्जरा कराकर, आत्म तत्त्वको प्राप्त कराती है।

●

[८०२] ४ मोरबी, चैत्र वदी ८, १९५५

'षड्दर्शनसमुच्चय' अवलोकन करने योग्य है।

'तत्त्वार्थसूत्र' पढ़ने योग्य और वारंवार विचारने योग्य है।

'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रन्थ श्री हरिभद्राचार्यने संस्कृतमें रचा है। श्री यशोविजयजीने गुजरातीमें उसकी ढालबद्ध सज्झाय रची है। उसे कंठाग्र कर विचारने योग्य है। ये दृष्टियाँ आत्म-दशामापक (थर्मामीटर) यंत्र हैं।

---

१. **भावार्थ**—जैसे चकोर पक्षी चंद्रको चाहता है, मधुकर—भ्रमर मालतीके पुष्पमें आसक्त होता है वैसे मित्रा दृष्टिमें रहता हुआ भव्य जीव सद्गुरुयोगसे वंदन-क्रिया आदि उत्तम निमित्तको स्वाभाविकरूपसे चाहता है। भावपूर्वक तन्मयतासे वंदनादि करता है।

२. देखें आँक ८६४

शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं। शास्त्र अर्थात् शास्तापुरुषके वचन ! इन वचनोंको समझनेके लिए दृष्टि सम्यक् चाहिए।

सदुपदेष्टाको बहुत जरूरत है। सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है।

पाँच-सौ हजार श्लोक मुखाग्र करनेसे पंडित नहीं बना जाता। फिर भी थोड़ा जानकर ज्यादाका ढोंग करनेवाले पंडितोंका टोटा नहीं है।

[1]ऋतुको सन्निपात हुआ है।

एक पाईकी चार बीड़ी आये। हजार रुपये रोज कमानेवाले बैरिस्टरको बीड़ीका व्यसन हो और उसकी तलब होनेपर बीड़ी न हो तो एक चतुर्थांश पाईकी कीमतकी तुच्छ वस्तुके लिए व्यर्थ दौड़-धूप करता है। हजार रुपये रोज कमानेवाली अनंत शक्तिमती आत्मा है जिसका ऐसा बैरिस्टर मूर्च्छायोगसे तुच्छ वस्तुके लिए व्यर्थ दौड़-धूप करता है। जीवको विभावके आड़े आनेसे आत्मा और उसकी शक्तिकी खबर नहीं है।

हम अंग्रेजी नहीं पढ़े यह अच्छा हुआ है। पढ़े होते तो कल्पना बढ़ती। कल्पनाको तो छोड़ना है। पढ़ा हुआ भूलनेसे छुटकारा है। भूले विना विकल्प दूर न हो। ज्ञानकी जरूरत है।

●

[८०३] ५ मोरबी, चैत्र वदी ९, गुरु, १९५५

यदि परम सत् पीड़ित होता हो तो वैसे विशिष्ट प्रसंगपर सम्यग्दृष्टि देवता सार-संभाल करता है, प्रत्यक्ष भी आता है; परंतु बहुत ही थोड़े प्रसंगोंपर।

योगी या वैसी विशिष्ट शक्तिवाला वैसे प्रसंगपर सहायता करता है।

जीवको मति-कल्पनासे ऐसा भासित हो कि मुझे देवताके दर्शन होते हैं; मेरे पास देवता आता है, मुझे दर्शन होता है। देवता यों दिखायी नहीं देता।

प्रश्न—श्री नवपद पूजामें आता है कि[2] 'ज्ञान एहि ज आत्मा;' आत्मा स्वयं ज्ञान है तो फिर पढ़ने-गुननेकी अथवा शास्त्राभ्यासकी क्या जरूरत ? पढ़े हुए सबको कल्पित समझकर भूल जानेपर छुटकारा है तो फिर पढ़नेकी, उपदेशश्रवणकी या शास्त्रपठनकी क्या जरूरत ?

उत्तर—'ज्ञान एहि ज आत्मा' यह एकांत निश्चयनयसे है। व्यवहारसे तो ज्ञान आवृत्त है। उसे प्रगट करना है। इस प्रगटताके लिए पढ़ना, गुनना, उपदेशश्रवण, शास्त्रपठन आदि साधनरूप हैं। परंतु यह पढ़ना, गुनना, उपदेशश्रवण और शास्त्रपठन आदि सम्यग्दृष्टिसे होना चाहिए। यह श्रुतज्ञान कहलाता है। संपूर्ण निरावरण ज्ञान होने तक इस श्रुतज्ञानके अवलंबनकी आवश्यकता है। 'मैं ज्ञान हूँ,' 'मैं ब्रह्म हूँ,' यों पुकारनेसे ज्ञान कि ब्रह्म नहीं हुआ जाता। उसरूप होनेके लिए सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिए।

●

[८०४] ६ मोरबी, चैत्र वदी १०, १९५५

प्रश्न—दूसरेके मनके पर्याय जाने जा सकते हैं ?

---

१. दोपहरके चार बजे पूर्व दिशामें आकाशमें काला बादल देखते हुए, उसे दुष्कालका एक निमित्त जानकर उपर्युक्त शब्द बोले थे।

इस वर्ष १९५५ का चौमासा खाली गया और १९५६ का भयंकर दुष्काल पड़ा।

२. 'ज्ञानावरणी जे कर्म छे, क्षय उपशम तस थायरे।
तो हुए एहि ज आतमा, ज्ञान अबोधता जाय रे।'

उत्तर—हाँ, जाने जा सकते हैं। स्व-मनके पर्याय जाने जा सकते हैं, तो पर-मनके पर्याय जानना सुलभ है। स्व-मनके पर्याय जानना भी मुश्किल है। स्व-मन समझमें आ जाये तो वह वशमें हो जाये। उसके समझमें आनेके लिए सद्विचार और सतत एकाग्र उपयोगकी जरूरत है।

आसनजयसे उत्थानवृत्ति उपशांत होती है; उपयोग अचपल हो सकता है; निद्रा कम हो सकती है।

सूर्यके प्रकाशमें सूक्ष्म रज जैसा जो दिखायी देता है, वह अणु नहीं है। परन्तु अनेक परमाणुओंके बना हुआ स्कंध है। परमाणु चक्षुसे देखे नहीं जाते। चक्षुरिंद्रियलब्धिके प्रबल क्षयोपशमवाले जीव, दूरदर्शीलब्धिसंपन्न योगी अथवा केवलीसे वे देखे जा सकते हैं।

●

[८०५] ७ मोरबी, चैत्र वदी ११; १९५५

'मोक्षमाला' हमने सोलह बरस और पांच मासकी उम्रमें तीन दिनमें रची थी। ६७ वें पाठपर स्याही गिर जानेसे उस पाठको फिर लिखना पड़ा था, और उस स्थानपर 'बहु पुण्य केरा पुंजथी'[1] का अमूल्य तात्त्विक विचारका काव्य रखा था।

उसमें जैनमार्गको यथार्थ समझानेका प्रयास किया है। उसमें जिनोक्तमार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कहा है। वीतरागमार्ग आबालवृद्धकी रुचि हो, उसका स्वरूप समझमें आये, उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बालावबोधरूप योजना की है। परन्तु लोगोंको विवेक, विचार और कदर कहाँ है? आत्मकल्याणकी इच्छा ही कम है। उस शैली तथा उस बोधका अनुसरण करनेके लिए भी यह नमूना पेश किया है। इसका 'प्रज्ञावबोध' भाग भिन्न है, उसे कोई रचेगा।

इसके छपनेमें विलम्ब होनेसे ग्राहकोंकी आकुलता दूर करनेके लिए उसके बाद 'भावनाबोध' रचकर उपहाररूपसे ग्राहकोंको दिया।

'हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?
कोना संबंधे वळगणा छे ? राखुं के ए परिहरुं ?

इसपर जीव विचार करे तो उसे नव तत्त्वका, तत्त्वज्ञानका संपूर्ण बोध हो जाता है. ऐसा है। इसमें तत्त्वज्ञानका सम्पूर्ण समावेश हो जाता है। इसका शांतिपूर्वक और विवेकसे विचार करना चाहिए।

अधिक लम्बे लेखसे कुछ ज्ञानकी, विद्वत्ताकी तुलना नहीं होती। परंतु सामान्यतः जीवोंको इस तुलनाकी समज नहीं हैं।

[2]प्र०—किरतचंदभाई जिनालयमें पूजा करने जाते हैं?

[3]उ०—ना साहिब, वक्त नहीं मिलता।

वक्त क्यों नहीं मिलता? ठानें तो वक्त मिल सकता है, प्रमाद बाधक है। हो सके तो पूजा करने जाना।

काव्य, साहित्य या संगीत आदि कला यदि आत्मार्थके लिए न हों तो वे कल्पित हैं। कल्पित

---

१. देखें मोक्षमाला पाठ ६७। २. श्रीमद्जीने पूछा।
३. श्री मनसुखभाईका प्रत्युत्तर।

अर्थात् निरर्थक, सार्थक नहीं—जीवकी कल्पना मात्र है। जो भक्तिप्रयोजनरूप या आत्मार्थके लिए न हो वह सब कल्पित ही है।

●

[८०६] ८ मोरबी, चैत्र वदी १२, १९५५

श्रीमद् आनंदघनजी श्री अजितनाथके स्तवनमें स्तुति करते है :—

तरतम योगेरे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार। पंथडो०

इसका क्या अर्थ है ?

ज्यों ज्यों योगकी—मन, वचन और कायाकी तरतमता अर्थात् अधिकता त्यों त्यों वासनाकी भी अधिकता, ऐसा 'तरतम योगेरे तरतम वासना रे' का अर्थ होता है। अर्थात् यदि कोई बलवान योगवाला पुरुष हो, उसके मनोबल; वचनबल आदि बलवान हों, और वह पंथका प्रवर्तन करता हो; परंतु जैसा उसका बलवान मन, वचन आदि योग है, वैसी ही फिर मनवानेकी, पूजा करानेकी, मान, सत्कार, अर्थ, वैभव आदिकी बलवान वासना हो तो वैसी वासनावालेका बोध वासनासहित बोध हुआ, कषाययुक्त बोध हुआ, विषयादिकी लालसावाला बोध हुआ, मानार्थ बोध हुआ, आत्मार्थ बोध न हुआ। श्री आनंदघनजी श्री अजित प्रभुका स्तवन करते हैं—'हे प्रभो ! ऐसा वासनासहित बोध आधाररूप है, वह मुझे नहीं चाहिए। मुझे तो कषायरहित, आत्मार्थसंपन्न, मान आदि वासनारहित बोध चाहिए ऐसे पंथकी गवेषणा मैं कर रहा हूँ। मनवचनादि बलवान योगवाले भिन्न भिन्न पुरुष बोधका प्ररूपण करते आये हैं, प्ररूपण करते हैं, परंतु हे प्रभो ! वासनाके कारण वह बोध वासित है, मुझे तो वासनारहित बोधकी जरूरत है। वह तो, हे वासना, विषय, कषाय आदि जीतनेवाले जिन वीतराग अजित देव ! तेरा है। उस तेरा पंथको मैं खोज रहा हूँ—देख रहा हूँ। वह आधार मुझे चाहिए। क्योंकि प्रगट सत्यसे धर्मप्राप्ति होती है।'

आनंदघनजीकी चौबीसी मुखाग्र करने योग्य है। उसका अर्थ विवेचनपूर्वक लिखने योग्य है। वैसा करें।

●

[८०७] ९ मोरबी, चैत्र वदी १४, १९५५

प्र०—आप जैसे समर्थ पुरुषसे लोकोपकार हो ऐसी इच्छा रहे यह स्वाभाविक है।

उ०—लोकानुग्रह अच्छा और आवश्यक अथवा आत्महित ?

म०—साहब, दोनोंकी जरूरत है।

श्रीमद्०—

श्री हेमचंद्राचार्यको हुए आठ सौ बरस हो गये। श्री आनंदघनजीको हुए दो सौ बरस हो गये। श्री हेमचंद्राचार्यने लोकानुग्रहमें आत्मार्पण किया। श्री आनंदघनजीने आत्महित साधनप्रवृत्तिको मुख्य बनाया। श्री हेमचंद्राचार्य महा प्रभावक बलवान क्षमोपशमवाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान थे कि वे चाहते तो अलग पंथका प्रवर्तन कर सकते थे। उन्होंने तीस हजार घरोंको श्रावक बनाया। बीस हजार घर अर्थात् सवा लाखसे डेढ़ लाख मनुष्योंकी संख्या हुई। श्री सहजानंदजीके संप्रदायमें एक लाख मनुष्य होंगे। एक लाखके समूहसे सहजानंदजीने अपना संप्रदाय चलाया, तो श्री हेमचंद्राचार्य चाहते तो डेढ लाख अनुयायियोंका एक अलग संप्रदाय चला सकते थे।

परंतु श्री हेमचंद्राचार्यको लगा कि सम्पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर ही धर्मप्रवर्तक हो सकते हैं। हम तो तीर्थंकरोंकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थ मार्गका प्रकाश करनेके लिए प्रयत्न करनेवाले हैं। श्री हेमचंद्राचार्यने वीतरागमार्गके परमार्थका प्रकाशनरूप लोकानुग्रह किया। वैसा करनेकी जरूरत थी। वीतरागमार्गके प्रति विमुखता और अन्य मार्गकी तरफसे विषमता, ईर्ष्या आदि शुरू हो चुके थे। ऐसी विषमतामें लोगोंको वीतरागमार्गकी ओर मोड़नेकी, लोकोपकारकी तथा उस मार्गके रक्षणकी उन्हें जरूरत मालूम हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने स्वार्पण किया। परन्तु इस तरह उन जैसे ही कर सकते हैं। वैसे भाग्यवान, माहात्म्यवान, क्षयोपशमवान ही कर सकते हैं। भिन्न भिन्न दर्शनोंका यथावत् तोलकर अमुक दर्शन सत्य स्वरूप है, ऐसा जो निश्चय कर सके वैसा पुरुष ही लोकानुग्रह, परमार्थप्रकाश और आत्मार्पण कर सकता है।

श्री हेमचंद्राचार्यने बहुत किया। श्री आनंदघनजी उनके छः सौ बरस बाद हुए। इन छः सौ बरसके अंतरालमें वैसे दूसरे हेमचंद्राचार्यकी जरूरत थी। विषमता व्याप्त होती जाती थी। काल उग्रस्वरूप लेता जाता था। श्री वल्लभाचार्यने शृंगारयुक्त धर्मका प्ररूपण किया। शृंगार युक्त धर्मकी ओर लोक मुड़े—आकर्षित हुए। वीतरागधर्म-विमुखता बढ़ती चली। अनादिसे जीव शृंगार आदि विभावमें तो मूर्च्छा प्राप्त कर रहा है, उसे वैराग्यके सन्मुख होना मुश्किल है। वहाँ फिर यदि उसके पास शृंगारको ही धर्मरूपसे रखा जाये तो वह वैराग्यकी ओर कैसे मुड़ सकता है? यों वीतरागमार्गकी विमुखता बढ़ी।

वहाँ फिर प्रतिमाप्रतिपक्ष-संप्रदाय जैनमें ही खड़ा हो गया। ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारण ऐसी जिन-प्रतिमाके प्रति लाखों दृष्टिविमुख हो गये। वीतरागशास्त्र कल्पित अर्थसे विराधित हुए, कितने तो समूल ही खंडित किये गये। इस तरह इन छः सौ बरसके अंतरालमें वीतरागमार्गरक्षक दूसरे हेमचंद्राचार्यकी जरूरत थी। अन्य अनेक आचार्य हुए परन्तु वे श्री हेमचंद्राचार्य जैसे प्रभावशाली नहीं हुए। इसलिए विषमताके सामने टिका न जा सका। विषमता बढ़ती चली। वहाँ दो सौ बरस पूर्व श्री आनंदघनजी हुए।

श्री आनंदघनजीने स्वपरहित-बुद्धि लोकोपकार—प्रवृत्ति शुरू की। इस मुख्य प्रवृत्तिमें आत्महित गौण किया। परन्तु वीतरागधर्मविमुखता, विषमता इतनी अधिक व्याप्त हो गयी थी कि लोग धर्मको अथवा आनंदघनजीको पहचान नहीं सके, पहचान कर कदर न कर सके। परिणामतः श्री आनंदघनजीको लगा कि प्रबल व्याप्त विषमताके योगमें लोकोपकार, परमार्थप्रकाश कारगर नहीं होता और आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है, इसलिए आत्महितको मुख्य करके उसमें प्रवृत्ति करना योग्य है। ऐसी विचारणासे अंतमें वे लोकसंगको छोड़कर वनमें चल दिये। वनमें विचरते हुए भी अप्रगटरूपसे रहकर चौवीसी, पद आदिसे लोकोपकार तो कर ही गये। निष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।

प्रगटरूपसे लोग आनंदघनजीको पहचान नहीं सके। परन्तु आनंदघनजी तो अप्रगट रहकर उनका हित करते गये। अब तो आनंदघनजीके वक्तकी अपेक्षा भी अधिक विषमता, वीतरागमार्गविमुखता व्याप्त है।

श्री आनंदघनजीको सिद्धांतबोध तीव्र था। वे श्वेतांबर संप्रदायमें थे। भाष्य, चूर्णि, निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे' इत्यादि पंचांगीका नाम उनके श्री नमिनाथजीके स्तवनमें न आया होता तो यह पता न चलता कि वे श्वेतांबर संप्रदायके थे या दिगंबर संप्रदायके?

[८०८] १० मोरबी चैत्र वदी ३०, १९५५

'इस भारतवर्षकी अधोगति जैनधर्मसे हुई है' ऐसा महीपतराम रूपराम कहते थे, लिखते थे। दसेक वर्ष पहले उनका मिलाप अहमदाबादमें हुआ था, तब उन्हें पूछा:—

प्र०—भाई ! जैनधर्म अहिंसा, सत्य, मेल, दया, सर्व प्राणीहित, परमार्थ, परोपकार, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद आहारपान, निर्व्यसनता, उद्यम आदिका उपदेश करता है ?

उ०—हाँ। (महीपतरामने उत्तर दिया।)

प्र०—भाई ! जैनधर्म हिंसा, असत्य, चोरी, फूट, क्रूरता, स्वार्थपरायणता, अन्याय, अनीति, छल-कपट, विरुद्ध आहार-विहार, मौज-शौक, विषय-लालसा, आलस्य-प्रमाद आदिका निषेध करता है ? म० उ०—हाँ।

प्र०—देशकी अधोगति किससे होती है ? अहिंसा, सत्य, मेल, दया, परोपकार, परमार्थ, सर्व प्राणीहित, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद एवं आरोग्यरक्षक ऐसा शुद्ध सादा आहार-पान, निर्व्यसनता, उद्यम आदिसे अथवा उससे विपरीत हिंसा, असत्य, फूट, क्रूरता, स्वार्थपटुता, छल-कपट, अन्याय, अनीति, आरोग्यको बिगाडे और शरीर-मनको अशक्त करे ऐसा विरुद्ध आहार-विहार, व्यसन, मौज-शौक, आलस्य-प्रमाद आदिसे ?

म० उ०—दूसरेसे अर्थात् विपरीत हिंसा, असत्य, फूट, प्रमाद आदिसे।

प्र०—तब देशकी उन्नति इन दूसरोंसे विपरीत अहिंसा, सत्य, मेल, निर्व्यसनता उद्यम आदिसे होती है ?

म० उ०—हाँ।

प्र०—तब फिर 'जैनधर्म' ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी अधोगति हो ? या ऐसा उपदेक्ष करता है कि जिससे देशकी उन्नति हो ?

म० उ०—भाई ! मैं कबूल करता हूँ कि जैनधर्म ऐसे साधनोंका उपदेश करता है कि जिनसे देशकी उन्नति हो। ऐसी सूक्ष्मतासे विवेकपूर्वक मैंने विचार नहीं किया था। हमने तो बचपनमें पादरीकी शालामें पढ़ते समय पड़े हुए संस्कारोंसे, विना विचार किये ऐसा कह दिया था, लिख मारा था। महीपतरामने सरलतासे कबूल किया। सत्य-शोधनमें सरलताकी जरूरत है। सत्यका मर्म लेनेके लिए विवेकपूर्वक मर्ममें उतरना चाहिए।

●

[८०९] ११ मोरबी, वैशाख सुदी २, १९५५

श्री आत्मारामजी सरल थे। कुछ धर्मप्रेम था। खंडन-मंडनमें न पड़े होते तो अच्छा उपकार कर सकते। उनके शिष्यसमुदायमें कुछ सरलता रही है। कोई कोई संन्यासी अधिक सरल देखनेमें आते हैं। श्रावकता कि साधुता कुल संप्रदायमें नहीं, आत्मामें है।

ज्योतिषको कल्पित समझ कर हमने उसे छोड़ दिया है। लोगोंमें आत्मार्थता बहुत कम हो गयी है, नहीं जैसी रही है। इस संबंधमें स्वार्थहेतुसे लोगोंने हमें सताना शुरू कर दिया। जिससे आत्मार्थ सिद्ध न हो ऐसे इस ज्योतिषके विषयको कल्पित (असार्थक) समझ कर हमने गौण कर दिया, उसका गोपन कर दिया।

गत रात्रिमें श्री आनंदघनजीके, सद्देवतत्त्वका निरूपण करनेवाले श्री मल्लिनाथके स्तवनकी चर्चा होती थी, उस वक्त बीचमें आपने प्रश्न किया था इस बारेमें हम सकारण मौन रहे थे।

आपका प्रश्न संगत और अनुसंधिवाला था। परंतु वह ऐसा न था कि सभी श्रोताओंके लिए ग्राह्य हो सके, और किसीके समझमें न आनेसे विकल्प उत्पन्न करनेवाला था। चलते हुए विषयमें श्रोताओंका श्रवणसूत्र टूट जाये ऐसा था। और आपको स्वयमेव स्पष्टता हो गयी है। अब पूछना है?

यह ठीक है कि लोग एक कार्यकी तथा उसके कर्ताकी प्रशंसा करते हैं। यह उस कार्यका पोषक तथा उसके कर्त्ताके उत्साहको बढ़ानेवाला है। परंतु साथमें उस कार्यमें जो कभी हो उसे भी विवेक और निरभिमानतासे सभ्यतापूर्वक बताना चाहिए, कि जिससे फिर त्रुटिका अवकाश न रहे और वह कार्य त्रुटिरहित होकर पूर्ण हो जाये। अकेली प्रशंसा-गुणगानसे सिद्धि नहीं होती। इससे तो उलटे मिथ्याभिमान बढ़ता है। आजके मानपत्र आदिमें यह प्रथा विशेष है। विवेक चाहिए।

म०—साहब! चंद्रसूरि आपको याद करके पूछा करते थे। आप यहाँ हैं यह उन्हें खबर न थी। आपसे मिलनेके लिए आये हैं।

श्रीमद्०—परिग्रहधारी यतियोंका सन्मान करनेसे मिथ्यात्वको पोषण मिलता है, मार्गका विरोध होता है। दाक्षिण्य-सभ्यताकी भी रक्षा करनी चाहिए। चंद्रसूरि हमारे लिए आये हैं। परंतु जीवको छोड़ना अच्छा नहीं लगता, मिथ्या चतुराईकी बातें करना है, मान छोड़ना रुचता नहीं। उससे आत्मार्थ सिद्ध नहीं होता।

हमारे लिए आये, इसलिए सभ्यता धर्मकी रक्षाके लिए उनके पास गये। प्रतिपक्षी स्थानक संप्रदायवाले कहेंगे कि इन्हें इनमें राग है, इसलिए वहाँ गये, हमारे पास नहीं आते। परंतु जीवको हेतु एवं कारणका विचार नहीं करना। मिथ्या दूषण, खाली आरोप लगानेके लिए तैयार है। ऐसे वर्तनके जानेपर छूटकारा है। भवपरिपाकसे सद्विचार स्फुरित हो और हेतु और परमार्थका विचार उठे।

बड़े जैसे कहें वैसे करना, जैसे करें वैसे नहीं करना।

श्री कबीरका अंतर समझे विना भोलेपनसे लोग उन्हें परेशान करने लगे। इस विक्षेपको दूर करनेके लिए कबीरजी वेश्याके यहाँ जाकर बैठ गये। लोकसमूह पीछे लौटा। कबीरजी भ्रष्ट हो गये ऐसा लोग कहने लगे। सच्चे भक्त थोड़े थे वे कबीरको चिपके रहे। कबीरजीका विक्षेप तो दूर हुआ, परंतु दूसरे उनका अनुकरण न करें।

नरसिंह मेहता गा गये हैं—

मारुं गायुं गाशे ते झाझा गोदा खाशे।
समझीने गाशे ते वहेलो वैकुंठ जाशे॥

तात्पर्य कि समझकर विवेकपूर्वक करना है। अपनी दशाके विना, विवेकके विना, समझे विना जीव अनुकरण करने लगे तो मार खाकर ही रहेगा। इसलिए बड़े कहें वैसे करना। यह वचन सापेक्ष है।

●

१२ मुंबई, कार्तिक वदी ९, १९५६

(दूसरे भोईवाड़ेमें श्री शांतिनाथजीके दिगंबरी-मंदिरमें दर्शन-प्रसंगका वर्णन)

प्रतिमा देखकर दूरसे वंदन किया।

तीन बार पंचांग प्रणाम किया।

श्री आनंदघनजीका श्री पद्मप्रभुका स्तवन सुमधुर, गंभीर और सुस्पष्ट ध्वनिसे गाया।

जिन-प्रतिमाके चरण धीरे धीरे दबाए। कायोत्सर्ग-मुद्रावली एक छोटी पंच धातुकी जिन-प्रतिमा अंदरसे कोरकर निकाली थी। वह सिद्धकी अवस्थामें होनेवाले घनकी सूचक थी। उस अवगाहनाको बताकर कहा कि जिस देहसे आत्मा संपूर्ण सिद्ध होता है उस देहप्रमाणसे किंचित् न्यून जो क्षेत्रप्रमाण घन होता है वह अवगाहना है। जीव अलग अलग सिद्ध हुए। वे एक क्षेत्र-में स्थित होनेपर भी प्रत्येक पृथक् हैं। निज क्षेत्र घनप्रमाण अवगाहनासे हैं।

प्रत्येक सिद्धात्माकी ज्ञायक सत्ता लोकालोकप्रमाण, लोकके ज्ञाता होनेपर भी लोकसे भिन्न है।

भिन्न भिन्न प्रत्येक दीपका प्रकाश एक हो जानेपर भी दीप जैसे भिन्न भिन्न हैं, इस न्याय-से प्रत्येक सिद्धात्मा भिन्न है।

ये मुक्तागिरि आदि तीर्थोंके चित्र हैं।

यह गोमटेश्वर नामसे प्रसिद्ध श्री बाहुबलस्वामीकी प्रतिमाका चित्र है। बेंगलोरके पास एकांत जंगलमें पर्वतमेंसे कोर निकाली हुई सत्तर फुट ऊँची यह भव्य प्रतिमा है। आठवीं सदीमें श्री चामुंडरायने इसकी प्रतिष्ठा की है। अडोल ध्यानमें कायोत्सर्ग मुद्रामें श्री बाहुबलजी अनिमेष नेत्रसे खड़े हैं। हाथ-पैरसें वृक्षकी लताएँ लिपटी होनेपर भी देहभानरहित ध्यानस्थ श्री बाहुबल-जीको उसकी खबर नहीं है। कैवल्य प्रगट होने योग्य दशा होनेपर भी जरा मानका अंकुर बाधक हुआ है। "वीरा मारा गज थकी ऊतरो" इस मानरूपी गजसे उतरनेके अपनी बहनों ब्राह्मी और सुंदरीके शब्द कर्णगोचर होनेसे सुविचारमें सज्ज होकर, मान दूर करनेके लिए तैयार होने पर कैवल्य प्रगट हुआ। वह इस श्री बाहुबलजीकी ध्यानस्थ मुद्रा है।

(दर्शन करके श्री मंदिरकी ज्ञानशालामें)

'श्री गोम्मटसार' लेकर उसका स्वाध्याय किया।

श्री 'पांडवपुराण' मेंसे प्रद्युम्न अधिकारका वर्णन किया। प्रद्युम्नका वैराग्य गाया।

वसुदेवने पूर्वभवमें सुरूपसंपन्न होनेके नियाणापूर्वक उग्र तपश्चर्या की।

भावनारूप तपश्चर्या फलित हुई। सुरूपसंपन्न देह प्राप्त की। वह सुरूप अनेक विक्षेपोंका कारण हुआ। स्त्रियाँ व्यामुग्ध होकर पीछे फिरने लगीं। नियाणेका दोष वसुदेवको प्रत्यक्ष हुआ। विक्षेपसे छूटनेके लिए भाग जाना पड़ा।

'मुझे इस तपश्चर्यासे ऋद्धि मिले या वैभव मिले या अमुक इच्छित होवे,' ऐसी इच्छाको निदान दोष कहते हैं। वैसा निदान बाँधना योग्य नहीं।

•

[८३५-१] १३ मुंबई, कार्तिक वदी ९, १९५६

'अवगाहना' अर्थात् अवगाहना। अवगाहना अर्थात् कद-आकार ऐसा नहीं। कितने ही तत्त्वके पारिभाषिक शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका अर्थ दूसरे शब्दोंसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, जिनके अनुरूप दूसरे शब्द नहीं मिलते, जो समझे जा सकते हैं; परंतु व्यक्त न किये जा सकते।

अवगाहना ऐसा शब्द है। बहुत बोधसे, विशेष विचारसे यह समझा जा सकता है। अव-गाहना क्षेत्राश्रयी है। भिन्न होते हुए भी परस्पर मिल जाना, फिर भी अलग रहना। इस तरह सिद्ध आत्माका जितना क्षेत्रप्रमाण व्यापकता वह उसकी अवगाहना कही है।

•

[८३५-१] १४ मुंबई, कार्तिक वदी ९, १९५६

जो बहुत भोगा जाता है वह बहुत क्षीण होता है। समतासे कर्मभोगनेसे उनकी निर्जरा होती है, वे क्षीण होते हैं। शारीरिक विषय भोगनेसे शारीरिक शक्ति क्षीण होती है।

ज्ञानीका मार्ग सुलभ है परंतु उसका पाना दुष्कर है, यह मार्ग विकट नहीं है। सीधा है, परंतु उसे पाना विकट है। प्रथम सच्चा ज्ञानी चाहिए। उसे पहचानना चाहिए। उसकी प्रतीति आनी चाहिये। बादमें उसके वचनपर श्रद्धा रखकर निःशंकतासे चलनेसे मार्ग सुलभ है, परंतु ज्ञानीका मिलना और पहचानना विकट है, दुष्कर है।

घनी झाड़ीमें भूल पड़े हुए मनुष्यको बनोपकंठमें जानेका मार्ग कोई दिखाये कि 'जा नीचे-नीचे चला जा। रास्ता सुलभ है, यह रास्ता सुलभ है।' परंतु उस भूल पड़े हुए मनुष्यका जाना विकट है, इस मार्गमें जानेसे पहुचूँगा कि नहीं, यह शंका आड़े आती है। शंका किये विना ज्ञानियोंके मार्गका आराधन करे तो उसे पाना सुलभ है।

●

[८३६] १५ मुंबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

श्री सत्श्रुत

१. श्री पांडव पुराणमें प्रद्युम्न चरित्र
२. श्री पुरुषार्थसिद्धि उपाय
३. श्री पद्मनंदिपंचविंशति
४. श्री गोम्मटसार
५. श्री रत्नकरंड श्रावकाचार
६. श्री आत्मानुशासन
७. श्री मोक्षमार्गप्रकाश
८. श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा
९. श्री योगदृष्टि समुच्चय
१०. श्री क्रियाकोष
११. श्री क्षपणासार
१२. श्री लब्धिसार
१३. श्री त्रिलोकसार
१४. श्री तत्त्वसार
१५. श्री प्रवचनसार
१६. श्री समयसार
१७. श्री पंचास्तिकाय
१८. श्री अष्टप्राभृत
१९. श्री परमात्मप्रकाश
२०. श्री रयणसार

आदि अनेक हैं। इंद्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक इस सत्श्रुतका सेवन करना योग्य है। यह फल अलौकिक है। अमृत है।

●

[८३६-७] १६ मुंबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

ज्ञानीको पहचानें; पहचान कर उनकी आज्ञाका आराधन करें। ज्ञानीकी एक आज्ञाका आराधन करनेसे अनेकविध कल्याण है।

ज्ञानी जगतको तृणवत् समझते हैं, इसे उनके ज्ञानकी महिमा समझें।

कोई मिथ्याभिनिवेशी ज्ञानका ढोंग करके जगतका भार व्यर्थ सिरपर वहन करता हो तो वह हास्यपात्र है।

●

[८७४-२३] १७ मुंबई, कार्तिक वदी ११, १९५६

वस्तुतः दो वस्तुएँ हैं—जीव और अजीव। लोगोंने सुवर्ण नाम कल्पित रखा। उसकी भस्म

होकर पेटमें गया। विष्टामें परिणत होकर खाद हुआ, क्षेत्रमें उगा, धान्य हुआ, लोगोंने खाया; कालांतरसे लोहा हुआ। वस्तुतः एक द्रव्यके भिन्न भिन्न पर्यायोंको कल्पनारूपसे भिन्न भिन्न नाम दिये गये। एक द्रव्यके भिन्न भिन्न पर्यायोंद्वारा लोग भ्रांतिमें पड़ गये। इस भ्रांतिने ममताका जन्म दिया।

रूपये ये वस्तुतः हैं, फिर भी लेनेवाले और देनेवालेका मिथ्या झगड़ा होता है। लेनेवालेकी अधीरतासे उसका मन रुपये गये समझता है। वस्तुतः रुपये हैं। इसी तरह भिन्न भिन्न कल्पनाओं-ने भ्रमजाल फैला दिया है। उसमेंसे जीव-अजीवका, जड-चैतन्यका भेद करना यह विकट हो पड़ा है। भ्रमजाल यथार्थरूपसे ध्यानमें आये, तो जड-चैतन्य क्षीर-नीरवत् भिन्न स्पष्ट भासित हो।

●

[८३७-१] १८ मुंबई, कार्तिक वदी १२, १९५६

'इनॉक्युलेशन'—महामारीका टीका। टीकेके नामपर डाक्टरोंने यह उपद्रव खड़ा किया है। बेचारे निरपराध अश्व आदिको टीकेके बहानेसे वे क्रूरतासे मार डालते हैं, हिंसा करके पापका पोषण करते हैं, पापका उपार्जन करते हैं। पूर्वकालमें पापानुबंधी पुण्यका उपार्जन किया है, उसके योगसे वर्तमानमें वे पुण्य भोगते हैं, परन्तु परिणाममें पाप बटोरते हैं, उन बेचारे डाक्टरोंको खबर नहीं है। टीकेसे रोग दूर हो जाये तब तककी बात तब रही, परन्तु अब तो उसमें हिंसा प्रगट है। टीकेसे एक रोगको दूर करते हुए दूसरा रोग भी खड़ा हो जाता है।

●

[८३७-२] १९ मुंबई कार्तिक वदी १२, १९५६

प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये शब्द समझने योग्य हैं। पुरुषार्थ किये बिना प्रारब्धकी खबर नहीं पड़ सकती। प्रारब्धमें होगा वह होगा यों कहकर बैठ रहनेसे काम नहीं चलता। निष्काम पुरुषार्थ करना। प्रारब्धका समपरिणामसे वेदन करना—भोग लेना, यह महान पुरुषार्थ है। सामान्य जीव समपरिणामसे विकल्परहित होकर प्रारब्धका वेदन न कर सके तो विषम परिणाम होता ही है। इसलिए उसे न होने देनेके लिए, कम होनेके लिए उद्यम करें। समता और निर्वि-कल्पता सत्संगसे आती और बढ़ती है।

●

[८४२] २० मोरबी, वैशाख सुदी ८, १९५६

'भगवद्गीता'में पूर्वापर विरोध है, उसे देखनेके लिए उसे दे रखा है। पूर्वापर विरोध क्या है यह अवलोकन करनेसे मालूम हो जायेगा। पूर्वापर अविरोधी दर्शन एवं वचन तो वीतरागके हैं।

भगवद्गीतापर बहुतसे भाष्य और टीकाएँ रचे गये हैं। विद्यारण्यस्वामीकी 'ज्ञानेश्वरी' आदि। प्रत्येकने अपनी मान्यताके अनुसार टीका बनायी है। थियॉसॉफीवाली टीका जो आपको दी है वह अधिकांश स्पष्ट है। मणिलाल नभुभाईने गीतापर विवेचनरूप टीका करते हुए बहुत मिश्रता ला दी है, मिश्रित खिचड़ी बनायी है।

विद्वत्ता और ज्ञान इन दोनोंको एक न समझें, दोनों एक नहीं हैं। विद्वत्ता हो, फिर भी ज्ञान न हो। सच्ची विद्वत्ता तो वह है कि जो आत्मार्थके लिए हो, जिससे आत्मार्थ सिद्ध हो, आत्मत्व समझमें आये, वह प्राप्त किया जाये। जहाँ आत्मार्थ होता है वहाँ ज्ञान होता है, विद्वत्ता हो या न भी हो।

मणिभाई कहते हैं (षड्दर्शनसमुच्चयकी प्रस्तावनामें) कि हरिभद्रसूरिको वेदांतकी खबर न थी, वेदांतकी खबर होती तो ऐसी कुशाग्र बुद्धिवाले हरिभद्रसूरि जैनदर्शनकी ओरसे अपनी वृत्तिको फिराकर वेदांती हो जाते। मणिभाईके ये वचन गाढ मताभिनिवेशसे निकले हैं। हरिभद्रसूरिको वेदांतकी खबर थी कि नहीं, इस बातकी, मणिभाईने यदि हरिभद्रसूरिकी 'धर्म-संग्रहणी देखी होती, तो उन्हें खबर पड़ जाती। हरिभद्रसूरिको वेदांत आदि सभी दर्शनोंकी खबर थी। उन सब दर्शनोंकी पर्यालोचनापूर्वक उन्होंने जैनदर्शनकी पूर्वापर अविरुद्ध प्रतीति की थी। यह अवलोकनसे मालूम होगा। 'षड्दर्शनसमुच्चय' के भाषांतरमें दोष होनेपर भी मणिभाईने भाषांतर ठीक किया है। दूसरा ऐसा भी न कर सकता। यह सुधारा जा सकेगा।

•

[८४३] २१ श्री मोरबी, वैशाख सुदी ९, १९५६

वर्तमानकालमें क्षयरोगकी विशेष वृद्धि हुई है और हो रही है। इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्यकी कमी, आलस्य और विषय आदिकी आसक्ति है। क्षयरोगका मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य-सेवन, शुद्ध सात्त्विक आहार और नियमित वर्तन है।

•

[८५७] २२

'प्रशमरसनिमग्नं दृष्टि युग्मं प्रसन्नं वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥'

'तेरे दो चक्षु प्रशमरसमें डूबे हुए हैं' परमशांत रसका अनुभव कर रहे हैं। तेरा मुखकमल प्रसन्न है, उसमें प्रसन्नता व्याप्त हो रही है। तेरी गोद स्त्रीके संगसे रहित है। तेरे दो हाथ शस्त्रसंबंधरहित हैं—तेरे हाथोंमें शस्त्र नहीं है'। इस तरह तू ही जगतमें वीतरागदेव है।

देव कौन? वीतराग। दर्शनयोग्य मुद्रा कौनसी? जो वीतरागता सूचित करे।

'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' वैराग्यका उत्तम ग्रंथ है। द्रव्यको, वस्तुको यथावत् दृष्टिमें रख कर इसमें वैराग्यका निरूपण किया है। द्रव्यका स्वरूप बतलानेवाले चार श्लोक अद्भुत हैं। इसके लिए ग्रंथकी राह देखते थे। गत वर्ष जेठ मासमें मद्रासकी ओर जाना हुआ था। कार्त्तिकस्वामी इस भूमिमें बहुत विचरे हैं। इस तरफके नग्न, भव्य, ऊँचे, अडोल वृत्तिसे खड़े पहाड़ देखकर स्वामी कार्तिकेय आदिकी अडोल, वैराग्यमय दिगंबरवृत्ति याद आती थी।

नमस्कार उन स्वामी कार्तिकेय आदिको।

•

[८६०] २३ मोरबी, श्रावण वदी ८, १९५६

'षड्दर्शनसमुच्चय' और 'योगदृष्टिसमुच्चय' का भाषांतर गुजरातीमें करने योग्य है। षड्दर्शनसमुच्चयका भाषांतर हुआ है परंतु उसे सुधारकर फिरसे करना योग्य है। धीरे धीरे होगा। करें। आनंदघनजी चौवीसीका अर्थ भी विवेचनके साथ लिखें।

नमो दुर्वाररागादिवैरिवार निवारिणे।
अर्हते योगिनायाय महावीराय तायिने ॥

श्री हेमचंद्राचार्य 'योगशास्त्र' की रचना करते हुए मंगलाचरणमें वीतराग सर्वज्ञ अरिहंत योगिनाथ महावीरको स्तुतिरूपसे नमस्कार करते हैं।

'जो रोके रुक नहीं सकते, जिनका रोकना बहुत बहुत मुश्किल है, ऐसे रागद्वेष अज्ञानरूपी शत्रुके समूहको जिन्होंने रोका, जीता; जो वीतराग सर्वज्ञ हुए; वीतराग सर्वज्ञ होनेसे जो अर्हंत् पूजनीय हुए; और वीतराग अर्हंत् होनेसे, जिनका मोक्षके लिए प्रवर्तन है ऐसे भिन्न भिन्न योगियोंके जो नाथ हुए, नेता हुए; और इस तरह नाथ होनेसे जो जगतके नाथ, तात, और त्राता हुए; ऐसे जो महावीर हैं उन्हें नमस्कार हो।' यहाँ सद्देवके अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय, वचनातिशय, और पूजातिशय सूचित किये हैं। इस मंगल स्तुतिमें समग्र 'योगशास्त्र' का सार समा दिया है। सद्देवका निरूपण किया है। समग्र वस्तुस्वरूप, तत्त्वज्ञानका समावेश कर दिया है। खोलनेवाला खोजी चाहिए।

लौकिक-मेलेमें वृत्तिको चंचल करनेवाले प्रसंग विशेष होते हैं। सच्चा मेला है सत्संगका। ऐसे मेलेमें वृत्तिकी चंचलता कम होती है, दूर होती है। इसलिए ज्ञानियोंने सत्संग-मेलेका बखान किया है, उपदेश किया है।

●

[८६५-१] २४ वढवाणकेम्प, भाद्रपद वदी, १९५६

'मोक्षमाला' के पाठ हमने माप माप कर लिखे हैं। आप दूसरे संस्करणके बारेमें यथासुख प्रवृत्ति करें। कितने वाक्योंके नीचे लकीर खींची है, वैसा करनेकी जरूरत नहीं है। श्रोता-वाचकको भरसक अपने अभिप्रायसे प्रेरित न करनेका ध्यान रखें। श्रोता-वाचकमें अपने आप अभिप्राय उत्पन्न होने दें। सारासारके तोलनका कार्य वाचक-श्रोतापर छोड़ देवें। हम उन्हें प्रेरित कर, उन्हें स्वयं उत्पन्न हो सकनेवाले अभिप्रायको रोक न दें।

[1]'प्रज्ञावबोध' भाग 'मोक्षमाला'के १०८ मनके यहाँ लिखायेंगे।

परम सत्श्रुतके प्रचाररूप एक योजना सोची है। उसका प्रचार होनेसे परमार्थमार्गका प्रकाश होगा।

●

[८५७] २५ मुंबई, माटुंगा, मगसिर, १९५७

श्री 'शांतसुधारस' का भी फिर विवेचनरूप भाषांतर करने योग्य है, वह करें।

●

[८६८] २६ मुबई, शिव, मगसिर, १९५७

'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि महान्॥'

स्तुतिकार श्री समंतभद्रसूरिको वीतरागदेव मानो कहते हों—'हे समंतभद्र! यह हमारी अष्टप्रातिहार्य आदि विभूति तू देख, हमारा महत्त्व देख।' तब सिंह गुफामेंसे गंभीर स्थितिसे बाहर निकलकर जिस तरह गर्जना करता है उसी तरह श्री समंतभद्रसूरि गर्जना करते हुए कहते हैं—'देवताओंका आना, आकाशमें विचरना, चामरादि विभूतियोंका भोग करना, चामर आदिका वैभवसे डोला जाना, यह तो मायावी इन्द्रजालिक भी बता सकता है। तेरे पास देवोंका आना होता है, अथवा तू आकाशमें विचरता है, अथवा तू चामर छत्र आदि विभूतिका उपयोग करता है इसलिए तू हमारे मनको महान् है! नहीं, नहीं, इसलिए तू हमारे मनको महान् नहीं, उतनेसे तेरा

१. देखें आंक ९४६।

महत्व नहीं। ऐसा महत्त्व तो मायावी इन्द्रजालिक भी दिखा सकता है, तब फिर सद्देवका वास्तविक महत्त्व क्या है? तो कहते हैं कि वीतरागता। इस तरह आगे बताते हैं।

ये श्री समंतभद्रसूरि वि० सं० दूसरी शताब्दिमें हुए थे। वे श्वेतांबर-दिगंबर दोनोंमें एक सरीखे सन्मानित हैं। उन्होंने देवागमस्तोत्र (उपर्युक्त स्तुति इस स्तोत्रका प्रथम पद है। अथवा आप्त मीमांसा रची हैं। तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणकी टीका करते हुए यह देवागमस्तोत्र लिखा गया है। उसपर अष्टसहस्री टीका तथा चौरासी हजार श्लोक प्रमाण 'गंधहस्ती महाभाष्य' टीका रची गयी हैं।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

यह इसका प्रथम मंगल स्तोत्र है।

मोक्षमार्गके नेता, कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता-भेदन करनेवाले, विश्व अर्थात् समग्र तत्त्वके ज्ञाता जाननेवालेको उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए मैं वंदन करता हूँ।

'आप्तमीमांसा,' 'योगबिंदु' और उपमितिभवप्रपंचकथा' का गुजराती भाषांतर करें। 'योगबिन्दु' का भाषांतर हुआ है 'उपमितिभवप्रपंच' का होता है; परन्तु वे दोनों फिरसे करने योग्य हैं, उसे करें, धीरे धीरे होगा।

लोककल्याण हितरूप है और वह कर्तव्य है। अपनी योग्यताकी न्यूनतासे और जवाबदारी न समझी जा सकनेसे अपकार न हो, यह भी ध्यान रखना है।

●

[६४४] २७[1]

मनःपर्यायज्ञान किस तरह प्रगट होता है? साधारणतः प्रत्येक जीवको मतिज्ञान होता है। उसके आश्रित श्रुतज्ञानमें वृद्धि होनेसे वह मतिज्ञानका बल बढ़ाता है; इस तरह अनुक्रमसे मतिज्ञान निर्मल होनेसे आत्माकी असंयमता दूर होकर संयमता होती है, और उससे मनःपर्यायज्ञान प्रगट होता है। उसके योगसे आत्मा दूसरेका अभिप्राय जान सकती है।

लिंग—चिन्ह देखनेसे दूसरेके क्रोध, हर्ष आदि भाव जाने जा सकते हैं, यह मतिज्ञानका विषय है। वैसे चिन्ह न देखनेसे जो भाव जाने जा सकते हैं वह मनःपर्यायज्ञानका विषय है।

●

[५००-३४७-१] २८

पांच इन्द्रियोंके विषयसंबंधीः—

जिस जीवको मोहनीयकर्मरूपी कषायका त्याग करना हो, और 'जब वह उसका एकदम त्याग करना ठानेगा तब कर सकेगा 'ऐसे विश्वासपर रहकर, जो क्रमशः त्याग करनेका अभ्यास नहीं करता तो वह एकदम त्याग करनेका प्रसंग आनेपर मोहनीय कर्मके बलके आगे टीक नहीं सकता; कारण कि कर्मरूप शत्रुको धीरे धीरे निर्बल किये बिना निकाल देनेको वह एकदम असमर्थ हो जाता है। आत्माकी निर्बलताके कारण उसपर मोहका प्राबल्य रहता है। उसका जोर कम करनेके लिए यदि आत्मा प्रयत्न करे तो एक ही बारमें उसपर जय पानेकी धारणामें वह ठगा जाती है। जब तक मोहवृत्ति लड़नेके लिए सामने नहीं आती तभी तक मोहवश आत्मा अपनी

१. आँक २७ से आँक ३१ तक खंभातके श्री त्रिभुवनभाईकी नोंधमेसे लिये हैं।

बलवत्ता समझती है, परन्तु उस प्रकारकी कसौटीका प्रसंग आनेपर आत्माको अपनी कायरता समझमें आती है। इसलिए जैसे बने वैसे पाँच इंद्रियोंके विषयोंको शिथिल करना उसमें भी मुख्यतः उपस्थ इंद्रियको वशमें लाना; इस तरह अनुक्रमसे दूसरी इंद्रियोंके विषयोंपर काबू पाना।

इंद्रियके विषयरूपी क्षेत्रकी दो तसू जमीन जीतनेके लिए आत्मा असमर्थता बताती है और सारी पृथ्वीको जितनेमें समर्थता मानती है, यह कैसा आश्चर्यरूप है?

प्रवृत्तिके कारण आत्मा निवृत्तिका विचार नहीं कर सकती, यों कहना मात्र एक बहाना है। यदि थोड़े समयके लिए भी प्रवृत्ति छोड़कर आत्मा प्रमादरहित हो कर सदा निवृत्तिका विचार करे, तो उसका बल प्रवृत्तिमें भी अपना कार्य कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुका अपनी न्यूनाधिक बलवत्ताके अनुसार ही अपना कार्य करनेका स्वभाव है। जिस तरह मादक वस्तु दूसरी खुराकके साथ अपने असली स्वभावके अनुसार परिणमन करनेको नहीं भूल जाती उसी तरह ज्ञान भी अपने स्वभावको नहीं भूलता। इसलिए प्रत्येक जीवको प्रमादरहित, योग, काल, निवृत्ति और मार्गका विचार निरंतर करना चाहिए।

●

[३४७-२] २९

व्रतसंबंधी—

यदि प्रत्येक जीवने व्रत लेना हो तो स्पष्टताके साथ दूसरेकी साक्षीसे ले। उसमें स्वेच्छासे वर्तन न करे। व्रतमें रह सकनेवाला आगार रखा हो और कारणविशेषको लेकर उपयोग करना पड़े तो वैसा करनेमें स्वयं अधिकारी न बने। ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार वर्तन करे। नहीं तो उसमें शिथिल हुआ जाता है; और व्रतका भंग हो जाता है।

●

[३४७-३] ३०

मोह–कषायसंबंधीः—

प्रत्येक जीवकी अपेक्षासे ज्ञानीने क्रोध, मान, माया और लोभ, यों अनुक्रम रखा है, वह क्षय होनेकी अपेक्षासे है।

पहले कषायके क्षयसे अनुक्रमसे दूसरे कषायोंका क्षय होता है, और अमुक अमुक जीवोंकी अपेक्षासे मान, माया, लोभ और क्रोध, ऐसा क्रम रखा है, वह देश, काल और क्षेत्र देखकर। पहले जीवको दूसरेसे ऊँचा माना जानेसे मान उत्पन्न होता है, उसके लिए वह छल-कपट करता है; और उससे पैसा पैदा करता है, और वैसे करनेमें विघ्न करनेवालेपर क्रोध करता है। इस प्रकार कषायकी प्रकृतियाँ अनुक्रमसे बँधती हैं; जिसमें लोभकी इतनी बलवत्तर मिठास है, कि उसमें जीव मान भी भूल जाता है, और उसकी परवाह नहीं करता, इसलिए मानरूपी कषायको कम करनेसे अनुक्रमसे दूसरे कषाय अपने आप कम हो जाते हैं।

●

[३४७-५] ३१

आस्था तथा श्रद्धा—

प्रत्येक जीव अस्तित्वसे लेकर मोक्ष तककी पूर्णरूपसे श्रद्धा रखे। इसमें जरा भी शंका न रखे। इस जगह अश्रद्धा रखना, यह जीवके पतित होनेका कारण है, और यह ऐसा स्थानक है कि वहाँसे गिरनेसे कोई स्थिति नहीं रहती।

अंतर्मुहूर्तमें सत्तर कोटाकोटि सागरोपमकी स्थिति बँधती है, जिसके कारण जीवको असंख्यातों भवोंमें भ्रमण करना पड़ता है।

चारित्रमोहका गिरा हुआ तो ठिकाने आ जाता है, परन्तु दर्शनमोहका गिरा हुआ ठिकाने नहीं आता, कारण कि समझनेमें फेर होनेसे करनेमें फेर हो जाता है। वीतरागरूप ज्ञानीके वचनमें अन्यथा भाव होना सम्भव ही नहीं है। उसका अवलंबन लेकर ध्रुवतारेकी भाँति श्रद्धा इतनी दृढ़ करना कि कभी विचलित न हो। जब जब शंका होनेका प्रसंग आये तब तब जीव विचार करे कि उसमें अपनी ही भूल होती है। वीतराग पुरुषोंने जिस मतिसे ज्ञान कहा है, वह मति इस जीवमें है नहीं, और इस जीवकी मति तो शाकमें नमक कम पड़ा हो तो उतनेमें ही रुक जाती है। तो वीतरागके ज्ञानकी मतिका मुकाबला कहाँसे कर सके? इसलिए बारहवें गुणस्थानके अंत तक भी जीव ज्ञानीका अवलंबन ले, ऐसा कहा है।

अधिकारी न भी होनेपर जो ऊँचे ज्ञानका उपदेश किया जाता है वह मात्र इसलिए कि जीवने अपनेको ज्ञानी तथा चतुर मान लिया है, उसके मानको नष्ट करनेके हेतुसे किया जाता है; और जो नीचेके स्थानकोंसे बातें कही जाती हैं, वे मात्र इसलिए कि वैसा प्रसंग प्राप्त होनेपर जीव नीचेका नीचे ही रहे।

●

[३९१] ३२ मुंबई, आश्विन, १९४९

जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो॥ २२॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो॥ २३॥

—श्री सू० सूत्र, वीर्याध्ययन ८वाँ २२-२३

ऊपरकी गाथाओंमें जहाँ 'सफल' शब्द है वहाँ 'अफल' ठीक मालूम होता है, और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ 'सफल' शब्द ठीक मालूम होता है; इसलिए क्या उसमें लेख-दोष है या ठीक है? इसका समाधान—यहाँ लेख-दोष नहीं है। जहाँ 'सफल' शब्द है वहाँ सफल ठीक है और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ अफल ठीक है।

मिथ्यादृष्टिकी क्रिया सफल है—फलसहित है, अर्थात् उसे पुण्य-पापका फल भोगना है। सम्यग्दृष्टिकी क्रिया अफल है—फलरहित है, उसे फल नहीं भोगना है, अर्थात् निर्जरा है। एककी, मिथ्यादृष्टिकी क्रियाकी संसारहेतुक सफलता है, और दूसरेकी, सम्यग्दृष्टिकी क्रियाकी संसारहेतुक अफलता है, यों परमार्थ समझना योग्य है।

●

[४१७] ३३ वैशाख, १९५०

नित्यनियम[1]

ॐ श्रीमत्परमगुरुभ्यो नमः

सवेरे उठकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करके रात-दिनमें जो कुछ अठारह पापस्थानकमें प्रवृत्ति हुई हो, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रसंबंधी तथा पंचपरमपदसंबंधी जो कुछ अपराध हुआ हो, किसी भी

१. यह जो नित्यनियम बताया है वह 'श्रीमद्' के उपदेशामृतमेंसे लेकर श्री खंभातके एक मुमुक्षु भाईने योजित किया है।

जीवके प्रति किंचित् मात्र भी अपराध किया हो वह जाने अनजाने हुआ हो, उस सबको क्षमाना, उसकी निंदा करना, विशेष निंदा करना, आत्मामेंसे उस अपराधका विसर्जन करके निःशल्य होना। रात्रिको सोते वक्त भी इसी तरह करना।

श्री सत्पुरुषके दर्शन करके चार घड़ीके लिए सर्व सावद्य व्यापारसे निवृत्त होकर एक आसनपर स्थिति करना। उस समयमें 'परमगुरु' इस शब्दकी पाँच मालाएँ गिनकर दो घड़ी तक सत्शास्त्रका अध्ययन करना। उसके बाद एक घड़ी कायोत्सर्ग करके श्री सत्पुरुषोंके वचनोंका उस कायोत्सर्गमें जप-रटन करके सद्वृत्तिका अनुसंधान करना। उसके बाद आधी घड़ीमें भक्तिकी वृत्तिको उत्साहित करनेवाले पद (आज्ञानुसार) बोलना। आधी घड़ीमें 'परमगुरु' शब्दका कायोत्सर्गके रूपमें जप करना, और 'सर्वज्ञदेव' इस नामकी पाँच मालाएँ गिनना।

अभी अध्ययन करने योग्य शास्त्र वैराग्यशतक, इंद्रियपराजयशतक, शांतसुधारस, अध्यात्म कल्पद्रुम, योगदृष्टिसमुच्चय, नवतत्त्व, मूलपद्धति कर्मग्रंथ, धर्मबिंदु, आत्मानुशासन, भावना बोध, मोक्षमार्गप्रकाश, मोक्षमाला, उपमितिभवप्रपंच, अध्यात्मसार, श्री आनंदघनजी चौबीसीमेंसे ये स्तवन—१, ३, ५, ७, ८, ९, १०, १३, १५, १६, १७, १९, २२।

सातव्यसन—जूआ, मांस, मदिरा, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्रीका त्याग।

(अथ सप्तव्यसन नाम चौपाई)

'जूवा, आमिष, मदिरा, दारी, आहेटक, चोरी, परनारी।
एहि सप्तव्यसन दुःखदाई, दुरितमूळ दुर्गतिके जाई॥'

इस सप्तव्यसनका त्याग। रात्रिभोजनका त्याग। अमुक छोड़कर सभी वनस्पतिका त्याग। अमुक तिथियोंमें अत्यक्त वनस्पतिका भी प्रतिबंध, अमुक रसका त्याग। अब्रह्मचर्यका त्याग। परिग्रह परिमाण।

शरीरमें विशेष रोग आदिके उपद्रवसे, बेभानपनसे, राजा अथवा देव आदिके बलात्कारसे यहाँ बताये हुए नियमोंमें प्रवृत्ति करनेके लिए अशक्य हुआ जाये तो उसके लिए पश्चात्तापका स्थानक समझना। स्वेच्छासे उस नियममें कुछ भी न्यूनाधिकता करनेकी प्रतिज्ञा। सत्पुरुषकी आज्ञासे उस नियममें फेरफार करनेसे नियम भंग नहीं।

●

[५४५] ३४ श्री खंभात, आसोज सुदी, १९५१

सत्य[1]

वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जैसा जानना, अनुभव करना वैसा ही कहना यह सत्य है। यह दो प्रकारका है—'परमार्थसत्य' और 'व्यवहारसत्य।'

'परमार्थसत्य' अर्थात् आत्माके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ आत्माका नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय जानकर, भाषा बोलनेमें व्यवहारसे देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, ग्रह आदि वस्तुओंके प्रसंगमें बोलनेसे पहले एक आत्माके सिवाय दूसरा कोई मेरा नहीं है, यह उपयोग रहना चाहिए। अन्य आत्माके संबंधमें बोलते समय आत्मामें जाति, लिंग और वैसे औपचारिक भेदवाली वह आत्मा न होनेपर भी मात्र व्यवहारनयसे कार्यके लिए संबोधित की जाती है, इस प्रकार उपयोगपूर्वक बोला जाये तो वह पारमार्थिक सत्य भाषा है ऐसा समझें।

---

१. खंभातके एक मुमुक्षु भाईने यथाशक्ति स्मृतिमें रखकर की हुई नोंध।

१. दृष्टांत—एक मनुष्य अपनी आरोपित देहकी, घरकी, स्त्रीकी, पुत्रकी या अन्य पदार्थकी बात करता हो, उस वक्त स्पष्टरूपसे उन सब पदार्थोंसे वक्ता 'मैं भिन्न हूँ, और वे मेरे नहीं हैं' इस प्रकार स्पष्टरूपसे बोलनेवालेको भान हो तो वह सत्य कहा जाता है।

२. दृष्टांत—जिस प्रकार कोई ग्रंथकार श्रेणिक राजा और चेलना रानीका वर्णन करता हो; तो वे दोनों आत्मा थे और मात्र श्रेणिकके भवकी अपेक्षासे उनका संबंध, अथवा स्त्री, पुत्र, धन, राज्य आदिका संबंध था; यह बात ध्यानमें रखनेके बाद बोलनेकी प्रवृत्ति करे, यही परमार्थ-सत्य है।

•

व्यवहारसत्यके आये बिना परमार्थसत्य वचनका बोलना नहीं हो सकता। इसलिए व्यवहार-सत्य नीचे अनुसार जानें—

जिस प्रकारसे वस्तुका स्वरूप देखनेसे, अनुभव करनेसे, श्रवणसे अथवा पढ़नेसे हमें अनुभव-में आया हो उसी प्रकारसे यथातथ्यरूपसे वस्तुका स्वरूप कहना और उस प्रसंगपर वचन बोलनेका नाम व्यवहारसत्य है।

दृष्टांत—जैसे कि अमुक मनुष्यका लाल घोड़ा ही जंगलमें दिनके बारह बजे देखा हो, और किसीके पूछनेसे उसी प्रकारसे यथातथ्य वचन बोलना यह व्यवहारसत्य। इसमें भी किसी प्राणीके प्राणका नाश होता हो, अथवा उन्मत्ततासे वचन बोला गया हो, यद्यपि सच्चा हो तो भी असत्य तुल्य ही है, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करें। सत्यसे विपरीत उसे असत्य कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुगंछा, अज्ञान आदिसे बोला जाता है। क्रोध आदि मोहनीयके अंगभूत हैं। उसकी स्थिति दूसरे सभी कर्मोंसे अधिक अर्थात् (७०) सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपमकी है। इस कर्मका क्षय हुए बिना ज्ञानावरण आदि कर्मोंका संपूर्णतासे क्षय नहीं हो सकता। यद्यपि गणितमें प्रथम ज्ञानावरण आदि कर्म कहे हैं; परंतु इस कर्मकी बहुत महत्ता है, क्योंकि संसारके मूलभूत रागद्वेषका यह मूलस्थान है, इसलिए भवभ्रमण करनेमें इस कर्मकी मुख्यता है, ऐसी मोहनीयकर्मकी बलवत्ता है, फिर भी उसका क्षय करना सरल है। अर्थात् जैसे वेदनीयकर्म भोगे बिना निष्फल नहीं होता वैसे इस कर्मके लिए नहीं है। मोहनीय कर्मकी प्रकृतिरूप क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषाय तथा नोकषायका अनुक्रमसे क्षमा नम्रता, निरभिमानता, सरलता, निर्दंभता और संतोष आदिकी विपक्ष भावनासे अर्थात् मात्र विचार, करनेसे उपर्युक्त कषाय निष्फल किये जा सकते हैं, नोकषाय भी विचारसे क्षीण किया जा सकता है, अर्थात् उसके लिए बाह्य कुछ नहीं करना पड़ता।

'मुनि' यह नाम भी इस पूर्वोक्त रीतिसे विचार कर वचन बोलनेसे सत्य है। बहुत करके प्रयोजनके बिना बोलना ही नहीं, उसका नाम मुनित्व है। रागद्वेष और अज्ञानके बिना यथास्थित वस्तुका स्वरूप कहते-बोलते हुए भी मुनित्व-मौन समझें। पूर्व तीर्थंकर आदि महात्माओंने ऐसा ही विचार कर मौन धारण किया था; और लगभग साढ़े बारह वर्ष मौन धारण करनेवाले भगवान वीर प्रभुने ऐसे उत्कृष्ट विचारसे आत्मामेंसे फिरा-फिराकर मोहनीयकर्मके संबंधको निकाल बाहर करके केवलज्ञानदर्शन प्रगट किया था।

आत्मा ठाने तो सत्य बोलना कुछ कठिन नहीं है। व्यवहारसत्यभाषा बहुत बार बोली जाती है, परंतु परमार्थसत्य बोलनेमें नहीं आया; इसलिए इस जीवका भवभ्रमण नहीं मिटता। सम्यक्त्व होनेके बाद अभ्याससे परमार्थसत्य बोलना हो सकता है; और फिर विशेष अभ्याससे सहज

उपयोग रहा करता है। असत्य बोले विना माया नहीं हो सकती। विश्वासघात करनेका भी असत्यमें समावेश होता है। झूठे दस्तावेज करनेको भी असत्य जानना। अनुभव करने योग्य पदार्थ-के स्वरूपका अनुभव किये विना और इंद्रिय द्वारा जानने योग्य पदार्थके स्वरूपको जाने विना उपदेश करना, इसे भी असत्य समझें। तो फिर तप इत्यादि मान आदिकी भावनासे करके, आत्महितार्थ करने जैसा देखाव, वह असत्य हो ही, ऐसा समझें। अखंड सम्यग्दर्शन प्राप्त हो तो ही संपूर्णरूपसे परमार्थसत्य वचन बोला जा सकता है; अर्थात् तो ही आत्मामेंसे अन्य पदार्थको भिन्नरूपसे उपयोगमें लेकर वचनकी प्रवृत्ति हो सकती है।

कोई पूछे कि लोक शाश्वत है कि अशाश्वत तो उपयोगपूर्वक न बोलते हुए 'लोक शाश्वत' कहे तो असत्य वचन बोला गया ऐसा हो। उस वचनको बोलते हुए लोक शाश्वत क्यों कहा गया, उसका कारण ध्यानमें रखकर वह बोले तो वह सत्य समझा जाये।

इस व्यवहारसत्यके भी दो प्रकार हो सकते हैं—एक सर्वथा व्यवहारसत्य और दूसरा देश व्यवहारसत्य।

निश्चय सत्यपर उपयोग रखकर, प्रिय अर्थात् जो वचन अन्यको अथवा जिसके संबंधमें बोला गया हो उसे प्रीतिकारी हो; और पथ्य एवं गुणकारी हो, ऐसा ही सत्य वचन बोलनेवाला प्रायः सर्वविरति मुनिराज हो सकता है।

संसारपर अभाव रखनेवाला होनेपर भी पूर्वकर्मसे, अथवा दूसरे कारणसे संसारमें रहने-वाले गृहस्थको देशसे सत्यवचन बोलनेका नियम रखना योग्य है। वह मुख्यतः इस प्रकार है:—

कन्यालीक, मनुष्यसंबंधी असत्य; गवालीक, पशुसंबंधी असत्य; भौमालीक, भूमिसंबंधी असत्य; झूठी साक्षी, और थाती असत्य अर्थात् विश्वाससे रखनेके लिए दिये हुए द्रव्यादि पदार्थ वापस माँग लेना, उस संबंधी इनकार कर देना, ये पाँच स्थूल भेद हैं। इस संबंधमें वचन बोलते हुए परमार्थसत्यपर ध्यान रखकर, यथास्थित अर्थात् जिस प्रकारसे वस्तुओंका सम्यक्स्वरूप हो उसी प्रकारसे ही कहनेका जो नियम है उसे देशसे व्रत धारण करनेवालेको अवश्य करना योग्य है। इस कहे हुए सत्यके विपयमें उपदेशका विचार कर उस क्रममें अवश्य आना ही फलदायक है।

●

[७६६-२] ३५

सत्पुरुष अन्याय नहीं करते, सत्पुरुष अन्याय करें तो इस जगतमें वर्षा किसके लिए वरसेगी? सूर्य किसके लिए प्रकाशित होगा? वायु किसके लिए चलेगी?

आत्मा कैसी अपूर्व वस्तु है! जब तक शरीरमें होती है—भले ही हजारों वरस रहे, तब तक शरीर नहीं सड़ता। आत्मा पारे जैसी है। चेतन चला जाये और शरीर शव हो जाये और सड़ने लगे।

जीवमें जागृति और पुरुषार्थ चाहिए। कर्मबंध हो जानेके वाद भी उसमेंसे (सत्तामेंसे उदय आनेसे पहले) छूटना हो तो अवाधाकाल पूर्ण होने तकमें छूटा जा सकता है।

पुण्य, पाप और आयु, ये किसी दूसरेको नहीं दिये जा सकते। उन्हें प्रत्येक स्वयं ही भोगता है।

स्वच्छंदसे, स्वमति कल्पनासे और सद्गुरुकी आज्ञाके विना ध्यान करना यह तरंगरूप है और उपदेश, व्याख्यान करना यह अभिमानरूप है।

देहधारी आत्मा पथिक है और देह वृक्ष है। इस देहरूपी वृक्षमें (वृक्षके नीचे) जीवरूपी पथिक—बटोही विश्रांति लेने बैठा है। वह पथिक वृक्षको ही अपना मानने लगे यह कैसे हो सके?

'सुन्दरविलास' सुन्दर, अच्छा ग्रंथ है। उसमें कहाँ कमी, भूल है उसे हम जानते हैं। वह कभी दूसरेकी समझमें आना मुश्किल है। उपदेशके लिए यह ग्रंथ उपकारी है।

छः दर्शनोंपर दृष्टांत—छः भिन्न भिन्न वैद्योंकी दुकान है। उनमें एक वैद्य संपूर्ण सच्चा है। वह सब रोगोंको, उनके कारणोंको और उनके दूर करनेके उपायोंको जानता है। उसका निदान एवं चिकित्सा सच्चे होनेसे रोगीका रोग निर्मूल हो जाता है। वैद्य कमाई भी अच्छी करता है। यह देखकर दूसरे पाँच कूट वैद्य भी अपनी अपनी दुकान खोलते हैं। उसमें जिस हद तक सच्चे वैद्यके घरकी दवा अपने पास होती है उस हद तक तो रोगीका रोग दूर करते हैं, और दूसरी अपनी कल्पनासे अपने घरकी दवा देते हैं, तो उससे उलटा रोग बढ़ जाता है; परंतु दवा सस्ती देते हैं इसलिए लोभके मारे लोग लेनेके लिए बहुत ललचाते हैं, और उलटा नुक्सान उठाते हैं।

इसका उपनय यह है कि सच्चा वैद्य वीतरागदर्शन है; जो संपूर्ण सत्य स्वरूप है। वह मोह, विषय आदिको, रागद्वेषको, हिंसा आदिको संपूर्ण दूर करनेको कहता है, जो विषयविवश रोगीको महँगा है, अच्छा नहीं लगता। और दूसरे पाँच कूट वैद्य हैं वे कुदर्शन हैं, वे जिस हद तक वीतरागके घरकी बातें करते हैं उस हद तक तो रोग दूर करनेकी बात है; परंतु साथ साथ मोहकी, संसारवृद्धिकी, मिथ्यात्वकी, हिंसा आदिकी धर्मके बहानेसे बात करते हैं वह अपनी कल्पनाकी है, और वह संसाररूप रोग दूर करनेके बदले वृद्धिका कारण होती है। विषयमें आसक्त पामर संसारीको मोहकी बातें तो मीठी लगती हैं, अर्थात् सस्ती पड़ती हैं, इसलिए कूट वैद्यकी तरफ खिचता है, परंतु परिणाममें अधिक रोगी हो जाता है।

वीतरागदर्शन त्रिवैद्य जैसा है, अर्थात् (१) रोगीका रोग दूर करता है। (२) नीरोगको रोग होने नहीं देता, और (३) आरोग्यकी पुष्टि करता है। अर्थात् (१) जीवका सम्यग्दर्शनसे मिथ्यात्व रोग दूर करता है, (२) सम्यग्ज्ञानसे जीवको रोगका भोग होनेसे बचाता है और (३) सम्यक् चारित्रसे संपूर्ण शुद्ध चेतनारूप आरोग्यकी पुष्टि करता है।

●

[७७८] ३६ १९५४

जो सर्व वासनाका क्षय करे वह संन्यासी। जो इंद्रियोंको कावूमें रखे वह गोसाई। जो संसारका पार पाये वह यति (जति)।

समकितीको आठ मदोंमेंसे एक भी मद नहीं होता।

(१) अविनय, (२) अहंकार, (३) अर्धदग्धता—अपनेको ज्ञान न होते हुए भी अपनेको ज्ञानी मान बैठना, और (४) रसलुब्धता—इन चारमेंसे एक भी दोष हो तो जीवको समकित नहीं होता, ऐसा श्री ठाणांग सूत्रमें कहा है।

मुनिको व्याख्यान करना पड़ता हो तो स्वयं स्वाध्याय करता है ऐसा भाव रखकर व्याख्यान करे। मुनिको सवेरे स्वाध्यायकी आज्ञा है, उसे मनमें ही किया जाता है, उसके वदले व्याख्यानरूप स्वाध्याय ऊँचे स्वरसे, मान, पूजा, सत्कार, आहार आदिकी अपेक्षाके विना केवल निष्काम बुद्धिसे आत्मार्थके लिए करे।

क्रोध आदि कषायका उदय हो,तव उसके सामने होकर उसे वताना कि तूने मुझे अनादि

कालसे हैरान किया है। अब मैं इस तरह तेरा बल नहीं चलने दूँगा। देख, अब मैं तेरे सामने युद्ध करने बैठा हूँ।

निद्रा आदि प्रकृति, (क्रोध आदि अनादि वैरी), उनके प्रति क्षत्रियभावसे वर्तन करें, उन्हें अपमानित करें, फिर भी न मानें तो उन्हें क्रूर बनकर शांत करें, फिर भी न मानें तो खयालमें रखकर, वक्त आनेपर उन्हें मार डालें। यों शूर क्षत्रियस्वभावसे वर्तन करें, जिससे वैरीका पराभव होकर समाधिसुख मिले।

प्रभुपूजामें पुष्प चढ़ाये जाते हैं, उसमें जिस गृहस्थको हरी वनस्पतिका नियम नहीं है वह अपने हेतुसे उनका उपयोग कम करके प्रभुको फूल चढ़ाये। त्यागी मुनिको तो पुष्प चढ़ानेका अथवा उसके उपदेशका सर्वथा निषेध है। ऐसा पूर्वाचार्योंका प्रवचन है।

कोई सामान्य मुमुक्षु भाई-बहन साधनके बारेमें पूछे तो ये साधन बतायें—

(१) सात व्यवसनका त्याग।
(२) हरी वनस्पतिका त्याग।
(३) कंदमूलका त्याग।
(४) अभक्ष्यका त्याग।
(५) रात्रिभोजनका त्याग।
(६) 'सर्वज्ञ' और 'परमगुरु' की पाँच पाँच मालाओंका जप।
(७) भक्तिरहस्य दोहाका[1] पठन मनन।
(८) क्षमापनाका पाठ।[2]
(९) सत्समागम और सत्शास्त्रका सेवन।

'सिज्झंति', फिर 'बुज्झंति', फिर मुच्चंति; फिर परिणिव्वायंति', फिर 'सव्वदुक्खाणमंतंकरंति'। इन शब्दोंका रहस्यार्थ विचारने योग्य है। 'सिज्झंति' अर्थात् सिद्ध होते हैं। उसके बाद 'बुज्झंति' अर्थात् बोधसहित-ज्ञानसहित होते हैं। सिद्ध होनेके बाद कोई आत्माकी शून्य (ज्ञानरहित) दशा मानते हैं उसका निषेध 'बुज्झंति'से किया गया। इस तरह सिद्ध और बुद्ध होनेके बाद 'मुच्चंति' अर्थात् सर्व कर्मसे रहित होते हैं और उसके 'परिणिव्वायंति' अर्थात् निर्वाण पाते हैं कर्मरहित होनेसे फिर जन्म—अवतार धारण नहीं करते। मुक्त जीव कारणविशेषसे अवतार धारण करते हैं इस मतका 'परिणिव्वायंति'से निषेध सूचित किया है। भवका कारण कर्म, उससे सर्वथा जो मुक्त हुए हैं वे फिरसे भव धारण नहीं करते। कारणके विना कार्य उत्पन्न नहीं होता। इस तरह निर्वाणप्राप्त 'सव्वदुक्खाणमंतंकरंति' अर्थात् सर्व दुःखोंका अंत करते हैं, उनके दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है, वे सहज स्वाभाविक सुख आनंदका अनुभव करते हैं। ऐसा कहकर मुक्त आत्माओंको शून्यता है, आनंद नहीं है इस मतका निषेध सूचित किया है।

●

[७८०-१]

३७

अज्ञान तिमिरांधानां ज्ञानांजन शलाकया।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अज्ञानरूपी तिमिर—अंधकारसे जो अंध हैं, उनके नेत्रोंको जिसने ज्ञानरूपी अंजनकी शलाका—अंजनकी सलाईसे खोला, उस श्री गुरुको नमस्कार।

---

१. आंक २६४ के बीस दोहे।

२. मोक्षमाला पाठ ५६।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

मोक्षमार्गके नेता—मोक्षमार्गमें ले जानेवाले, कर्मरूप पर्वतके भेत्ता—भेदन करनेवाले, और समग्र तत्त्वोंके ज्ञाता—जाननेवालेको मैं उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए वंदन करता हूँ ।

यहाँ 'मोक्षमार्गके नेता' कहकर आत्माके अस्तित्वसे लेकर उसके मोक्ष और मोक्षके उपाय-सहित सभी पदों तथा मोक्षप्राप्तोंका स्वीकार किया है तथा जीव, अजीव आदि सभी तत्त्वोंका स्वीकार किया है । मोक्ष बंधकी अपेक्षा रखता है, बंध, बंधके कारणों—आस्रव, पुण्य-पाप कर्म और बँधनेवाली नित्य अविनाशी आत्माकी अपेक्षा रखता है । इसी तरह मोक्ष, मोक्षमार्गकी, संवरकी, निर्जराकी, बंधके कारणोंको दूर करनेरूप उपायकी अपेक्षा रखता है । जिसने मार्ग जाना, देखा और अनुभव किया है वह नेता हो सकता है । अर्थात् मोक्षमार्गके नेता ऐसा कहकर उसे प्राप्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतरागका स्वीकार किया है । इस तरह मोक्षमार्गके नेता इस विशेषणसे जीव, अजीव आदि नव तत्त्व, छहों द्रव्य, आत्माके अस्तित्व आदि छः पद और मुक्त आत्माका स्वीकार किया है ।

मोक्षमार्गका उपदेश करनेका, उस मार्गमें ले जानेका कार्य देहधारी साकार मुक्त पुरुष कर सकता है, देहरहित निराकार नहीं कर सकता ऐसा कहकर आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकती है, मुक्त हो सकती है, ऐसा देहधारी मुक्त पुरुष ही उपदेश कर सकता है ऐसा सूचित किया है, इससे देहरहित अपौरुषेय बोधका निषेध किया है ।

'कर्मरूप पर्वतके भेदन करनेवाला' ऐसा कहकर यह सूचित किया है कि कर्मरूप पर्वतोंको तोड़नेसे मोक्ष होता है; अर्थात् जीवने कर्मरूप पर्वतोंको स्ववीर्य द्वारा देहधारीरूपसे तोड़ा, और इससे जीवन्मुक्त होकर मोक्षमार्गका नेता, मोक्षमार्गका बतानेवाला हुआ । फिर-फिरसे देह धारण करनेका, जन्म-मरणरूप संसारका कारण कर्म है, उसका समूल छेदन—नाश करनेसे उसे पुनः देह धारण करना नहीं रहता यह सूचित किया है, इससे यह सूचित किया कि मुक्त आत्मा फिरसे अवतार नहीं लेती ।

'विश्वतत्त्वके ज्ञाता'—समस्त द्रव्य पर्यायात्मक लोकका—विश्वका जाननेवाला यह कहकर मुक्त आत्माकी अखंड स्वपर-ज्ञायकता सूचित की है । मुक्त आत्मा सदा ज्ञानरूप ही है यह सूचित किया है ।

'जो इन गुणोंसे सहित है उसे उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए मैं वंदन करता हूँ', यह कहकर परम आप्त, मोक्षमार्गके लिए विश्वास करने योग्य, वंदन करने योग्य, भक्ति करने योग्य, जिसकी आज्ञासे चलनेसे निःसंशय मोक्ष प्राप्त होता है, उन्हें प्रगट हुए गुणोंकी प्राप्त होती है, वे गुण प्रगट होते हैं, ऐसा कौन होता है यह सूचित किया है । उपर्युक्त गुणोंवाले मुक्त परम आप्त वंदन योग्य होता है, उनका बताया हुआ वह मोक्षमार्ग है, और उनकी भक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, उन्हें प्रगट हुए गुण, उनकी आज्ञासे चलनेवाले भक्तिमानको प्रगट होते हैं यह सूचित किया है ।

[७८५] ३८* श्री खेडा द्वि० आ० वदी, १९५४

प्र०—आत्मा है ?

श्री० उ०—हाँ, आत्मा है।

प्र०—अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा है ?

उ०—हाँ, अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा है। मिसरीके स्वादका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो अनुभवगोचर है; इसी तरह आत्माका वर्णन नहीं हो सकता, वह भी अनुभवगोचर है, परंतु वह है ही।

प्र०—जीव एक है कि अनेक है ? आपके अनुभवका उत्तर चाहता हूँ।

उ०—जीव अनेक हैं।

प्र०—जड, कर्म यह वस्तुतः है कि मायिक है ?

उ०—जड, कर्म यह वस्तुतः है, मायिक नहीं है।

प्र०—पुनर्जन्म है ?

उ०—हाँ, पुनर्जन्म है।

प्र०—वेदांतको मान्य मायिक ईश्वरका अस्तित्व आप मानते हैं ?

उ०—नहीं।

प्र०—दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिंब मात्र खाली देखाव है कि किसी तत्त्वका बना हुआ है ?

उ—दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिंब मात्र खाली देखाव नहीं है, वह अमुक तत्त्वका बना हुआ है।

●

[७९३] ३९ मोरबी, माघ वदी ९, सोम (रातमें) १९५५

कर्मकी मूल प्रकृतियाँ आठ हैं; उनमें चार घातिनी और चार अघातिनी कही जाती हैं।

चार घातिनीका धर्म आत्माके गुणका घात करना है, अर्थात् (१) उस गुणका आवरण करना, अथवा (२) उस गुणके बल-वीर्यका निरोध करना, अथवा (३) उसे विकल करना है, इसलिए उस प्रकृतिको घातिनी संज्ञा दी है।

जो आत्माके गुण ज्ञान और दर्शनका आवरण करता है उसे अनुक्रमसे (१) ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय नाम दिया है। अंतराय प्रकृति इस गुणको आवृत्त नहीं करती, परंतु उसके भोग, उपभोग आदिको, उसके बलवीर्यको रोकती है। इस जगह आत्मा भोग आदिको समझती है, जानती-देखती है, इसलिए आवरण नहीं है; परंतु समझते हुए भी भोग आदिमें विघ्न-अंतराय करती है, इसलिए उसे आवरण नहीं परंतु अंतराय प्रकृति कहा है।

इस तरह तीन आत्मघातिनी प्रकृतियाँ हुई। चौथी घातिनी प्रकृति मोहनीय है। यह प्रकृति आवरण नहीं करती, परंतु आत्माको मूर्च्छित करके, मोहित करके विकल करती है। ज्ञान-दर्शन होते हुए भी, अंतराय न होते हुए भी आत्माको कभी विकल करती है, उलटा पट्टा बंधा देती है, व्याकुल कर देती है, इसलिए इसे मोहनीय कहा है। इस तरह ये चार सर्व घातिनी प्रकृतियाँ कहीं। दूसरी चार प्रकृतियाँ यद्यपि आत्माके प्रदेशोंके साथ जड़ी हुई हैं तथा अपना कार्य किया करती हैं,

---

*. श्री खेड़ाके एक वेदांतविद् विद्वान वकील पंचदशीके लेखक यह पूजाभाई सोमेश्वरका प्रसंग है।

और उदयके अनुसार वेदी जाती हैं; तथापि वे आत्माके गुणका आवरण करनेरूपसे या अंतराय करनेरूपसे या विकल करनेरूपसे घातक नहीं हैं, इसलिए उन्हें अघातिनी कहा है।

●

४०

स्त्री, परिग्रह आदिमें जितना मूर्च्छाभाव रहता है उतना ज्ञानका तारतम्य न्यून है, ऐसा श्री तीर्थंकरने निरूपण किया है। संपूर्ण ज्ञानमें वह मूर्च्छा नहीं होती।

श्री ज्ञानीपुरुष संसारमें किस प्रकारसे रहते हैं ? आँखमें जैसे रज खटकती रहती है वैसे ज्ञानी किसी कारण उपाधि प्रसंगसे कुछ हुआ हो तो वह मगजमें पांच दस सेर जितना बोझा हो पड़ता है। और उसका क्षय हो तभी शांति होती है। स्त्री आदिके प्रसंगमें आत्माकी अतिशय अतिशय समीपता एकदम प्रगटरूपसे भासित होती है।

सामान्यरूपसे, स्त्री, चंदन, आरोग्य आदिसे साता और ज्वर आदिसे असाता रहती है, वह ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको समान है। ज्ञानीको उस उस प्रसंगमें हर्ष-विषादका हेतु नहीं होता।

●

४१*

चार गोलोंके दृष्टांतसे जीवके चार प्रकारसे भेद हो सकते हैं।

१. मोमका गोला।
२. लाखका गोला।
३. लकड़ीका गोला।
४. मिट्टीका गोला।

१. प्रथम प्रकारके जीव मोमके गोले जैसे कहे हैं।

मोमका गोला जिस तरह ताप लगनेसे पिघल जाता है, और फिर ठंडी लगनेसे वैसेका वैसा हो जाता है; उसी तरह संसारी जीवको सत्पुरुषका बोध सुनकर संसारसे वैराग्य हुआ, असार संसारकी निवृत्तिका चिंतन करने लगा, कुटुंबके पास आकर कहता है कि इस असार संसारसे मैं निवृत्त होना चाहता हूँ। इस बातको सुनकर कुटुंबी कोपयुक्त हुए। अबसे तुझे इस तरफ जाना नहीं। अब जायेगा तो तेरेपर सख्ती करेंगे, इत्यादि कहकर संतका अवर्णवाद बोलकर वहाँ जाना रोक दें। इस प्रकार कुटुंबके भयसे, लज्जासे जीव सत्पुरुषके पास जानेसे रुक जाये, फिर संसार कार्यमें प्रवृत्ति करे। ये प्रथम प्रकारके जीव कहे हैं।

२. दूसरे प्रकारके जीव लाखके गोले जैसे कहे हैं।

लाखका गोला तापसे नहीं पिघल जाता परंतु अग्निसे पिघल जाता है। इस तरहका जीव संतका बोध सुनकर संसारसे उदासीन होकर यह चिंतन करे कि इस दुःखरूप संसारसे निवृत्त होना है, ऐसा चिंतन करके कुटुंबके पास जाकर कहे कि 'मैं संसारसे निवृत्त होना चाहता हूँ। मुझे यह झूठ बोलकर व्यापार करना गवारा नहीं होगा' इत्यादि कहनेके बाद कुटुंबीजन उसे सख्ती और स्नेहके वचन कहें तथा स्त्रीके वचन उसे एकांतके वक्तमें भोगमें तदाकार कर डालें। स्त्रीका अग्निरूप शरीर देखकर दूसरे प्रकारके जीव तदाकार हो जायें। संतके चरणसे दूर हो जायें।

३. तीसरे प्रकारके जीव काष्ठके गोले जैसे कहे हैं।

---

* खंभातके श्री अंबालालभाईकी लिखी नोटसे।

वह जीव संतका बोध सुनकर संसारसे उदास हो गया। संसार असार है, ऐसा विचार करते हुए कुटुंब आदिके पास आकर कहता है कि 'इस असार संसारसे मैं खिन्न हुआ हूँ। मुझे ये कार्य करने ठीक नहीं लगते।' ये वचन सुनकर कुटुंबी उसे नरमीसे कहें, 'भाई, अपने लिए तो निवृत्ति जैसा है। उसके बाद स्त्री आकर कहे—'प्राणपति ! मैं तो आपके बिना पल भी नहीं रह सकूँ। आप मेरे जीवनके आधार हैं।' इस तरह अनेक प्रकारसे योगमें आसक्त करनेके लिए अनेक पदार्थोंकी वृद्धि करे उसमें तदाकार होकर संतके वचन भूल जाये। अर्थात् जैसे काष्ठका गोला अग्निमें डालनेके बाद भस्म हो जाता है, वैसे स्त्रीरूप अग्निमें पड़ा हुआ जीव उसमें भस्म हो जाता है। इससे संतके बोधका विचार भूल जाता है। स्त्री आदिके भयसे सत्समागम नहीं कर सकता, जिससे वह जीव दावानलरूप स्त्री आदि अग्निमें फँस कर, विशेषातिविशेष विडंबना भोगता है। ये तीसरे प्रकारके जीव कहे हैं।

४. चौथे प्रकारके जीव मिट्टीके गोले जैसे कहे हैं।

वह पुरुष सत्पुरुषका बोध सुनकर इंद्रियके विषयकी उपेक्षा करता है। संसारसे महा भय पाकर उससे निवृत्त होता है। उस प्रकारका जीव कुटुंब आदिके परिषहसे चलायमान नहीं होता। स्त्री आकर कहे—'प्यारे प्राणनाथ ! इस भोगमें जैसा स्वाद है वैसा स्वाद उसके त्यागमें नहीं है !' इत्यादि वचन सुनकर महान उदास होता है, विचारता है कि इस अनुकूल भोगसे यह जीव बहुत बार भूला है। ज्यों ज्यों उसके वचन सुनता है त्यों त्यों महान वैराग्य उत्पन्न होता है। और इस लिए सर्वथा संसारसे निवृत्त होता है। मिट्टीका गोला अग्निमें पड़नेसे विशेषातिविशेष कठिन हो जाता है, उसी तरह वैसे पुरुष संतका बोध सुनकर संसारमें नहीं पड़ते। वे चौथे प्रकारके जीव कहे हैं।

□

[६४३]

[1]उपदेश छाया

[६४३-१] ९५७ काविठा, श्रावण वदी २, १९५२

१

स्त्री, पुत्र, परिग्रह आदि भावोंका मूल ज्ञान होनेके बाद यदि ऐसी भावना रहे कि 'जब मैं चाहूँगा तब इन स्त्री आदिके प्रसंगका त्याग कर सकूँगा' तो यह मूल ज्ञानसे वंचित कर देनेकी बात समझनी अर्थात् मूल ज्ञानमें यद्यपि भेद नहीं पड़े परंतु आवरणरूप हो जाये। तथा शिष्य आदि अथवा भक्ति करनेवाले मार्गसे च्युत हो जायेंगे अथवा रुक जायेंगे, ऐसी भावनासे यदि पुरुष भी वर्तन करे तो ज्ञानीपुरुषको भी निरावरणज्ञान आवरणरूप हो जाता है; और इसलिए वर्धमान आदि ज्ञानीपुरुष साढ़े बारह वर्ष तक अनिद्रित ही रहे, सर्वथा असंगताको ही श्रेयस्कर समझा; एक शब्दके उच्चार करनेको भी यथार्थ नहीं माना; एकदम निरावरण, निर्योग, निर्भोग और निर्भय ज्ञान होनेके बाद उपदेशकार्य किया। इसलिए, 'इसे इस तरह कहेंगे तो ठीक है अथवा इसे इस तरह न कहा जाये तो मिथ्या है' इत्यादि विकल्प साधु-मुनि न करें।

---

१. सं० १९५२ के श्रावण-भाद्रपद मासमें आणंदके आसपास काविठा, राळज, वडवा आदि स्थलोंमें श्रीमद्का निवृत्तिके लिए रहना हुआ था। उस वक्त उनके समीपवासी भाई श्री अंबालाल लालचंदने प्रास्ताविक उपदेश *अथवा विचारोंका श्रवण किया था, जिसकी छाया मात्र उनकी स्मृतिमें रह गयी थी उसके आधारसे* उन्होंने भिन्न भिन्न स्थलोंमें उस छायाका सार संक्षेपमें लिख लिया था उसे यहाँ देते हैं।

एक मुमुक्षुभाईका यह कहना है कि श्री अंबालालभाईने लिखे हुए इस उपदेशके भागको भी श्रीमद्से पढ़वाया था और श्रीमद्ने उसमें कहीं कहीं सुधार किया था।

निध्वंसपरिणाम अर्थात् आक्रोश परिणामपूर्वक घातकता करते हुए जिसमें चिंता अथवा भय और भवभीरुता न हो वैसा परिणाम।

आधुनिक समयमें मनुष्योंकी कुछ आयु बचपनमें जाती है, कुछ स्त्रीके पास जाती है, कुछ निद्रामें जाती है, कुछ धंधेमें जाती है, और जो थोड़ी रहती है उसे कुगुरु लूट लेता है। तात्पर्य कि मनुष्यभव निरर्थक चला जाता है।

लोगोंको कुछ झूठ बोलकर सद्गुरुके पास सत्संगमें आनेकी जरूरत नहीं है। लोग यों पूछें, 'कौन पधारे हैं ?' तो स्पष्ट कहें, 'मेरे परम कृपालु सद्गुरु पधारे हैं। उनके दर्शनके लिए जानेवाला हूँ।' तब कोई कहे, 'मैं आपके साथ आऊँ' तब कहें, 'भाई, वे कुछ अभी उपदेश देनेका कार्य नहीं करते हैं। और आपका हेतु ऐसा है कि वहाँ जायेंगे तो कुछ उपदेश सुनेंगे। परंतु वहाँ कुछ उपदेश देनेका नियम नहीं है।' तब वह भाई पूछे, 'आपको उपदेश क्यों दिया ?' तो कहें 'मेरा प्रथम उनके समागममें जाना हुआ और उस वक्त धर्मसंबंधी वचन सुने कि जिससे मुझे ऐसा विश्वास हुआ कि वे महात्मा हैं। यों पहचान होनेसे मैंने उन्हें ही अपना सद्गुरु मान लिया है।' तब वह यों कहे, उपदेश दें या न दें परंतु मुझे तो उनके दर्शन करने हैं,' तब बतायें, 'कदाचित्, उपदेश न दें तो आप विकल्प न करें।' ऐसा करते हुए भी जब वह आये तब तो हरीच्छा। परंतु आप स्वयं कुछ वैसी प्रेरणा न करें कि चलो वहाँ तो बोध मिलेगा, उपदेश मिलेगा ऐसी भावना न स्वयं करें और न दूसरेको प्रेरणा करें।

●

[६४३-२] २ काविठा, श्रावण वदी ३, १९५२

प्र०—केवलज्ञानीने जो सिद्धांतोंका निरूपण किया है वह 'पर-उपयोग' कि 'स्व-उपयोग ?' शास्त्रमें कहा है कि केवलज्ञानी स्व-उपयोगमें ही रहता है।

उ०—तीर्थंकर किसीको उपदेश दें तो इससे कुछ 'पर-उपयोग' नहीं कहा जाता। 'पर-उपयोग' उसे कहा जाता है कि जिस उपदेशको देते हुए रति, अरति, हर्ष, और अहंकार होते हों। ज्ञानीपुरुषको तो तादात्म्यसंबंध नहीं होता जिससे उपदेश देते हुए रति-अरति नहीं होते। रति-अरति हों तो 'पर-उपयोग' कहा जाये। यदि ऐसा हो तो केवली लोकालोक जानता है, देखता है वह भी 'पर-उपयोग' कहा जाये। परंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि उसमें रति-अरति भाव नहीं है।

सिद्धांतकी रचनाके विषयमें यह समझें कि अपनी बुद्धि न पहुँचे तो इससे वे वचन असत् हैं, ऐसा न कहें; क्योंकि जिसे आप असत् कहते हैं, उसी शास्त्रसे ही पहले तो आप जीव, अजीव ऐसा कहना सीखे हैं; अर्थात् उन्हीं शास्त्रोंके आधारसे ही, आप जो कुछ जानते हैं उसे जाना है; तो फिर उसे असत् कहना, यह उपकारके बदले दोष करनेके बराबर है। फिर शास्त्रके लिखनेवाले भी विचारवान थे, इसलिए वे सिद्धांतके बारेमें जानते थे। सिद्धांत महावीरस्वामीके बहुत वर्षोंके बाद लिखे गये हैं, इसलिए उन्हें असत् कहना दोष गिना जाये।

अभी सिद्धांतोंकी जो रचना देखनेमें आती है; उन्हीं अक्षरोंमें अनुक्रमसे तीर्थंकरने कहा हो यह बात नहीं है। परंतु जैसे किसी समय किसीने वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म कथा-संबंधी पूछा तो उस समय तत्संबंधी बात कही। फिर किसीने पूछा कि धर्मकथा कितने प्रकार-की है तो कहा कि चार प्रकारकी—आक्षेपणी, विक्षेपणी निर्वेदणी, संवेगणी। इस इस प्रकारकी बातें होती हों तो उनके पास जो गणधर होते हैं वे ध्यानमें रख लेते हैं, और अनुक्रमसे उसकी

रचना करते हैं। जैसे यहाँ कोई बात करनेसे कोई ध्यानमें रखकर अनुक्रमसे उसकी रचना करता है वैसे। बाकी तीर्थंकर जितना कहें उतना कहीं उनके ध्यानमें नहीं रहता, अभिप्राय ध्यानमें रहता है। फिर गणधर भी बुद्धिमान थे, इसलिए उन तीर्थंकर द्वारा कहे हुए वाक्य कुछ उनमें नहीं आये, यह बात भी नहीं है।

सिद्धांतोंके नियम इतने अधिक सख्त हैं, फिर भी यति लोगोंको उनसे विरुद्ध आचरण करते हुए देखते हैं। उदाहरणके लिए, कहा है कि साधु तेल नहीं डालें, फिर भी वे डालते हैं। इससे कुछ ज्ञानीकी वाणीका दोष नहीं है; परंतु जीवकी समझशक्तिका दोष है। जीवमें सद्बुद्धि न हो तो प्रत्यक्ष योगमें भी उसे उलटा ही प्रतीत होता है, और जीवमें सद्बुद्धि हो तो सुलटा मालूम होता है।

ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेवाले भद्रिक मुमुक्षुजीवको, यदि गुरुने ब्रह्मचर्यके पालने अर्थात् स्त्री आदिके प्रसंगमें न जानेकी आज्ञा की हो, तो उसे वचनपर दृढ विश्वास कर वह उस उस स्थानकमें नहीं जाता; तब जिसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र आदि पढ़कर मुमुक्षुता हुई हो, उसे ऐसा अहंकार रहा करता है, कि 'इसमें भला क्या जीतना है?' ऐसे पागलपनके कारण वह वैसे स्त्री आदिके प्रसंगमें जाता है। कदाचित् उस प्रसंगसे एक दो बार बच भी जाये, परन्तु पीछेसे उस पदार्थकी ओर दृष्टि करते हुए 'यह ठीक है', ऐसे करते करते उसे उसमें आनंद आने लगता है, और इसलिए स्त्रियोंका सेवन करने लग जाता है। भोलाभाला जीव तो ज्ञानीकी आज्ञानुसार वर्तन करता है; अर्थात् वह दूसरे विकल्प न करते हुए वैसे प्रसंगमें जाता ही नहीं। इस प्रकार, जिस जीवको, 'इस स्थानमें जाना योग्य नहीं' ऐसे ज्ञानीके वचनोंका दृढ़ विश्वास है वह ब्रह्मचर्य-व्रतमें रह सकता है; अर्थात् वह इस अकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। तो फिर जो ज्ञानीके आज्ञाकारी नहीं है ऐसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र पढ़कर होनेवाले मुमुक्षु अहंकारमें फिरा करते हैं और माना करते हैं कि 'इसमें भला क्या जीतना है?' ऐसी मान्यताके कारण ये जीव पतित हो जाते हैं, और आगे नहीं बढ़ सकते। यह जो क्षेत्र है वह निवृत्तिवाला है, परन्तु जिसे निवृत्ति हुई हो उसे वैसा है। तथा जो सच्चा ज्ञानी है—उसके सिवाय अन्य कोई अब्रह्मचर्यवश न हो, यह तो कथन मात्र है। और जिसे निवृत्ति नही हुई उसे प्रथम तो यों होता है कि 'यह क्षेत्र अच्छा है, यहाँ रहना योग्य है', परन्तु फिर यों करते करते विशेष प्रेरणा होनेसे क्षेत्राकारवृत्ति हो जाती है। ज्ञानीकी वृत्ति क्षेत्राकार नहीं होती, क्योंकि क्षेत्र निवृत्तिवाला है, और स्वयं भी निवृत्ति भावको प्राप्त हुआ है, इसलिए दोनों योग अनुकूल हैं। शुष्कज्ञानियोंको प्रथम तो यों अभिमान रहा करता है, कि 'इसमें भला क्या जीतना है?' परन्तु फिर धीरे धीरे स्त्री आदि पदार्थोंमें फँस जाते हैं, जब कि सच्चे ज्ञानीको वैसा नहीं होता।

प्राप्त = ज्ञानप्राप्त पुरुष। आप्त = विश्वास करने योग्य पुरुष।

मुमुक्षुमात्रको सम्यग्दृष्टि जीव न समझें।

जीवको भुलानेके स्थान बहुत हैं; इसलिए विशेषातिविशेष जागृति रखें, व्याकुल न हो, मंदता न करे, और पुरुषार्थधर्मको वर्धमान करे।

जीवको सत्पुरुषका योग मिलना दुर्लभ है। अपारमार्थिक गुरुको, यदि अपना शिष्य दूसरे धर्ममें चला जाये तो बुखार चढ़ जाता है। पारमार्थिक गुरुको 'यह मेरा शिष्य है', ऐसा भाव नहीं होता। कोई कुगुरु-आश्रित जीव बोधश्रवणके लिए सद्गुरुके पास एक बार गया हो, और फिर वह अपने उस कुगुरुके पास जाये, तो वह कुगुरु उस जीवके मनपर अनेक विचित्र विकल्प अंकित कर देता है कि जिससे वह जीव फिर सद्गुरुके पास नहीं जाता। उस बेचारे जीवको तो सत्-

असत् वाणीकी परीक्षा नहीं है, इसलिए वह भुलावेमें आ जाता है, और सच्चे मार्गसे गिर जाता है।

●

३ काविठा (महुडी), श्रावण वदी ४

तीन प्रकारके ज्ञानीपुरुष—प्रथम, मध्यम, और उत्कृष्ट। इस कालमें ज्ञानीपुरुषकी परम दुर्लभता है, तथा आराधक जीव भी बहुत कम हैं।

पूर्वकालमें जीव आराधक और संस्कारी थे, तथारूप सत्संगका योग था, और सत्संग-के माहात्म्यका विसर्जन नहीं हुआ था, अनुक्रमसे चला आता था, इसलिए उस कालमें उन संस्कारी जीवोंको सत्पुरुषकी पहचान हो जाती थी।

इस कालमें महापुरुषकी दुर्लभता है। बहुत कालसे सत्पुरुषका मार्ग, माहात्म्य और विनय क्षीण-से हो गये हैं और पूर्वके आराधक जीव कम हो गये हैं, इसलिए जीवको सत्पुरुषकी पहचान तत्काल नहीं होती। बहुतसे जीव तो सत्पुरुषका स्वरूप भी नहीं समझते। या तो छकायके रक्षक साधुको, या तो शास्त्र पढे हुएको, या तो किसी त्यागीको और या तो चतुरको सत्पुरुष मानते हैं, परन्तु यह यथार्थ नहीं है।

सत्पुरुषके सच्चे स्वरूपको जानना आवश्यक है। मध्यम सत्पुरुष हो तो शायद थोड़े समयमें उसकी पहचान होना संभव है, क्योंकि वह जीवकी इच्छाके अनुकूल वर्तन करता है, सहज बातचीत करता है और आदरभाव रखता है, इसलिए जीवकी प्रीतिका कारण हो जाता है। परन्तु उत्कृष्ट सत्पुरुषको तो वैसी भावना नहीं होती अर्थात् निःस्पृहता होनेसे वैसा भाव नहीं रखता, इसलिए या तो जीव रुक जाये या दुविधामें पड़ जाये अथवा उसका जो होना हो सो हो।

जैसे बने वैसे सद्वृत्ति और सदाचारका सेवन करें। ज्ञानीपुरुष कोई व्रत नहीं देता अर्थात् जब प्रगट मार्ग कहे और व्रत देनेकी बात करे तब व्रत अंगीकार करें। परन्तु तब तक यथाशक्ति सद्व्रत और सदाचारका सेवन करनेमें तो ज्ञानीपुरुषकी सदैव आज्ञा है। दंभ, अहंकार, आग्रह, कोई भी कामना, फलकी इच्छा और लोक दिखावेकी बुद्धि ये सब दोष हैं उनसे रहित होकर व्रत आदिका सेवन करें, उनकी किसी भी संप्रदाय या मतके व्रत, प्रत्याख्यान आदिके साथ तुलना न करें, क्योंकि लोग जो व्रत पच्चक्खाण आदि करते हैं उनमें उपर्युक्त दोष होते हैं। आपको उन दोषोंसे रहित और आत्मविचारके लिए करने हैं, इसलिए उनके साथ कभी भी तुलना न करें।

उपर्युक्त दोषोंको छोड़कर सभी सद्वृत्ति और सदाचारका उत्तम प्रकारसे सेवन करें।

जो निर्दंभतासे, निरहंकारतासे और निष्कामतासे सद्व्रत करता है उसे देखकर अड़ोसी-पड़ोसी और दूसरे लोगोंको भी उसे अंगीकार करनेका भान होता है। जो कुछ भी सद्व्रत करें वह लोक दिखानेके लिए नहीं अपितु मात्र अपने हितके लिए करें। निर्दंभतासे होनेसे लोगोंपर उसका असर तुरन्त होता है।

कोई भी दंभतासे दालमें ऊपरसे नमक न लेता हो और कहे कि 'मैं ऊपरसे कुछ नहीं लेता, क्या नहीं चलता ? इससे क्या ?' इससे कुछ लोगोंपर असर नहीं होता। और जो उलटा किया हो वह भी कर्मबंधके लिए हो जाये। इसलिए यों न करते हुए निर्दंभतासे और उपर्युक्त दूषण छोड़कर व्रत आदि करें।

प्रतिदिन नियमपूर्वक आचारांग आदि पढ़ा करें। आज एक शास्त्र पढ़ा और कल दूसरा पढ़ा यों न करते हुए क्रमपूर्वक एक शास्त्रको पूरा करें। आचारांगसूत्रमें कितने ही आशय

गंभीर हैं, सूत्रकृतांगमें भी गंभीर हैं, उत्तराध्ययनमें भी किसी किसी स्थलमें गंभीर हैं। दशवैकालिक सुगम है। आचारांगमें कोई एक स्थल सुगम है, परन्तु, गंभीर है। सूत्रकृतांग किसी एक स्थलमें सुगम है, उत्तराध्ययन किसी जगह सुगम है इसलिए नियमपूर्वक पढ़ें। यथाशक्ति उपयोगपूर्वक गहराईमें जाकर भरसक विचार करें।

देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रंथ और केवलीका प्ररूपित धर्म, इन तीनोंकी श्रद्धाको जैनमें सम्यक्त्व कहा है। मात्र गुरु असत् होनेसे देव और धर्मका भान न था। सद्गुरु मिलनेसे उस देव और धर्मका भान हुआ। इसलिए सद्गुरुके प्रति आस्था यही सम्यक्त्व है। जितनी जितनी आस्था और अपूर्वता उतनी उतनी सम्यक्त्वकी निर्मलता समझें। ऐसा सच्चा सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी इच्छा, कामना सदैव रखें।

कभी भी दंभतासे या अहंकारतासे आचरण करनेका जरा भी मनमें न लायें। जहाँ कहना योग्य हो वहाँ कहें, परंतु सहज स्वभावसे कहें। मंदतासे न कहें और आक्रोशसे भी न कहें, मात्र सहज स्वभावसे शांतिपूर्वक कहें।

सद्व्रतका आचरण इस तरह करें कि शूरता रहे, इस तरह न करें कि मंद परिणाम हो। जो जो आगार बताये हों, उन सबको ध्यानमें रखें, परन्तु भोगनेकी बुद्धिसे उनका भोग न करें।

सत्पुरुषकी तेंतीस आशातनाएँ आदि टालनेका कहा है, उनका विचार कीजिये। आशातना करनेकी बुद्धिसे आशातना न करें। सत्संग हुआ है उस सत्संगका फल होना चाहिए। कोई भी अयोग्य आचरण हो जाये अथवा अयोग्य व्रत सेवित हो जाये वह सत्संगका फल नहीं है। सत्संग करनेवाले जीवसे वैसा वर्तन नहीं किया जाता, वैसा वर्तन करे तो लोकनिंदाका कारण हो, और इससे सत्पुरुषकी निंदा करें और सत्पुरुषकी निंदा अपने निमित्तसे हो यह आशातनाका कारण अर्थात् अधोगतिका कारण होता है, इसलिए वैसा न करें।

सत्संग हुआ है उसका क्या परमार्थ ? सत्संग हुआ हो तो जीवकी कैसी दशा होनी चाहिए ? इसे ध्यानमें लें। पाँच वर्षका सत्संग हुआ है, तो उस सत्संगका फल जरूर होना चाहिए और जीवको तदनुसार चलना चाहिए। यह वर्तन जीव अपने कल्याणके लिए ही करे परंतु लोकदिखावेके लिए नहीं। जीवके वर्तनसे लोगोंमें ऐसी प्रतीति हो कि इसे जो मिले हैं वह अवश्य ही कोई सत्पुरुष हैं। और उस सत्पुरुषके समागमका, सत्संगका यह फल है, इसलिए अवश्य ही वह सत्संग है इसमें संदेह नहीं।

वारंवार बोध सुननेकी इच्छा रखनेकी अपेक्षा सत्पुरुषके चरणोंके समीप रहनेकी इच्छा और चिंतना विशेष रखें। जो बोध हुआ है उसे स्मरणमें रखकर विचारा जाये तो अत्यंत कल्याणकारक है।

●

[६४३-३] ४ राळज, श्रावण वदी ६, १९५२

भक्ति यह सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। भक्तिसे अहंकार मिटता है, स्वच्छंद दूर होता है, और सीधे मार्गमें चला जाता है; अन्य विकल्प दूर होते हैं। ऐसा यह भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

प्र०—आत्माका अनुभव किसे हुआ कहा जाये ?

उ०—जिस तरह तलवार म्यानमेंसे निकालनेपर भिन्न मालूम होती है उसी तरह जिसे आत्मा देहसे स्पष्ट भिन्न मालूम होती है उसे आत्माका अनुभव हुआ कहा जाता है। जिस तरह

दूध और पानी मिले हुए हैं उसी तरह आत्मा और देह मिली हुई रहती हैं। जिस तरह दूध और पानी क्रिया करनेसे जब अलग हो जाते हैं तब भिन्न कहे जाते हैं। उसी तरह आत्मा और देह जब क्रियासे अलग हो जाती हैं तब भिन्न कही जाती हैं। जब तक दूध दूधके और पानी पानीके परिणामको प्राप्त न करे तब तक क्रिया कहें। यदि आत्माको जान लिया हो तो फिर एक पर्यायसे लेकर सारे स्वरूप तककी भ्रांति नहीं होती।

अपने दोष कम हो जायें, आवरण दूर हो जायें तो ही समझें कि ज्ञानीके वचन सच्चे हैं।

आराधकता नहीं इसलिए प्रश्न उलटे ही करता है। आप भव्य-अभव्यकी चिंता न रखें। अहो ! अहो !! अपने घरकी बात छोड़कर बाहरकी बात करता है ! परंतु वर्तमानमें जो उपकारक हो वही करें। इसलिए अभी तो जिससे लाभ हो वैसा धर्म-व्यापार करें।

ज्ञान उसे कहते हैं जो हर्ष-शोकके समय उपस्थित रहें; अर्थात् हर्ष-शोक न हों।

सम्यग्दृष्टि हर्ष-शोक आदिके प्रसंगमें एकदम तदाकार नहीं होता। उसके निर्ध्वंस परिणाम नहीं होते; अज्ञान खड़ा हो कि जाननेमें आनेपर तुरत ही दबा देता है, उसमें बहुत ही जागृति होती है। जैसे कोरा कागज पढ़ता हो वैसे उसे हर्ष-शोक नहीं होते। भय अज्ञानका है। जैसे सिंह चला जाता हो तो सिंहनीको भय नहीं लगता, परंतु मनुष्य भय पाकर भाग जाता है। मानो वह कुत्ता चला आता हो ऐसे सिंहनीको लगता है। इसी तरह ज्ञानी पौद्गलिक संयोगको समझता है। राज्य मिलनेपर आनंद हो तो वह अज्ञान। ज्ञानीकी दशा बहुत ही अद्भुत है।

यथातथ्य कल्याण समझमें नहीं आया उसका कारण वचनका आवरण करनेवाला दुराग्रह भाव, कषाय है। दुराग्रह भावके कारण मिथ्यात्व क्या है यह समझमें नहीं आता; दुराग्रहको छोड़े कि मिथ्यात्व दूर भागने लगे। कल्याणको अकल्याण और अकल्याणको कल्याण समझना मिथ्यात्व है। दुराग्रह आदि भावके कारण जीवको कल्याणका स्वरूप बतानेपर भी समझमें नहीं आता। कषाय, दुराग्रह आदि छोड़े न जायें तो वे विशेष प्रकारसे पीडित करते हैं। कषाय सत्तारूपसे है, निमित्त आनेपर खड़ा होता है, तब तक खड़ा नहीं होता।

प्र०—क्या विचार करनेसे समभाव आता है ?

उ०—विचारवानको पुद्गलमें तन्मयता, तादात्म्य नहीं होता। अज्ञानी पौद्गलिक संयोगके हर्षका पत्र पढ़े तो उसका चेहरा प्रसन्न दिखायी देता है और भयका समय आता है तो उदास हो जाता है। सर्प देखकर आत्मवृत्तिमें भयका हेतु हो तब तादाम्य कहा जाता है। जिसे तन्मयता होती है उसे ही हर्ष-शोक होता है। जो निमित्त है वह अपना कार्य किये विना नहीं रहता।

मिथ्यादृष्टिके बीचमें साक्षी (ज्ञानरूपी) नहीं है। देह और आत्मा दोनों भिन्न हैं ऐसा ज्ञानीको भेद हुआ। ज्ञानीके बीचमें साक्षी है। ज्ञानजागृति हो तो ज्ञानके वेगसे, जो जो निमित्त मिले उन सबको पीछे मोड़ सके।

जीव जब विभाव-परिणाममें रहता है उस समय कर्म बाँधता है, और स्वभाव-परिणाममें रहता है उस समय कर्म नहीं बाँधता। उस तरह संक्षेपमें परमार्थ कहा है। परंतु जीव नहीं समझता, इसलिए विस्तार करना पड़ा है, जिससे बड़े शास्त्रोंकी रचना हुई है।

स्वच्छंद दूर हो तो ही मोक्ष होता है।

सद्गुरुकी आज्ञाके विना आत्मार्थी जीवके श्वासोच्छ्वासके सिवाय दूसरा कुछ नहीं चलता ऐसी जिनकी आज्ञा है।

प्र०—पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश हों ?

उ०—वस्तुओंपर तुच्छभाव लानेसे। जैसे फूल सूख जानेसे उसकी सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल मुरझा जाता है; उससे कुछ संतोष नहीं होता, वैसे तुच्छभाव आनेसे इंद्रियोंके विषयमें लुब्धता नहीं होती। पाँच इंद्रियोंमें जिह्वा इंद्रियको वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं।

ज्ञानीपुरुषको शिष्यने प्रश्न पूछा, 'बारह उपांग तो बहुत गहन हैं, और इसलिए वे मुझसे समझे नहीं जा सकते; इसलिए बारह उपांगका सार ही बतायें कि जिसके अनुसार चलूँ तो मेरा कल्याण हो।' सद्गुरुने उत्तर दिया, बारह उपांगका सार आपसे कहते हैं—'वृत्तियोंका क्षय करना।' ये वृत्तियाँ दो प्रकारकी कही हैं—एक बाह्य और दूसरी अंतर। बाह्यवृत्ति अर्थात् आत्मासे बाहर वर्तन करना। आत्माके अंदर परिणमन करना, उसमें समा जाना, यह अंतर्वृत्ति। पदार्थकी तुच्छता भासमान हुई हो तो अंतर्वृत्ति रहती है। जिस तरह थोड़ीसी कीमतके मिट्टीके घड़ेका फूट जानेके बाद उसका त्याग करते हुए आत्मवृत्ति क्षोभको प्राप्त नहीं होती, क्योंकि उसमें तुच्छता समझी गयी है। इसी तरह ज्ञानीको जगतके सभी पदार्थ तुच्छ भासमान होते हैं। ज्ञानीको एक रुपयेसे लेकर सुवर्ण इत्यादि तक सब पदार्थोंमें एकदम मिट्टीपन ही भासित होता है।

स्त्री हड्डी मांसका पुतला है ऐसा स्पष्ट जाना है, इसलिए विचारवानकी वृत्ति उसमें क्षुब्ध नहीं होती। तो भी साधुको ऐसी आज्ञा की है कि जो हजारों देवांगनाओंसे चलित न हो सके ऐसा मुनि भी, कटे हुए नाक-कानवाली जो सौ बरसकी वृद्ध स्त्री है उसके समीप भी न रहे; क्योंकि वह वृत्तिको क्षुब्ध करती ही है, ऐसा ज्ञानीने जाना है। साधुको इतना ज्ञान नहीं है कि उससे चलित ही न हो सके, ऐसा मानकर उसके समीप रहनेकी आज्ञा नहीं की। इस वचनपर ज्ञानीने स्वयं ही विशेष भार दिया है। इसलिए यदि वृत्तियाँ पदार्थोंमें क्षोभ प्राप्त करें तो उन्हें तुरत ही खींच लेकर उन बाह्यवृत्तियोंका क्षय करें।

चौदह गुणस्थान हैं वे अंश-अंशसे आत्माके गुण बताये हैं, और अंतमें वे कैसे हैं यह बताया है। जैसे एक हीरा है, उसके एक एक करके चौदह पहल बनायें तो अनुक्रमसे विशेषातिविशेष कांति प्रगट होती है, और चौदह पहल बनानेसे अंतमें हीरेकी संपूर्ण स्पष्ट कांति प्रगट होती है। इसी तरह संपूर्ण गुण प्रगट होनेसे आत्मा संपूर्णरूपसे प्रगट होती है।

चौदह पूर्वधारी ग्यारहवेंसे वापस गिरता है, उसका कारण प्रमाद है। प्रमादके कारणसे वह ऐसा मानता है कि 'अब मुझमें गुण प्रगट हुआ। ऐसे अभिमानसे पहले गुणस्थानमें जा गिरता है, और अनंत कालका भ्रमण करना पड़ता है। इसलिए जीव अवश्य जाग्रत रहे; क्योंकि वृत्तियोंका प्राबल्य ऐसा है कि वह हर तरहसे ठगता है।

ग्यारहवें गुणस्थानसे जीव गिरता है उसका कारण यह कि वृत्तियाँ प्रथम तो जानती हैं कि 'अभी यह शूरतामें है इसलिए अपना बल चलनेवाला नहीं है', और इससे चुप होकर सब दबी रहती हैं। 'क्रोध कड़वा है इसलिए ठगा नहीं जायेगा, मानसे भी ठगा नहीं जायेगा, और मायाका बल चलने जैसा नहीं है', ऐसा वृत्तियोंने समझा कि तुरत वहाँ लोभका उदय हो जाता है। 'मुझमें कैसे ऋद्धि, सिद्धि और ऐश्वर्य प्रगट हुए हैं', ऐसी वृत्ति वहाँ आगे आनेसे उसका लोभ होनेसे जीव वहाँसे गिरता है और पहले गुणस्थानमें आता है।

इस कारणसे वृत्तियोंका उपशम करनेकी अपेक्षा क्षय करे ताकि फिरसे उद्भूत न हों। जब ज्ञानीपुरुष त्याग करानेके लिए कहे कि यह पदार्थ छोड़ दे तब वृत्ति भुलाती है कि ठीक है मैं दो दिनके बाद त्याग करूँगा। ऐसे भुलावेमें पड़ता है कि वृत्ति जानती है कि ठीक हुआ,

अड़ीका चूका सौ वर्ष जीता है। इतनेमें शिथिलताके कारण मिले कि 'इसके त्यागसे रोगके कारण खड़े होंगे; इसलिए अभी नहीं परंतु फिर त्याग करूँगा।' इस तरह वृत्तियाँ ठगती हैं।

इस प्रकार अनादिकालसे जीव ठगा जाता है। किसीका बीस बरसका पुत्र मर गया हो, उस वक्त उस जीवको ऐसी कड़वाहट लगती है कि यह संसार मिथ्या है। परंतु दूसरे ही दिन बाह्य-वृत्ति यह कहकर इस विचारका विस्मरण करातो है कि 'इसका लड़का कल बड़ा हो जायेगा, ऐसा तो होता ही आता है, क्या करे ?' ऐसा होता है, परन्तु ऐसा नहीं होता कि जिस तरह वह पुत्र मर गया, उसी तरह मैं भी मर जाऊँगा। इसलिए समझकर वैराग्य पाकर चला जाऊँ तो अच्छा है। ऐसी वृत्ति नहीं होती। वहाँ वृत्ति ठग लेती है।

कोई अभिमानी जीव यों मान बैठता है कि 'मैं पंडित हूँ, शास्त्रवेत्ता हूँ, चतुर हूँ, गुणवान हूँ, लोग मुझे गुणवान कहते हैं', परंतु उसे जब तुच्छ पदार्थका संयोग होता है तब तुरत ही उसकी वृत्ति उस ओर खिच जाती है। ऐसे जीवको ज्ञानी कहते हैं कि तू जरा विचार सही कि उस तुच्छ पदार्थकी कीमतकी अपेक्षा तेरी कोमत तुच्छ है! जैसे एक पाईकी चार बीड़ी मिलती है, अर्थात् पाव पाईकी एक बीड़ी है। उस बीड़ीका यदि तुझे व्यसन हो तो तू अपूर्व ज्ञानीके वचन सुनता हो तो भी यदि वहाँ कहींसे बीड़ीका धूआँ आ गया कि तेरी आत्मामेंसे वृत्तिका धूआँ निकलने लगता है, और ज्ञानीके वचनोंपरसे प्रेम जाता रहता है। बीड़ी जैसे पदार्थमें, उसकी क्रियामें, वृत्ति खिचनेसे वृत्तिका क्षोभ निवृत्त नहीं होता। पाव पाईकी बीड़ीसे यदि ऐसा हो जाता है, तो व्यसनकी कीमत उससे भी तुच्छ हुई, एक पाईकी चार आत्माएँ हुई। इसलिए प्रत्येक पदार्थमें तुच्छताका विचार कर बाहर जाती हुई वृत्तिको रोकें, और उसका क्षय करें।

अनाथदासजीने कहा है कि 'एक अज्ञानोके करोड़ अभिप्राय हैं और करोड़ ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है।'

आत्माके लिए जो मोक्षका हेतु है वह 'सुपच्चक्खाण'। आत्माके लिए जो संसारका हेतु है वह 'दुपच्चक्खाण'। ढूंढिया और तपा कल्पना करके जो मोक्ष जानेका मार्ग कहते हैं तदनुसार तो तीन कालमें मोक्ष नहीं है।

उत्तम जाति, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और सत्संग इत्यादि प्रकारसे आत्मगुण प्रगट होता है।

आपने माना है वैसा आत्माका मूल स्वभाव नहीं है; और आत्माको कर्मने कुछ एकदम आवृत नहीं कर डाला है। आत्माके पुरुषार्थधर्मका मार्ग बिलकुल खुला है।

बाजरे अथवा गेहूँके एक दानेको लाख वर्ष तक रख छोड़ा हो (सड़ जाये, यह बात हमारे ध्यानमें है) परंतु यदि उसे पानी, मिट्टी आदिका संयोग न मिले तो उसका उगना संभव नहीं है, उसी तरह सत्संग और विचारका योग न मिले तो आत्मगुण प्रगट नहीं होता।

श्रेणिक राजा नरकमें है, परंतु समभावसे है, समकिती है, इसलिए उसे दुःख नहीं है।

चार लकड़हारोंके दृष्टांतसे चार प्रकारके जीव हैं :—

चार लकड़हारे जंगलमें गये। पहले सबने लकड़ियाँ लीं। वहाँसे आगे चले कि चंदन आ गया। वहाँ तीनने चंदन ले लिया। एकने कहा 'ना मालूम इस तरहकी लकड़ियाँ विकें कि नहीं, इसलिए मुझे तो नहीं लेनी है। हम जो रोज लेते हैं मुझे तो वही अच्छी हैं।' आगे चलनेपर चाँदी-सोना आया। तीनमेंसे दोने चंदन फेंककर चाँदी सोना लिया, एकने नहीं लिया। वहाँसे आगे चले कि रत्नचिंतामणि आया। दोमेंसे एकने सोना फेंककर रत्नचिंतामणि लिया, एकने सोना रहने दिया।

(१) यहाँ इस तरह दृष्टांत लगायें कि जिसने लकड़ियाँ ही ली हैं और दूसरा कुछ भी नहीं लिया उस प्रकारका एक जीव है कि जिसने लौकिक काम करते हुए ज्ञानी पुरुषको नहीं पहचाना, दर्शन भी नहीं किया; इससे उसका जन्म, जरा, मरण भी दूर नहीं हुए; गति भी नहीं सुधरी।

(२) जिसने चंदन लिया और लकड़ियाँ फेंक दी। यहाँ दृष्टांत यों लगायें कि जिसने थोड़ा-सा ज्ञानीको पहचाना; दर्शन किये, जिससे उसकी गति अच्छी हुई।

(३) सोना आदि लिया, इस दृष्टांतको यों लगायें कि जिसने ज्ञानीको उस प्रकारसे पहचाना इसलिए उसे देवगति प्राप्त हुई।

(४) जिसने रत्नचिंतामणि लिया, इस दृष्टांतको यों लगायें कि जिस जीवको ज्ञानीकी यथार्थ पहचान हुई वह जीव भवमुक्त हुआ।

एक वन है। उसमें माहात्म्यवाले पदार्थ हैं। उनको जितनी पहचान होती है उतना माहात्म्य मालूम होता है, और उसी परिमाणसे वह ग्रहण करता है। इस तरह ज्ञानीपुरुषरूपी वन है। ज्ञानीपुरुषका अगम्य, अगोचर माहात्म्य है। उसकी जितनी जितनी पहचान होती है उतना उतना उसका माहात्म्य मालूम होता है; और उस उस प्रमाणमें उसका कल्याण होता है।

सांसारिक खेदके कारणोंको देखकर जीवको कड़वाहट मालूम होते हुए भी वह वैराग्यपर पैर रखकर चला जाता है परंतु वैराग्यमें प्रवृत्ति नहीं करता।

लोग ज्ञानीको लोकदृष्टिसे देखें तो पहचाने नहीं।

आहार आदिमें ज्ञानीपुरुषकी प्रवृत्ति बाह्य रहती है। किस तरह? जो घड़ा ऊपर (आकाशमें) है, और पानीमें खड़े रहकर, पानीमें दृष्टि रखकर, बाण साधकर उस (ऊँचे घड़े)को बींधना है। लोग समझते हैं कि बींधनेवालेकी दृष्टि पानीमें है, परन्तु वास्तवमें देखें तो जिस घड़ेको बींधना है उसका लक्ष्य करके बींधनेवालेकी दृष्टि आकाशमें है। इस तरह ज्ञानीकी पहचान किसी विचारवानको होती है।

दृढ़ निश्चय करें कि बाहर जाती हुई वृत्तियोंका क्षय करके अंतर्वृत्ति करना, अवश्य यही ज्ञानीकी आज्ञा है।

स्पष्ट प्रीतिसे संसारका व्यवहार करनेकी इच्छा होती हो तो समझना कि ज्ञानीपुरुषको देखा नहीं। जिस प्रकार प्रथम संसारमें रससहित वर्तन करता हो उस प्रकार, ज्ञानीका योग होनेके बाद वर्तन न करे, यही ज्ञानीका स्वरूप है।

ज्ञानीको ज्ञानदृष्टिसे, अंतर्दृष्टिसे देखनेके बाद स्त्री देखकर राग उत्पन्न नहीं होता, कारण कि ज्ञानीका स्वरूप विषयसुखकल्पनासे भिन्न है। जिसने अनंत सुखको जाना हो उसे राग न हो; और जिसे राग न हो उसीने ज्ञानीको देखा, और उसीने ज्ञानीपुरुषके दर्शन किये; फिर स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासित हुए विना नहीं रहे, कारण कि ज्ञानीके वचन यथार्थरूपसे सच्चे जाने हैं। ज्ञानीके समीप देह और आत्माको भिन्न—पृथक् पृथक् जाना है, उसे देह और आत्मा भिन्न भिन्न भासित होती है; और इसलिए स्त्रीका शरीर और आत्मा भिन्न भासित होते हैं। उसने स्त्रीके शरीरको मांस, मिट्टी, हड्डी आदिका पुतला समझा है इसलिए उसमें राग उत्पन्न नहीं होता।

सारे शरीरका बल, ऊपर-नीचेका दोनों कमरके ऊपर है। जिसकी कमर टूट गई है उसका सारा बल चला गया। विषयादि जीवकी तृष्णा है। संसाररूपी शरीरका बल इस विषयादि रूप कमरके ऊपर है। ज्ञानीपुरुषका बोध लगनेसे विषयादिरूप कमर टूट जाती है। अर्थात्

विषयादिकी तुच्छता लगती है, और इस प्रकार संसारका वल घटता है; अर्थात् ज्ञानीपुरुषके बोधमें ऐसी सामर्थ्य है।

श्री महावीरस्वामीको संगम नामके देवताने बहुत ही ऐसे ऐसे परिषह दिये कि प्राणत्याग होते हुए भी देर न लगे। उस समय कैसी अद्भुत समता! उस समय उन्होंने विचार किया कि जिनके दर्शन करनेसे कल्याण हो, नामस्मरण करनेसे कल्याण हो, उनके संगमें आकर इस जीवको अनंत संसार बढ़नेका कारण होता है। ऐसी अनुकम्पा आनेसे आँखमें आँसू आ गये। कैसी अद्भुत समता! परकी दया किस तरह फूट निकली थी। उस वक्त मोह राजाने यदि जरा धक्का लगाया होता तो तो तुरत ही तीर्थंकरत्वका संभव न रहता, यद्यपि देवता तो भाग जाता परन्तु जिसने मोहनीय मलका मूलसे नाश किया है, अर्थात् मोहको जीता है, वह मोह कैसे करे?

श्री महावीरस्वामीके समीप गोशालाने आकर दो साधुओंको जला डाला, तव यदि ऐश्वर्य बताकर साधुओंकी रक्षा की होती तो तीर्थंकरत्वको फिर करना पड़ता; परंतु जिसे 'मैं गुरु हूँ, यह मेरा शिष्य है', ऐसी भावना नहीं है उसे वैसा कोई प्रकार नहीं करना पड़ता। मैं शरीर-रक्षणका दातार नहीं, केवल भाव-उपदेशका दातार हूँ; यदि मैं रक्षा करूँ तो मुझे गोशालाकी रक्षा करनी चाहिए अथवा सारे जगतकी रक्षा करनी उचित है,' ऐसा सोचा। अर्थात् तीर्थंकर यों ममत्व करे ही नहीं।

वेदांतमें इस कालमें चरमशरीरी कहा है। जिनके अभिप्रायके अनुसार भी इस कालमें एकावतारी जीव होता है। यह कोई थोड़ी बात नहीं है; क्योंकि इसके बाद कुछ मोक्ष होनेमें अधिक देर नहीं है। जरा कुछ बाकी रहा हो, रहा है वह फिर सहजमें चला जाता है। ऐसे पुरुषकी दशा, वृत्तियाँ कैसी हों? अनादिकी बहुतसी वृत्तियाँ शांत हो गयी होती हैं; और इतनी अधिक शांत हो गयी होती हैं कि रागद्वेष सब नष्ट होने योग्य हो जाते हैं, उपशांत हो जाते हैं।

सद्वृत्तियाँ होनेके लिए जो जो कारण, साधन बताये हुए होते हैं उन्हें न करनेको ज्ञानी कभी नहीं कहते। जैसे रातमें खानेसे हिंसाका कारण होता है, इसलिए ज्ञानी आज्ञा ही नहीं करते कि तू रातमें खा। परंतु जो जो अहंभावसे आचरण किया हो, और रात्रिभोजनसे ही अथवा अमुकसे ही मोक्ष हो, इसमें ही मोक्ष है, ऐसा दुराग्रहसे माना हो तो वैसे दुराग्रहको छुड़ानेके लिए ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि 'छोड़ दे, तेरी अहंवृत्तिने जो किया था उसे छोड़ दे, और ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञासे वैसा कर और वैसा करे तो कल्याण हो जाये।' अनादिकालसे दिन और रातमें खाया परन्तु जीवका मोक्ष नहीं हुआ!

इस कालमें आराधकताके कारण घटते जाते हैं, और विराधकताके लक्षण बढ़ते जाते हैं।

केशीस्वामी बड़े थे, और पार्श्वनाथस्वामीके शिष्य थे, तो भी पांच व्रत अंगीकार किये थे। केशीस्वामी और गौतमस्वामी महा विचारवान थे, परंतु केशीस्वामीने यों नहीं कहा 'मैं दीक्षामें बड़ा हूँ, इसलिए आप मेरे पास चारित्र ग्रहण करें।' विचारवान और सरल जीव जिसे तुरत कल्याणयुक्त हो जाना है उसे ऐसी बातका आग्रह नहीं होता।

कोई साधु जिसने प्रथम आचार्यरूपसे अज्ञानावस्थासे उपदेश किया हो, और पीछेसे उसे ज्ञानीपुरुषका समागम होनेपर वह ज्ञानीपुरुष यदि आज्ञा करे कि जिस स्थलमें आचार्यरूपसे उपदेश किया हो वहाँ जाकर आखिरके एक कोनेमें वैठकर सभी लोगोंसे ऐसा कहे कि 'मैंने अज्ञानतासे उपदेश दिया है, इसलिए आप भूल न खायें', तो साधुको उस तरह किये विना छुटकारा नहीं है। यदि वह साधु यों कहे 'मुझसे ऐसा नहीं हो सके, इसके वदले आप कहें तो पहाड़परसे गिर जाऊँ,

अथवा दूसरा चाहे जो कहें वह करूँ, परंतु वहाँ तो मैं नहीं जा सकता।' ज्ञानी कहता है कि तब इस बातको जाने दें। हमारे संगमें भी न आना। कदाचित् तू लाख बार पर्वतसे गिरे तो भी वह किसी कामका नहीं है। यहाँ तो वैसा करेगा तो मोक्ष मिलेगा। वैसा किये विना मोक्ष नहीं है; इसलिए जाकर क्षमापना माँगे तो ही कल्याण हो।'

गौतमस्वामी चार ज्ञानके धर्ता थे और आनंद श्रावकके पास गये थे। आनंद श्रावकने कहा, 'मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ है।' तब गौतमस्वामीने कहा 'नहीं, नहीं, इतना सब हो नहीं सकता, इसलिए आप क्षमापना लें।' तब आनंद श्रावकने विचार किया कि ये मेरे गुरु हैं, कदाचित् इस वक्त भूल करते हों तो भी भूल करते हैं, यह कहना योग्य नहीं; गुरु हैं इसलिए शांतिसे कहना योग्य है, यह सोचकर आनंद श्रावकने कहा कि 'महाराज! सद्भुत वचनका मिच्छामि दुक्कडं कि असद्भुत वचनका मिच्छामि दुक्कडं?' तब गौतमस्वामीने कहा 'असद्भुत वचनका मिच्छामि दुक्कडं।' तब आनंद श्रावकने कहा, 'महाराज! मैं मिच्छामि दुक्कडं लेने योग्य नहीं हूँ।' इसलिए गौतमस्वामी चले गये, और जाकर महावीरस्वामीसे पूछा। (गौतमस्वामी उसका समाधान कर सकते थे, परंतु गुरुके रहते हुए वैसा न करे जिससे महावीरस्वामीके पास जाकर यह सब बात कही) महावीरस्वामीने कहा, 'हे गौतम! हाँ, आनंद देखता है ऐसा ही है और आपकी भूल है, इसलिए आप आनंदके पास जाकर क्षमा माँगें।' 'तथास्तु' कहकर गौतमस्वामी क्षमा माँगनेके लिए चल दिये। यदि गौतमस्वामीने मोहनामके महा सुभटका पराभव न किया होता तो वे वहाँ नहीं जाते, और कदाचित् गौतमस्वामी यों कहते कि 'महाराज! आपके इतने सब शिष्य हैं, उनकी मैं चाकरी करूँ, परंतु वहाँ तो नहीं जाऊँ'; तो वह बात मान्य न होती। गौतमस्वामी स्वयं वहाँ जाकर क्षमा माँग आये!

'सास्वादन-समकित' अर्थात् वमन किया हुआ समकित, अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, उसपर आवरण आ जाये तो भी मिथ्यात्व और समकितकी कीमत उसे भिन्न भिन्न लगती है। जैसे बिलोकर छाछमेंसे मक्खन लिया, और फिर वापस छाछमें डाला। मक्खन और छाछ पहले जैसे परस्पर मिले हुए थे वैसे फिरसे नहीं मिलते, उसी तरह समकित मिथ्यात्वके साथ नहीं मिलता। हीरामणिकी कीमत हुई है, परंतु काचकी मणि आये तब हीरामणि साक्षात् अनुभवमें आये, यह दृष्टांत भी यहाँ घटता हैं।

निर्ग्रंथगुरु अर्थात् पैसारहित गुरु नहीं, परन्तु जिसका ग्रन्थिभेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहचान होना व्यावहारसे ग्रंथिभेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने काचकी मणि लेकर सोचा कि 'मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी नहीं मिलती।' फिर उसने एक विचारवान पास जाकर कहा, 'मेरी मणि असली है।' फिर उस विचारवानने उससे बढ़िया बढिया और अधिकाधिक मूल्यकी मणियाँ बताकर कहा कि 'देखें, इनमें कुछ फरक लगता है? ठीक तरहसे देखें।' तब उसने कहा, 'हाँ फरक लगता है।' फिर उस विचारवानने झाड-फानूस बताकर कहा, देखें आप जैसी मणियों तो हजारों मिलती हैं। सारा झाड़-फानूस दिखानेके बाद उसे जब मणि दिखायी तब उसे उसकी ठीक ठीक कीमत मालूम हुई; फिर उसने नकलीको नकली जानकर छोड़ दिया। बादमें कोई प्रसंग मिलनेसे उसने कहा कि 'तूने जिस मणिको असली समझा है ऐसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं।' ऐसे आवरणोंसे वहम आ जानेसे जीव भूल जाता है, परन्तु बादमें उसे नकली समझता है। जिस प्रकार असलीकी कीमत हुई हो उस प्रकारसे वह तुरत जागृतिमें आता है कि असली अधिक नहीं होती, अर्थात् आवरण तो होता है परन्तु पहलेकी पहचान भूली नहीं जाती।

इस प्रकार विचारवानको सद्‌गुरुका योग मिलनेसे तत्त्वप्रतीति होती है, परन्तु फिर मिथ्यात्वके संगसे आवरण आ जानेसे शंका हो जाती है। यद्यपि तत्त्वप्रतीति नष्ट नहीं होती परन्तु उसपर आवरण आ जाता है। इसका नाम 'सास्वादनसम्यक्त्व' है।

सद्‌गुरु, सद्देव, केवलीके प्ररूपित धर्मको सम्यक्त्व कहा है, परन्तु सद्देव और केवली ये दोनों सद्‌गुरुमें समाये हुए हैं।

सद्‌गुरु और असद्‌गुरुमें रात-दिनका अंतर है।

एक जौहरी था। व्यापार करते हुए बहुत नुक्सान हो जानेसे उसके पास कुछ भी द्रव्य नहीं रहा। मरनेका वक्त आ पहुँचा, इसलिए स्त्री-बच्चोंका विचार करता है कि मेरे पास कुछ भी द्रव्य नहीं है, परन्तु यदि अभी यह बात करूँगा तो लड़का छोटी उमरका है, इससे उसकी देह छूट जायेगी। स्त्रीने सामने देखा और पूछा, 'आप कुछ कहते हैं?' पुरुषने कहा, 'क्या कहूँ?' स्त्रीने कहा कि 'जिससे मेरा और बच्चोंका उदर-पोषण हो ऐसा कोई उपाय बताइये और कुछ कहिये।' तब उसने विचार कर कहा कि घरमें जवाहरातकी पेटीमें कीमती नगकी डिबिया है, उसे, जब तुझे बहुत जरूरत पड़े तब निकाल कर मेरे मित्रके पास जाकर बिकवा देना, उससे तुझे बहुतसा द्रव्य मिल जायेगा। इतना कहकर वह कालधर्मको प्राप्त हुआ। कुछ दिनोंके बाद विना पैसे उदर-पोषणके लिए पीडित हुए देखकर, वह लड़का, अपने पिताके पूर्वोक्त जवाहरातके नग लेकर अपने चाचा (पिताके मित्र जौहरी) के पास गया और कहा कि 'मुझे ये नग बेचने हैं, उनका जो द्रव्य आये वह मुझे दें। तब उस जौहरी भाईने पूछा, 'ये नग बेचकर क्या करना है?' 'उदर भरनेके लिए पैसेकी जरूरत है', यों उस लड़केने कहा। तब उस जौहरीने कहा, 'सौ-पचास रूपये चाहिए तो ले जा, और रोज मेरी दुकानपर आते रहना, और खर्च ले जाना। ये नग अभी रहने दो।' उस लड़केने उस भाईकी बातको मान ली, और उन जवाहरातको वापस ले गया। फिर रोज वह लड़का जौहरीकी दुकानपर जाने लगा और जौहरीके समागमसे हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम सब-को पहचानना सीख गया और उसे उन सबकी कीमत मालूम हो गयी। फिर उस जौहरीने कहा, 'तू अपने जो जवाहरात पहले बेचने लाया था, उन्हें ले आ, अब उन्हें बेचें। फिर घरसे लड़केने अपने जवाहरातकी डिबिया लाकर देखा तो नग नकली लगे इसलिए तुरत फेंक दिये। तब उस जौहरीने पूछा कि 'तूने फेंक क्यों दिये?' तब उसने कहा कि 'एकदम नकली हैं इसलिए फेंक दिये हैं'। यदि उस जौहरीने पहलेसे ही नकली कहे होते तो वह मानता नहीं, परंतु जब अपनेको वस्तु-की कीमत मालूम हो गयी और नकलीको नकलीरूपसे जान लिया तब जौहरीको कहना नहीं पड़ा कि नकली हैं। इसी तरह स्वयंको सद्‌गुरुकी परीक्षा हो जानेपर असद्‌गुरुको असत् जान लिया तो फिर जीव तुरत ही असद्‌गुरुको छोड़कर सद्‌गुरुके चरणमें पड़ता है, अर्थात् अपनेमें कीमत करनेकी शक्ति आनी चाहिए।

गुरुके पास रोज जाकर एकेंद्रिय आदि जीवोंके संबंधमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ तथा कल्प-नाएँ करके पूछा करता है; रोज जाता है और वहीकी वही बात पूछता है। परन्तु उसने क्या सोच रखा है? एकेंद्रियमें जाना सोचा है क्या? परन्तु किसी दिन यह नहीं पूछता कि एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियको जाननेका परमार्थ क्या है? एकेंद्रिय आदि जीवोंसंबंधी कल्पनाओंसे कुछ मिथ्यात्व ग्रंथिका छेदन नहीं होता। एकेंद्रिय आदि जीवोंका स्वरूप जाननेका कोई फल नहीं है। वास्तवमें तो समकित प्राप्त करना है। इसलिए गुरुके पास जाकर निकम्मे प्रश्न करनेकी अपेक्षा गुरुसे कहना

कि एकेंद्रिय आदिकी बात आज जान ली है, अब उस बातको आप कल न करें; परन्तु समकितकी व्यवस्था करें। ऐसा कह तो इसका किसी दिन निबेडा हो। परन्तु रोज एकेंद्रिय आदिकी माथा-पच्ची करे तो इसका कल्याण कब हो?

समुद्र खारा है। एकदम तो उसका खारापन दूर नहीं होता। उसके लिए इस प्रकार उपाय है कि समुद्रमेंसे एक एक प्रवाह लेना, और उस प्रवाहमें, जिससे उस पानीका खारापन दूर हो और मिठास आ जाये ऐसा खार डालना। उस पानीके सुखानेके दो प्रकार हैं—एक तो सूर्यका ताप और दूसरा जमीन; इसलिए पहले जमीन तैयार करना और फिर नालियों द्वारा पानी ले जाना और फिर खार डालना कि जिससे खारापन मिट जायेगा। इसी तरह मिथ्यात्वरूपी समुद्र है, उसमें कदाग्रहरूपी खारापन है; इसलिए कुल-धर्मरूपी प्रवाहको योग्यतारूप जमीनमें ले जाकर सद्‌बोधरूपी खार डालना इसलिए सत्पुरुषरूपी तापसे खारापन मिट जायेगा।

'[1]दुर्बळ देह ने मास उपवासी, जो छे मायारंग रे।
तोपण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजुं अंग रे॥'

जितनी भ्रांति अधिक उतना मिथ्यात्व अधिक।

सबसे बड़ा रोग मिथ्यात्व।

जब जब तपश्चर्या करना तब तब उसे स्वच्छंदसे न करना, अहंकारसे न करना, लोगोंके लिए न करना। जीवको जो कुछ करना है उसे स्वच्छंदसे न करे। 'मैं सयाना हूँ', ऐसा मान रखना वह किस भवके लिए? 'मैं सयाना नहीं हूँ' यों जिसने समझा वह मोक्षमें गया है। मुख्यसे मुख्य विघ्न स्वच्छंद है। जिसके दुराग्रहका छेदन हो गया है वह लोगोंको भी प्रिय होता है; दुराग्रह छोड़ दिया हो तो दूसरोंको भी प्रिय होता है; इसलिए दुराग्रह छोड़नेसे सब फल मिलने संभव हैं।

गौतमस्वामीने महावीरस्वामीसे वेदके प्रश्न पूछे, उनका, जिन्होंने सभी दोषोंका क्षय किया है ऐसे महावीरस्वामीने वेदके दृष्टांत देकर समाधान सिद्ध कर दिया।

दूसरेको ऊँचे गुणपर चढ़ाना, परन्तु किसीकी निंदा नहीं करना। किसीको स्वच्छंदसे कुछ नहीं कहना। कहने योग्य हो तो अहंकाररहित भावसे कहना। परमार्थदृष्टिसे रागद्वेष कम हुए हों तो फलीभूत होते हैं। व्यवहारसे तो भोले जीवोंके भी रागद्वेष कम हुए होते हैं; परन्तु परमार्थसे रागद्वेष मंद हो जायें तो कल्याणका हेतु है।

महान पुरुषोंकी दृष्टिसे देखते हुए सभी दर्शन समान हैं। जैनमें बीस लाख जीव मतमतांतरमें पड़े हैं! ज्ञानीकी दृष्टिसे भेदाभेद नहीं होता।

जिस जीवको अनंतानुबंधीका उदय है उसको सच्चे पुरुषकी बात सुनना भी नहीं भाता।

मिथ्यात्वकी ग्रंथि है उसकी सात प्रकृतियाँ हैं। मान आये तो सातों आती हैं, उनमें अनंतानुबंधी चार प्रकृतियाँ चक्रवर्तीके समान हैं। वे किसी तरह ग्रंथिमेंसे निकलने नहीं देतीं। मिथ्यात्व रखवाला है। सारा जगत उसकी सेवा-चाकरी करता है।

प्र०—उदय कर्म किसे कहते हैं?

उ०—ऐश्वर्यपद प्राप्त होते हुए उसे धक्का मारकर वापस बाहर निकाल दे कि 'इसकी मुझे जरूरत नहीं है, इसे क्या करना है? कोई राजा प्रधानपद दे तो भी स्वयं उसे लेनेकी इच्छा न

१. दुर्बल देह हैं, और एक एक मासका उपवास करता है; परन्तु यदि अंतरमें माया है तो भी जीव अनंत गर्भ धारण करेगा, ऐसा दूसरे अंगमें कहा है।

करे, 'मुझे इसको क्या करना है ? यह घरसंबंधी इतनी उपाधि हो तो बहुत है।' इस तरह मना करे। ऐश्वर्यपदकी अनिच्छा होनेपर भी राजा पुनः पुनः देना चाहे और इस कारण वह सिरपर आ पड़े, तो उसे विचार हो कि 'यदि तू प्रधान होगा तो बहुतसे जीवोंकी दया पलेगी, हिंसा कम होगी, पुस्तकशालाएँ होंगी, पुस्तकें छपायी जायेंगी।' ऐसे धर्मके बहुतसे हेतुओंको समझकर वैराग्य भावनासे वेदन करे तो उसे उदय कहा जाये। इच्छासहित भोगे और उदय कहे, वह तो शिथिलताका और संसारमें भटकनेका कारण होता है।

कितने ही जीव मोहगर्भित वैराग्यसे और कितने दुःखगर्भित वैराग्यसे दीक्षा लेते हैं। 'दीक्षा लेने अच्छे अच्छे नगरों और गाँवोंमें फिरनेको मिलेगा। दीक्षा लेनेके बाद अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलेंगे, नंगे पाओं धूपमें चलना पड़ेगा इतनी मुश्किल है, परन्तु वैसे तो साधारण किसान या जमीनदार भी धूपमें अथवा नंगे पाओं चलते हैं, तो उनकी तरह सहज हो जायेगा, परन्तु और किसी दूसरी तरहसे दुःख नहीं है और कल्याण होगा।' ऐसी भावनासे दीक्षा लेनेका जो वैराग्य हो वह 'मोहगर्भित वैराग्य' है।

पूनमके दिन बहुतसे लोग डाकोर जाते हैं, परंतु कोई यह विचार नहीं करता कि इससे अपना क्या कल्याण होता है ? पूनमके दिन रणछोडजीके दर्शन करनेके लिए बाप-दादा जाते थे यह देखकर लड़के जाते हैं, परंतु उसके हेतुका विचार नहीं करते। यह प्रकार भी मोहगर्भित वैराग्यका है।

जो सांसारिक दुःखसे संसारत्याग करता है उसे दुःखगर्भित वैराग्य समझें।

जहाँ जाये वहाँ कल्याणकी वृद्धि हो ऐसी दृढ मति करना, कुलगच्छके आग्रहको छुड़ाना यही सत्संगके माहात्म्यके सुननेका प्रमाण है। धर्मके मतमतांतर आदि बड़े बड़े अनंतानुबंधी पर्वतकी दरारोंकी तरह कभी मिलते ही नहीं। कदाग्रह नहीं करना और जो कदाग्रह करता हो उसे धीरजसे समझाकर छुड़ा देना तभी समझनेका फल है। अनंतानुबंधी मान कल्याण होनेमें बीचमें स्तंभरूप कहा गया है। जहाँ जहाँ गुणी मनुष्य हो वहाँ वहाँ उसका संग करनेके लिए विचारवान जीव कहे। अज्ञानीके लक्षण लौकिकभावके होते हैं। जहाँ जहाँ दुराग्रह हो वहाँ वहाँसे छूटना। 'इसकी मुझे जरूरत नहीं है' यही समझना है।

●

[६४३-४] ५ राळज, भादों सुदी ६, शनि, १९५२

प्रमादसे योग उत्पन्न होता है। अज्ञानीको प्रमाद है। योगसे अज्ञान उत्पन्न होता हो तो वह ज्ञानीमें भी संभव है, इसलिए ज्ञानीको योग होता है परन्तु प्रमाद नहीं होता।

"स्वभावमें रहना और विभावसे छूटना" यही मुख्य बात तो समझनी है। बाल जीवोंके समझनेके लिए ज्ञानीपुरुषोंने सिद्धांतोंके बड़े भागका वर्णन किया है।

किसीपर दोष करना नहीं, तथा किसीपर प्रसन्न होना नहीं यों करनेसे एक शिष्यको दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रगट हुआ ऐसा शास्त्रमें वर्णन है।

जितना रोग होता है उतनी ही उसकी दवा करनी पड़ती है। जीवको समझना हो तो सहज ही विचार प्रगट हो जाये। परन्तु मिथ्यात्वरूपी बड़ा रोग है, इसलिए समझनेके लिए बहुत काल बीतना चाहिए। शास्त्रमें जो सोलह रोग कहे हैं, वे सभी इस जीवको हैं; ऐसा समझें।

जो साधन बताये हैं वे एकदम सुलभ हैं। स्वच्छंदसे, अहंकारसे, लोकलाजसे, कुलधर्मके रक्षणके लिए तपश्चर्या नहीं करना, आत्मार्थके लिए करना। तपश्चर्या बारह प्रकारकी कही है। आहार न लेना इत्यादि बारह प्रकार हैं। सत्साधन करनेके लिए जो कुछ बताया हो उसे सत्पुरुषके आश्रयसे उस प्रकारसे करें। अपने आपसे वर्तन करना वही स्वच्छंद है ऐसा कहा है। सद्गुरुकी आज्ञाके विना श्वासोच्छ्वास क्रियाके सिवाय अन्य कुछ न करे।

साधु लघुशंका भी गुरुसे पूछकर करे ऐसी ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञा है।

स्वच्छंदाचारसे शिष्य बनाना हो तो साधु आज्ञा नहीं माँगता अथवा उसकी कल्पना कर लेता है। परोपकार करनेमें अशुभ कल्पना रहती हो, और वैसे ही अनेक विकल्प करके स्वच्छंद न छोड़े वह अज्ञानी आत्माको विघ्न करता है, इसी तरह ऐसे सब प्रकारोंका सेवन करता है, और परमार्थका मार्ग छोड़कर वाणी कहता है यही अपनी चतुराई और इसीको स्वच्छंद कहा है।

ज्ञानीकी प्रत्येक आज्ञा कल्याणकारी है। इसलिए उसमें न्यूनाधिक या छोटे-बड़ेकी कल्पना न करें। इसी तरह उस बातका आग्रह करके झगड़ा न करें। ज्ञानी जो कहता है वही कल्याणका हेतु है यों समझमें आता है तो स्वच्छंद मिटता है। यही यथार्थ ज्ञानी है इसलिए वह जो कहता है तदनुसार करें। दूसरा कोई विकल्प न करें।

जगतमें भ्रांति न रखें, इसमें कुछ भी नहीं है। यह बात ज्ञानीपुरुष बहुत ही अनुभवसे वाणी द्वारा कहते हैं। जीव विचार करे कि 'मेरी बुद्धि स्थूल है, मुझे समझमें नहीं आता। ज्ञानी जो कहता है वे वाक्य सच्चे हैं, यथार्थ हैं;' यों समझे तो सहजमें ही दोष कम हो।

जैसे एक वर्षासे बहुतसी वनस्पति फूट निकलती है, वैसे ज्ञानीकी एक भी आज्ञाका आराधन करते हुए बहुतसे गुण प्रगट हो जाते हैं।

यदि ज्ञानीकी यथार्थ प्रतीति हो गयी हो, और ठीक तरहसे जाँच की है कि 'यह सत्पुरुष है, इसकी दशा सच्ची आत्मदशा है, और इससे कल्याण होगा ही,' और ऐसे ज्ञानीके वचनोंके अनुसार प्रवृत्ति करे, तो बहुत ही दोष, विक्षेप मिट जायें। जहाँ जहाँ देखे वहाँ वहाँ अहंकाररहित वर्तन करे और उसका सभी प्रवर्तन सीधा ही हो। यों सत्संग, सत्पुरुषका योग अनंत गुणोंका भंडार है।

जो जगतको बतानेके लिए कुछ नहीं करता उसीको सत्संग फलीभूत होता है। सत्संग और सत्पुरुषके विना त्रिकालमें भी कल्याण नहीं होता।

बाह्य त्यागसे जीव बहुत भूल जाता है। वेश, वस्त्र आदिमें भ्रांति भूल जायें। आत्माकी विभावदशा और स्वभावदशाको पहचानें।

कितने कर्मोंको भोगे विना छुटकारा नहीं है। ज्ञानीको भी उदय कर्मका संभव है। परन्तु गृहस्थपना साधुपनेकी अपेक्षा अधिक है यों बाहरसे कल्पना करे तो किसी शास्त्रका योगफल न मिले।

तुच्छ पदार्थमें भी वृत्ति चलायमान होती है। चौदह पूर्वधारी भी वृत्तिकी चपलतासे और अहंता स्फुरित हो जानेसे निगोद आदिमें परिभ्रमण करता है। ग्यारहवें गुणस्थानसे भी जीव क्षणिक लोभसे गिरकर पहले गुणस्थानमें आता है। 'वृत्ति शांत की है,' ऐसी अहंता जीवको स्फुरित होनेसे, ऐसे भुलावेसे भटक पड़ता है।

अज्ञानीको धन आदि पदार्थोंमें अतीव आसक्ति होनेसे कोई भी चीज खो जाये तो उससे अनेक प्रकारकी आर्त्तध्यान आदिकी वृत्तिको बहुत प्रकारसे फैलाकर, प्रसरित कर कर क्षोभ प्राप्त करता है, क्योंकि उसने उस पदार्थकी तुच्छता नहीं समझी; परन्तु उसमें महत्त्व माना है।

मिट्टीके घड़ेकी तुच्छता समझी है इसलिए उसके फूट जानेसे क्षोभ प्राप्त नहीं करता। चाँदी, सुवर्ण आदिका महत्त्व माना है इसलिए उनका वियोग होनेसे अनेक प्रकारसे आर्त्तध्यानकी वृत्तिको स्फुरित करता है।

जो जो वृत्तिमें स्फुरित होता है और इच्छा करता है वह 'आस्रव' है।

उस उस वृत्तिका निरोध करता है वह 'संवर' है।

अनंत वृत्तियाँ अनंत प्रकारसे स्फुरित होती हैं, और अनंत प्रकारसे जीवको बाँधती हैं। बालजीवोंको यह समझमें नहीं आता, इसलिए ज्ञानियोंने उनके स्थूल भेद इस तरह करे हैं कि समझमें आ जायें।

वृत्तियोंका मूलसे क्षय नहीं किया इसलिए पुनः पुनः स्फुरित होती हैं। प्रत्येक पदार्थके विषयमें स्फुरायमान बाह्य वृत्तियोंको रोकना और उन वृत्तियों—परिणामोंको अंतर्मुख करना।

अनंतकालके कर्म अनंतकाल बितानेपर नहीं जाते, परन्तु पुरुषार्थसे जाते हैं। इसलिए कर्ममें बल नहीं है परन्तु पुरुषार्थमें बल है। इसलिए पुरुषार्थ करके आत्माको ऊँची लानेका लक्ष्य रखें।

परमार्थकी एककी एक बात सौ बार पूछें तो भी ज्ञानीको कंटाला नहीं आता; परन्तु उसे अनुकंपा आती है कि इस बेचारे जीवकी आत्मामें यह बात विचारपूर्वक स्थिर हो जाये तो अच्छा है।

क्षयोपशमके अनुसार श्रवण होता है।

सम्यक्त्व ऐसी वस्तु है कि वह आता है तो गुप्त नहीं रहता। वैराग्य पाना हो तो कर्मकी निंदा करें। कर्मको प्रधान न करें परन्तु आत्माको मूर्धन्य रखें—प्रधान करें।

संसारी काममें कर्मको याद न करें, परंतु पुरुषार्थको आगे लायें। कर्मका विचार करते रहनेसे तो वह दूर होनेवाला नहीं है, परंतु धक्का लगायेंगे तो जायेगा, इसलिए पुरुषार्थ करें।

बाह्य क्रिया करनेसे अनादि दोष कम नहीं होता। बाह्य क्रियामें जीव कल्याण मानकर अभिमान करता है।

बाह्य व्रत अधिक लेनेसे मिथ्यात्वका नाश कर देंगे, ऐसा जीव सोचे तो यह संभव नहीं, क्योंकि जैसे एक भैंसा जो ज्वार-बाजरेके हजारों पूले खा गया है वह एक तिनकेसे नहीं डरता वैसे मिथ्यात्वरूपी भैंसा जो पूलारूपी अनंतानुबंधी कषायसे अनंत चारित्र खा गया है वह तिनके रूपी बाह्य व्रतसे कैसे डरे परंतु जैसे भैंसेको किसी बंधनसे बाँध दें तो वह अधीन हो जाता है, वैसे मिथ्यात्वरूपी भैंसेको आत्माके बलरूपी बंधनसे बाँध दें तो अधीन हो जाये, अर्थात् आत्माका बल बढ़ता है तो मिथ्यात्व घटता है।

अनादिकालके अज्ञानके कारण जितना काल बीता, उतना काल मोक्ष होनेके लिए नहीं चाहिए; कारण कि पुरुषार्थका बल कर्मोंकी अपेक्षा अधिक है। कितने ही जीव दो घड़ीमें कल्याण कर गये हैं। सम्यग्दृष्टि जीव चाहे जहाँसे आत्माको ऊँचा उठाता है, अर्थात् सम्यक्त्व आनेपर जीवकी दृष्टि बदल जाती है।

मिथ्यादृष्टि समकितीके अनुसार जप, तप आदि करता है, ऐसा होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके जप, तप आदि मोक्षके हेतुभूत नहीं होते, संसारके हेतुभूत होते हैं। समकितीके जप, तप आदि मोक्षके हेतुभूत होते हैं। समकिती दंभरहित करता है, आत्माकी ही निंदा करता है, कर्म करनेके कारणोंसे पीछे हटता है। ऐसा कहनेसे उसके अहंकार आदि सरलतासे घट जाते हैं। अज्ञानीके सभी जप, तप आदि अहंकारको बढ़ाते हैं, और संसारके हेतु होते हैं।

जैन शास्त्रोंमें कहा है कि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जैन और वेद जन्मसे ही लड़ते आते हैं, परंतु इस बातको तो दोनों ही मान्य करते हैं, इसलिए यह संभव है। आत्मा साक्षी देती है तब आत्मामें उल्लास परिणाम आता है।

होम, हवन आदि लौकिक रिवाज बहुत प्रचलित देखकर तीर्थंकर भगवानने अपने कालमें दयाका वर्णन बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे किया है। जैनधर्मके जैसे दयासंबंधी विचार कोई दर्शन अथवा संप्रदायवाले नहीं कर सके; क्योंकि जैन पंचेंद्रियका घात तो नहीं करते, परन्तु उन्होंने एकेंद्रिय आदिमें जीवके अस्तित्वको विशेषातिविशेष दृढ करके दयाके मार्गका वर्णन किया है।

इस कारण चार वेद, अठारह पुराण आदिका जिसने वर्णन किया है, उसने अज्ञानसे, स्वच्छंदसे, मिथ्यात्वसे और संशयसे किया है, ऐसा कहा है। ये वचन बहुत ही प्रबल कहे हैं। यहाँ बहुत अधिक विचार करके फिर वर्णन किया है कि अन्य दर्शन, वेद आदिके जो ग्रंथ हैं उन्हें यदि सम्यग्दृष्टिजीव पढ़े तो सम्यक् प्रकारसे परिणमित होते हैं, और जिनके अथवा चाहे जैसे ग्रंथोंको यदि मिथ्यादृष्टि पढ़े तो मिथ्यात्वरूपसे परिणमित होते हैं।

जीवको ज्ञानीपुरुषके समीप उनके अपूर्व वचन सुननेसे अपूर्व उल्लास परिणाम आता है, परंतु फिर प्रमादी हो जानेसे अपूर्व उल्लास नहीं आता। जिस तरह अग्निकी अंगीठीके पास बैठे हों तब ठंडी नहीं लगती, और अंगीठीसे दूर चले जानेसे ठंडी लगती है, उसी तरह जब ज्ञानी पुरुषके समीप उनके अपूर्व वचन सुननेसे प्रमाद आदि चले जाते हैं, और उल्लास परिणाम आता है, परन्तु फिर प्रमाद आदि उत्पन्न हो जाते हैं। यदि पूर्वके संस्कारसे वे वचन अंतरपरिणाम प्राप्त करें तो दिन प्रतिदिन उल्लास परिणाम बढ़ता ही जाये; और यथार्थरूपसे भान हो। अज्ञान मिटनेपर सारी भूल मिटती है, स्वरूप जागृतिमान होता है। बाहरसे वचन सुननेसे अंतरपरिणाम नहीं होता, तो फिर जिस तरह अंगीठीसे दूर चले जानेपर ठंडी लगती है उसी तरह दोष कम नहीं होते।

केशीस्वामीने परदेशी राजाको बोध देते समय 'जड़ जैसा', 'मूढ जैसा' कहा था, उसका कारण परदेशी राजामें पुरुषार्थ जगाना था। जड़ता-मूढता मिटानेके लिए उपदेश दिया था। ज्ञानीके वचन अपूर्व परमार्थके सिवाय दूसरे किसी हेतुसे नहीं होते। बालजीव ऐसी बातें करते हैं कि छद्मस्थतासे केशीस्वामी परदेशी राजाके प्रति वैसे बोले थे, परन्तु यह बात नहीं है। उनकी वाणी परमार्थके लिए ही निकली थी।

जड पदार्थके लेने-रखनेमें उन्मादसे वर्तन करे तो उसे असंयम कहा है। उसका कारण यह है कि जल्दीसे लेने-रखनेमें आत्माका उपयोग चूककर तादात्म्यभाव हो जाता है। इस हेतुसे उपयोग चूक जानेको असंयम कहा है।

मुहपत्ती बाँध कर झूठ बोले, अहंकारसे आचार्यपद धारण कर दंभ रखे और उपदेश दे, तो पाप लगे; मुहपत्तीकी जयणासे पाप रोका नहीं जा सकता। इसलिए आत्मवृत्ति रखनेके लिए

उपयोग रखे। ज्ञानीके उपकरणको छूनेसे या शरीरका स्पर्श होनेसे आशातना लगती है ऐसा भासता है, किन्तु वचनको अप्रधान करनेसे तो विशेष लगता है, उसका तो भान नहीं है। इसलिए ज्ञानीकी किसी भी प्रकारसे आशातना न हो ऐसा उपयोग जागृत अति जागृत रखकर भक्ति प्रगट हो तो वह कल्याणका मुख्य मार्ग है।

श्री आचारांग सूत्रमें कहा है कि 'जो आस्रव हैं वे परिस्रव हैं', और 'जो परिस्रव हैं वे आस्रव हैं,' जो आस्रव है वह ज्ञानीको मोक्षका हेतु होता है, और जो संवर है फिर भी वह अज्ञानीको बंधका हेतु होता है; ऐसा स्पष्ट कहा है। उसका कारण ज्ञानीमें उपयोगकी जागृति है; और अज्ञानीमें नहीं है।

उपयोग दो प्रकारके कहे हैं—१. द्रव्य-उपयोग, २. भाव-उपयोग।

द्रव्यजीव, भावजीव। द्रव्यजीव वह द्रव्य मूल पदार्थ है। भावजीव, वह आत्माका उपयोगभाव है।

भावजीव अर्थात् आत्माका उपयोग जिस पदार्थमें तादात्म्यरूपसे परिणमे तद्रूप आत्मा कहें। जैसे टोपी देखकर, उसमें भावजीवकी बुद्धि तादात्म्यरूपसे परिणमे तो टोपी-आत्मा कहें। जैसे नदीका पानी द्रव्य आत्मा है। उसमें क्षार, गंधक डालें तो गंधकका पानी कहा जाये। नमक डालें तो नमकका पानी कहा जाये। जिस पदार्थका संयोग हो उस पदार्थरूप पानी कहा जाये। वैसे आत्माको जो संयोग मिले उसमें तादात्म्यभाव होनेसे वही आत्मा उस पदार्थरूप हो जाये। उसे कर्मबंधकी अनंत वर्गणा बँधती हैं, और वह अनंत संसारमें भटकती है। अपने उपयोगमें, स्वभावमें आत्मा रहे तो कर्मबंध नहीं होता।

पाँच इंद्रियोंका अपना अपना स्वभाव है। जीभका स्वाद रस लेनेका स्वभाव है, वह खट्टा, खारा स्वाद लेती है। शरीरका स्वभाव स्पर्शनका—स्पर्श करनेका है, वह स्पर्श करता है। इस तरह प्रत्येक इंद्रिय अपना अपना स्वभाव किया करती है, परन्तु आत्माका उपयोग तद्रूप होकर, तादात्म्यरूप होकर उसमें हर्ष-विषाद न करे तो कर्मबंध न हो। इंद्रियरूप आत्मा हो तो कर्मबंधका हेतु है।

●

[६४३-५] ६ भादों सुदी ९, १९५२

जैसी सिद्धकी सामर्थ्य है वैसी सब जीवोंकी है। मात्र अज्ञानसे ध्यानमें नहीं आती। विचारवान जीव हो वह तो तत्संबंधी नित्य विचार करे।

जीव यों समझता है कि मैं जो क्रिया करता हूँ उससे मोक्ष है। क्रिया करना यह अच्छी बात है, परन्तु लोकसंज्ञासे करे तो उसे उसका फल नहीं मिलता।

एक मनुष्यके हाथमें चिंतामणि आया हो, परंतु यदि उसे उसका पता न चले तो निष्फल है, यदि पता चले तो सफल है। उसी तरह जीवको सच्चे ज्ञानीकी पहचान हो जाये तो सफल है।

जीवकी अनादिकालसे भूल चली आती है। उसे समझनेके लिए जीवकी जो भूल मिथ्यात्व है उसका मूलसे ही छेदन करना चाहिए। यदि मूलसे छेदन किया जाये तो वह फिर अंकुरित नहीं होती। नहीं तो वह फिर अंकुरित हो जाती है। जिस तरह पृथ्वीमें वृक्षका मूल रह गया हो तो वृक्ष फिर उग आता है। इसलिए जीवकी मूल भूल क्या है उसका विचार कर करके उससे मुक्त होना चाहिए। 'मुझे किससे बंधन होता है?' 'वह कैसे दूर हो?' यह विचार प्रथम कर्तव्य है।

रात्रिभोजन करनेसे आलस्य, प्रमाद आता है, जागृति नहीं होती, विचार नहीं आता, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष रात्रिभोजनसे उत्पन्न होते हैं, मैथुनके अतिरिक्त भी दूसरे बहुतसे दोष उत्पन्न होते हैं।

कोई हरी वनस्पति छीलता हो तो हमसे देखा नहीं जा सकता। तथा आत्मा उज्ज्वलता प्राप्त करे तो अतीव अनुकंपा बुद्धि रहती है।

ज्ञानमें सीधा भासता है, उलटा नहीं भासता। ज्ञानी मोहको पैठने नहीं देते। उनका जागृत उपयोग होता है। ज्ञानीका जैसा परिणाम रहता है वैसा कार्य ज्ञानीका होता है तथा अज्ञानीका जैसा परिणाम होता है, वैसा अज्ञानीका कार्य होता है। ज्ञानीका चलना सीधा, बोलना सीधा और सब कुछ ही सीधा होता है। अज्ञानीका सब कुछ उलटा ही होता है, वर्तनके विकल्प होते हैं।

मोक्षका उपाय है। ओघभावसे खबर होगी, विचारभावसे प्रतीति आयेगी।

अज्ञानी स्वयं दरिद्री है। ज्ञानीकी आज्ञासे काम, क्रोध आदि घटते हैं। ज्ञानी उनका वैद्य है। ज्ञानीके हाथसे चारित्र प्राप्त हो तो मोक्ष हो जाये। ज्ञानी जो जो व्रत दे वे सब ठेठ अंत तक ले जाकर पार उतारनेवाले हैं। समकित आनेके बाद आत्मा समाधिको प्राप्त करेगी, क्योंकि वह सच्ची हो गयी है।

प्र०—ज्ञानसे कर्मकी निर्जरा हो, यह सच है क्या ?

उ०—सार जानना ज्ञान है। सार न जानना अज्ञान है। हम किसी भी पापसे निवृत्त हो अथवा कल्याणमें प्रवृत्ति करें, वह ज्ञान है। परमार्थ समझ कर करें। अहंकाररहित, कदाग्रह-रहित, लोकसंज्ञारहित आत्मामें प्रवृत्ति करना 'निर्जरा' है।

इस जीवके साथ रागद्वेष लगे हुए हैं; जीव अनंत ज्ञान-दर्शनसहित है, परंतु राग-द्वेषसे वह जीवके ध्यानमें नहीं आता। सिद्धको रागद्वेष नहीं है। जैसा सिद्धका स्वरूप है वैसा ही सब जीवोंका स्वरूप है। मात्र अज्ञानके कारण जीवके ध्यानमें नही आता; इसलिए विचारवान सिद्धके स्वरूपका विचार करे, जिससे अपना स्वरूप समझमें आये।

एक आदमीके हाथमें चिंतामणि आया हो, और उसे उसकी खबर (पहचान) है तो उसके प्रति उसे अतीव प्रेम हो जाता है; परंतु, जिसे खबर नहीं उसे कुछ भी प्रेम नहीं होता।

इस जीवकी अनादिकालकी जो भूल है उसे दूर करना है। दूर करनेके लिए जीवकी बड़ी-से बड़ी भूल क्या है ? उसका विचार करना, और उसके मूलका छेदन करनेकी ओर लक्ष्य रखना। जब तक मूल रहता है तब तक बढता है।

'मुझे किससे बंधन होता है ?' और 'किससे दूर हो' ? यह जाननेके लिए शास्त्र रचे गये हैं। लोगोंमें पूजे जानेके लिए शास्त्र नहीं रचे गये हैं।

जीवका स्वरूप क्या है ? जीवका स्वरूप जब तक जाननेमें आये तब तक अनंत जन्म मरण करने पड़ें। जीवकी क्या भूल है। वह अभी तक ध्यानमें नहीं आती। जीवका क्लेश नष्ट होगा तो भूल दूर होगी। जिस दिन भूल दूर होगी उसी दिनसे साधुता कही जायेगी इसी तरह श्रावक-पनके लिए समझें।

कर्मकी वर्गणा जीवको दूध और पानीके संयोगकी भाँति है। अग्निके प्रयोगसे पानीके जल जानेसे दूध बाकी रह जाता है, इसी तरह ज्ञानरूपी अग्निसे कर्मवर्गणा नष्ट हो जाती है।

देहमें अहंभाव माना हुआ है, इसलिए जीवकी भूल दूर नहीं होती। जीव देहके साथ मिल जानेसे ऐसा मानता है कि 'मैं बनिया हूँ,' 'ब्राह्मण हूँ'; परंतु शुद्ध विचारसे तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं शुद्ध स्वरूपमय हूँ।' आत्माका नाम-ठाम कि कुछ भी नहीं है, इस तरह सोचे तो उसे कोई गाली आदि दे तो उससे उसे कुछ भी नहीं लगता।

जीव जहाँ जहाँ ममत्व करता है वहाँ वहाँ उसकी भूल है। उसे दूर करनेके लिए शास्त्र कहे हैं।

चाहे कोई भी मर गया हो उसका यदि विचार करे तो वह वैराग्य है। जहाँ जहाँ 'ये मेरे भाई-बंधु' इत्यादि भावना है वहाँ वहाँ कर्मबंधका हेतु है। इसी तरहकी भावना यदि साधु भी चेलेके प्रति रखे तो उसका आचार्यपन नष्ट हो जाये। निर्दंभता, निरहंकारता करे तो आत्माका कल्याण ही हो।

पांच इन्द्रियाँ किस तरह वश हों? वस्तुओंपर तुच्छभाव लानेसे, जैसे फूलमें सुगंध होती है उससे मन संतुष्ट होता है, परंतु सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल कुम्हला जाता है, फिर मनको कुछ भी संतोष नहीं होता। उसी तरह सभी पदार्थोंमें तुच्छभाव लानेसे इंन्द्रियोंको प्रियता नहीं होती, और इससे क्रमशः इंद्रियाँ वश होती है। और पांच इन्द्रियोंमें भी जिह्वा इन्द्रिय वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ अनायास वश हो जाती हैं। तुच्छ आहार करें, किसी रसवाले पदार्थमें न ललचायें, बलिष्ठ आहार न करें।

एक बर्तनमें लहू, मांस, हड्डियाँ, चमड़ा, वीर्य, मल, मूत्र ये सात धातुएँ पड़ी हों; और उसकी ओर कोई देखनेको कहे तो उसपर अरुचि हो, और थूँकनेके लिए न जाये। उसी तरह स्त्री-पुरुषके शरीरकी रचना है, परन्तु ऊपरकी रमणीयता देखकर जीव मोहको प्राप्त होता है और उसमें तृष्णापूर्वक प्रेरित होता है। अज्ञानसे जीव भूलता है, ऐसा विचार कर, तुच्छ समझकर पदार्थपर अरुचिभाव लायें। इस तरह प्रत्येक वस्तुकी तुच्छता समझें। इस तरह समझ कर मनका निरोध करें।

तीर्थंकरने उपवास करनेकी आज्ञा दी है, वह मात्र इन्द्रियोंको वश करनेके लिए। अकेला उपवास करनेसे इन्द्रियाँ वश नहीं होतीं; परन्तु उपयोग हो तो, विचारसहित हो तो वश होती हैं। जैसे लक्ष्य विनाका बाण निकम्मा जाता है, वैसे उपयोग विनाका उपवास आत्मार्थके लिए नहीं होता।

अपनेमें कोई गुण प्रगट हुआ हो, और उसके लिए कोई मनुष्य अपनी स्तुति करे और उससे यदि अपनी आत्मा अहंकार करे तो वह पीछे हटे। अपनी आत्माकी निंदा न करे, अभ्यंतर दोषका विचार न करे, तो जीव लौकिकभावमें चला जाये, परन्तु यदि अपने दोष देखे, अपनी आत्माकी निंदा करे, अहंभावसे रहित होकर विचार करे, तो सत्पुरुषके आश्रयसे आत्मलक्ष्य हो।

मार्ग पानेमें अनंत अंतराय हैं। उनमें फिर 'मैंने यह किया?' मैंने यह कैसा सुंदर किया?' इस प्रकारका अभिमान है, 'मैंने कुछ भी किया ही नहीं', ऐसी दृष्टि रखनेसे वह अभिमान दूर होता है।

लौकिक और अलौकिक ऐसे दो भाव हैं। लौकिकसे संसार, और अलौकिकसे मोक्ष होता है।

बाह्य इन्द्रियाँ वशमें की हों, तो सत्पुरुषके आश्रयसे अंतर्लक्ष्य हो सकता है। इस कारणसे बाह्य इंद्रियोंको वशमें करना श्रेष्ठ है। बाह्य इंद्रियाँ वशमें हों, और सत्पुरुषका आश्रय न हो तो लौकिकभावमें चले जानेका संभव रहता है।

उपाय किये विना कोई रोग नहीं मिटता। इसी तरह जीवको जो लोभरूपी रोग है, उसका उपाय किये विना वह दूर नहीं होता। ऐसे दोषको दूर करनेके लिए जीव जरा भी उपाय नहीं करता। यदि उपाय करे तो वह दोष अभी भाग जाये। कारणको खड़ा करें तो कार्य होता है। कारणके विना कार्य नहीं होता।

सच्चे उपायको जीव नहीं खोजता। ज्ञानीपुरुषके वचन सुने तो प्रतीति नहीं है। 'मुझे लोभ छोड़ना है,' 'क्रोध, मान आदि छोड़ने हैं,' ऐसी बीजभूत भावना हो और छोड़े, तो दोष दूर होकर अनुक्रमसे 'बीजज्ञान' प्रगट हो।

प्र०–आत्मा एक है कि अनेक ?

उ०–यदि आत्मा एक ही हो तो पूर्वकालमें रामचंद्रजी मुक्त हुए हैं, और उससे सर्वकी मुक्ति होनी चाहिए, अर्थात् एकको मुक्ति हुई हो तो सर्वकी मुक्ति हो जाये, और फिर दूसरोंको सत्शास्त्र, सद्गुरु आदि साधनोंकी जरूरत नहीं है।

प्र०–मुक्ति होनेके बाद क्या जीव एकाकार हो जाता है ?

उ०–यदि मुक्त होनेके बाद जीव एकाकार हो जाता हो तो स्वानुभव आनंदका अनुभव न करे। एक पुरुष यहाँ आकर बैठा, और वह विदेह मुक्त हो गया। उसके बाद दूसरा यहाँ आकर बैठा। वह भी मुक्त हो गया। इससे कुछ तीसरा मुक्त नहीं हुआ। एक आत्मा है उसका आशय ऐसा है कि सर्व आत्माएं वस्तुतः समान हैं; परंतु स्वतंत्र हैं, स्वानुभव करती हैं, इस कारणसे आत्मा भिन्न भिन्न हैं। 'आत्मा एक है, इसलिए तुझे दूसरी कोई भ्रांति रखनेकी जरूरत नहीं है, जगत कुछ है ही नहीं; ऐसे भ्रांतिरहित भावसे वर्तन करनेसे मुक्ति है,' ऐसा जो कहता है उसे विचार करना चाहिए कि, तो एककी मुक्तिसे सर्वकी मुक्ति होनी ही चाहिए। परंतु ऐसा नहीं होता, इसलिए आत्मा भिन्न भिन्न है। जगतकी भ्रांति दूर हो गयी, इसलिए यों नहीं समझना है कि चंद्र-सूर्य आदि ऊँचेसे नीचे गिर पड़ते हैं। आत्मविषयक भ्रांति दूर हो गयी ऐसा आशय समझना है।

रूढिसे कुछ कल्याण नहीं है। आत्मा शुद्ध विचारको प्राप्त किये विना कल्याण नहीं होता।

मायाकपटसे झूठ बोलनेमें बहुत पाप है। वह पाप दो प्रकारका है। मान और धन प्राप्त करनेके लिए झूठ बोले तो उसमें बहुत पाप है। आजीविकाके लिए झूठ बोलना पड़ता हो, और पश्चात्ताप करे, तो पहलेकी अपेक्षा कुछ कम पाप लगे।

सत् और लोभ इन दोनोंको इकट्ठा किसलिए जीव समझता है ?

बाप स्वयं पचास वर्षका है, और उसका बीस वर्षका लड़का मर जाये तो वह बाप उसके पास जो आभूषण होते हैं उन्हें निकाल लेता है! पुत्रके देहांत-क्षणमें जो वैराग्य था वह स्मशान-वैराग्य था।

भगवानने किसी भी पदार्थको दूसरेको देनेकी मुनिको आज्ञा नहीं दी। देहको धर्मसाधन मानकर उसे निभानेके लिए जो कुछ आज्ञा दी है वह दी है; बाकी दूसरेको कुछ भी देनेकी भग-

वानने आज्ञा नहीं दी। आज्ञा दी होती तो परिग्रह बढ़ता, और उससे अनुक्रमसे अन्न, पानी आदि लाकर कुटुंबका अथवा दूसरेका पोषण करके दानवीर होता। इसलिए मुनि विचार करे कि तीर्थ करने जो कुछ रखनेकी आज्ञा दी है वह मात्र तेरे अपने लिए, और वह भी लौकिकदृष्टि छुड़ाकर संयममें लगानेके लिए दी है।

मुनि गृहस्थके यहाँसे एक सूई लाया हो, और वह खो जानेसे भी वापस न दे तो उसे तीन उपवास करना ऐसी ज्ञानीपुरुषोंने आज्ञा दी है; उसका कारण यह है कि वह उपयोगशुन्य रहा। यदि इतना अधिक भार न रखा होता तो दूसरी वस्तुएँ लानेका मन होता, और काल-क्रमसे परिग्रह बढ़ाकर मुनित्वको खो बैठता। ज्ञानीने ऐसा कठिन मार्ग प्ररूपित किया है उसका कारण यह है कि वह जानता है कि यह जीव विश्वास करने योग्य नहीं है; कारण कि वह भ्रांति-वाला है। यदि छूट दी होगी तो कालक्रमसे उस उस प्रकार विशेष प्रवृत्ति करेगा, ऐसा जानकर ज्ञानीने सूई जैसी निर्जीव वस्तुके संबंधमें इस प्रकार वर्तन करनेकी आज्ञा की है। लोककी दृष्टिमें तो यह बात साधारण है, परंतु ज्ञानीकी दृष्टिमें उतनी छूट भी मूलसे गिरा दे इतनी बड़ी लगती है।

ऋषभदेवजीके पास अट्ठानबे पुत्र 'हमें राज्य दें,' ऐसा कहनेके अभिप्रायसे आये थे, वहाँ तो ऋषभदेवने उपदेश देकर अट्ठानबोंको ही मूँड दिया! देखें महान पुरुषकी करुणा!

केशीस्वामी और गौतमस्वामी भी कैसे सरल थे? दोनोंका एक मार्ग जाननेसे पाँच महाव्रत ग्रहण किये। आजके कालमें दोनों पक्षोंका इकट्ठा होना संभव नहीं है। आजके ढूंढिया और तपा, तथा भिन्न भिन्न संघाड़ोंका इकट्ठा होना नहीं हो सकता। उसमें कितना ही काल बीत जाये। उसमें कुछ है नहीं, परंतु असरलताके कारण संभव ही नहीं है।

सत्पुरुष कुछ सदनुष्ठानका त्याग नहीं कराते; परंतु यदि उसका आग्रह हुआ होता है तो आग्रह दूर करानेके लिए उसका एक बार त्याग कराते हैं; आग्रह मिटानेके बाद फिर उसे ही ग्रहण करनेको कहते हैं।

चक्रवर्ती राजा जैसे भी नग्न होकर चले गये हैं! चक्रवर्ती राजा हो, उसने राज्यका त्याग कर दीक्षा ली हो, और उसकी कुछ भूल हो, और उस चक्रवर्तीके राज्यकालकी दासीका लड़का उस भूलको सुधार सकता हो, तो उसके पास जाकर, उसके कथनके ग्रहण करनेकी आज्ञा की गयी है। यदि उसे दासीके लड़केके पास जाते हुए यों लगे 'मैं दासीके लड़केके पास कैसे जाऊँ?' तो उसे भटक भटक कर मरना है। ऐसे कारणोंके समय लोकलाजको छोड़ना बताया है, अर्थात् जहाँ आत्माको ऊँचा उठानेका कारण हो वहाँ लोकलाज नहीं मानी गयी है। परंतु कोई मुनि विषयकी इच्छासे वेश्याशालामें गया; वहाँ जाकर उसे ऐसा लगा, 'मुझे लोग देख लेंगे तो मेरी निंदा होगी। इसलिए यहाँसे लौट जाऊँ।' तात्पर्य कि मुनिने परभवके भयको नहीं गिना, आज्ञाभंगके भयको भी नहीं गिना, तो ऐसी स्थितिमें लोकलाजसे भी ब्रह्मचर्य रह सकता है, इसलिए वहाँ लोकलाज मानकर वापस आया, तो वहाँ लोकलाज रखनेका विधान है, क्योंकि इस स्थलमें लोकलाजका भय खानेसे ब्रह्मचर्य रहता है, जो उपकारक है।

हितकारी क्या है उसे समझना चाहिए। अष्टमीका झगड़ा तिथिके लिए न करे, परंतु हरी वनस्पतिके रक्षणके लिए तिथिका पालन करें। हरी वनस्पतिके रक्षणके लिए अष्टमी आदि तिथियाँ कही गयी हैं, कुछ तिथिके लिए अष्टमी आदिको नहीं कहा। इहलिए अष्टमी आदि तिथिका कदाग्रह दूर करें। जो कुछ कहा है वह कदाग्रह करनेके लिए नहीं कहा। आत्माकी शुद्धिसे जितना करेंगे

उतना हितकारी है। अशुद्धिसे करेंगे तो उतना अहितकारी है, इसलिए शुद्धतापूर्वक सद्व्रतका सेवन करें।

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव चाहे जो हो सब समान हैं। जैन कहलाते हों और मतवाले हों तो वे अहितकारी हैं, मतरहित हितकारी हैं।

सामायिक-शास्त्रकारने विचार किया कि यदि कायाको स्थिर रखना होगा तो फिर विचार करेगा; नियम न बनाया हो तो दूसरे काममें पड़ेगा, ऐसा समझकर उस प्रकारका नियम बनाया। जैसे मनपरिणाम रहें वैसी सामायिक होती है। मनका घोड़ा दौड़ता हो तो कर्मबंध होता है। मनका घोड़ा दौड़ता हो, और सामायिक की हो तो उसका फल कैसा हो ?

कर्मबंधको थोड़ा थोड़ा छोड़ना चाहे तो छूटे। जैसे कोठी भरी हो, परन्तु छेद करके निकाले तो अंतमें खाली हो जाये। परंतु दृढ इच्छासे कर्मोंको छोड़ना ही सार्थक है।

आवश्यकके छः प्रकार–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान। सामायिक अर्थात् सावद्ययोगकी निवृत्ति।

वाचना (पढ़ना), पृच्छना (पूछना), परावर्तना (पुनः पुनः विचार करना), धर्मकथा (धर्मविषयक कथा करनी), ये चार द्रव्य हैं; और अनुप्रेक्षा ये भाव हैं। यदि अनुप्रेक्षा न आये तो पहले चार द्रव्य हैं।

अज्ञानी आज 'केवलज्ञान नहीं है', 'मोक्ष नहीं है' ऐसी हीन-पुरुषार्थकी बातें करते हैं। ज्ञानीका वचन पुरुषार्थको प्रेरित करनेवाला होता है। अज्ञानी शिथिल है इसलिए ऐसे हीन-पुरुषार्थके वचन कहता है। पंचमकालकी, भवस्थितिकी, देहदुर्बलताकी या आयुकी बात कभी मनमें नहीं लाना; और कैसे हो ऐसी वाणी भी नहीं सुनना।

कोई हीन-पुरुषार्थी बातें करे कि उपादानकारण—पुरुषार्थका क्या काम है ? पूर्वकालमें अशोच्याकेवली हुए हैं। तो ऐसी बातोंसे पुरुषार्थहीन न होना।

सत्संग और सत्समाधानके विना किसी कालमें भी कल्याण नहीं होता। यदि अपने आप कल्याण होता तो मिट्टीमेंसे घड़ा होना संभव है। लाख वर्ष हो जाये तो भी मिट्टीमेंसे घड़ा स्वयं नहीं होता, इसी तरह कल्याण नहीं होता।

तीर्थंकरका योग हुआ होगा ऐसा शास्त्रवचन है, फिर भी कल्याण नहीं हुआ, उसका कारण पुरुषार्थहीनता है। पूर्वकालमें ज्ञानी मिले थे फिर भी पुरुषार्थके विना जैसे वह योग निष्फल गया, वैसे इस वक्त ज्ञानीका योग मिला है और पुरुषार्थ नहीं करें तो यह योग भी निष्फल जायेगा। इसलिए पुरुषार्थ करें और तो हो कल्याण होगा। उपादानकारण-पुरुषार्थ श्रेष्ठ है।

यों निश्चय करें कि सत्पुरुषके कारण–निमित्त–से अनंत जीव तर गये हैं। कारणके विना कोई जीव नहीं तरता। अशोच्याकेवलीको भी आगे पीछे तैसा योग प्राप्त हुआ होगा। सत्संगके विना सारा जगत डूब गया है।

मीरांबाई महा भक्तिमान थीं। वृंदावनमें जीवा गोसांईके दर्शन करनेके लिए वे गयीं, और पुछवाया 'दर्शन करनेके लिए आऊँ ?' तब गोसांईने कहलवाया 'मैं स्त्रीका मुँह नहीं देखता।' तब मीरांबाईने कहलाया 'वृंदावनमें रहे, आप पुरुष रहे हैं यह बहुत आश्चर्यकारक है। वृंदावनमें रहकर मुझे भगवानके सिवाय अन्य पुरुषके दर्शन नहीं करने हैं। भगवानका भक्त है वह तो स्त्रीरूपसे है,

गोपीरूपसे है। कामको मारनेके लिए उपाय करें, क्योंकि लेते हुए भगवान देते हुए भगवान, चलते हुए भगवान, सर्वत्र भगवान हैं।'

नाभो भगत था। किसीने चोरी करके चोरीका माल भगतके घरके आगे दबा दिया। इसलिए भगतपर चोरीका आरोप लगाकर कोतवाल पकड़कर ले गया। कैदमें डालकर, चोरी मनानेके लिए रोज बहुत मार मारने लगा। परंतु भला जीव, भगवानका भगत, इसलिए शांतिसे सहन किया। गोसांईजीने आकर कहा 'मैं विष्णु भक्त हूँ, चोरी किसी दूसरेने की है, ऐसा कह।' तब भगतने कहा 'ऐसा कहकर छूटनेकी अपेक्षा इस देहको मार पड़े यह क्या बुरा है? मारता है तो मैं भक्ति करता हूँ। भगवानके नामसे देहको दंड हो यह अच्छा। इसके नामसे सब कुछ सीधा। देह रखनेके लिए भगवानका नाम नहीं लेता, भले देहको मार पड़े यह अच्छा—क्या करना है देहको!'

अच्छा समागम, अच्छी रहन-सहन हो वहाँ समता आती है। समताकी विचारणाके लिए दो घड़ीकी सामायिक करना कहा है। सामायिकमें उलटे-सुलटे मनोरथोंका चिंतन करे तो कुछ भी फल नहीं होता। मनके दौड़ते हुए घोड़ोंको रोकनेके लिए सामायिकका विधान है।

संवत्सरीके दिनसंबंधी एक पक्ष चतुर्थीकी तिथिका आग्रह करता है, और दूसरा पक्ष पंचमीकी तिथिका आग्रह करता है। आग्रह करनेवाले दोनों मिथ्यात्वी हैं। ज्ञानीपुरुषोने जो दिन निश्चित किया होता है वह आज्ञाका पालन होनेके लिए होता है। ज्ञानीपुरुष अष्टमी न पालनेकी आज्ञा करें और दोनोंको सप्तमी पालनेको कहें अथवा सप्तमी अष्टमी इकट्ठी करेंगे यों सोचकर षष्ठी कहें अथवा उसमें पंचमी इकट्ठी करेंगे यों सोचकर दूसरी तिथि कहें तो वह आज्ञा पालनेके लिए कहें। बाकी तिथियोंका भेद छोड़ देना। ऐसी कल्पना नहीं करना, ऐसे भंगजालमें नहीं पड़ना। ज्ञानीपुरुषोंने तिथियोंकी मर्यादा आत्मार्थके लिए की है।

यदि अमुक दिन निश्चित न किया होता, तो आवश्यक विधियोंका नियम नहीं रहता। आत्मार्थके लिए तिथिकी मर्यादाका लाभ लें।

आनंदघनजीने श्री अनंतनाथस्वामीके स्तवनमें कहा है—

''[1]एक कहे सेवीए विविध किरिया करी, फळ अनेकांत लोचन न देखे।
फळ अनेकांत किरिया करी बापडा, रडवडे चार गतिमांही लेखे॥'

अर्थात् जिस क्रियाके करनेसे अनेक फल हों वह क्रिया मोक्षके लिए नहीं है। अनेक क्रियाओंका फल एक मोक्ष ही होना चाहिए। आत्माके अंश प्रगट होनेके लिए क्रियाओंका वर्णन है। यदि क्रियाओंका वह फल न हुआ तो वे सब क्रियाएँ संसारके हेतु हैं।

'निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि' ऐसा जो कहा है उसका हेतु कषायके त्याग करनेका है, परंतु लोग तो बेचारे एकदम आत्माका त्याग कर देते हैं।

जीव देवगतिकी, मोक्षके सुखकी अथवा दूसरी वैसी कामनाकी इच्छा न रखे।

---

१. **भावार्थ**—कुछ लोग कहते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकारकी सेवा-भक्ति अथवा क्रिया करके भगवानकी सेवा करते हैं, परंतु उन्हें क्रियाका फल दिखायी नहीं देता। वे बेचारे एकसा फल न देनेवाली क्रिया करके चारों गतियोंमें भटकते रहते हैं, और उनकी मुक्ति नहीं हो पाती।

पंचमकालके गुरु कैसे हैं उसके बारेमें एक संन्यासीका दृष्टांत:—

एक संन्यासी था। वह अपने शिष्यके घर गया। ठंडी बहुत थी। जीमने बैठनेके वक्त शिष्यने नहानेको कहा। तब गुरुने मनमें विचार किया 'ठंडी बहुत है, और नहाना पड़ेगा।' यों विचार करके संन्यासीने कहा 'मैं तो ज्ञानगंगाजलमें स्नान कर रहा हूँ।' शिष्य विचक्षण होनेसे समझ गया, और उसने ऐसा रास्ता लिया कि जिससे गुरुको कुछ शिक्षा मिले। शिष्यने 'भोजनके लिए पधारें' ऐसा मानसहित बुलाकर भोजन कराया। प्रसादके बाद गुरु महाराज एक कोठड़ीमें सो गये। गुरुको तृषा लगी तो शिष्यसे जल मांगा। तब तुरत शिष्यने कहा 'महाराज, जल ज्ञानगंगामें-से पी लें।' जब शिष्यने ऐसा कठिन रास्ता लिया तब गुरुने कबूल किया 'मेरे पास ज्ञान नहीं है। देहकी साताके लिए ठंडीमें मैंने स्नान नहीं करनेका कहा था।'

मिथ्यादृष्टिके पूर्वके जप-तप अभी तक मात्र आत्महितार्थ नहीं हुए।

आत्मा मुख्यतः आत्मस्वभावसे वर्तन करे वह 'अध्यात्मज्ञान'। मुख्यतः जिसमें आत्माका वर्णन किया हो वह 'अध्यामशास्त्र'। भाव-अध्यात्मके बिना अक्षर (शब्द) अध्यात्मीका मोक्ष नहीं होता। जो गुण अक्षरोंमें कहे गये हैं वे गुण यदि आत्मामें रहें तो मोक्ष हो। सत्पुरुषमें भाव-अध्यात्म प्रगट है। सत्पुरुषकी जो वाणी सुनता है वह द्रव्य-अध्यात्मी, शब्द-अध्यात्मी कहा जाता है। शब्द-अध्यात्मी अध्यात्मकी बातें कहते हैं; और महा अनर्थकारक प्रवर्तन करते हैं; इस कारणसे उन्हें ज्ञानदग्ध कहें। ऐसे अध्यात्मियोंको शुष्क और अज्ञानी समझें।

ज्ञानीपुरुषरुपी सूर्यके प्रगट होनेके बाद सच्चे अध्यात्मी शुष्क रीतिसे प्रवृत्ति नहीं करते, भाव-अध्यात्ममें प्रगटरूपसे रहते हैं। आत्मामें सच्चे गुण उत्पन्न होनेके बाद मोक्ष होता है। इस कालमें द्रव्य-अध्यात्मी ज्ञानदग्ध बहुत हैं। द्रव्य-अध्यात्मी मंदिरके कलशके दृष्टांतसे मूल पर-मार्थको नहीं समझते।

मोह आदि विकार ऐसे हैं कि सम्यग्दृष्टिको भी चलायमान कर देते हैं; इसलिए आप तो समझें कि मोक्षमार्ग प्राप्त करनेमें वैसे अनेक विघ्न हैं। आयु थोड़ी है, और कार्य महाभारत करना है। जिस तरह नाव छोटी हो और बड़ा महासागर पार करना हो, उसी तरह आयु तो थोड़ी है, और संसाररूपी महासागर पार करना है। जो पुरुष प्रभुके नामसे पार हुए हैं उन पुरुषोंको धन्य है! अज्ञानी जीवको खबर नहीं कि अमुक जगह गिरनेकी है, परंतु ज्ञानियोंने उसे देखा हुआ है। अज्ञानी, द्रव्य-अध्यात्मी कहते हैं कि मुझमें कषाय नहीं है। सम्यग्दृष्टि चैतन्यसंयुक्त है।

एक मुनि गुफामें ध्यान करनेके लिए जाते थे। वहाँ सिंह मिल गया। उनके हाथमें लकड़ी थी। सिंहके सामने लकड़ी उठाई जाये तो सिंह चला जाये यों मनमें होनेपर मुनिको विचार आया—'मैं आत्मा अजर अमर हूँ, देहसे प्रेम रखना योग्य नहीं; इसलिए हे जीव! यहीं खड़ा रह। सिंहका भय है वही अज्ञान है। देहमें मूर्च्छाके कारण भय है।' ऐसी भावना करते करते वे दो घड़ी तक वहीं खड़े रहे कि इतनेमें केवलज्ञान प्रगट हो गया। इसलिए विचारदशा, विचार-दशामें बहुत ही अंतर है।

उपयोग जीवके बिना नहीं होता। जड और चेतन इन दोनोंमें परिणाम होता है। देहधारी जीवमें अध्यवसायकी प्रवृत्ति होती है, संकल्प-विकल्प खड़े होते हैं, परंतु ज्ञानसे निर्विकल्पता होती है। अध्यवसायका क्षय ज्ञानसे होता है। ध्यानका हेतु यही है। उपयोग रहना चाहिए।

धर्मध्यान, शुक्लध्यान उत्तम कहे जाते हैं। आर्त्त और रौद्रध्यान अशुभ कहे जाते हैं। बाह्य उपाधि ही अध्यवसाय है। उत्तम लेश्या हो तो ध्यान कहा जाता है, और आत्मा सम्यक् परिणाम प्राप्त करती है।

माणेकदासजी एक वेदांती थे। उन्होंने एक ग्रंथमें मोक्षकी अपेक्षा सत्संगको अधिक यथार्थ माना है। कहा है :—

निज छंदनसें ना मिले, हेरो बैकुंठ धाम।
संतकृपासें पाइए, सो हरि सबसें ठाम॥

जैनमार्गमें अनेक शाखाएँ हो गयी हैं। लोंकाशाको हुए लगभग चार सौ वर्ष हुए हैं। परंतु उस ढूंढिया सम्प्रदायमें पाँच ग्रंथ भी नहीं रचे गये हैं और वेदांतमें दस हजार जितने ग्रंथ हुए हैं। चार सौ वर्षमें वृद्धि हो वह छिपी नहीं रह सकती।

कुगुरु और अज्ञानी पाखंडियोंका इस कालमें पार नहीं है।

बड़े बड़े जुलूस निकालता है, और धन खर्च करता है, यों जानकर कि मेरा कल्याण होगा, ऐसी बड़ी बात समझकर हजारों रुपये खर्च कर डालता है। एक एक पैसा तो झूठ बोल बोलकर इकट्ठा करता है, और एक साथ हजारों रुपये खर्च कर डालता है। देखिए, जीवका कितना अधिक अज्ञान! कुछ विचार ही नहीं आता।

आत्माका जैसा स्वरूप है, वैसे ही स्वरूपको 'यथाख्यातचारित्र' कहा है।

भय अज्ञानसे है। सिंहका भय सिंहनीको नहीं होता। नागिनीको नागका भय नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस प्रकारका उनका अज्ञान दूर हो गया है।

जब तक सम्यक्त्व प्रगट नहीं होता तब तक मिथ्यात्व है, और मिश्रगुणस्थानकका नाश हो जाये तब सम्यक्त्व कहा जाता है। सभी अज्ञानी पहले गुणस्थानकमें हैं।

सत्शास्त्र, सद्गुरुके आश्रयसे जो संयम होता है उसे 'सरागसंयम' कहा जाता है। निवृत्ति, अनिवृत्तिस्थानकका अंतर पड़े तो सरागसंयममेंसे 'वीतरागसंयम' होता है। उसे निवृत्ति-अनिवृत्ति दोनों बराबर हैं।

स्वच्छंदसे कल्पना वह भ्रांति है।

'यह तो इस तरह नहीं, इस तरह होगा' ऐसा भाव 'शंका' है।

समझनेके लिए विचार करके पूछनेको 'आशंका' कहा जाता है।

अपने आपसे जो न समझमें आये वह 'आशंकामोहनीय' है। सच्चा जान लिया हो फिर भी सच्चा भाव न आये, वह भी 'आशंकामोहनीय' है। अपने आप जो समझमें न आये, उसे पूछना। मूल ज़ाननेके बाद उत्तर विषयके लिए इसका किस तरह होगा ऐसा जाननेकी आकांक्षा हो, उसका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता, अर्थात् वह पतित नहीं होता। मिथ्या भ्रांतिका होना शंका है। मिथ्या प्रतीति अनंतानुबंधीमें समा जाती है। नासमझीसे दोष देखना समझका दोष है, परंतु उससे समकित नहीं जाता; परंतु अप्रतीतिसे दोष देखना मिथ्यात्व है। क्षयोपशम अर्थात् क्षय और शांत हो जाना।

•

[६४३–६] ७ राळजके सीमांतमें वड़के नीचे

यह जीव क्या करे ? सत्समागममें आकर साधनके विना रह गया, ऐसी कल्पना मनमें होती हो और सत्समागममें आना हो, वहाँ आज्ञा, ज्ञानमार्गका आराधन करे तो और उस रास्तेसे

चले तो ज्ञान होता है। समझमें आ जाये तो आत्मा सहजमें प्रगट हो; नहीं तो जिंदगी चली जाये तो भी प्रगट न हो। माहात्म्य समझना चाहिए। निष्कामबुद्धि और भक्ति चाहिए। अंतःकरणकी शुद्धि हो तो ज्ञान अपने आप हो जाये। ज्ञानीको पहचाना जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति होती है। किसी जीवको योग्य देखे तो ज्ञानी उसे कहता है कि सभी कल्पनाएँ छोड़ने जैसी हैं। ज्ञान ले। ज्ञानीको ओघसंज्ञासे पहचाने तो ज्ञान नहीं होता। भक्तिकी रीति नहीं जानी। आज्ञाभक्ति नहीं हुई, तब तक आज्ञा हो तो माया भुलाती है। इसलिए जागृत रहें। मायाको दूर करते रहें। ज्ञानी सभी रीति जानता है।

जब ज्ञानीका त्याग (दृढ त्याग) आये अर्थात् जैसा चाहिए वैसा यथार्थ त्याग करनेको ज्ञानी कहे तब माया भुला देती है। इसलिए वहाँ भलीभाँति जागृत रहे। ज्ञानी मिला कि तभीसे तैयार होकर रहें, कमर कस कर तैयार रहें।

सत्संग हो तब माया दूर रहती है; और सत्संगका योग दूर हुआ कि फिर वह तैयारकी तैयार खड़ी है। इसलिए बाह्य उपाधिको कम करें। इससे विशेष सत्संग होता है। इस कारणसे बाह्य त्याग श्रेष्ठ है। बाह्य त्यागमें ज्ञानीको दुःख नहीं है, अज्ञानीको दुःख है। समाधि करनेके लिए सदाचारका सेवन करना है। नकली रंग सो नकली रंग है। असली रंग सदा रहता है। ज्ञानीके मिलनेके बाद देह छूट गयी, (देह धारण करना नहीं रहता) ऐसा समझें। ज्ञानीके वचन पहले कड़वे लगते हैं, परन्तु बादमें मालूम होता है कि ज्ञानीपुरुष संसारके अनंत दुःखोंको मिटाता है। जैसे औषध कड़वी तो होती है, परन्तु वह दीर्घकालके रोगको मिटाती है।

त्यागपर सदा ध्यान रखें। त्यागको शिथिल न करें। श्रावक तीन मनोरथोंका चिंतन करे। सत्यमार्गका आराधन करनेके लिए मायासे दूर रहे। त्याग करता ही रहे। माया किस तरह भुला देती है उसका एक दृष्टांत :—

कोई एक संन्यासी था वह यों कहा करता कि 'मैं मायाको घुसने ही न दूँ। नग्न होकर विचरूँगा।' तब मायाने कहा कि 'मैं तेरे आगे ही आगे चलूँगी।' 'जंगलमें अकेला विचरूँगा', ऐसा संन्यासीने कहा तब मायाने कहा कि 'मैं सामने आ जाऊँगी।' संन्यासी फिर जंगलमें रहता, और 'मुझे कंकड़ और रेत दोनों समान हैं', यों कहकर रेतीपर सोया करता। फिर मायाको कहा कि 'तू कहाँ है?' मायाने समझ लिया कि इसे बहुत गर्व चढ़ा है, इसलिए कहा कि 'मेरे आनेकी क्या जरूरत है? मेरा पुत्र बड़ा अहंकार तेरी सेवामें छोड़ा हुआ था'।

माया इस तरह ठगती है। इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि 'मैं सबसे न्यारा हूँ, सर्वथा त्यागी हुआ हूँ, अवधूत हूँ, नग्न हूँ, तपश्चर्या करता हूँ। मेरी बात अगम्य है। मेरी दशा बहुत ही अच्छी है। माया मुझे बाधित नहीं करेगी', ऐसी मात्र कल्पनासे मायासे ठगायें नहीं।

जरा समता आती है कि अहंकार भुला देता है कि 'मैं समतावाला हूँ', इसलिए उपयोगको जागृत रखें। मायाको खोज खोजकर ज्ञानीने सचमुच जीता। भक्तिरूपी स्त्री है। उसे मायाके सामने रखा जाये, तो मायाको जीता जाये। भक्तिमें अहंकार नहीं है, इसलिए मायाको जीतती है। आज्ञामें अहंकार नहीं है। स्वच्छंदमें अहंकार है। जब तक रागद्वेष नहीं जाते तब तक तपश्चर्या करनेका फल ही क्या? जनकविदेहमें विदेहता नहीं हो सकती, यह केवल कल्पना है, संसारमें विदेहिता नहीं रहती', ऐसा चिंतन न करें। जिसका अपनापन दूर हो जाये उससे वैसे रहा जा सकता है। मेरा तो कुछ नहीं है। मेरी तो काया भी नहीं है, इसलिए मेरा कुछ नहीं है,

ऐसा हो तो अहंकार मिटता है यह यथार्थ है। जनक विदेहकी दशा उचित है। वसिष्ठजीने रामको उपदेश दिया, तब राम गुरुको राज्य अर्पण करने लगे, परन्तु गुरुने राज लिया ही नहीं। परन्तु अज्ञान दूर करना है, ऐसा उपदेश देकर अपनापन मिटाया। जिसका अज्ञान गया उसका दुःख चला गया। शिष्य और गुरु ऐसे होने चाहिए।

ज्ञानी गृहस्थावासमें बाह्य उपदेश, व्रत देते हैं कि नहीं? गृहस्थावासमें हो ऐसे परमज्ञानी मार्ग नहीं चलाते—मार्ग चलानेकी रीतसे मार्ग नहीं चलाते; स्वयं अविरत रहकर व्रत नहीं दिलाते; परन्तु अज्ञानी ऐसा करता है। इसलिए राजमार्गका उल्लंघन होता है। क्योंकि वैसा करनेसे बहुतसे कारणोंमें विरोध आता है ऐसा है परंतु इससे यह न विचार करें कि ज्ञानी निवृत्तिरूपसे नहीं हैं, परंतु विचार करें तो विरतिरूपसे हैं। इसलिए बहुत ही विचार करना है।

सकाम भक्तिसे ज्ञान नहीं होता। निष्काम भक्तिसे ज्ञान होता है। ज्ञानीके उपदेशमें अद्भुतता है। वे अनिच्छा भावसे उपदेश देते हैं, स्पृहारहित होते हैं। उपदेश ज्ञानका माहात्म्य है, इसलिए माहात्म्यके कारण अनेक जीव सरलतासे बोध पाते हैं।

अज्ञानीका सकाम उपदेश होता है; जो संसार फलका कारण है। वह रुचिकर, रागपोषक और संसारफल देनेवाला होनेसे लोगोंको प्रिय लगता है, और इसलिए जगतमें अज्ञानीका मार्ग अधिक चलता है। ज्ञानीके मिथ्या भावका क्षय हुआ है, अहंभाव मिट गया है; इसलिए अमूल्य वचन निकलते हैं। बालजीवोंको ज्ञानी-अज्ञानीकी पहचान नहीं होती।

विचार करें, 'मैं बनिया हूँ,' इत्यादि आत्मामें रोम-रोममें व्याप्त है, उसे दूर करना है।

आचार्यजीने जीवोंका स्वभाव प्रमादी जानकर दो दो तीन तीन दिनोंके अंतरसे नियम पालनेकी आज्ञा की है।

संवत्सरीका दिन कुछ साठ घड़ीसे घट बढ नहीं जाता; तिथिमें कुछ अंतर नहीं है। अपनी कल्पनासे कुछ अंतर नहीं हो जाता। क्वचित् बीमारी आदिसे पंचमीका दिन न पाला गया और छठ पाले और आत्मामें कोमलता हो तो वह सफल होता है। अभी बहुत वर्षोंसे पर्युषणमें तिथियों-की भांति चलती है। दूसरे आठ दिन धर्म करता है तो कुछ फल कम होता है, ऐसी बात नहीं है। इसलिए तिथियोंका मिथ्या कदाग्रह न रखें, उसे छोड़ें। कदाग्रह छुड़ानेके लिए तिथियाँ बनायी हैं, उसके बदले उसी दिन कदाग्रह बढ़ाती हैं।

ढूँढिया और तपा तिथियोंका विरोध खड़ा करके—अलग होकर—'मैं अलग हूँ,' ऐसा सिद्ध करनेके लिए झगड़ा करते हैं यह मोक्ष जानेका रास्ता नहीं है। वृक्षको भानके बिना कर्म भोगने पड़ते हैं तो मनुष्यको शुभाशुभ क्रियाका फल क्यों नहीं भोगना पड़े?

जिससे सचमुच पाप लगता है उसे रोकना अपने हाथमें है, वह अपनेसे हो सकने जैसा है, उसे जीव नहीं रोकता, और दूसरी तिथि आदिकी और पापकी मिली-जुली चिंता किया करता है। अनादिसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शका मोह रहा है। उस मोहका निरोध करना है। बड़ा पाप अज्ञानका है।

जिसे अविरतिके पापकी चिंता होती हो उससे वैसे स्थानमें कैसे रहा जाये?

स्वयं त्याग नहीं कर सकता और बहाना करे कि मुझे अंतराय बहुत हैं। धर्मका प्रसंग आता है तो कहता है, 'उदय है।' 'उदय उदय' कहा करता है, परन्तु कुछ कुएँमें नहीं गिर जाता। गाड़ेमें बैठा हो और गड्ढा आ जाये तो ध्यानसे सँभलकर चलता है। उस वक्त उदयको भूल जाता

पनी शिथिलता होती है तो उसके बदले उदयका दोष निकालता है, ऐसा अज्ञानीका

लौकिक और अलौकिक स्पष्टीकरण भिन्न भिन्न होते हैं। उदयका दोष निकालना लौकिक करण है। अनादिकालके कर्म दो घड़ीमें नष्ट होते हैं, इसलिए कर्मका दोष न निकालें। आत्माकी निंदा करें। धर्म करनेकी बात आती है तब जीव पूर्वकृत कर्मकी बात आगे कर देता है। जो धर्मको आगे करता है उसे धर्मका लाभ होता है; और जो कर्मको आगे करता है उसे कर्म आगे आता है, इसलिए पुरुषार्थ करना श्रेष्ठ है। पुरुषार्थ पहले करना। मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभ योगको छोड़ना।

पहले तप नहीं करना, परन्तु मिथ्यात्व और प्रमादका पहले त्याग करना चाहिए। सबके परिणामोंके अनुसार शुद्धता एवं अशुद्धता होती है। कर्म दूर किये बिना दूर होनेवाले नहीं हैं। इसीलिए ज्ञानियोंने शास्त्र प्ररूपित किये हैं। शिथिल होनेके साधन नहीं बताये। परिणाम ऊँचे आने चाहिए। कर्म उदयमें आयेगा, ऐसा मनमें रहे तो कर्म उदयमें आता है। बाकी पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाये। उपकार हो यही ध्यान रखे।

●

[६४३–७] ८ वडवा, भाद्रपद सुदी १०, गुरु, १९५२

कर्म गिन गिनकर नष्ट नहीं किये जाते। ज्ञानीपुरुष तो एकदम समूहरूपसे जला देते हैं।

विचारवान दूसरे आलंबन छोड़कर, आत्माके पुरुषार्थके जयका आलंबन ले। कर्मबंधनका आलंबन न ले। आत्मामें परिणमित होना अनुप्रेक्षा है।

मिट्टीमें घड़ा होनेकी सत्ता है; परन्तु यदि दंड, चक्र, कुम्हार आदि मिलें तो होता है। इसी तरह आत्मा मिट्टीरूप है, उसे सद्गुरु आदि साधन मिलें तो आत्मज्ञान होता है। जो ज्ञान हुआ हो वह पूर्वकालमें हुए हुए ज्ञानियोंका संपादन किया हुआ है. उसके साथ पूर्वापर मिलता आना चाहिए; और वर्तमानमें भी जिन ज्ञानीपुरुषोंने ज्ञानका संपादन किया है उनके वचनोंके साथ मेल खाता हुआ होना चाहिए; नहीं तो यों कहा जाये कि अज्ञानको ज्ञान मान लिया है।

ज्ञान दो प्रकारके हैं—एक बीजभूत ज्ञान, और दूसरा वृक्षभूत ज्ञान। प्रतीतिसे दोनों सरीखे हैं, उनमें भेद नहीं है। वृक्षभूत ज्ञान सर्वथा निरावरण हो तो उसी भवमें मोक्ष होता है; और बीजभूत ज्ञान हो तो अंतमें पंद्रह भवमें मोक्ष होता है।

आत्मा अरुपी है; अर्थात् वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरहित वस्तु है; अवस्तु नहीं।

जिसने षड्दर्शन रचे हैं उसने बहुत ही चतुराईका उपयोग किया है।

बंध अनेक अपेक्षाओंसे होता है; परन्तु मूल प्रकृतियाँ आठ हैं, वे कर्मकी आँटी खोलनेके लिए आठ प्रकारसे कही हैं।

आयुकर्म एक ही भवका बँधता है। अधिक भवकी आयु नहीं बँधती। यदि बँधती हो तो किसीको केवलज्ञान उत्पन्न न हो।

ज्ञानीपुरुष समतासे कल्याणका जो स्वरूप बताता है वह उपकारके लिए बताते हैं। ज्ञानीपुरुष मार्गमें भूले भटके जीवको सीधा रास्ता बताता है। जो ज्ञानीके मार्गपर चलता है उसका कल्याण होता है। ज्ञानीके विरह होनेके अनंतर बहुतसा काल बीत जाये अर्थात् अंधकार हो जाने-

से अज्ञानकी प्रवृत्ति होती है; और ज्ञानीपुरुषोंके वचन समझमें नहीं आते, जिससे लोगोंको उलटा भासता है। समझमें न आनेसे लोग गच्छके भेद बना डालते हैं। गच्छके भेद ज्ञानियोंने नहीं डाले। अज्ञानी मार्गका लोप करता है। जब ज्ञानी होता है तब मार्गका उद्योत करता है। अज्ञानी ज्ञानीके सामने होते हैं। मार्गसन्मुख होना चाहिए, क्योंकि सामने होनेसे उलटे मार्गका भान नहीं होता।

बाल और अज्ञानी जीव छोटी-छोटी बातोंमें भेद खड़ा कर देते हैं। तिलक और मुँहपत्ती इत्यादिके आग्रहमें कल्याण नहीं है। अज्ञानीको मतभेद करते हुए देर नहीं लगती। ज्ञानीपुरुष रूढिमार्गके बदले शुद्धमार्गका प्ररूपण करते हों तो भी जीवको भिन्न भासता है, और वह मानता है कि यह अपना धर्म नहीं है। जो जीव कदाग्रहरहित होता है वह शुद्धमार्गको स्वीकार करता है। जैसे व्यापार अनेक प्रकारके होते हैं परंतु लाभ एक ही प्रकारका होता है। विचारवानोंका तो कल्याणका मार्ग एक ही होता है। अज्ञानमार्गके अनंत प्रकार हैं।

जैसे अपना लड़का कुबड़ा हो और दूसरेका लड़का रूपवान हो, परंतु राग अपने लड़केपर आता है, और वह अच्छा लगता है, उसी तरह जिस कुलधर्मको स्वयं माना है, वह चाहे जैसा दोषवाला हो तो भी सच्चा लगता है। वैष्णव, श्वेतांबर, ढूँढिया, दिगंबर जैन आदि चाहे जो हो परन्तु जो कदाग्रहरहित होकर शुद्ध समतासे अपने आवरणोंको घटायेगा उसीका कल्याण होगा।

सामायिक कायाके योगको रोकती है, आत्माको निर्मल करनेके लिए कायाके योगको रोकें। रोकनेसे परिणाममें कल्याण होता है। कायाकी सामायिक करनेकी अपेक्षा आत्माकी सामायिक एक बार तो करें। ज्ञानीपुरुषके वचन सुन सुनकर गाँठ बाँधें तो आत्माकी सामायिक होगी। इस कालमें आत्माकी सामायिक होती है। मोक्षका उपाय अनुभवगोचर है। जैसे अभ्यास करते करते आगे बढ़ते हैं वैसे ही मोक्षके लिए भी है।

जब आत्मा कुछ भी क्रिया न करे तब अबंध कहा जाता है।

पुरुषार्थ करे तो कर्मसे मुक्त हो। अनंतकालके कर्म हों, और यदि यथार्थ पुरुषार्थ करे तो कर्म यों नहीं कहे कि मैं नहीं जाऊँ। दो घड़ीमें अनंत कर्मोंका नाश होता है। आत्माकी पहचान हो तो कर्मका नाश हो।

प्र०—सम्यक्त्व किससे प्रगट होता है?

उ०—आत्माका यथार्थ लक्ष्य होनेसे। सम्यक्त्वके दो प्रकार हैं—(१) व्यवहार और (२) परमार्थ। सद्गुरुके वचनोंका सुनना, उन वचनोंका विचार करना, उनकी प्रतीति करना, यह 'व्यवहार-सम्यक्त्व' है। आत्माकी पहचान हो, यह 'परमार्थ-सम्यक्त्व' है।

अंतःकरणकी शुद्धिके बिना बोध असर नहीं करता; इसलिए पहले अंतःकरणमें कोमलता लायें, व्यवहार और निश्चय इत्यादिकी मिथ्या चर्चामें निराग्रही रहें; मध्यस्थभावसे रहें। आत्माके स्वभावका जो आवरण है उसे ज्ञानी 'कर्म' कहते हैं।

जब सात प्रकृतियोंका क्षय हो तब सम्यक्त्व प्रगट होता है। अनंतानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय, इन सात प्रकृतियोंका क्षय हो जाये तब सम्यक्त्व प्रगट होता है।

प्र०—कषाय क्या है?

उ०—सत्पुरुष मिलनेपर, जीवको वे बताते हैं कि तू जो विचार किये बिना करता जाता है

उसमें कल्याण नहीं है, फिर भी उसे करनेके लिए दुराग्रह रखता है वह 'कषाय' है।

उन्मार्गको मोक्षमार्ग माने और मोक्षमार्गको उन्मार्ग माने, वह 'मिथ्यात्वमोहनीय' है।

उन्मार्गसे मोक्ष नहीं होता, इसलिए मार्ग दूसरा होना चाहिए, ऐसा जो भाव वह 'मिश्रमोहनीय' है।

'आत्मा यह होगी। ?' ऐसा ज्ञान होना 'सम्यक्त्व मोहनीय' है।

'आत्मा यह है', ऐसा निश्चयभाव 'सम्यक्त्व' है।

ज्ञानीके प्रति यथार्थ प्रतीति हो और रात-दिन उस अपूर्व योगकी याद आती रहे तो सच्ची भक्ति प्राप्त होती है।

नियमसे जीव कोमल होता है, दया आती है। मनके परिणाम यदि उपयोगसहित हों तो कर्म कम लगें, उपयोगरहित हों तो कर्म अधिक लगें। अंतःकरणको कोमल करनेके लिए, शुद्ध करनेके लिए व्रत आदि करनेका विधान किया है। स्वादबुद्धिको कम करनेके लिए नियम करें। कुलधर्म जहाँ जहाँ देखते हैं वहाँ वहाँ आड़े आता है।

●

[६४३-७] ९ वडवा, भाद्रपद सुदी १३, शनि, १९५२

श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ रहते थे, उसे जानकर भक्ति करें। योगी समझकर तो सारा जगत भक्ति करता है परन्तु गृहस्थाश्रममें योगदशा है, उसे समझकर भक्ति करना वैराग्यका कारण है। गृहस्थाश्रममें सत्पुरुष रहता है उसका चित्र देखकर विशेष वैराग्यकी प्रतीति होती है। योगदशाका चित्र देखकर सारे जगतको वैराग्यकी प्रतीति होती है, परन्तु गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी त्याग और वैराग्य योगदशा जैसे रहते हैं, यह कैसी अद्भुत दशा है! योगमें जो वैराग्य रहता है वैसा अखंड वैराग्य सत्पुरुष गृहस्थाश्रममें रखता है। उस अद्भुत वैराग्यको देखकर मुमुक्षुको वैराग्य, भक्ति होनेका निमित्त बनता है। लौकिकदृष्टिमें वैराग्य, भक्ति नहीं है।

पुरुषार्थ करना और सत्य रीतिसे वर्तन करना ध्यानमें ही नहीं आता। वह तो लोग भूल ही गये।

लोग जब वर्षा आती है तब पानी टंकीमें भर रखते हैं, वैसे मुमुक्षुजीव इतना उपदेश सुनकर जरा भी ग्रहण नहीं करते, यह एक आश्चर्य है। उनका उपकार किस तरह हो। सत्पुरुषकी वर्तमान स्थितिकी विशेष अद्भुतदशा है। सत्पुरुषके गृहस्थाश्रमकी सारी स्थिति प्रशस्त है। सभी योग पूजनीय हैं।

ज्ञानी दोष कम करनेके लिए अनुभवके वचन कहते हैं; इसलिए वैसे वचनोंका स्मरण करके यदि उन्हें समझा जाये, उनका श्रवण मनन हो तो सहजमें ही आत्मा उज्ज्वल होती है। वैसा करनेमें कुछ बहुत मेहनत नहीं है। वैसे वचनोंका विचार न करे, तो किसी दिन भी दोष कम न हों।

सदाचारका सेवन करना चाहिए। ज्ञानीपुरुषोंने दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-परिणाम आदि सदाचार कहे हैं। ज्ञानियोंने जो सदाचारोंका सेवन करना कहा है वह यथार्थ है, सेवन करने योग्य है। बिना साक्षीके जीव व्रत, नियम न करे।

विषय-कषाय आदि दोष दूर हुए विना सामान्य आशयवाले दया आदि भी नहीं आते; तो फिर गहरे आशयवाले दया आदि कहाँसे आयें ? विषय-कषायसहित मोक्षमें जाना नहीं होता। अंतःकरणकी शुद्धिके विना आत्मज्ञान नहीं होता। भक्ति सब दोषोंका क्षय करनेवाली है, इसलिए वह सर्वोत्कृष्ट है।

जीव विकल्पका व्यापार न करे। विचारवान अविचार और अकार्य करते हुए क्षोभ पाता है। अकार्य करते हुए जो क्षोभ नहीं पाता वह अविचारवान है। अकार्य करते हुए पहले जितना त्रास रहता है उतना दूसरी बार करते हुए नहीं रहता। इसलिए पहलेसे ही अकार्य करते हुए रुक जाना, दृढ निश्चय करके अकार्य नहीं करना।

सत्पुरुष उपकारके लिए ही उपदेश करते हैं, उसे सुने और विचारे तो जीवके दोष अवश्य कम हों। पारसमणिका संग हुआ, और लोहेका सुवर्ण न हुआ तो, या तो पारसमणि नहीं या तो असली लोहा नहीं। उसी तरह जिसके उपदेशसे आत्मा सुवर्णमय न हो वह उपदेष्टा, या तो सत्पुरुष नहीं, और या तो उपदेश सुननेवाला योग्य जीव नहीं। योग्य जीव और सच्चा सत्पुरुष हो तो गुण प्रगट हुए विना न रहें।

लौकिक आलंबन करे ही नहीं। जीव स्वयं जाग जाये तो सभी विपरीत कारण दूर हो जायें, जिस तरह कोई पुरुष घरमें निद्रावश है, उसके घरमें कुत्ते, बिल्ले आदि पैठ जानेसे नुकसान करते हैं; और फिर वह पुरुष जागनेके बाद नुकसान करनेवाले कुत्ते आदि प्राणियोंका दोष निकालता है; परन्तु अपना दोष नहीं निकालता कि मैं सो गया तो ऐसा हुआ; उसी तरह जीव अपने दोष नहीं देखता। स्वयं जागृत रहता हो तो सभी विपरीत कारण दूर हो जाये, इसलिए स्वयं जागृत रहें।

जीव यों कहता है कि मेरे तृष्णा, अहंकार, लोभ आदि दोष दूर नहीं होते; अर्थात् जीव अपना दोष नहीं निकालता; और दोषोंका ही दोष निकालता है। जैसे सूर्यका ताप बहुत पड़ता है, इसलिए जीव बाहर नहीं निकलता, इसलिए सूर्यका दोष निकालता है, परन्तु छतरी और जूते सूर्यके तापसे बचनेके लिए बताये हैं, उनका उपयोग नहीं करता। ज्ञानीपुरुषोंने लौकिकभावको छोड़कर जिन विचारोंसे अपने दोष कम किये, नष्ट किये, वे विचार और वे उपाय ज्ञानी उपकारके लिए बताते हैं। वे सुनकर आत्मामें परिणमित हो ऐसा पुरुषार्थ करे।

किस तरह दोष कम हो ? जीव लौकिक भाव, क्रिया किया करता है, और दोष क्यों कम नहीं होते यों कहा करता है!

जो जीव योग्य नहीं होता उसे सत्पुरुष उपदेश नहीं देते।

सत्पुरुषकी अपेक्षा मुमुक्षुका त्याग-वैराग्य बढ़ जाना चाहिए। मुमुक्षुओंको जागृत अति जागृत होकर वैराग्य बढ़ाना चाहिए। सत्पुरुषका एक भी वचन सुनकर अपनेमें दोष होनेके लिए बहुत ही खेद करेगा और दोष कम करेगा तभी गुण प्रगट होंगे। सत्संग-समागमकी आवश्यकता है। बाकी सत्पुरुष तो, जैसे एक बटोही दूसरे बटोहीको रास्ता बताकर चला जाता है, उसी तरह रास्ता बताकर चला जाता है। गुरुपद धारण करनेके लिए अथवा शिष्य बनानेके लिए सत्पुरुष-की इच्छा नहीं है। सत्पुरुषके विना एक भी आग्रह, कदाग्रह दूर नहीं होता। जिसका दुराग्रह दूर हुआ उसे आत्माका भान होता है। सत्पुरुषके प्रतापसे ही दोष कम होता है। भ्रांति दूर हो जाये तो तुरत सम्यक्त्व होता है।

बाहुबलीजीको जैसे केवलज्ञान पासमें-अंतरमें था, कुछ बाहर न था, वैसे ही सम्यक्त्व अपने पास ही है।

शिष्य ऐसा हो कि सिर काट कर दे दे, तब ज्ञानी सम्यक्त्व प्राप्त कराता है। ज्ञानीपुरुषको नमस्कार आदि करना शिष्यके अहंकारको दूर करनेके लिए है। परन्तु मनमें उथल-पुथल हुआ करे तो किनारा कब आये ?

जीव अहंकार रखता है, असत् वचन वोलता है, भ्रान्ति रखता है; उसका उसे तनिक भी भान नहीं है। यह भान हुए विना निबेड़ा होनेवाला नहीं है।

शूरवीर वचनोंके समान दूसरा एक भी वचन नहीं है। जीवको सत्पुरुषका एक शब्द भी समझमें नहीं आया। बड़प्पन बाधा डालता हो तो उसे छोड़ देना। ढूँढियाने मुँहपत्ती और तपाने मूर्ति आदिका कदाग्रह पकड़ रखा है, परन्तु वैसे कदाग्रहमें कुछ भी हित नहीं है। शौर्य करके आग्रह, कदाग्रहसे दूर रहना; परन्तु विरोध नहीं करना।

जब ज्ञानीपुरुष होते हैं तब मतभेद एवं कदाग्रह कम कर देते हैं। ज्ञानी अनुकंपाके लिए मार्गका बोध देते हैं। अज्ञानी कुगुरु जगह जगह मतभेद बढ़ा कर कदाग्रहको दृढ करते हैं।

सच्चे पुरुष मिलें, और वे जो कल्याणका मार्ग बतायें, उसीके अनुसार जीव वर्तन करे तो अवश्य कल्याण हो। सत्पुरुषकी आज्ञाका पालन करना ही कल्याण है। मार्ग विचारवानको पूछें। सत्पुरुषके आश्रयसे सदाचरण करें। खोटी बुद्धि सभीको हैरान करनेवाली है, पापकारी है। जहाँ ममत्व हो वहीं मिथ्यात्व है। श्रावक सब दयालु हों। कयाणका मार्ग एक ही होता है, सौ दो सौ नहीं होते। अंदरके दोषोंका नाश होगा, और समपरिणाम आयेगा तो ही कल्याण होगा।

जो मतभेदका छेदन करे वही सच्चा पुरुष है। जो समपरिणामके रास्तेपर चढ़ाये वह सच्चा संग है। विचारवानको मार्गका भेद नहीं है।

हिंदु और मुसलमान नहीं है। हिंदुओंके धर्मगुरु जो धर्मबोध कह गये थे वे उसे बहुत उपकारके लिए कह गये थे। वैसा बोध पीराना मुसलमानोंके शास्त्रोंमें नहीं है। आत्मापेक्षासे कुनबी, बनिया, मुसलमान नहीं हैं। वह भेद जिसका दूर हो गया है, वही शुद्ध है; भेद भासना ही अनादि-भूल है। कुलाचारके अनुसार जिसे सच्चा माना वही कषाय है।

प्र०—मोक्ष क्या है ?

उ०—आत्माकी अत्यंत शुद्धता, अज्ञानसे छूट जाना, सब कर्मोंसे मुक्त होना 'मोक्ष' है। यथातथ्य ज्ञानके प्रगट होनेपर मोक्ष होता है। जब तक भ्रान्ति है तब तक आत्मा जगतमें ही है। अनादिकालका जो चेतन है उसका स्वभाव जानना ज्ञान है, फिर भी जीव भूल जाता है वह क्या है ? जाननेमें न्यूनता है, यथातथ्य ज्ञान नहीं है। वह न्यूनता किस तरह दूर हो ? उस ज्ञान-रूपी स्वभावको भूल न जाये, उसे वारंवार दृढ करे तो न्यूनता दूर हो। ज्ञानीपुरुषके वचनोंका आलंबन लेनेसे ज्ञान होता है। जो साधन हैं वे उपकारके हेतु हैं। जैसा जैसा अधिकारी वैसा वैसा उनका फल होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे ले तो साधन उपकारके हेतु हैं। सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलनेसे ज्ञान होता है। सत्पुरुषके वचन आत्मामें परिणत होनेपर मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, अशुभ-योग इत्यादि सभी दोष अनुक्रमसे शिथिल पड़ जाते हैं। आत्मज्ञानका विचार करनेसे दोषोंका नाश होता है। सत्पुरुष पुकार पुकार कर कह गये हैं, परन्तु जीवको लोकमार्गमें पड़ा रहना है; और लोकोत्तर कहलवाना है, और दोष दूर क्यों नहीं होते यों मात्र कहते रहना है। लोकका भय छोड़

कर सत्पुरुषके वचनोंको आत्मामें परिणत करे, तो सब दोष दूर हो जायें। जीव ममत्व न रखे, बड़प्पन और महत्ता छोड़े विना आत्मामें सम्यक्त्वका मार्ग परिणमित होना कठिन है।

वर्तमानमें स्वच्छंदसे वेदांतशास्त्र पढे जाते हैं, और इससे शुष्कता जैसा हो जाता है। षड्दर्शनमें झगड़ा नहीं है, परन्तु आत्माको केवल मुक्तदृष्टिसे देखते हुए तीर्थंकरने लंबा विचार किया है। मूल लक्ष्यगत होनेसे जो जो वक्ताओं (सत्पुरुषों) ने कहा है, वह यथार्थ है, ऐसा मालूम होगा।

आत्मामें कभी भी विकार उत्पन्न हो, तथा रागद्वेषपरिणाम न हो, तभी केवलज्ञान कहा जाता है। षड्दर्शनवालोंने जो विचार किये हैं उनसे आत्माका उन्हें भान होता है, परंतु तारतम्यमें भेद पड़ता है। मूलमें भेद नहीं है। परंतु षड्दर्शनको अपनी समझसे लगाये तो कभी न लगे अर्थात् समझमें न आये। सत्पुरुषके आश्रयसे वह समझमें आये। जिसने आत्माको असंग, निष्क्रिय विचारा हो उसे भ्रांति नहीं होती, संशय नहीं होता। फिर आत्माके अस्तित्वका भी प्रश्न नहीं रहता।

प्र०—सम्यक्त्व कैसे ज्ञात हो ?

उ०—अंदरसे दशा बदले तब सम्यक्त्वका ज्ञान अपने आप स्वयंको हो जाता है। सद्देव अर्थात् रागद्वेष और अज्ञान जिसके क्षीण हुए हैं। सद्गुरु किसे कहा जाता हैं ? मिथ्यात्वकी ग्रंथि जिसकी छिन्न हो गयी है। सद्गुरु अर्थात् निर्ग्रंथ। सद्धर्म अर्थात् ज्ञानीपुरुषों द्वारा बोधित धर्म। इन तीन तत्त्वोंको यथार्थरूपसे जाने तव सम्यक्त्व हुआ समझा जाये।

अज्ञान दूर करनेके लिए कारण, साधन बताये हैं। ज्ञानका स्वरूप जब जाने तब मोक्ष हो।

परम वैद्यरूपी सद्गुरु मिले और उपदेशरूपी दवा आत्मामें परिणमित हो तब रोग दूर हो। परंतु उस दवाको अंतरमें ग्रहण न करे, तो उसका रोग कभी दूर न हो। जीव सचमुच साधन नहीं करता। जिस तरह सारे कुटुंबको पहचानना हो तो पहले एक व्यक्तिको पहचाने तो सबकी पहचान हो जाये, उसी तरह पहले सम्यक्त्वकी पहचान हो तब आत्माके समस्त गुणपरिवारकी पहचान हो जाये। सम्यक्त्वको सर्वोत्कृष्ट साधन कहा है। बाह्य वृत्तियोंको कम करके अंतरपरिणाम करे तो सम्यक्त्वका मार्ग आये। चलते चलते गाँव आता है, परंतु विना चले गाँव नहीं आता। जीवको यथार्थ सत्पुरुषकी प्राप्ति और प्रतीति नहीं हुई है।

बहिरात्मामेंसे अंतरात्मा होनेके बाद परमात्मत्व प्राप्त होना चाहिए। जैसे दूध और पानी अलग हैं वैसे सत्पुरुषके आश्रयसे, प्रतीतिसे देह और आत्मा अलग हैं ऐसा भान होता है। अंतरमें अपने आत्मानुभवरूपसे, जैसे दूध और पानी भिन्न भिन्न होते हैं, वैसे ही देह और आत्मा भिन्न भिन्न लगें तब परमात्मत्व प्रगट होता है। जिसे आत्माका विचाररूपी ध्यान है, सतत निरंतर ध्यान है, आत्मा जिसे स्वप्नमें भी अलग ही भासती है, कभी जिसे आत्माकी भ्रान्ति होती ही नहीं उसीको परमात्मत्व होता है।

अंतरात्मा कषाय आदि दूर करनेके लिए निरंतर पुरुषार्थ करती है। चौदहवें गुणस्थान तक यह विचाररूपी क्रिया है। जिसे वैराग्य उपशम रहता हो उसीको ही विचारवान कहते हैं। आत्माएँ मुक्त होनेके बाद संसारमें नहीं आतीं। आत्मा स्वानुभवगोचर है, वह चक्षुसे दीखती

नहीं, इंद्रियसे रहित ज्ञान उसे जानता है। जो आत्माके उपयोगका मनन करे वह मन है। लगाव है इसलिए मन भिन्न कहा जाता है। संकल्प-विकल्प छोड़ देना 'उपयोग' है। ज्ञानका आवरण करनेवाला निकाचित कर्म जिसने न बाँधा हो उसे सत्पुरुषका बोध लगता है। आयुका बंध हो तो वह रोका नहीं जाता।

जीवने अज्ञानका ग्रहण किया है इसलिए उपदेश नहीं लगता। क्योंकि आवरणके कारण लगनेका कोई रास्ता नहीं हैं। जब तक लोकके अभिनिवेशकी कल्पना करते रहें तब तक आत्मा ऊँची नहीं उठती, और तब तक कल्याण भी नहीं होता। बहुतसे जीव सत्पुरुषका बोध सुनते हैं, परंतु उसे विचारनेका योग नहीं बनता।

इंद्रियोंके निग्रहका न होना, कुलधर्मका आग्रह, मानश्लाघाकी कामना, और अमध्यस्थता, यह कदाग्रह है। इस कदाग्रहको जीव जब तक न छोड़े तब तक कल्याण नहीं होता। नव पूर्व पढ़े तो भी जीव भटका। चौदह राजलोक जाने परंतु देहमें रही हुई आत्माको नहीं पहचाना, इसलिए भटका! ज्ञानीपुरुष सभी शंकाएँ दूर कर सकते हैं; परंतु तरनेका कारण है सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलना और तभी दुःख मिटता है। आज भी पुरुषार्थ करे तो आत्मज्ञान हो। जिसे आत्मज्ञान नहीं है उससे कल्याण नहीं होता।

व्यवहार जिसका परमार्थ है ऐसे आत्मज्ञानीकी आज्ञासे वर्तन करनेपर आत्मा लक्ष्यगत होता है, कल्याण होता है।

जीवको बंध कैसे पड़े? निकाचितमें उपयोगसे, अनुपयोगसे।

आत्माका मुख्य लक्षण उपयोग है। आत्मा तिलमात्र दूर नहीं है, बाहर देखनेसे दूर दूर भासती है; परंतु वह अनुभवगोचर है। यह नहीं, यह नहीं, इससे भिन्न जो रहा सो वह है।

जो आकाश दीखता है वह आकाश नहीं है। आकाश चक्षुसे नहीं दीखता। आकाशको अरूपी कहा है।

आत्माका भान स्वानुभवसे होता है। आत्मा अनुभवगोचर है। अनुमान जो है वह माप है। अनुभव जो है वह अस्तित्व है।

आत्मज्ञान सहज नहीं है। 'पंचीकरण,' 'विचारसागर' को पढ़कर कथन मात्र माननेसे ज्ञान नहीं होता। जिसे अनुभव हुआ है ऐसे अनुभवके आश्रयसे उसे समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार वर्तन करे तो ज्ञान होता हो। समझे बिना रास्ता अति विकट है। हीरा निकालनेके लिए खान खोदनेमें तो मेहनत है, परंतु हीरा लेनेमें मेहनत नहीं है। इसी तरह आत्मासंबंधी समझ आना दुष्कर हैं, नहीं तो आत्मा कुछ दूर नहीं है। भान न होनेसे दूर लगती है। जीवको कल्याण करने, न करनेका भान नहीं है; परंतु अपनापन रखना है।

चौथे गुणस्थानमें ग्रंथिभेद होता है। ग्यारहवेंसे पड़ता है उसे 'उपशमसम्यक्त्व' कहा जाता है! लोभ चारित्रको गिरानेवाला है; चौथे गुणस्थानमें उपशम और क्षायिक दोनों होते हैं। उपशम अर्थात् सत्तामें आवरणका रहना कल्याणके सच्चे कारण जीवके विचारमें नहीं हैं। जो शास्त्र वृत्तिको संक्षिप्त करें, वृत्तिको संकुचित करें अपितु उसे बढ़ायें, ऐसे शास्त्रोंमें न्याय कहाँसे हो?

व्रत देनेवाले और व्रत लेनेवाले दोनों विचार तथा उपयोग रखें। उपयोग न रखें और भार रखें तो निकाचित कर्म बाँधे। कम करना, परिग्रहमर्यादा करनी ऐसा जिसके मनमें हो वह

शिथिल कर्म बाँधे। पाप करनेपर कुछ मुक्ति नहीं होती। एक व्रत मात्र लेकर अज्ञानको निकालना चाहता है ऐसे जीवको अज्ञान कहता है कि तेरा कुछ चारित्र मैं खा गया हूँ, इसमें यह क्या बड़ी बात है?

जो साधन बताये वे तरनेके साधन हों तो ही सच्चे साधन हैं। बाकी निष्फल साधन हैं। व्यवहारमें अनंत भंग उठते हैं; तो कैसे पार आये? कोई आदमी जल्दी 'बोले उसे कषाय कहा जाता है। कोई धीरजसे बोले तो उसे शान्ति मालूम हो, परंतु अंतरपरिणाम हो तो ही शांति कही जाये।

जिसे सोनेके लिए एक बिस्तरा चाहिए वह दस घर खुले रखे तो ऐसेकी वृत्ति कब संकुचित हो? जो वृत्तिको रोके उसे पाप नहीं। कितने ही जीव ऐसे हैं कि वे ऐसे कारण इकट्ठे करते हैं कि जिनसे वृत्ति न रुके।

●

[६४३–९] १० भाद्रपद सुदी १५, १९५२

चौदह राजूलोककी जो कामना है वह पाप है। इसलिए परिणाम देखें। चौदह राजूलोककी खबर नहीं ऐसा कदाचित् कहें, तो भी जितना सोचा उतना तो निश्चित पाप हुआ। मुनिको तिनका भी लेनेकी छूट नहीं है। गृहस्थ इतना ले तो उतना उसे पाप है।

जड और आत्मा तन्मय नहीं होते। सूतकी आँटी सूतसे कुछ भिन्न नहीं है; परन्तु आँटी खोलनेमें विकटता है; यद्यपि सूत न घटता है और न बढ़ता। उसी तरह आत्मामें आँटी पड़ गयी है।

सत्पुरुष और सत्शास्त्र यह व्यवहार कुछ कल्पित नहीं है। सद्गुरु, शत्शास्त्ररूपी व्यवहारसे स्वरूप शुद्ध होवे, केवल रहे, अपना स्वरूप समझना समकित है। सत्पुरुषका वचन सुनना दुर्लभ है, श्रद्धा करना दुर्लभ है, विचारना दुर्लभ है, तो फिर अनुभव करना दुर्लभ हो इसमें क्या नवीनता?

उपदेशज्ञान 'अनादिसे चला आता है, अकेली पुस्तकसे ज्ञान नहीं होता। पुस्तकसे ज्ञान होता हो तो पुस्तकका मोक्ष हो जाये! सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेमें भूल हो जाये तो पुस्तक अवलंबनभूत है। चैतन्य रहे तो चैतन्य प्राप्त हो, चैतन्य अनुभवगोचर है। सद्गुरुके वचनका श्रवण करे, मनन करे, और आत्मामें परिणत करे तो कल्याण हो।

ज्ञान और अनुभव हो तो मोक्ष हो। व्यवहारका निषेध न करें, अकेले व्यवहारको न पकड़ रखें।

आत्मज्ञानकी बात इस तरह करना योग्य नहीं कि वह सामान्य हो जाये। आत्मज्ञानकी बात एकान्तमें कहें। आत्माके अस्तित्वका विचार किया जाये, तो अनुभवमें आता है; नहीं तो उसमें शंका होती है। जैसे किसी मनुष्यको अधिक पटल होनेसे दीखता नहीं, उसी तरह आवरणकी संलग्नताके कारण आत्माको दीखता नहीं। नींदमें भी आत्माको सामान्यतः जागृति रहती है। आत्मा सर्वथा नहीं सोती, उसपर आवरण आ जाता है। आत्मा हो तो ज्ञान हो। जड़ हो तो ज्ञान किसे हो?

अपनेको अपना भान होना, स्वयं अपना ज्ञान पाना, जीवन्मुक्त होना।

चैतन्य एक हो तो भ्रान्ति किसे हुई ? मोक्ष किसका हुआ ? सभी चैतन्यकी जाति एक है, परन्तु प्रत्येक चैतन्यकी स्वतंत्रता है, भिन्न भिन्न है। चैतन्यका स्वभाव एक है। मोक्ष स्वानुभव-गोचर है। निरावरणमें भेद नहीं है। परमाणु एकत्रित न हों अर्थात् आत्माका जब परमाणुसे संबंध नहीं है तब मुक्ति है, परस्वरूपमें नहीं मिलना मुक्ति है।

कल्याण करने, न करनेका तो भान नहीं, परंतु जीवको अपनापन रखना है। बंध कब तक हो ? जीव चैतन्य न हो तब तक। एकेंद्रिय आदि योनि हो तो भी जीवका ज्ञानस्वभाव सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, अंशसे खुला रहता है। अनादि कालसे जीव बँधा हुआ है। निरावरण होनेके बाद नहीं बँधता। 'मैं जानता हूँ', ऐसा जो अभिमान है वह चैतन्यकी अशुद्धता है। इस जगतमें बंध और मोक्ष न होते तो फिर श्रुतिका उपदेश किसके लिए ? आत्मा स्वभावसे सर्वथा निष्क्रिय है, प्रयोगसे सक्रिय है, जब निर्विकल्प समाधि होती है तभी निष्क्रियता कही है। निर्विवादरूपसे वेदांतका विचार करनेमें बाधा नहीं। आत्म अर्हंतपदका विचार करे तो अर्हंत् हो जाये। सिद्धपद-का विचार करे तो सिद्ध हो जाये। आचार्यपदका विचार करे तो आचार्य हो जाये। उपाध्यायका विचार करे तो उपाध्याय हो जाये। स्त्रीरूपका विचार करे तो आत्मा स्त्री हो जाये; अर्थात् आत्मा जिस स्वरूपका विचार करे तद्रूप भावात्मा हो जाये। आत्मा एक है कि अनेक इसकी चिन्ता न करें। हमें तो यह विचार करनेकी जरूरत है कि 'मैं एक हूँ।' जगतको मिलानेकी क्या जरूरत है ? एक-अनेकका विचार बहुत आगेकी दशामें पहुँचनेके बाद करना है। जगत और आत्माको स्वप्नमें भी एक न समझें। आत्मा अचल है, निरावरण है। वेदांत सुनकर भी आत्माको पहचानें। आत्मा सर्वव्यापक है कि आत्मा देहमें है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।

सभी धर्मोंका तात्पर्य यह है कि आत्माको पहचानें। दूसरे सब तो साधन हैं, वे जिस जगह चाहिए (योग्य हैं) उन्हें ज्ञानीकी आज्ञासे उपयोग करते हुए अधिकारी जीवको फल होता है। दया आदि आत्माके निर्मल होनेके साधन हैं।

मिथ्यात्व, प्रमाद, अव्रत अशुभयोग, ये अनुक्रमसे जायें तो सत्पुरुषका वचन आत्मामें परि-णाम पाये; उससे सभी दोषोंका अनुक्रमसे नाश हो। आत्मज्ञान विचारसे होता है। सत्पुरुष तो पुकार-पुकार कर कह गये हैं; परन्तु जीव लोकमार्गमें पड़ा है, और उसे लोकोत्तरमार्ग मानता है। इसलिए किसी तरह दोष नहीं जाते। लोकका भय छोडकर सत्पुरुषोंके वचन, आत्मामें परिणमित करे तो सब दोष चले जायें। जीव ममत्व न लाये, बड़प्पन और महत्ता छोड़े बिना सम्यक् मार्ग आत्मामें परिणाम न पाये।

ब्रह्मचर्यके विषयमें :—परमार्थहेतु नदी उतरनेके लिए ठंडे पानीकी मुनिको आज्ञा दी है, परंतु अब्रह्मचर्यकी आज्ञा नहीं दी; और उसके लिए कहा है कि अल्प आहार करे, उपवास करे, एकांतर करे, अंतमें जहर खाकर मर जाये; परंतु ब्रह्मचर्यका भंग न करे।

जिसे देहकी मूर्च्छा हो उसे कल्याण किस तरह भासे ? साँप काटे और भय न हो तब समझना कि आत्मज्ञान प्रगट हुआ है। आत्मा अजर अमर है। 'मैं' मरनेका नहीं, तो मरनेका भय क्या ? जिसकी देहकी मूर्च्छा चली गयी है उसे आत्मज्ञान हुआ कहा जाये।

प्रश्न—जीव कैसे वर्तन करे ?

उत्तर—ऐसे वर्तन करे कि सत्संगके योगसे आत्माकी शुद्धता प्राप्त हो। परंतु सत्संगका

योग सदा नहीं मिलता। जीव योग्य होनेके लिए हिंसा न करे, सत्य बोले, अदत्त न ले, ब्रह्मचर्य पाले, परिग्रहकी मर्यादा करे, रात्रिभोजन न करे इत्यादि सदाचरण शुद्ध अंतःकरणसे करनेका ज्ञानियोंने कहा है; वह भी यदि आत्माके लिए ध्यान रखकर किया जाता हो तो उपकारी है, नहीं तो पुण्ययोग प्राप्त हो। उससे मनुष्य भव मिले, देवगति मिले, राज्य मिले, एक भवका सुख मिले; और फिर चार गतिमें भटकना हो; इसलिए ज्ञानियोंने तप आदि जो क्रियाएँ आत्माके उपकारके लिए अहंकाररहित भावसे करनेके लिए कही हैं; परमज्ञानी स्वयं भी जगतके उपकारके लिए निश्चयसे उनका सेवन करता है।

महावीरस्वामीने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद उपवास नहीं किये उसी तरह किसी ज्ञानीने नहीं किये; तथापि लोगोंके मनमें ऐसा न आये कि ज्ञान होनेके बाद खाना पीना सब एकसा है, इसलिए अंतिम समयमें तपकी आवश्यकता बतानेके लिए उपवास किये, दानको सिद्ध करनेके लिए दीक्षा लेनेसे पहले स्वयं वर्षीदान दिया, इससे जगतको दान सिद्ध कर दिखाया। मातापिताकी सेवा सिद्ध कर दिखाया। छोटी उमरमें जो दीक्षा नहीं ली वह उपकारके लिए। नहीं तो अपनेको करना, न करना कुछ नहीं है, क्योंकि जो साधन कहे हैं वे आत्मलक्ष्य करनेके लिए हैं, जो स्वयंको तो संपूर्ण प्राप्त हुआ है। परन्तु परोपकारके लिए ज्ञानी सदाचारणका सेवन करते हैं।

अभी जैनधर्ममें बहुत समयसे अव्यवहृत कुएँकी भाँति आवरण आ गया है; कोई ज्ञानी-पुरुष है नहीं। कितने ही समयसे ज्ञानी हुए नहीं; क्योंकि नहीं तो उसमें इतने अधिक कदाग्रह नहीं हो जाते। इस पंचम कालमें सत्पुरुषका योग मिलना दुर्लभ है; उसमें अभी तो विशेष दुर्लभ देखनेमें आता है; बहुत करके पूर्वके संस्कारी जीव देखनेमें नहीं आते। बहुतसे जीवोंमें कोई सच्चा मुमुक्षु, जिज्ञासु देखनेमें आता है; बाकी तो तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं; जो बाह्यदृष्टि-वाले हैं—

(१) 'क्रिया नहीं करना, क्रियासे देवगति प्राप्त हो, दूसरा कुछ प्राप्त नहीं होता, जिससे चार गतियोंका भटकना मिटे, यह सच है।' ऐसा कहकर सदाचरणको पुण्यका हेतु मानकर नहीं करते; और पापके कारणोंका सेवन करते हुए रुकते नहीं। इस प्रकारके जीवोंको कुछ करना ही नहीं है, और केवल बड़ी बड़ी बातें करना है। इन जीवोंको 'अज्ञानवादी' के तौरपर रखा जा सके।

(२) 'एकांत क्रिया करनी, उसीसे कल्याण होगा', ऐसा माननेवाले एकदम व्यवहारमें कल्याण मानकर कदाग्रह नहीं छोड़ते। ऐसे जीवोंको 'क्रियावादी' अथवा 'क्रियाजड' समझें, क्रिया-जडको आत्माका लक्ष्य नहीं होता।

(३) 'हमें आत्मज्ञान है। आत्माको भ्रांति नहीं होती, आत्मा कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं; इसलिए कुछ नहीं।' ऐसा बोलनेवाले 'शुष्क-अध्यात्मी' पोले ज्ञानी होकर अनाचारका सेवन करते हुए रुकते नहीं।

ऐसे तीन प्रकारके जीव अभी देखनेमें आते हैं। जीवने जो कुछ करना है वह आत्माके उपकारके लिए करना है, इस बातको वे भूल गये हैं। आजकल जैनमें चौरासीसे सौ गच्छ हो गये हैं। उन सबमें कदाग्रह हो गये हैं; फिर भी वे सब कहते हैं कि 'जैनधर्ममें हम ही हैं, जैनधर्म हमारा है।'

'पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि' आदि पाठका लोकमें अभी ऐसा

अर्थ हो गया मालूम होता है कि 'आत्माका व्युत्सर्जन करता हूँ, अर्थात् जिसका अर्थ आत्माको उपकार करना है, उसीको, आत्माको ही भूल गये हैं। जैसे बरात चढ़ी हो और विधि वैभव आदि हों, परन्तु एक वर न हो तो बरात शोभित नहीं होती और वह हो तो शोभित होती है, उसी तरह क्रिया, वैराग्य आदि, यदि आत्माका ज्ञान हो तो शोभा देते हैं, नहीं तो शोभा नहीं देते। जैनोंमें अभी आत्मा भूला दी गयी है।

सूत्र, चौदहपूर्वका ज्ञान, मुनिपन, श्रावकपना, हजारों तरहके सदाचरण, तपश्चर्या आदि जो जो साधन, जो जो परिश्रम, जो जो पुरुषार्थ कहे हैं वे सब एक आत्माको पहचाननेके लिए, खोज निकालनेके लिए कहे हैं। वे प्रयत्न यदि आत्माको पहचाननेके लिए, खोज निकालनेके लिए, आत्माके लिए हों तो सफल हैं, नहीं तो निष्फल हैं। यद्यपि उनसे बाह्य फल होता है, परन्तु चार गतिका नाश नहीं होता। जीवको सत्पुरुषका योग मिले, और लक्ष्य हो तो वह सहजमें ही योग्य जीव हो जाये; और फिर सद्गुरुकी आस्था हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो।

(१) शम = क्रोध आदिको कृश करना।
(२) संवेग = मोक्षमार्गके सिवाय और किसी इच्छाका न होना।
(३) निर्वेद = संसारसे थक जाना-संसारसे रुक जाना।
(४) आस्था—सच्चे गुरुकी, सद्गुरुकी आस्था होना।
(५) अनुकंपा = सब प्राणियोंपर समभाव रखना, निर्वैर बुद्धि रखना।

ये गुण समकिती जीवमें सहजमें होते हैं। पहले सच्चे पुरुषकी पहचान हो तो फिर ये चार गुण आते हैं।

वेदांतमें विचार करनेके लिए षट्संपत्ति बतायी है। विवेक, वैराग्य आदि सद्गुण प्राप्त होनेके बाद जीव योग्य मुमुक्षु कहा जाता है।

नय आत्माको समझनेके लिए कहे हैं, परंतु जीव तो नयवादमें उलझ जाते हैं। आत्माको समझाने जाते हुए नयमें उलझ जानेसे यह प्रयोग उलटा पड़ा। समकितदृष्टि जीवको 'केवलज्ञान' कहा जाये। वर्तमानमें भान हुआ है, इसलिए 'देश केवलज्ञान' हुआ कहा जाये; बाकी तो आत्माका भान होना केवलज्ञान है। यह इस तरह कहा जाये—समकितदृष्टिको आत्माका भान हुआ, तब उसे केवलज्ञानका भान प्रगट हुआ; और उसका भान प्रगट हुआ तो केवलज्ञान अवश्य होनेवाला है। इसलिए इस अपेक्षासे समकितदृष्टिको केवलज्ञान कहा है। सम्यक्त्व हुआ अर्थात् जमीन जोत कर बीजको बो दिया, वृक्ष हुआ, फल हुए, फल थोड़े खाये, खाते खाते आयु पूरी हुई, तो फिर दूसरे भवमें फल खाये जाये। इसलिए 'केवलज्ञान' इस कालमें नहीं, नहीं ऐसा उलटा नहीं मान लेना; और नहीं कहना। सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे अनंत भव दूर होकर एक भव बाकी रहा, इसलिए सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। आत्मामें केवलज्ञान है, परंतु आवरण दूर होनेपर केवलज्ञान प्रगट होता है। इस कालमें संपूर्ण आवरण दूर नहीं होता, एक भव बाकी रह जाता है; अर्थात् जितना केवलज्ञानावरणीय दूर होता है उतना केवलज्ञान होता है। समकित आनेपर भीतरमें-अंतरमें—दशा बदलती है, केवलज्ञानका बीज प्रगट होता है। सद्गुरुके विना मार्ग नहीं ऐसा महापुरुषोंने कहा है। यह उपदेश विना कारण नहीं किया।

समकिती अर्थात् मिथ्यात्वमुक्त केवलज्ञानी अर्थात् चारित्रावरणसे संपूर्णतासे मुक्त; और सिद्ध अर्थात् देह आदिसे संपूर्णतासे मुक्त।

प्रश्न—कर्म कैसे कम हों ?

उत्तर—क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे, लोभ न करे, उससे कर्म कम हों। वाह्य क्रिया करूँगा तो मनुष्यजन्म मिलेगा, और किसी दिन सच्चे पुरुषका योग मिलेगा।

प्रश्न—व्रत नियम करने कि नहीं ?

उत्तर—व्रतनियम करने हैं। उसके साथ झगड़ा, क्लेश, बाल-बच्चे और घरमें ममत्व नहीं करना। ऊँची दशामें जानेके लिए व्रत-नियम करना।

सच्चे झूठेकी परीक्षा करनेके बारेमें एक सच्चे भक्तका दृष्टांत—

एक राजा बहुत भक्तिवाला था; और इसलिए वह भक्तोंकी सेवा बहुत करता; बहुतसे भक्तोंका अन्न, वस्त्र आदिसे पोषण करनेसे बहुत भक्त इकट्ठे हो गये। प्रधानने सोचा कि राजा भोला है; भक्त ठग हैं; इसलिए इस बातको राजाको परीक्षा कराई जाये। परंतु अभी राजाको प्रेम बहुत है, इसलिए मानेगा नहीं; इसलिए किसी अवसरपर बात की जाये, ऐसा विचार कर कुछ समय ठहर कर कोई अवसर मिलनेसे उसने राजासे कहा—'आप बहुत वक्तसे सभी भक्तोंकी एकसी सेवा-चाकरी करते हैं, परंतु उनमें कोई बड़े होंगे, कोई छोटे होंगे। इसलिए सबको पहचान कर भक्ति करें।' तब राजाने हाँ कहकर पूछा—'तब कैसे करना ?' राजाकी अनुमति लेकर प्रधानने जो दो हजार भक्त थे उन सबको इकट्ठा करके कहलवाया—'आप सब दरवाजेके बाहर आइये; क्योंकि राजाको जरूरत होनेसे आज भक्त-तेल निकालना है। आप सब बहुत दिनोंसे राजाका मालमलीदा खाते हैं, तो आज राजाका इतना काम आपको करना ही चाहिए।' घानीमें डालकर तेल निकालनेका सुना कि सभी भक्त तो भागने लगे और पलायन कर गये। एक सच्चा भक्त था उसने विचार किया—'राजाका नमक—लून खाया है तो। उसका कैसे ... जाये ? राजाने परमार्थ समझकर अन्न दिया है; इसलिए राजा चाहे जैसे करे वैसे करने देना।' ऐसा विचार कर घानीके पास जाकर कहा—"आपको भक्त-तेल निकालना हो तो निकालें।" फिर प्रधानने राजासे कहा—"देखिये, आप सब भक्तोंकी सेवा करते थे; परंतु सच्चे-झूठेकी परीक्षा नहीं थी।" देखें, इस तरह सच्चे जीव तो विरले ही होते हैं, और ऐसे विरल सच्चे सद्गुरुकी भक्ति श्रेयस्कर है। सच्चे सद्गुरुकी भक्ति मन, वचन और कायासे करें।

एक बात समझमें न आये तब तक दूसरी बात सुनना किस कामकी ? एक बार सुना वह समझमें न आये तब तक दूसरी बार न सुनें। सुने हुएको न भूलें, जैसे एक बार खाया, उसके पचे बिना और न खायें। तप इत्यादि करना यह कोई महाभारत बात नहीं, इसलिए तप करनेवाला अहंकार न करे। तप यह छोटेसे छोटा भाग है। भूखे मरने और उपवास करनेका नाम तप नहीं है। भीतरसे शुद्ध अंतःकरण हो तब तप कहा जाये, और तो फिर मोक्षगति हो। बाह्य तप शरीरसे होता है। तपके छः प्रकार—(१) अंतर्वृत्ति होना, (२) एक आसनसे कायाको बिठाना, (३) कम आहार करना, (४) नीरस आहार करना, और वृत्तियोंको कम करना, (५) संलीनता, (६) आहारका त्याग।

तिथिके लिए उपवास नहीं करना है, परंतु आत्माके लिए उपवास करना है। बारह प्रकारका तप कहा है। उसमें आहार न करना, इस तपको जिह्वेन्द्रियको वश करनेका उपाय समझकर कहा है। जिह्वेन्द्रिय वश की तो यह सभी इन्द्रियोंके वश होनेका निमित्त है। उपवास करें तो इसकी बात बाहर न करें, दूसरेकी निंदा न करें, क्रोध न करें। यदि ऐसे दोष कम हो जायें तो बड़ा

लाभ हो। तप आदि आत्माके लिए करना है; लोगोंको दिखानेके लिए नहीं करना है। कषायके घटनेको तप कहा है। लौकिक दृष्टिको भूल जायें। लोग तो जिस कुलमें जन्म लेते हैं उस कुलके धर्मको मानते हैं और वहाँ जाते हैं। परन्तु यह तो नाममात्र धर्म कहा जाता है; परन्तु मुमुक्षु वैसा न करे।

सब सामायिक करते हैं, और कहते हैं कि जो ज्ञानी स्वीकार करे वह सच है। समकित होगा कि नहीं, उसे भी ज्ञानी स्वीकार करे तो सच्चा है। परन्तु ज्ञानी स्वीकार क्या करे? अज्ञानी स्वीकार करे ऐसा तो आपका सामायिक, व्रत और समकित है! अर्थात् आपके सामायिक, व्रत और और समकित वास्तविक नहीं हैं, मन, वचन और काया व्यवहारसमतामें स्थिर रहें यह समकित नहीं है। जैसे नींदमें स्थिर योग मालूम पड़ता है, फिर भी वह वस्तुतः स्थिर नहीं है, और इसलिए वह समता भी नहीं है। मन, वचन और काया चौदहवें गुणस्थानक तक होते हैं, मन तो कार्य किये विना वैठता ही नहीं। केवलीका मन-योग चपल होता है, परन्तु आत्मा चपल नहीं होती, आत्मा चौथे गुणस्थानकमें अचपल होती है, परन्तु सर्वथा नहीं।

'ज्ञान' अर्थात् आत्माको यथातथ्य जानना। 'दर्शन' अर्थात् आत्माकी यथातथ्य प्रतीति। 'चारित्र' अर्थात् आत्माका स्थिर होना।

आत्मा और सद्गुरु एक ही समझें। यह बात विचारसे ग्रहण होती है। वह विचार यह कि देह नहीं अथवा देहसंबंधी दूसरे भाव नहीं, परन्तु सद्गुरुकी आत्मा ही सद्गुरु है। जिसने आत्मस्वरूपका लक्षणसे, गुणसे और वेदनसे प्रगट अनुभव किया है और वही परिणाम जिसकी आत्माका हुआ है वह आत्मा और सद्गुरु एक ही हैं, ऐसा समझें। पूर्वकालमें जो अज्ञान इकट्ठा किया है वह दूर हो तो ज्ञानीकी अपूर्व वाणी समझमें आये। मिथ्या स्वरूपको सच्चा समझना।

तप आदि भी ज्ञानीकी कसौटी है। साताशील वर्तन रखा हो, और असाता आये, तो वह अदुःखभावित ज्ञान मंद होता है। विचारके विना इंद्रियाँ वश होनेवाली नहीं हैं। अविचारसे इंद्रियाँ दौड़ती हैं। निवृत्तिके लिए उपवास बताया है। अभी कितने ही अज्ञानी जीव उपवास करके दुकान पर वैठते हैं, और उसे पौषध ठहराते हैं। ऐसे कल्पित पौषध जीवने अनादिकालसे किये हैं। उन सबको ज्ञानियोंने निष्फल ठहराया है। स्त्री, घर, बाल-बच्चे भूल जायें तब सामायिक की कही जाये। सामान्य विचारको लेकर इन्द्रियाँ वश करनेके लिए छ कायका आरंभ कायासे न करते हुए वृत्ति निर्मल हो तब सामायिक हो सके। व्यवहार सामायिक बहुत निषिद्ध करने जैसी नही है; यद्यपि जीवने व्यवहाररूप सामायिकको एकदम जड बना डाला है। उसे करनेवाले जीवोंको खबर भी नहीं होती कि इससे क्या कल्याण होगा? सम्यक्त्व पहले चाहिए जिसके वचन सुननेसे आत्मा स्थिर हो, वृत्ति निर्मल हो, उस सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण हो तो फिर सम्यक्त्व हो।

भवस्थिति, पंचमकालमें मोक्षका अभाव आदि शंकाओंसे जीवने बाह्य वृत्ति कर डाली है; परन्तु यदि ऐसे जीव पुरुषार्थ करें, और पंचमकाल मोक्ष होते हुए हाथ पकड़ने आये तब उसका उपाय हम कर लेंगे। वह उपाय कोई हाथी नहीं, झलझलाती अग्नि नहीं। मुफ्तमें ही जीवको भड़का दिया है। ज्ञानीके वचन सुनकर याद रखने नहीं, जीवको पुरुषार्थ करना नहीं, और उसे लेकर बहाने बनाने हैं। इसे अपना दोप समझें। समताकी, वैराग्यकी बातें सुनें और विचार करें। बाह्य बातें यथासंभव छोड़ दें। जीव तरनेका अभिलाषी हो, और सद्गुरुकी आज्ञासे वर्तन करे तो सभी वासनाएँ जाती रहें।

सद्गुरुकी आज्ञामें सभी साधन समा गये हैं। जो जीव तरनेका कामी होता है। उसकी सभी वासनाओंका नाश हो जाता है जैसे कोई सौ पचास कोस दूर हो, तो दो चार दिनमें भी घर पहुँच जाये, परन्तु लाखों कोस दूर हो तो एकदम घर कहाँसे पहुँचे। वैसे ही यह जीव कल्याण मार्गसे थोड़ा दूर हो तो किसी दिन कल्याण प्राप्त कर ले, परन्तु यदि एकदम उलटे रास्तेपर हो तो कहाँ-से पार पाये ?

देह आदिका अभाव होना, मूर्च्छाका नाश होना यही मुक्ति है। जिसका एक भव बाकी रहा हो उसे देहकी इतनी अधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। अज्ञान जानेके बाद एक भवका कुछ महत्त्व नहीं। लाखों भव चले गये तो फिर एक भव किस हिसाबमें ?

हो तो मिथ्यात्व, और माने छठा कि सातवाँ गुणस्थान तो उसका क्या करना ? चौथे गुणस्थानकी स्थिति कैसी हो ? गणधर जैसी मोक्षमार्गकी परम प्रतीति आये ऐसी।

जो तरनेका कामी हो वह सिर काट कर देते हुए पीछे न हटे। जो शिथिल हो वह तनिक पैर धोने जैसा कुलक्षण हो उसे भी छोड़ न सके, और वीतरागकी बात प्राप्त करने जाये। वीतराग जिस वचनको कहते हुए डरे हैं उसे अज्ञानी स्वच्छंदसे कहता है; तो वह कैसे छूटेगा ?

महावीरस्वामीकी दीक्षाके जुलूसकी बातके स्वरूपका यदि विचार करे तो वैराग्य हो जाये, यह बात अद्भुत है। वे भगवान अप्रमादी थे। उन्हें चारित्र रहता था, परन्तु जब बाह्य चारित्र लिया तब मोक्ष गये।

अविरति शिष्य हो तो उसकी आवभगत कैसे की जाये ? रागद्वेषको मारनेके लिए निकला, और उसे तो काममें लिया, तब रागद्वेष कहाँसे जाये ? जिनके आगमका जो समागम हुआ हो, वह तो अपने क्षयोपशमके अनुसार हुआ हो परन्तु सद्गुरुके अनुसार न हुआ हो। सद्गुरुका योग मिलनेपर उसकी आज्ञाके अनुसार जो चला उसका सचमुच रागद्वेष गया।

गंभीर राग मिटानेके लिए असली दवा तुरत फल देती है। बुखार तो एक दो दिनमें भी मिट जाये।

मार्ग और उन्मार्गकी पहचान होनी चाहिए। 'तरनेका कामी' इस सब्दका प्रयोग करें तो इसमें अभव्यका प्रश्न नहीं उठता। कामी कामीमें भेद है।

प्रश्न—सत्पुरुषकी पहचान कैसे हो ?

उत्तर—सत्पुरुष अपने लक्षणोंसे पहचाने जाते हैं। सत्पुरुषोंके लक्षण उनकी वाणीमें पूर्वापर अविरोध होता है, वे क्रोधका जो उपाय बताते हैं उससे क्रोध चला जाता है। मानका जो उपाय बताते हैं उससे मान दूर हो जाता है। ज्ञानीकी वाणी परमार्थरूप ही होती है; वह अपूर्व है। ज्ञानीकी वाणी दूसरे अज्ञानीकी वाणीसे ऊँची और ऊँची ही होती है। जब तक ज्ञानीकी वाणी सुनी नहीं, तब तक सूत्र भी नीरस लगते हैं। सद्गुरु और असद्गुरुकी पहचान, सोने और पीतलकी कंठीकी पहचानकी भाँति होनी चाहिए। तरनेका कामी हो, और सद्गुरु मिल जाये, तो कर्म दूर हो जायें। सद्गुरु कर्म दूर करनेका कारण है। कर्म बाँधनेके कारण मिलें तो कर्म बंधे और कर्म दूर करनेके कारण मिलें तो कर्म दूर हो। तरनेका कामी हो वह भवस्थिति आदिके आलंबनोंको मिथ्या कहता है। तरनेका कामी किसे कहा जाये ? जिस पदार्थको ज्ञानी जहर कहे उसे जहर समझकर छोड़ दे, और ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करे उसे तरनेका कामी कहा जाए।

उपदेश सुननेके लिए, सुननेके कामीने कर्मरूपी गुदड़ी ओढ़ी है, इसलिए उपदेशरूपी लकड़ी नहीं लगती। जो तरनेका कामी हो उसने धोतीरूपकर्म ओढ़े हैं इसलिए उपदेशरूप लकड़ी पहले लगे। शास्त्रमें अभव्यके तारनेसे तरे ऐसा नहीं कहा है। चौ भंगीमें ऐसा अर्थ नहीं है। ढूँढियाके धरमशी नामके मुनिने इसकी टीका की है। स्वयं तरा नहीं और दूसरोंको तारता है, इसका अर्थ अंधेके मार्ग बताने जैसा है। असद्गुरु ऐसे मिथ्या आलंबन देते हैं।

'ज्ञानापेक्षासे सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसी मैं आत्मा एक हूँ', ऐसा विचार करना, ध्यान करना। निर्मल, अत्यंत निर्मल, परमशुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है। सबको कम करते करते जो अबाध्य अनुभव रहता है वह 'आत्मा' है। जो सबको जानती है वह 'आत्मा' है। जो सब भावोंको प्रकाशित करती है वह 'आत्मा' है। उपयोगमय 'आत्मा' है। अव्याबाध समाधि-स्वरूप 'आत्मा' है।

'आत्मा है।' आत्मा अत्यंत प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें है। अनुत्पन्न और अमिलन स्वरूप होनेसे 'आत्मा नित्य है।' भ्रांतिरूपसे 'परभावका कर्ता है।' उसके 'फलका भोक्ता है।' भान होनेपर 'स्वभाव परिणामी है।' सर्वथा स्वभाव परिणाम 'मोक्ष है।' सद्गुरु, सत्संग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि उसके साधन हैं। आत्माके अस्तित्वसे लेकर निर्माण तकके पद सच्चे हैं, अत्यंत सच्चे हैं। क्योंकि प्रगट अनुभवमें आते हैं। भ्रांतिरूपसे आत्मा परभावका कर्ता होनेसे शुभाशुभ कर्म सफल होनेसे उस शुभाशुभकी उत्पत्ति होती है। कर्मको आत्मा भोगती है। इसलिए उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभ तकके न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है।

निजस्वभाव ज्ञानमें केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहज स्वभावसे, निर्विकल्परूपसे जो आत्मा परिणमन करे वह 'केवलज्ञान' है। तथारूप प्रतीतिरूपसे जो परिणमन करे वह 'सम्यक्त्व' है। निरंतर वह प्रतीति रहा करे उसे 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहते हैं। क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् विस्मरणरूप ऐसी प्रतीति रहे, उसे 'क्षयोपशम सम्यक्त्व' कहते हैं। उस प्रतीतिको जब तक सत्तागत आवरण उदय नहीं आयें, तब तक 'उपशम सम्यक्त्व' कहते हैं। आत्माको आवरण उदयमें आये तब वह प्रतीतिसे गिर जाती है उसे 'सास्वादन सम्यक्त्व' कहते हैं। अत्यंत प्रतीति होनेके योगमें सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन करना जहाँ रहा है, उसे 'वेदक सम्यक्त्व' कहते हैं। तथारूप प्रतीति होनेपर अन्यभावसंबंधी अहंत्व, ममत्व आदि, हर्ष-शोकका क्रमसे क्षय हो। मनरूप योगमें तारतम्यसहित जो कोई चारित्रका आराधना करता है वह सिद्धि प्राप्त करता है, और जो स्वरूपस्थितिका सेवन करता है वह, 'स्वरूपस्थिति' पाता है। निरंतर स्वरूपलाभ, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव अंतरायकर्मके क्षयसे प्रगट होते हैं। जो केवल-स्वभावपरिणामी ज्ञान है वह 'केवलज्ञान' है।

●

११ आणंद, भादों वदी १, मंगल, १९५२

'जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति' नामके जैनसूत्रमें ऐसा कहा है कि इस कालमें मोक्ष नहीं है। इससे यह न समझें कि मिथ्यात्वका दूर होना, और उस मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष नहीं है। मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष है; परंतु सर्वथा अर्थात् आत्यंतिक देहरहित मोक्ष नहीं है। इससे यह कहा जा सकता है कि सर्व प्रकारका केवलज्ञान नहीं होता, बाकी सम्यक्त्व नहीं होता, ऐसा नहीं है। इस कालमें मोक्षके नास्तित्वकी ऐसी बातें कोई कहे उसे न सुनें। सत्पुरुषकी बात पुरुषार्थको मंद करनेकी नहीं होती, अपितु, पुरुषार्थको उत्तेजन देनेकी होती है।

विष और अमृत समान हैं, ऐसा ज्ञानियोंने कहा हो तो वह अपेक्षित है। विष और अमृत समान होनेसे विष लेनेका कहा है यह बात नहीं है। इसी तरह शुभ और अशुभ दोनों क्रियाओंके संबंधमें समझें, शुभ और अशुभ क्रियाका निषेध कहा हो तो मोक्षकी अपेक्षासे है। इसलिए शुभ और अशुभ क्रिया समान हैं, यह समझकर अशुभ क्रिया करनी, ऐसा ज्ञानीपुरुषका वचन कभी नहीं होता। सत्पुरुषका वचन अधर्ममें धर्मका स्थापन करनेका कभी भी नहीं होता।

जो क्रिया करना उसे निर्दंभतासे, निरहंकारतासे करना। क्रियाके फलकी आकांक्षा नहीं रखना। शुभ क्रियाका कोई निषेध है ही नहीं; परंतु जहाँ जहाँ शुभ क्रियासे मोक्ष माना है वहाँ वहाँ निषेध है।

शरीर ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। मन ठीक रहे यह भी एक तरहकी समाधि है। सहजसमाधि अर्थात् बाह्य कारणोंके बिनाकी समाधि। उससे प्रमाद आदिका नाश होता है। जिसे यह समाधि रहती है, उसे पुत्रमरण आदिसे भी असमाधि नहीं होती, और उसे कोई लाख रुपये दे तो आनंद नहीं होता, अथवा कोई छीन ले तो खेद नहीं होता। जिसे साता-असाता दोनों समान हैं उसे सहजसमाधि कहा है। समकित दृष्टिको अल्प हर्ष, अल्प शोक कभी हो जाये परंतु फिर वह शांत हो जाये, अंगका हर्ष न रहे, ज्यों ही उसे खेद हो त्यों ही वह उसे पीछे खींच ले। वह सोचता है कि ऐसा होना योग्य नहीं, और आत्माकी निंदा करता है। हर्ष शोक हो तो भी उसका (समकितका) मूल नष्ट नहीं होता। समकितदृष्टिको अंशसे सहज प्रतीतिके अनुसार सदा ही समाधि रहती है। पतंगकी डोरी जैसे हाथमें रहती है वैसे समकित-दृष्टिके हाथमें वृत्तिरूपी डोरी रहती है। समकितदृष्टि जीवको सहजसमाधि है। सत्तामें कर्म रहे हों, परंतु स्वयंको सहजसमाधि है। बाहरके कारणोंसे उसे समाधि नहीं है। आत्मामेंसे जो मोह चला गया वही समाधि है। अपने हाथमें डोरी न होनेसे मिथ्यादृष्टि बाह्य कारणोंमें तदाकार होकर तद्रूप हो जाता है। समकितदृष्टिको बाह्य दुःख आनेपर खेद नहीं होता, यद्यपि वह ऐसी इच्छा नहीं करता कि रोग न आये। परंतु रोग आनेपर उसके रागद्वेष परिणाम नहीं होते।

शरीरके धर्म रोग आदि केवलीको भी होते हैं; क्योंकि वेदनीयकर्मको तो सभीको भोगना ही चाहिए। समकित आये बिना किसीको सहजसमाधि नहीं होती। समकित हो जानेसे सहजमें ही समाधि होती है। समकित हो जानेसे सहजमें ही आसक्ति भाव मिट जाता है। बाकी आसक्ति भावका यों ही निषेध करनेसे बंध नहीं रहता। सत्पुरुषके वचनके अनुसार—उसकी आज्ञाके अनु-सार जो वर्तन करे उसे अंशसे समकित हुआ है।

दूसरी सब प्रकारकी कल्पनाएँ छोड़कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञासे उनके वचन सुनना, उनमें सच्ची श्रद्धा करना और उन्हें आत्मामें परिणमित करना, तो समकित होता है। शास्त्रमें कही हुई महावीरस्वामीकी आज्ञासे वर्तन करनेवाले जीव अभी नहीं हैं; क्योंकि उन्हें हुए २५०० वर्ष हो गये हैं, इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञानी चाहिए। काल विकराल है। कुगुरुओंने लोगोंको उलटा मार्ग बताकर बहका दिया है। मनुष्यत्व लूट लिया है; इसलिए जीव मार्गमें कैसे आये? यद्यपि कुगुरुओंने लूट लिया है परंतु इसमें उन बेचारोंका दोष नहीं है, क्योंकि कुगुरुको भी उस मार्गकी खबर नहीं है, कुगुरुको किसी प्रश्नका उत्तर नहीं आता परन्तु कहता नहीं 'मुझे नहीं आता' यदि वैसा कहे तो कर्म थोड़े बांधे। मिथ्यात्वरूपी तिल्लीकी गाँठ बड़ी है, इसलिए सारा रोग कहाँसे मिटे? जिसकी ग्रंथि छिन्न हो गई है उसे सहजसमाधि होती है; क्योंकि जिसका मिथ्यात्व छिन्न हुआ, उसकी मूल गाँठ छिन्न हो गयी, और इसलिए दूसरे गुण प्रगट होते ही हैं।

समकित देश चारित्र है, देशसे केवलज्ञान है।

शास्त्रमें इस कालमें मोक्षका बिलकुल निषेध नहीं है। जैसे रेलगाड़ीके रास्तेसे जल्दी पहुँचा जाता है, और पगरास्तेसे देरमें पहुँचा जाता है; वैसे इस कालमें मोक्षका रास्ता पगरास्ते जैसा हो तो उससे न पहुँचा जाये, ऐसी कुछ बात नहीं है। जल्दी चले तो जल्दी पहुँचे, किंतु कुछ रास्ता तो बंद नहीं है। इस तरह मोक्षमार्ग है, उसका नाश नहीं है। अज्ञानी अकल्याणके मार्गमें कल्याण मानकर, स्वच्छंदसे कल्पना करके, जीवोंका तरना बंद करा देता है। अज्ञान तो रागी बालभोले जीव अज्ञानीके कहनेके अनुसार चलते हैं, और इस प्रकार कर्मके बाँधे हुए वे दोनों दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। ऐसा बखेड़ा जैन-मतोंमें विशेष हुआ है।

सच्चे पुरुषका बोध प्राप्त होना अमृत प्राप्त होनेके समान है। अज्ञानी गुरुओंने बेचारे मनुष्योंको लूट लिया है। किसी जीवको गच्छका आग्रही बनाकर, किसीको मतका आग्रही बनाकर, जिनसे तरा न जाये ऐसे आलंबन देकर, बिलकुल लूटकर दुविधामें डाल दिया है, मनुष्यत्व लूट लिया है।

समवसरणसे भगवानकी पहचान होती है, इस सारी माथापच्चीको छोड़ दे। लाख समवसरण हों, परन्तु ज्ञान न हो तो कल्याण नहीं होता। ज्ञान हो तो कल्याण होता है। भगवान मनुष्य जैसे मनुष्य थे। वे खाते, पीते, बैठते और उठते थे। उनमें कुछ ऐसा अंतर नहीं है, अंतर दूसरा ही है। समवसरण आदिके प्रसंग लौकिक भावके हैं। भगवानका स्वरूप ऐसा नहीं है। संपूर्ण ज्ञान प्रकट होनेपर आत्मा नितांत निर्मल होती हैं, भगवानका स्वरूप वैसा है। संपूर्ण ज्ञानका प्रगट होना, वही भगवानका स्वरूप है। वर्तमानमें भगवान होते तो आप मानते नहीं। भगवानका माहात्म्य ज्ञान है। भगवानके स्वरूपका चिंतन करनेसे आत्मा भानमें आती है, परन्तु भगवानकी देहसे भान प्रगट नहीं होता। जिसका संपूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो उसे भगवान कहा जाता है। जैसे यदि भगवान वर्तमानमें होते, और आपको बताते तो आप नहीं मानते। इसी तरह वर्तमानमें ज्ञानी हो तो वह माना नहीं जाता। स्वधाम पहुँचनेके बाद लोग कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी नहीं होनेवाला है। पीछेसे जीव उसकी प्रतिमाकी पूजा करते हैं; परन्तु विद्यमानमें प्रतीति न करें। जीवको ज्ञानीकी पहचान प्रत्यक्षमें वर्तमानमें नहीं होती।

समकितका सचमुच विचार करे तो नौवें समयमें, नहीं तो एक भवमें केवलज्ञान होता है; और अंतमें पंद्रहवें भवमें तो केवलज्ञान होता ही है। इसलिए समकित सर्वोत्कृष्ट है। भिन्न भिन्न विचार-भेद आत्मामें लाभ होनेके लिए कहे गये हैं, परन्तु भेदोंमें ही आत्माको फँसानेके लिए वे नहीं कहे हैं। प्रत्येकमें परमार्थ होना चाहिए। समकितीको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं है।

अज्ञानी गुरुओंने लोगोंको उलटे मार्गपर चढ़ा दिया है। उलटा मार्ग पकड़ा दिया है, इसलिए लोग गच्छ, कुल आदि लौकिक भावोंमें तदाकार हो गये हैं। अज्ञानियोंने लोगोंको बिलकुल उलटा ही मार्ग समझा दिया है। उनके संगसे इस कालमें अंधकार हो गया है। हमारी कही हुई एक एक बातको याद कर करके विशेषरूपसे पुरुषार्थ करें। गच्छ आदिके कदाग्रह छोड़ देने चाहिए। जीव अनादिकालसे भटका है। समकित हो तो सहजमें ही समाधि हो जाये, और परिणाममें कल्याण हो। जीव सत्पुरुषके आश्रयसे यदि आज्ञा आदिका सचमुच आराधन करे, उसपर प्रतीति लाये, तो उपकार हो।

एक तरफ तो चौदह राजूलोकका सुख हो, और दूसरी तरफ सिद्धके एक प्रदेशका सुख हो तो भी सिद्धके एक प्रदेशका सुख अनंतगुना हो जाता है।

वृत्तिको चाहे जिस तरहसे रोकें, ज्ञानविचारसे रोकें, लोकलाजसे रोकें, उपयोगसे रोकें, चाहे जिस तरह भी वृत्तिको रोकें। मुमुक्षु ऐसी बात न रखें कि किसी पदार्थके विना चले नहीं।

जीव ममत्व मानता है, वही दुःख है, क्योंकि ममत्व माना कि चिंता हुई कि कैसे होगा? कैसे करें? चिंतामें जो स्वरूप हो जाता है, तद्रूप हो जाता है, वही अज्ञान है। विचारसे, ज्ञानसे देखिए तो ऐसा प्रतीत हो कि कोई मेरा नहीं है। यदि एककी चिंता करे तो सारे जगतकी चिंता करनी चाहिए। इसलिए प्रत्येक प्रसंगमें ममत्व होते हुएको रोकें, तो चिंता, कल्पना कम होगी। तृष्णाको यथासंभव कम करें। विचार कर करके तृष्णा कम करें। इस देहको पचास रुपयेका खर्च चाहिए, उसके बदले हजारों लाखोंकी चिंता करनेकी अग्निसे दिनभर जला करती है। बाह्य उपयोग तृष्णाकी वृद्धि होनेका निमित्त है। जीव बड़ाईके कारण तृष्णाको बढ़ाता है। उस बड़ाईको रखकर मुक्तता नहीं होती। जैसे बने वैसे बड़ाई, तृष्णा कम करें। निर्धन कौन? जो धन माँगे, धन चाहे, वह निर्धन; जो न माँगे वह धनवान है। जिसे विशेष लक्ष्मीकी तृष्णा, संताप और जलन है, उसे जरा भी सुख नहीं है। लोग समझते हैं कि श्रीमंत सुखी है, परन्तु वस्तुतः उसे रोम-रोममें पीड़ा है। इसलिए तृष्णा कम करें।

आहारकी बात अर्थात् खानेके पदार्थोंकी बात तुच्छ है, वह न करें। विहारकी अर्थात् स्त्री, क्रीडा आदिकी बात बहुत तुच्छ है। निहारकी बात भी बहुत तुच्छ है। शरीरकी साता या दीनता यह सब तुच्छताकी बातें न करें। आहार विष्टा है। विचार करे कि खानेके बाद विष्टा हो जाती है। विष्टा गाय खाती है तो दूध हो जाता है, और खेतमें खाद डालनेसे अनाज होता है। इस प्रकार उत्पन्न हुए अनाजके आहारको विष्टा तुल्य जानकर उसकी चर्चा न करे। यह तुच्छ बात है।

सामान्य जीवोंसे बिलकुल मौन नहीं रहा जाता, न रहें तो अंतरकी कल्पना नहीं मिटती; और जब तक कल्पना हो तब तक उसके लिए रास्ता निकालना ही चाहिए। इसलिए फिर लिखकर कल्पना बाहर निकालते हैं। परमार्थकाममें बोलना, व्यवहारकाममें विना प्रयोजन बकवास नहीं करना। जहाँ माथापच्ची होती है वहाँसे दूर रहना, वृत्ति कम करनी।

क्रोध, मान, माया और लोभको मुझे कृश करना है; ऐसा जब लक्ष्य होगा, जब इस लक्ष्यमें थोड़ा थोड़ा भी वर्तन होगा तब फिर सहजरूप हो जायेगा। बाह्य प्रतिबन्ध, अन्तर प्रबन्ध आदि आत्माका आवरण करनेवाला प्रत्येक दूषण जाननेमें आये कि उसे दूर भगानेका अभ्यास करें। क्रोध आदि थोड़े थोड़े दुर्बल पड़नेके बाद सरल हो जायेंगे। फिर उन्हें वशमें लेनेके लिए भरसक अभ्यास रखें और उस विचारमें वक्त बितायें। किसीको प्रसंगसे क्रोध आदि उत्पन्न होनेका निमित्त मानते हैं, उसे न मानें। उसे महत्त्व न दें; क्योंकि क्रोध स्वयं करें तो होता है। जब अपनेपर कोई क्रोध करे तब विचार करें कि उस बेचारेको अभी उस प्रकृतिका उदय है, अपने आप घड़ी दो घड़ीमें शांत हो जायेगा इसलिए यथासंभव अंतर्विचार करके स्वयं स्थिर रहें। क्रोध आदि कषाय आदि दोषका सदा विचार कर करके उन्हें दुर्बल करें। तृष्णा कम करें क्योंकि वह एकांत दुःखदायी है। जैसे उदय होगा वैसे होगा, इसलिए तृष्णाको अवश्य कम करें। बाह्य प्रसंग अंतर वृत्तिके लिए आवरणरूप हैं इसलिए उन्हें भरसक कम करते रहें।

चेलातीपुत्र किसीका सिर काट लाया था। उसके बाद वह ज्ञानीसे मिला और कहा—'मोक्ष दो; नहीं तो सिर काट डालूँगा।' फिर ज्ञानीने कहा—'क्या बिलकुल ठीक कहता है?'

विवेक (सच्चेको सच्चा समझना), शम (सबपर समभाव रखना) और उपशम (वृत्तियोंको बाहर नहीं जाने देना और अंतर्वृत्ति रखना), उन्हें अधिकाधिक आत्मामें परिणमानेसे आत्माका मोक्ष होता है।

कोई एक सम्प्रदायवाला ऐसा कहता है कि वेदांतीकी मुक्तिकी अपेक्षा—इस भ्रमदशाकी अपेक्षा चार गतियाँ अच्छी, इनमें अपने सुखदुःखका अनुभव तो रहता है।

वेदांती ब्रह्ममें समा जानेरूप मुक्ति मानते हैं, इसलिए वहाँ अपनेको अपना अनुभव नहीं रहता। पूर्व मीमांसक देवलोक मानते हैं, फिर जन्म, अवतार हो ऐसा मोक्ष मानते हैं। सर्वथा मोक्ष नहीं होता, होता हो तो बंधे नहीं, बंधे तो छूटे नहीं। शुभ क्रिया करे उसका शुभ फल हो, फिरसे संसारमें आना जाना हो, यों सर्वथा मोक्ष नहीं होता, ऐसा पूर्वमीमांसक मानते हैं।

सिद्धमें संवर नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ कर्म नहीं आते, इसलिए फिर रोकना भी नहीं होता। मुक्तमें स्वभाव संभव है, एक गुणसे, अंशसे लेकर सम्पूर्ण तक। सिद्धदशामें स्वभावसुख प्रगट हुआ, कर्मके आवरण दूर हुए, इसलिए अब संवर और निर्जरा किसे होंगे? तीन योग भी नहीं होते। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग इन सबसे जो मुक्त हुआ उसे कर्म नहीं आते। इसलिए उसे कर्मोंका निरोध नहीं होता। एक हजारकी रकम हो और उसे थोड़ा थोड़ा करके पूरा कर दिया तो फिर खाता बंद हो गया, इसी तरह कर्मोंके पाँच कारण थे, उन्हें संवर-निर्जरासे समाप्त कर दिया, इसलिए पाँच कारणरूप खाता बंद हो गया, अर्थात् बादमें फिर वे प्राप्त होते ही नहीं।

धर्मसन्यास = क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका नाश करना।

जीव तो सदा जीवित ही है। वह किसी वक्त सोता नहीं कि मरता नहीं; उसका मरना संभव नहीं। स्वभावसे सर्व जीव जीवित ही हैं। जैसे श्वासोच्छ्वासके विना कोई जीव देखनेमें नहीं आता वैसे ही ज्ञानस्वरूप चैतन्यके विना कोई जीव नहीं है।

आत्माकी निंदा करें, और ऐसा खेद करें कि जिससे वैराग्य आये, संसार झूठा लगे, चाहे जो कोई मरे, परंतु जिसकी आँखोंमें आँसू आयें, संसारको असार जानकर जन्म, जरा और मरणको महा भयंकर जानकर वैराग्य पाकर आँसू आ जायें वह उत्तम है। अपना लड़का मर जाये, और रोये, इसमें कोई विशेषता नहीं, यह तो मोहका कारण है।

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या न हो? बड़े बड़े पर्वतके पर्वत काट डाले हैं, और कैसे कैसे विचार करके उन्हें रेल्वेके काममें लिया है। ये तो बाहरके काम हैं, फिर भी विजय पायी है। आत्माका विचार करना, यह कोई बाहरकी बात नहीं है। जो अज्ञान है वह मिटे तो ज्ञान हो।

अनुभवी वैद्य तो दवा दे, परन्तु रोगी यदि उसे खाये तो रोग दूर हो। इसी तरह सद्गुरु अनुभव करके ज्ञानरूप दवा दे, परन्तु मुमुक्षु उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्वरूप रोग दूर हो।

दो घड़ी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो, ऐसा कहा है। चाहे जैसा पुरुषार्थ करे तो भी रेल्वे आदि दो घड़ीमें तैयार नहीं होतीं; तो फिर यह विचार तो करे कि केवलज्ञान कितना सुलभ है।

जो बातें जीवको मंद कर डालें, प्रमादी कर डालें, वैसी बातें न सुनें। इसीसे जीव अनादिसे भटका है। भवस्थिति, काल आदिके अवलंबन न लें यह सब बहाने हैं।

जीवको संसारी आलंवन और विडम्बनाएँ छोड़ने नहीं, और मिथ्या आलंवन लेकर कहता है कि कर्मके दल हैं, इसलिए मुझसे कुछ हो नहीं सकता। ऐसे आलंबन लेकर पुरुषार्थ नहीं करता। यदि पुरुषार्थ करे और भवस्थिति कि काल बाधा डाले तब उसका उपाय करेंगे। परन्तु प्रथम पुरुषार्थ करना।

सच्चे पुरुषकी आज्ञाका आराधन करना परमार्थरूप ही है। उसमें लाभ ही हो। यह व्यापार लाभका ही है।

जिस मनुष्यने लाखों रुपयोंकी ओर मुड़कर पीछे नहीं देखा, वह अब हजारके व्यापारमें बहाना निकालता है, उसका कारण है कि अंतरसे आत्मार्थके लिए कुछ करनेकी इच्छा नहीं है। जो आत्मार्थी हो गया वह मुड़कर पीछे नहीं देखता वह तो पुरुषार्थ करके सामने आ जाता है। शास्त्रमें कहा है कि आवरण, स्वभाव, भवस्थिति कब पके? तो कहते हैं कि जब पुरुषार्थ करे तब।

पाँच कारण मिलें तो मुक्त हो। वे पाँच कारण पुरुषार्थमें निहित हैं। अनंत चौथे और मिलें परन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो ही मुक्ति प्राप्त हो। जीवने अनंत कालसे पुरुषार्थ नहीं किया है। सभी मिथ्या आलंबन लेकर मार्गमें विघ्न डाले हैं। कल्याणवृत्ति उदित हो तब भवस्थितिको परिपक्व हुई समझें। शौर्य हो तो वर्षका कार्य दो घड़ीमें किया जा सके।

प्रश्न—व्यवहारमें चौथे गुणस्थानमें कौन कौनसे व्यवहार लागू होते हैं? शुद्ध व्यवहार कि और कोई?

उत्तर—दूसरे सभी व्यवहार लागू होते हैं। उदयसे शुभाशुभ व्यवहार होता है; और परिणतिसे शुद्ध व्यवहार होता है।

परमार्थसे शुद्ध कर्ता कहा जाता है। प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी खपाये हैं, इसलिए शुद्ध व्यवहारका कर्ता है। समकितीको अशुद्ध व्यवहार दूर करना है। समकिती परमार्थसे शुद्ध कर्ता है।

नयके प्रकार अनेक हैं, परन्तु जिस प्रकारसे आत्मा ऊँची उठे, पुरुषार्थ वर्धमान हो, उसी प्रकारका विचार करें। प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी भूलपर ध्यान रखें। एक सम्यक् उपयोग हो तो स्वयंको अनुभव हो कि कैसी अनुभवदशा प्रगट होती है।

सत्संग हो तो सभी गुण अनायास ही आ जायें। दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-मर्यादा आदिका आचरण अहंकाररहित करें। लोगोंको दिखानेके लिए कुछ भी न करें। मनुष्यका अवतार मिला है, और सदाचारका सेवन न करें तो पछताना पड़ेगा। मनुष्यके अवतारमें सत्पुरुषके वचन सुनने और विचार करनेका योग मिला है।

सत्य बोलना, यह कुछ मुश्किल नहीं है, बिलकुल सहज है। जो व्यापार आदि सत्यसे होते हों, उन्हें ही करें। यदि छः महीने तक इस तरह आचरण किया जाये तो फिर सत्य बोलना सहज हो जाता है। सत्य बोलनेसे कदाचित् प्रथम थोड़े वक्त तक थोड़ा नुकसान भी हो जाये; परन्तु फिर अनंत गुणका धनी आत्मा जो सारी लूटी जा रही है वह लुटती हुई बंद हो जाती है। सत्य बोलनेसे धीरे धीरे सहज हो जाता है और यह होनेके बाद व्रत लेना, अभ्यास रखना; क्योंकि उत्कृष्ट परिणामवाली आत्माएं विरली ही होती हैं।

जीव यदि लौकिक भयसे भयभीत हुआ, तो उससे कुछ भी नहीं होता। लोग चाहे जो बोलें उसकी परवा न करते हुए ऐसे सदाचरणका सेवन करें कि जिससे आत्महित हो।

ज्ञान जो काम करता है वह अद्भुत है। सत्पुरुषके वचनोंके विना विचार नहीं आता; विचारके विना वैराग्य नहीं आता, वैराग्य एवं विचारके विना ज्ञान नहीं आता। इस कारणसे सत्पुरुषके वचनोंका वारंवार विचार करें।

सत्य आशंका दूर हो जाये तो बहुत निर्जरा होती है। जीव यदि सत्पुरुषका मार्ग जानता हो, उसका उसे वारम्वार बोध होता हो, तो बहुत फल हो।

सात नय अथवा अनंत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थके लिए ही हैं, और आत्मार्थ यही एक सच्चा नय है। नयका परमार्थ जीवसे निकले तो फल होता है; अंतमें उपशमभाव आये तो फल होता है; नहीं तो नयका ज्ञान जीवके लिए जालरूप हो जाता है; और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे जाल दूर हो जाता है।

व्याख्यानमें कोई भंगजाल, राग (स्वर) निकालकर सुनाता है, परन्तु उसमें आत्मार्थ नहीं। यदि सत्पुरुषके आश्रयसे कषाय आदि मंद करें, और सदाचारका सेवन कर अहंकाररहित हो जायें, तो आपका और दूसरेका हित हो जाये। दंभरहित आत्मार्थके लिए सदाचारका सेवन करें कि जिससे उपकार हो।

खारी जमीन हो और उसमें वर्षा हो तो वह किस कामकी? इसी तरह जव तक ऐसी स्थिति हो कि आत्मामें उपदेश-वार्ता न परिणमन करे तव तक वह किस कामकी? जव तक उपदेश-वार्ता आत्मामें न परिणमन करे तव तक उसे पुनः पुनः सुनें, विचार करें, उसका पीछा न छोड़े, कायर न वनें तो आत्मा ऊँची नहीं उठती। ज्ञानका अभ्यास जैसे वने वैसे वढ़ायें; अभ्यास रखें, उसमें कुटिलता कि अहंकार न रखें।

आत्मा अनंत ज्ञानमय है। जितना अभ्यास वढ़े उतना कम है। 'सुन्दरविलास' आदिके पढ़नेका अभ्यास रखें। गच्छ कि मतमतांतरकी पुस्तकें हाथमें न लें। परम्परासे भी कदाग्रह आ गया, तो जीव फिर मारा जाता है। इसलिए मतोंके कदाग्रहकी वातोंमें न पड़े। मतोंसे अलग रहें, दूर रहें। जिन पुस्तकोंसे वैराग्य-उपशम हो वे समकित दृष्टिकी पुस्तकें हैं। वैराग्यवाली पुस्तकें पढ़ें—'मोहमुद्गर', 'मणिरत्नमाला' आदि।

दया, सत्य आदि जो साधन हैं वे विभावको त्याग करनेके साधन हैं। अंतःस्पर्शसे विचारको तो वड़ा सहारा मिलता हे। अव तकके साधन विभावके आधार थे; उन्हें सच्चे साधनोंसे ज्ञानी पुरुष हिला देते हैं। जिसे कल्याण करना हो उसे सत्साधन अवश्य करने होते हैं।

सत्समागममें जीव आया, और इन्द्रियोंकी लुब्धता न गयी तो समझें कि सत्समागममें नहीं आया। जब तक सत्य नहीं वोलता तव तक गुण प्रगट नहीं होता। सत्पुरुष हाथसे पकड़कर व्रत दे तो लें। ज्ञानीपुरुष परमार्थका ही उपदेश देता है। मुमुक्षुओंको सच्चे साधनोंका सेवन करना योग्य है।

समकितके मूल वारह व्रत हैं—स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद आदि। सभी स्थूल कहकर ज्ञानीने आत्माका और ही मार्ग समझाया है। व्रत दो प्रकारके हैं—(१) समकितके विना वाह्य व्रत हैं, और (२) समकितसहित अंतर्व्रत हैं। समकितसहित वारह व्रतोंका परमार्थ समझमें आता है तो फल होता है।

बाह्यव्रत अंतर्व्रतके लिए है, जैसे कि एकका अंक सीखनेके लिए लकीरें होती है। पहले तो लकीरें खींचते हुए एकका अंक टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है, और यों करते करते एकका अंक ठीक बन जाता है।

जीवने जो जो सुना है वह सब उलटा ही ग्रहण किया है। ज्ञानी विचारा क्या करे? कितना समझाये? समझानेकी रीतिसे समझाये। मारकूट कर समझानेसे आत्मज्ञान नहीं होता। पहले जो जो व्रत आदि किये वे सब निष्फल गये; इसलिए अब सत्पुरुषकी दृष्टिसे उसका परमार्थ और ही समजमें आयेगा। समझकर करें। एक ही व्रत हो परन्तु वह मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे निर्जरा है। पूर्वकालमें जो व्रत आदि निष्फल गये हैं उन्हें अब सफल करने योग्य सत्पुरुषका योग मिला है; इसलिए पुरुषार्थ करें, टेकसहित सदाचरणका सेवन करें, मरण आनेपर भी पीछे न हटें। आरम्भ, परिग्रहसे ज्ञानीके वचनोंका श्रवण नहीं होता, मनन नहीं होता; नहीं तो दशा बदले विना कैसे रह सके?

आरम्भ-परिग्रह कम करें। पढ़नेमें चित्त न लगनेका कारण नीरसता लगती है। जैसे कि मनुष्य नीरस आहार कर ले तो फिर उत्तम भोजन अच्छा नहीं लगता।

ज्ञानियोंने जो कहा है, उससे जीव उलटा चलता है; इसलिए सत्पुरुषकी वाणी कहाँसे सफल हो? लोकलाज, परिग्रह आदि शल्य हों इस शल्यके कारण जीवका पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। वह शल्य सत्पुरुषके वचनकी टाँकीसे छिदे तो पुरुषार्थ जाग्रत हो। जीवके शल्य, दोप, हजारों दिनोंके प्रयत्नसे भी स्वयं दूर न हों, परन्तु सत्संगका योग एक मास तक हो तो दूर हो जायें; और जीव मार्गपर चढ़ जाये।

कितने ही लघुकर्मी संसारी जीवोंको पुत्रपर मोह करते हुए जितना दुःख होता है उतना भी दुःख आधुनिक साधुओंको शिष्योंपर मोह करते हुए नहीं होता।

तृष्णावाला जीव सदा भिखारी, संतोषवाला जीव सदा सुखी।

सच्चे देवकी, सच्चे गुरुकी और सच्चे धर्मकी पहचान होना बहुत मुश्किल है। सच्चे गुरुकी पहचान हो, उसका उपदेश हो; तो देव, सिद्ध, धर्म इन सबकी पहचान हो जायें। सबका स्वरूप सद्गुरुमें समा जाता है।

सच्चे देव अर्हंत, सच्चे गुरु निर्ग्रंथ, और सच्चे हरि, जिसके रागद्वेप और अज्ञान दूर हो गये हैं वे। ग्रंथिरहित अर्थात् गाँठरहित। मिथ्यात्व अंतर्ग्रंथि है, परिग्रह बाह्यग्रंथि है। मूलमें अंतर्ग्रंथि-का छेदन न हो तब तक धर्मका स्वरूप समझमें नहीं आता। जिसकी ग्रंथि दूर हो गयी है वैसा पुरुष मिले तो सचमुच काम हो जाये; और फिर फिर उसके समागममें रहे तो विशेप कल्याण हो। जिस मूल गंथिका छेदन करना शास्त्रमें कहा है, उसे सब भूल गये हैं; और बाहरसे तपश्चर्या करते हैं। दुःख सहन करते हुए भी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि दुःख वेदन करनेका कारण जो वैराग्य है उसे भूल गये। दुःख अज्ञानका है।

अंदरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है; अंदरसे छूटे बिना बाहरसे नहीं छूटता। केवल बाहरसे छोड़नेमें काम नहीं होता। आत्मसाधनके बिना कल्याण नहीं होता।

जिसे बाह्य और अंतर दोनों साधन हैं वह उत्कृष्ट पुरुप है, वह श्रेष्ठ है। जिस साधुके संगसे अंतर्गुण प्रगट हो उसका संग करे। कलई और चाँदीके रुपये समान नहीं कहे जाते। कलईपर सिक्का लगा दें तो भी उसकी रुपयेकी कीमत नहीं हो जाती। जब कि चाँदीपर सिक्का न लगायें

तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती। उसी तरह यदि गृहस्थावस्थामें ज्ञान प्राप्त हो, गुण प्रगट हो, समकित हो तो उसका मूल्य कम नहीं हो जाता। सब कहते हैं कि हमारे धर्मसे मोक्ष है।

आत्मामें, रागद्वेष दूर हो जानेपर ज्ञान प्रगट होता है। चाहे जहाँ बैठे हों और चाहे जिस स्थितिमें हों मोक्ष हो सकता है, परन्तु रागद्वेष नष्ट हो जायें तो। मिथ्यात्व और अहंकारका नाश हुए विना कोई राजपाट छोड़ दे, वृक्षकी तरह सूख जाये परन्तु मोक्ष न हो। मिथ्यात्व नष्ट होनेके बाद सब साधन सफल होते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है।

●

१२ आणंद, भादों वदी १३, रवि, १९५२

संसारमें जिसे मोह है, स्त्री-पुत्रमें ममत्व हो गया है; और जो कषायसे भरा हुआ है वह रात्रिभोजन न करे तो भी क्या हुआ? जब मिथ्यात्व चला जाये तभी उसका सच्चा फल होता है।

अभी जैनके जितने साधु फिरते हैं, उन सभीको समकिती न समझें। उन्हें दान देनेमें हानि नहीं; परन्तु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते। वेश कल्याण नहीं करता। जो साधु मात्र बाह्य क्रियाएँ किया करता है उसमें ज्ञान नहीं है।

ज्ञान तो वह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं, संसारपरसे सचमुच प्रीति घट जाती है, सच्चेको सच्चा जानता है। जिससे आत्मामें गुण प्रगट हो वह ज्ञान।

मनुष्यभव पाकर कमानेमें और स्त्री पुत्रमें तदाकार होकर यदि आत्मविचार नहीं किया, अपने दोष नहीं देखे, आत्माकी निंदा नहीं की; तो वह मनुष्यभव, रत्नचिंतामणिरूप देह वृथा जाता है।

जीव कुसंगसे और असद्गुरुसे अनादिकालसे भटका है; इसलिए सत्पुरुषको पहचाने। सत्पुरुष कैसा है? सत्पुरुष तो वह है कि जिसका देहममत्व चला गया है, जिसे ज्ञान प्राप्त हुआ है। ऐसे ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे आचरण करे तो अपने दोष घटें, और कषाय आदि मंद पड़ें तथा परिणाममें सम्यक्त्व प्राप्त हो।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये सचमुच पाप हैं। उनसे बहुत कर्मोंका उपार्जन होता है। हजार वर्ष तप किया हो परन्तु दो एक घड़ी क्रोध करे तो सारा तप निष्फल हो जाये।

'छः खंडके भोक्ता राज छोड़कर चले गये और मैं ऐसे अल्प व्यवहारमें बड़प्पन और अहंकार कर बैठा हूँ,' जीव यों क्यों विचार नहीं करता?

आयुके इतने वर्ष बीत गये तो भी न तो लोभ कुछ कम हुआ, और नहीं कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। चाहे जितनी तृष्णा हो परन्तु आयु पूरी हो जानेपर जरा भी काम नहीं आती, और तृष्णा की हो तो उससे कर्म ही बँधते हैं। अमुक परिग्रहकी मर्यादा की हो, जैसे कि दस हजार रुपयेकी, तो समता आती है। इतना मिलनेके अनंतर धर्म ध्यान करेंगे ऐसा विचार भी रखें तो नियममें आ सकें।

किसी पर क्रोध न करे। जैसे रात्रिभोजनका त्याग किया है वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य आदि छोड़नेका प्रयत्न करके उन्हें मंद करे; और उन्हें मंद करनेसे परिणाममें सम्यक्त्व प्राप्त हो। विचार न करे तो अनंत कर्मोंका उपार्जन हो।

जब रोग उत्पन्न होता है तब स्त्री, बाल-बच्चे, भाई या दूसरा कोई भी उस रोगको नहीं ले सकता !

संतोष करके धर्मध्यान करना, बाल-बच्चे आदि किसीकी अनावश्यक चिन्ता नहीं करना। एक स्थानमें बैठकर, विचार कर, सत्पुरुषके संगसे, ज्ञानीके वचन सुनकर विचार कर धन आदिकी मर्यादा करना।

ब्रह्मचर्यको यथातथ्य रीतिसे तो कोई विरला जीव ही पाल सकता है; तो भी लोकलाजसे ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो वह उत्तम है।

मिथ्यात्व दूर हो गया हो तो चार गति दूर हो जाती है। समकित न आया हो और ब्रह्मचर्यका पालन करे तो देवलोक मिले।

बनिया, ब्राह्मण, पशु, पुरुष, स्त्री आदिकी कल्पनासे 'मैं वैश्य, ब्राह्मण, पुरुष, स्त्री, पशु हूँ', ऐसा मानता है; परन्तु विचार करे तो वह स्वयं उनमेंसे कोई भी नहीं है। 'मेरा' स्वरूप तो उससे भिन्न ही है।

सूर्यके उद्योतकी तरह दिन बीत जाता है, उसी तरह अंजलिजलकी भाँति आयु चली जाती है।

जिस तरह लकड़ी करवतसे चीरी जाती है उसी तरह आयु चली जाती है; तो भी मूर्ख परमार्थका साधन नहीं करता, और मोहके पुंज इकट्ठे करता है।

'सबकी अपेक्षा मैं जगतमें बड़ा हो जाऊँ', ऐसा बड़प्पन प्राप्त करनेकी तृष्णामें पांच इंद्रियोंमें लवलीन, मद्यपायीकी भाँति, मृगजलकी तरह संसारमें जीव भ्रमणक्रिया करता है; और कुल, गाँव तथा गतियाँके मोहके नचानेसे नाचा करता है।

जिस तरह कोई अंधा रस्सी बटता जाता है और बछड़ा उसे चबाता जाता है, उस तरह अज्ञानीकी क्रिया निष्फल चली जाती है।

'मैं कर्त्ता', 'मैं करता हूँ', 'मैं कैसा करता हूँ', इत्यादि जो विभाव हैं वही मिथ्यात्व है। अहंकारसे संसारसे अनंत दुःख प्राप्त होता है, चारों गतियोंमें भटकता होता है।

किसीका दिया हुआ दिया नहीं जाता, किसीका लिया हुआ लिया नहीं जाता; जीव व्यर्थकी कल्पना करके भटका करता है। जिस तरह कर्मोंका उपार्जन किया हो उसीके अनुसार लाभ, अलाभ, आयु, साता, असाता मिलते हैं। अपनेसे कुछ दिया लिया नहीं जाता। अहंकारसे 'मैंने उसे सुख दिया', 'मैंने दुःख दिया', 'मैंने अन्न दिया', ऐसी मिथ्या भावना करता है और उसके कारण कर्मका उपार्जन करता है। मिथ्यात्वसे कुधर्मका उपार्जन करता है।

जगतमें इसका यह पिता, इसका यह पुत्र ऐसा कहा जाता है; परंतु कोई किसीका नहीं है। पूर्वकर्मके उदयसे सब कुछ हुआ है।

अहंकारसे जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है वह भूला है। चार गतिमें भटकता है, और दुःख भोगता है।

अधमाधम पुरुषके लक्षणः—सत्पुरुषके देखकर उसे रोष आता है, उसके सच्चे वचन सुनकर निंदा करता है, दुर्बुद्धि सद्बुद्धिको देखकर रोष करता है, सरलको मूर्ख कहता है, विनयीको खुशामदी कहता है, पाँच इंद्रियाँ वश करनेवालेको भाग्यहीन कहता है, सद्गुणीको देखकर रोष करता है, स्त्रीपुरुषके सुखमें लवलीन, ऐसे जीव दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। जीव कर्मके कारण अपने स्वरूपज्ञानसे अंध है, उसे ज्ञानकी खबर नहीं है।

एक नाकके लिए—मेरी नाक रहे तो अच्छा—ऐसी कल्पनाके कारण जीव अपनी शूर-वीरता दिखानेके लिए लड़ाईमें उतरता है; नाकको तो राख होनेवाली है!

देह कैसी है? रेतके घर जैसी, स्मशानकी मढ़ी जैसी। पर्वतकी गुफाकी तरह देहमें अंधेरा है। चमड़ीके कारण देह ऊपरसे रूपवती लगती है। देह अवगुणकी कोठरी, माया और मैलके रहनेका स्थान है। देहमें प्रेम रखनेसे जीव भटका है। यह देह अनित्य है। दुराचारकी खान है। इसमें मोह रखनेसे जीव चार गतिमें भटकता है। कैसा भटकता है? कोल्हूके बैलकी तरह। आँखोंपर पट्टी बाँध लेता है, उसे चलनेके मार्गमें तंगीसे रहना पड़ता है; लकड़ीकी मार खाता है, चारों तरफ फिरते रहना पड़ता है, छूटनेका मन होनेपर भी छूट नहीं सकता, भूखे-प्यासे होनेकी बात कह नहीं सकता, सुखसे श्वासोच्छ्वास ले नहीं सकता। उसकी तरह जीव पराधीन है। जो संसारमें प्रीति करता है वह इस प्रकारके दुःख सहन करता है।

धुएँ जैसे कपड़े पहन कर वह आडंबर करता है, परंतु वह धुएँकी तरह नष्ट होने योग्य है। आत्माका ज्ञान मायासे दबा रहता है।

जो जीव आत्मेच्छा रखता है वह पैसेको नाकके मैलकी तरह छोड़ देता है। मक्खी मिठाईमें फँसी है उसकी तरह यह अभागा जीव कुटुंबके सुखमें फँसा है।

वृद्ध, जवान, बालक–ये सब संसारमें डूबे हैं, कालके मुखमें हैं, ऐसा भय रखना। यह भय रखकर संसारमें रहना।

सौ उपवास करे, परन्तु जब तक भीतरसे सचमुच दोष दूर न हों तब तक फल नहीं मिलता।

श्रावक किसे कहना? जिसे संतोष आया हो, जिसके कषाय मंद हो गये हों, भीतरसे गुण उदित हुए हों, सत्संग मिला हो; उसे श्रावक कहना। ऐसे जीवको बोध लगे तो सारी वृत्ति बदल जाये, दशा बदल जाये। सत्संग मिलना यह पुण्यका योग है।

जीव अविचारसे भूला है। उसे कोई जरा कुछ कह देता है तो तुरत बुरा लग जाता है। परन्तु विचार नहीं करता कि 'मुझे क्या वह कहेगा तो उसे कर्मबंध होगा। क्या तुझे अपनी गति बिगाड़नी है?' क्रोध करके सामने बोलता है तो तू स्वयं भूल करता है। जो क्रोध करता है वही बुरा है। इस बारेमें सन्यासी और चांडालका दृष्टांत है।[1]

ससूर-बहुके दृष्टांतसे[2] सामायिक समताको कहा जाता है। जीव अहंकारसे बाह्य क्रिया करता है। अहंकारसे माया खर्च करता है, ये दुर्गतिके कारण हैं। सत्संगके बिना यह दोष कम नहीं होता।

जीवको अपने आपको चतुर कहलाना बहुत आता है। बिना बुलाये चतुराई कर बड़ाई लेता है। जिस जीवको विचार नहीं, उसके छूटनेका आरा नहीं। यदि जीव विचार करे और सन्मार्गपर चले तो छूटनेका आरा मिले।

[3]"बाहुबलीके दृष्टांतसे, अहंकारसे और मानसे कैवल्य प्रगट नहीं होता। वह बड़ा दोष है। अज्ञानमें बड़े-छोटेकी कल्पना है।

●

१. क्रोध चंडाल है। एक संन्यासी स्नान करनेके लिए जाता था। रास्तेमें सामनेसे चांडाल आता था। संन्यासीने उसे एक ओर होनेको कहा। परंतु उसने सुना नहीं। इससे संन्यासी क्रोधमें आ गया। चांडाल उसके गले मिला, 'मेरा भाग आपमें है।' २. ससुर कहाँ गये हैं? ढेंढ़ पाड़ेमें। ३. देखें पृष्ठ ६९।

[६४३-१०] १३ आणंद, भादों वदी १४, सोम

पंद्रह भेदोंसे जो सिद्ध कहा है उसका कारण यह है कि जिसके रागद्वेष और अज्ञान दूर हो गये हैं, उसका चाहे जिस वेषसे, चाहे जिस स्थानसे और चाहे जिस लिंगसे कल्याण हो जाता है।

सच्चा मार्ग एक ही है; इसलिए आग्रह नहीं रखना। 'मैं ढूँढिया हूँ', 'मैं तपा हूँ', ऐसी कल्पना नहीं रखना। दया, सत्य आदि सदाचरण मुक्तिका रास्ता है; इसलिए सदाचरणका सेवन करें।

लोच करना किस लिए कहा है ? इसलिए कि वह शरीरकी ममताकी परीक्षा है। (सिरपर बाल होना) यह मोह बढ़नेका कारण है। नहानेका मन होता है, दर्पण लेनेका मन होता है उनमें मुँह देखनेका मन होता है, और इसके अतिरिक्त उनके साधनोंके लिए उपाधि करनी पड़ती है। इस कारणसे ज्ञानियोंने लोच करनेका कहा है।

यात्रा करनेका हेतु एक तो यह है कि गृहवासकी उपाधिसे निवृत्ति ली जाये, सौ-दो सौ रुपयोंकी मूर्च्छा कम की जाये; परदेशमें देशाटन करते हुए कोई सत्पुरुष खोजनेसे मिल जाये तो कल्याण हो जाये। इसलिए यात्रा करना बताया है।

जो सत्पुरुष दूसरे जीवोंको उपदेश देकर कल्याण बताते हैं, उन सत्पुरुषोंको तो अनंत लाभ प्राप्त हुआ है। सत्पुरुष परजीवकी निष्काम करुणाके सागर हैं। वाणीके उदयके अनुसार उनकी वाणी निकलती है। वे किसी जीवको ऐसा नहीं कहते कि तू दीक्षा ले ले। तीर्थंकरने पूर्वकालमें कर्म बाँधा है उसका वेदन करनेके लिए दूसरे जीवोंका कल्याण करते हैं, बाकी तो उदयानुसार दया रहती है। वह दया निष्कारण है, तथा उन्हें परायी निर्जरासे अपना कल्याण नहीं करना है। उनका कल्याण तो हुआ हुआ ही है। वे तीन लोकके नाथ तो तरकर ही बैठे हैं। सत्पुरुष कि समकितीकी भी ऐसी (सकाम) उपदेश देनेकी इच्छा नहीं होती। वह भी निष्कारण दयाके लिए उपदेश देता है।

महावीरस्वामी गृहवासमें रहते हुए भी त्यागी जैसे थे।

हजारों वर्षका संयमी भी जैसा वैराग्य न रख सके वैसा वैराग्य भगवान का था। जहाँ जहाँ भगवान रहते हैं, वहाँ वहाँ सभी प्रकारके अर्थ भी रहते हैं। उनकी वाणी उदयानुसार शांति पूर्वक परमार्थहेतुसे निकलती है अर्थात् उनकी वाणी कल्याणके लिए ही है। उन्हें जन्मसे मति, श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान थे। उस पुरुषके गुणगान करनेसे अनंत निर्जरा होती है। ज्ञानीकी बात अगम्य है। उनका अभिप्राय मालूम नहीं होता। ज्ञानीपुरुषकी सच्ची खूबी यह है कि उन्होंने अनादिसे अटल रागद्वेष तथा अज्ञानको छिन्न भिन्न कर डाला है। इस भगवानकी अनंत कृपा है। उन्हें पच्चीस सौ वर्ष हो गये फिर भी उनकी दया आदि अभी विद्यमान है। यह उनका अनंत उपकार है। ज्ञानी आडंबर दिखानेके लिए व्यवहार नहीं करते। वे सहज स्वभावसे उदासीन भावसे रहते हैं।

ज्ञानी रेलगाड़ीमें सेकन्ड क्लासमें बैठे तो वह देहकी साताके लिए नहीं। साता लगे तो थर्ड क्लासकी अपेक्षा भी नीचेके क्लासमें बैठे, उस दिन आहार न ले; परन्तु ज्ञानीको देहका ममत्व नहीं है। ज्ञानी व्यवहारमें संगमें रहकर, दोषके पास जाकर दोषका छेदन कर डालता है। जब कि अज्ञानी जीव संगका त्याग करके भी वह दोष, स्त्री आदिको छोड़ नहीं सकता। ज्ञानी तो दोष ममत्व और कषायको उस संगमें रहकर भी नष्ट करता है। इसलिए ज्ञानीकी बात अद्भुत है।

वाड़ेमें कल्याण नहीं है, अज्ञानीके वाड़ा होता है। ढूँढिया क्या ? तपा क्या? जो मूर्तिको न माने और मुँहपत्ती बाँधे वह ढूँढिया, जो मूर्तिको माने और मुँहपत्ती न बाँधे वह तपा। यों कहीं धर्म होता है ! यह तो ऐसी बात है कि लोहा स्वयं तरता नहीं और दूसरेको तारता नहीं। वीतरागका मार्ग तो अनादिका है। जिसके रागद्वेष और अज्ञान दूर हो गये उसका कल्याण, बाकी अज्ञानी कहे कि मेरे धर्मसे कल्याण है तो उसे नहीं मानना, यों कल्याण नहीं होता। ढूँढियापन कि तपपन माना तो कषाय आता है। तपा ढूँढिया साथ बैठे तो कषाय आता है, और ढूँढिया तपा साथ बैठे तो कषाय आता है, इन्हें अज्ञानी समझें। दोनों समझे बिना बाड़े बनाकर कर्म उपार्जन करके भटकते हैं। बोहरेके नाड़े[1] की तरह मताग्रह पकड़ बैठे हैं। मुँहपत्ती आदिका आग्रह छोड़ दें।

जैनमार्ग क्या है ? राग, द्वेष और अज्ञानका नाश हो जाना। अज्ञानी साधुओंने भोले जीवोंको समझाकर उन्हें मार डालने जैसा कर दिया है। यदि प्रथम स्वयं विचार करे, 'क्या मेरे दोष कम हुए हैं ? तो फिर मालूम होगा कि जैनधर्म तो मेरेसे दूर ही रहा है।' जीव उलटी समझसे अपना कल्याण करता है। तथा ढूँढियाके साधुको और ढूँढिया तपाके साधुको अन्नपानी न देनेके लिए अपने शिष्योंको उपदेश देता है। कुगुरु एक दूसरेको मिलने नहीं देते; एक दूसरेको मिलने दें तब तो कषाय कम हो और निंदा घटे।

जीव निष्पक्ष नहीं रहते। अनादिसे पक्षमें पड़े हैं, और उसमें रहकर कल्याण भूल जाते हैं।

बारह कुलकी गोचरी कही है, वैसी कितने ही मुनि नहीं करते। उनका वस्त्र आदि परिग्रहका मोह दूर नहीं हुआ है। एक बार आहार लेना कहा है, फिर भी दो बार लेते हैं। जिस ज्ञानी पुरुषके वचनसे आत्मा ऊँची उठे वह सच्चा मार्ग है, वह अपना मार्ग है। अपना धर्म सच्चा पर पुस्तकमें है। आत्मामें जब तक गुण प्रगट न हो तब तक कुछ फल न दे। 'अपना धर्म' ऐसी कल्पना है। अपना धर्म क्या ? जैसे महासागर किसीका नहीं है, वैसे ही धर्म किसीके बापका नहीं है। जिसमें दया, सत्य आदि हो उसका पालन करें। वे किसीके बापके नहीं हैं। अनादिकालके हैं; शाश्वत हैं। जीवने गाँठ पकड़ी है कि अपना धर्म है, परंतु शाश्वत धर्म है, उसमें अपना क्या ? शाश्वत मार्गसे सब मोक्ष गये हैं। रजोहरण, डोरा कि मुँहपत्ती, कपड़े आत्मा नहीं हैं।

एक बोहरा था। वह गाड़ेमें माल भरकर दूसरे गाँवमें ले जाता था। गाड़ेवालेने कहा, 'चोर आयेंगे इसलिए सावधान होकर रह, नहीं तो लूट लेंगे।' परन्तु उस बोहरेने स्वच्छंदसे माना नहीं और कहा, 'कुछ फिक्र नहीं ! फिर मार्गमें चोर मिले। गाड़ेवालेने माल बचानेके लिए मेहनत करनी शुरू की परन्तु उस बोहरेने कुछ भी न करते हुए माल उठाने दिया, और चोर माल लूट ले गये। परन्तु उसने माल वापस प्राप्त करनेके लिए कोई उपाय नहीं किया। घर गया तब सेठने पूछा, 'माल पकड़नेके लिए कुछ उपाय किया है ?' तब उस बोहराने कहा, 'मेरे पास बीजक है, इसलिए चोर माल ले जाकर किस तरह बेचेंगे ? इसलिए वे मेरे पास बीजक लेने आयेंगे तब पकड़ूँगा' ऐसी जीवकी मूढ़ता है। 'अपने जैन धर्मके शास्त्रोंमें सब कुछ है, शास्त्र अपने पास हैं।' ऐसा मिथ्याभिमान जीव कर बैठा है। क्रोध, मान, माया, लोभरूपी चोर दिनरात माल चुरा रहे हैं, उसका भान नहीं है।

---

१. माल भरकर रस्सीसे बाँधे हुए गाड़ेपर एक बोहराजी बैठे हुए थे, उन्हें गाड़ा हाँकनेवालेने कहा, "रास्ता खराब है इसलिए, बोहराजी, नाड़ा पकड़िये; नहीं तो गिर जायेंगे। रास्तेमें गड्ढा आनेसे धक्का लगा कि बोहराजी नीचे गिर पड़े। गाड़ेवालेने कहा, "चिताया था और नाड़ा क्यों नहीं पकड़ा ?" बोहराजी बोले, "यह नाड़ा पकड़े रखा है, अभी छोड़ा नहीं" यों कहकर पाजामेका नाड़ा बताया।

तीर्थंकरका मार्ग सच्चा है। द्रव्यमें कोड़ी तक रखनेकी आज्ञा नहीं है। वैष्णवके कुलधर्मके कुगुरु आरंभ-परिग्रह छोड़े विना ही लोगोंके पाससे लक्ष्मी, ग्रहण करते हैं, और तद्रूपी एक व्यापार हो गया है। वे स्वयं अग्निमें जलते हैं, तो उनसे दूसरोंकी अग्नि किस तरह शांत हो सके! जैन-मार्गका परमार्थ सच्चे गुरुसे समझना है। जिस गुरुको स्वार्थ होता है वह अपना अकल्याण करता है, और शिष्योंका भी अकल्याण होता है।

जैन लिंगधारी होकर जीव अनंत बार भटका है। बाह्यवर्ती लिंग धारण करके लौकिक व्यवहारमें अनंत बार भटका है। इस जगह जैनमार्गका निषेध नहीं करता। अंतरंगसे जो जितना सच्चा मार्ग बताये वह 'जैन' है। परन्तु अनादिकालसे जीवने झूठेको सच्चा माना है; और यही अज्ञान है। मनुष्यदेहकी सार्थकता तभी है कि जब मिथ्या आग्रह, दुराग्रह छोड़कर कल्याण हो। ज्ञानी सीधा ही बताता है। आत्मज्ञान जब प्रगट हो तभी आत्मज्ञानीपन मानना, गुण प्रगट हुए विना उसे मानना भूल है। जवाहरातकी कीमत जाननेकी शक्तिके विना जौहरीपन नहीं मानना। अज्ञानी झूठेको सच्चा नाम देकर बाड़ा बनाता है। सत्की पहचान हो तो किसी वक्त भी सत्य ग्रहण होगा।

•

[६४३–११] १४ आणंद, भादों वदी ३०, मंगल, १९५२

जो जीव अपनेको मुमुक्षु मानता हो, तरनेका कामी मानता हो, समझता हूँ ऐसा मानता हो, उसे देहमें रोग होते वक्त आकुल-व्याकुलता होती हो, तो उस वक्त विचार करे—'तेरी मुमुक्षुता, चतुरता कहाँ चली गयीं?' उस वक्त विचार क्यों नहीं करता होगा? जो तरनेका कामी होता है वह देहको असार समझता है, देहको आत्मासे भिन्न मानता है, उसे आकुलता नहीं आनी चाहिए। देहको संभालते हुए वह संभाली नहीं जाती, क्योंकि वह क्षणमें नष्ट हो जाती है, क्षणमें रोग, क्षणमें वेदना हो जाती है। देहके संगसे देह दुःख देती है; इसलिए आकुल-व्याकुलता होना यही अज्ञान है। शास्त्रका श्रवण कर रोज सुना है कि देह आत्मासे भिन्न है, क्षणभंगुर है; परन्तु देहमें वेदना होनेपर रागद्वेष परिणाम करके चीख-पुकार करता है। तो फिर, देह क्षणभंगुर है, ऐसी शास्त्रकी बात आप क्यों सुनने जाते हैं? देह तो आपके पास है तो अनुभव करें। देह स्पष्ट मिट्टी जैसी है, सँभालनेसे सँभाली नहीं जाती, रखनेसे रखी नहीं जाती। वेदनाका वेदन करते हुए उपाय नहीं चलता। तब क्या सँभालें? कुछ भी नहीं हो सकता। ऐसा देहका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तो फिर उसकी ममता करके क्या करना? देहका प्रत्यक्ष अनुभव करके शास्त्रमें कहा कि वह अनित्य है, असार है, इसलिए देहमें मूर्च्छा करना योग्य नहीं।

जब तक देहात्मबुद्धि दूर नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता। जीवको सत्य कभी मिला ही नहीं, मिला होता तो मोक्ष हो जाता। भले ही साधुपना, श्रावकपना अथवा चाहे जो स्वीकार कर लें परन्तु सत्यके विना साधन वृथा है। देहात्मबुद्धि मिटानेके लिए जो साधन बताये हैं वे, देहात्मबुद्धि मिटे तभी सच्चे समझे जायें। देहात्मबुद्धि हुई है उसे मिटानेके लिए, ममत्व छुड़ानेके लिए साधन करने हैं। वह न मिटे तो साधुपना, श्रावकपना, शास्त्र-श्रवण या उपदेश सब कुछ अरण्यरोदनके समान हैं। जिसका यह भ्रम नष्ट हो गया है, वही साधु, वही आचार्य, वही ज्ञानी है। जिस तरह कोई अमृतभोजन करे वह कुछ छिपा न रहे, उसी तरह भ्रांति, भ्रमबुद्धि दूर हो जाये वह कुछ छिपी न रहे।

लोग कहते हैं कि समकित है कि नहीं, उसे केवलज्ञानी जाने, परन्तु स्वयं आत्मा है उसे क्यों न जाने ? कहीं आत्मा गाँव नहीं चली गयी; अर्थात् समकित हुआ है उसे आत्मा स्वयं जाने। जिस तरह किसी पदार्थके खानेपर वह अपना फल देता है, उसी तरह समकित होनेपर, भ्रांति दूर होनेपर, उसका फल स्वयं जाने। ज्ञानका फल ज्ञान देता ही है। पदार्थका फल पदार्थ लक्षणके अनुसार देता ही है। आत्मामेंसे, अंतरमेंसे कर्म जानेको तैयार हुए हों तो उसकी खबर अपनेको क्यों न पड़े ? अर्थात् खबर पड़ती ही है। समकितीकी दशा छिपी नहीं रहती। कल्पित समकितको समकित मानना वह पीतलकी कंठीको सोनेकी कंठी मानने जैसा है।

समकित हुआ हो तो देहात्मबुद्धि मिटती है; यद्यपि अल्प बोध, मध्यम बोध, विशेष बोध— जैसा भी बोध हो तदनुसार पीछेसे देहात्मबुद्धि मिटती है। देहमें रोग होनेपर जिसमें आकुल-व्याकुलता मालूम पड़े उसे मिथ्यादृष्टि समझें।

जिस ज्ञानीकी आकुल-व्याकुलता मिट गयी है, उसे अंतरंग पच्चक्खाण ही है, उसमें सभी पच्चक्खाण आ जाते हैं। जिसके रागद्वेष नष्ट हो गये हैं उसे यदि बीस बरसका पुत्र मर जाये तो भी खेद नहीं होता। शरीरमें व्याधि होनेसे जिसे व्याकुलता होती है, और जिसका ज्ञान कल्पना मात्र है उसे खोखला अध्यात्मज्ञान मानें, ऐसा कल्पित ज्ञानी उस खोखले ज्ञानको अध्यात्मज्ञान मानकर अनाचारका सेवन करके बहुत ही भटकता है। देखें शास्त्रका फल।

आत्माको पुत्र भी नहीं होता और पिता भी नहीं होता जो ऐसी (पिता-पुत्रकी) कल्पनाको सच्चा मान बैठे हैं वे मिथ्यात्वी हैं। कुसंगसे समझमें नहीं आता; इसलिए समकित नहीं आता। योग्य जीव हो तो सत्पुरुषके संगसे सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी खबर तुरत हो जाती है। समकिती और मिथ्यात्वीकी वाणी घड़ी-घड़ी,में भिन्न होती है। ज्ञानीकी वाणी एकतार पूर्वापर मिलती चली आती है। अंतर्ग्रन्थिभेद होनेपर ही सम्यक्त्व होता है। रोगको जाने, रोगकी दवा जाने, परहेज जाने, पथ्य जाने और तदनुसार उपाय करे तो रोग दूर हो जाये। रोग जाने बिना अज्ञानी जो उपाय करे उससे रोग बढ़े। पथ्यका पालन करे और दवा करे नहीं तो रोग कैसे मिटे ? अर्थात् न मिटे। तो फिर यह तो रोग और, और दवा कुछ और ही! कुछ शास्त्र तो ज्ञान नहीं कहा जाता। ज्ञान तो तभी कहा जाये कि जब अंतरकी गाँठ दूर हो। तप, संयम आदिके लिए सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण करना बताया है।

ज्ञानी भगवानने कहा है कि साधुओंको अचित्त और नीरस आहार लेना चाहिए। इस कथनको तो कितने ही साधु भूल गये हैं। दूध आदि सचित्त भारी-भारी विगय पदार्थ लेकर ज्ञानी-की आज्ञाको ठुकराकर चलना यह कल्याणका मार्ग नहीं है। लोग कहते हैं कि साधु है; परन्तु जो आत्मदशा साधता है वही साधु है।

नरसिंह मेहता कहते हैं कि अनादिकालसे यों ही चलते चलते काल बीत गया परन्तु निवेड़ा हुआ नहीं। यह मार्ग नहीं है; क्योंकि अनादिकालसे चलते चलते भी मार्ग लगा नहीं। यदि मार्ग यही होता तो ऐसा न होता कि अभी तक कुछ भी हाथमें नहीं आया। इसलिए मार्ग और ही होना चाहिए।

तृष्णा कैसे कम हो ? लौकिक भावमें बड़प्पन छोड़ दे तो। 'घर-कुटुंब आदिको मुझे क्या

करना है ? लौकिकमें चाहे जैसा हो, परंतु मुझे तो मान-बड़ाई छोड़कर चाहे जिस प्रकारसे तृष्णाको कम करना है', इस तरह विचार करे तो तृष्णा कम हो जाये, मंद हो जाये।

तपका अभिमान कैसे कम हो ? त्याग करनेका उपयोग रखनेसे। 'मुझे यह अभिमान क्यों होता है ?' यों रोज़ विचार करते करते अभिमान मंद पड़ेगा।

ज्ञानी कहता है कि जीव यदि कुंजीरूपी ज्ञानका विचार करे तो अज्ञानरूपी ताला खुल जाये। कितने ही ताले खुल जायें। कुंजी हो तो ताला खुले; नहीं तो पत्थर मारनेसे तो ताला टूट जाये।

'कल्याण क्या होगा ?' ऐसा जीवको झूठा भ्रम है। वह कुछ हाथी-घोड़ा नहीं है। जीवको ऐसी भ्रांतिके कारण कल्याणकी कुंजियाँ समझमें नहीं आतीं। समझमें आ जायें तो तो सुगम हैं। जीवकी भ्रांतियोंको दूर करनेके लिए जगतका वर्णन किया है। यदि जीव सदाके अंध मार्गसे थक जाये तो मार्गमें आ जाये।

ज्ञानी परमार्थ सम्यक्त्वको ही बताते हैं। 'कषायका कम होना कल्याण है, जीवके राग, द्वेष और अज्ञानका दूर होना कल्याण कहा जाता है।' तब लोग कहते हैं, 'ऐसा तो हमारे गुरु भी कहते हैं, तो फिर भिन्न क्या बताते हैं।' ऐसी उलटी-सीधी कल्पनाएँ करके जीव अपने दोषोंको दूर करना नहीं चाहता।

आत्मा अज्ञानरूपी पत्थरसे दब गयी है। ज्ञानी ही आत्माको ऊँची उठायेगा। आत्मा दब गयी है इसलिए कल्याण सूझता नहीं। ज्ञानी सद्विचाररूपी सरल कुंजियाँ बताता है, वे कुंजियाँ हज़ारों तालोंको लगती हैं।

जीवका आंतरिक अजीर्ण दूर हो तब अमृत अच्छा लगे। उसी तरह भ्रांतिरूप अजीर्ण दूर होनेपर कल्याण हो, परन्तु जीवको अज्ञानी गुरुओंने भड़का रखा है, इसलिए भ्रांतिरूप अजीर्ण कैसे दूर हो ? अज्ञानी गुरु ज्ञानके बदले तप बताते हैं, तपमें ज्ञान बताते हैं, इसलिए जीवके लिए तरना बहुत संकटवाला है। अहंकार आदिसे रहित होकर तप आदि करें।

कदाग्रह छोड़कर जीव विचार करे तो मार्ग तो अलग है। समकित सुलभ है, प्रत्यक्ष है, सरल है। जीव गाँव छोड़कर आगे निकल गया है वह पीछे लौटे तो गाँव आये। सत्पुरुषके वचनों आस्थासहित श्रवण-मनन करे तो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसके प्राप्त होनेके बाद व्रत-पच्चक्खाण आते हैं, उसके अनंतर पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

सत्य समझमें आकर उसकी आस्था होना यही सम्यक्त्व है। जिसे सच्चे-झूठेकी कीमत मालूम हो गयी है, वह भेद जिसका दूर हो गया है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

असद्गुरुसे सत् समझमें नहीं आता, समकित नहीं होता। दया, सत्य, अदत्तादान इत्यादि सदाचार सत्पुरुषके समीप आनेके सत्साधन हैं। सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूत्रका, सिद्धांतका परमार्थ है। सूत्र-सिद्धांत तो कागज़ है, हम अनुभवसे कहते हैं, अनुभवसे शंका दूर करनेको कह सकते हैं। अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कागज़में लिखा हुआ दीपक है।

ढूँढियापन कि तपापनकी दुहाई देते रहें, उससे समकित होनेवाला नहीं है। सचमुच सच्चा स्वरूप समझमें आये, भीतरसे दशा बदले तो समकित हो। परमार्थमें प्रमाद अर्थात् आत्मासे बाह्य वृत्ति। जो घात करे उसे घाती कर्म कहा जाता है। परमाणुको पक्षपात नहीं है, जिस रूपसे आत्मा उसे परिणमाये उस रूपसे परिणमे।

निकाचित कर्ममें स्थिति-बंध हो तो यथोचित बंध होता है। स्थितिकाल न हो तो वह विचारसे, पश्चातापसे, ज्ञानविचारसे नष्ट होता है। स्थितिकाल हो तो भोगनेपर ही छुटकारा होता है।

क्रोध आदि करके जिन कर्मोंका उपार्जन किया हो उन्हें भोगनेपर ही छुटकारा होता है। उदय आनेपर भोगना ही चाहिए। जो समता रखे उसे समताका फल मिलता है। सबको अपने-अपने परिणामके अनुसार कर्म भोगने पड़ते हैं।

ज्ञान स्त्रीत्वमें, पुरुषत्वमें समान ही है। ज्ञान आत्माका है। वेदसे रहित हो जानेपर ही यथार्थ ज्ञान होता है।

स्त्री हो या पुरुष हो परन्तु देहमेंसे आत्मा निकल जाये तब शरीर तो मुर्दा है और इंद्रियाँ झरोखे जैसी हैं।

भगवान महावीरके गर्भका हरण हुआ होगा कि नहीं? ऐसे विकल्पका क्या काम है? भगवान चाहे जहाँसे आये; परन्तु सम्यग्ज्ञान, दर्शन, और चारित्र थे कि नहीं? हमें तो इससे काम है। इनके आश्रयसे पार होनेका उपाय करना ही श्रेयस्कर है। कल्पना कर करके क्या करना है? चाहे जो साधन प्राप्त कर भूख मिटानी है। शास्त्रोक्त बातोंको इस तरह ग्रहण करें कि आत्माका उपकार हो, दूसरी तरह नहीं।

जीव डूब रहा है तब अज्ञानी जीव पूछे कि 'क्यों गिरा?' इत्यादि पंचायत करे तो इतनेमें यह जीव डूब ही जाये, मर जाये। परन्तु ज्ञानी तो तारनेवाला होनेसे वह दूसरी पंचायत छोड़कर डूबते हुएको तुरत तारता है।

जगतकी झंझट करते करते जीव अनादिकालसे भटका है। एक घरमें ममत्व माना इसमें तो इतना सब दुःख है तो फिर जगतकी, चक्रवर्तीकी सिद्धिकी कल्पना, ममता करनेसे दुःखमें क्या बाकी रहे! अनादिकालसे इससे हारकर मर रहा है।

जानना क्या? जो परमार्थके काममें आये वह जानना है। सम्यग्दर्शनसहित जानना सम्यग्ज्ञान है।

नवपूर्व तो अभव्य भी जानता है। परन्तु सम्यग्दर्शनके बिना उसे सूत्र-अज्ञान कहा है।

सम्यक्त्व हो और शास्त्रके मात्र दो शब्द जाने तो भी मोक्षके काम आये। जो ज्ञान मोक्षके काम न आये वह अज्ञान है।

मेरु आदिका वर्णन जानकर उसकी कल्पना, चिंता करे, मानो मेरुका ठेका न लेना हो! जानना तो ममता छोड़नेके लिए है।

जो ज़हरको जानता है वह उसे नहीं पीता। ज़हरको जानकर पीता है तो वह अज्ञान है। इसलिए जानकर छोड़नेके लिए जानना कहा है।

जो दृढ़ निश्चय करता है कि चाहे जो करूँ, जहर पीऊँ, पर्वतसे गिरूँ, कुएँमें पड़ूँ परंतु जिससे कल्याण हो वही करूँ। इसका जानना सच्चा। इसे ही तरनेका कामी कहा जाये।

देवताको हीरामाणिक आदि परिग्रह अधिक है। उसमें अतिशय ममता-मूर्छा होनेसे वहाँसे चवकर वह हीरा आदिमें एकेंद्रियरूपसे जन्म लेता है।

जगतका वर्णन करते हुए जीव अज्ञानसे अनंत बार उसमें जन्म ले चुका है, उस अज्ञानको छोड़नेके लिए ज्ञानियोंने यह वाणी कही है। परन्तु जगतके वर्णनमें ही जीव फँसे जाये तो उसका

कल्याण किस तरह हो ! वह तो अज्ञानता ही कही जाये। जिसे जानकर अज्ञानको छोड़नेका उपाय कर वह जानना है।

अपने दोष दूर हों ऐसे प्रश्न करे तो दोष दूर होनेका कारण उपस्थित हो। जीवके दोष कम हों, दूर हों तो मुक्ति हो।

जगतकी बात जानना इसे शास्त्रमें मुक्ति नहीं कहा है। परन्तु निरावरण हो जाये तब मोक्ष हो।

पाँच वर्षोंसे एक बीड़ी जैसा व्यसन प्रेरणा किये विना छोड़ा नहीं जा सका। हमारा उपदेश तो उसीको दें कि जो तुरन्त ही करनेका विचार रखता हो। इस कालमें बहुतसे जीव विराधक होते हैं और उनपर नहीं जैसा ही संस्कार पड़ता है।

ऐसी बात तो सहजहीमें समझने जैसी है, और तनिक विचार करे तो समझमें आ सकती है कि जीव, मन, वचन और कायाके तीन योगसे रहित है, सहजस्वरूप है। जब ये तीन योग छोड़ने हैं तब इन बाह्य पदार्थोंमें जीव क्यों आग्रह करता होगा। यह आश्चर्य होता है! जीव जिस जिस कुलमें उत्पन्न होता उस उसका आग्रह करता है, जोर करता है। वैष्णवके यहाँ जन्म लिया हो तो उसका आग्रह हो जाता है, यदि तपामें हो तो उसका आग्रह हो जाता है। जीवका स्वरूप ढूँढिया नहीं, तपा नहीं, कुल नहीं, जाति नहीं, वर्ण नहीं। ऐसी ऐसी कुकल्पना करके आग्रहपूर्वक आचरण करवाना यह कैसा अज्ञान है! जीवको लोगोंको अच्छा दिखानेका बहुत माना है और इससे जीव वैराग्य-उपशमके मार्गसे रुक जाता है। अब आगेसे और पहले कहा है, दुराग्रहके लिए जैनशास्त्र न पढ़ना। ऐसा करना कि जिससे वैराग्य-उपशम बढ़े। इनमें (मागधी गाथाओंमें) कहाँ ऐसी बात है कि इसे ढूँढिया कि इसे तपा मानना। उनमें ऐसी बात होती ही नहीं है।

(त्रिभोवनको) जीवको उपाधि बहुत है। ऐसा योग—मनुष्यभव आदि साधन मिले हैं और जीव विचार न करे तो क्या यह पशुके देहमें विचार करेगा? कहाँ करेगा?

जीव ही परमाधामी (यम) जैसा है, और यम है, क्योंकि नरकगतिमें जीव जाता है उसका कारण जीव यहीं खड़ा करता है।

जीव पशुकी जातिके शरीरोंके दुःख प्रत्यक्ष देखता है, जरा विचार आता है और फिर भूल जाता है। लोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह मर गया, मुझे मरना है; ऐसी प्रत्यक्षता है; तथापि शास्त्रमें उस व्याख्याको दृढ़ करनेके लिए वारंवार वही बात कही है। शास्त्र तो परोक्ष है और यह तो प्रत्यक्ष है, परंतु जीव फिर भूल जाता है, इसलिए वहीकी वही बात बतायी है।

□

श्री

व्याख्यानसार—१

[७५३] ९५८* मोरवी, संवत् १९५४-५५

१. प्रथम गुणस्थानकमें ग्रंथि है उसका भेदन किये विना आत्मा आगेके गुणस्थानकमें नहीं जा सकती। योगानुयोग मिलनेसे अकामनिर्जरा करता हुआ जीव आगे वढ़ता है, और ग्रंथिभेद करनेके समीप आता है। परन्तु यहाँ ग्रंथिकी इतनी अधिक प्रवलता है कि वह ग्रंथिभेद करनेमें शिथिल होकर, असमर्थ होकर, वापस लौट आता है। वह हिम्मत करके आगे वढ़ना चाहता है, परन्तु मोहनीयके कारण रूपान्तर समझमें आनेसे वह ऐसा समझता है कि स्वयं ग्रंथिभेद कर रहा है, प्रत्युत वह समझनेरूप मोहके कारण ग्रंथिकी निविड़ता ही करता है। उसमेंसे कोई जीव ही योगानुयोग प्राप्त होनेपर अकामनिर्जरा करता हुआ अति वलवान होकर उस ग्रंथिको शिथिल करके अथवा दुर्वल करके आगे वढ़ जाता है। जो अविरति-सम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थानक है, जहाँ मोक्षमार्गकी सुप्रीति होती है; इसका दूसरा नाम 'वोधवीज' है। यहाँ आत्माके अनुभवका श्रीगणेश होता है, अर्थात् मोक्ष होनेका वीज यहाँ वोया जाता है।

२. इस 'वोधवीज गुणस्थानक'—चौथा गुणस्थानसे तेरहवें गुणस्थानक तक आत्मानुभव

---

*. वि०सं० १९५४ और १९५५ में माघ माससे चैत्रमास तक श्रीमद्जी मोरवीमें ठहरे थे। उस अरसेमें उन्होंने जो व्याख्यान दिये थे, उनका सार एक मुमुक्षु श्रोताने अपनी स्मृतिके अनुसार लिख लिया था जिसे यहाँ दिया गया है।

एक-सा है, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्मकी निरावरणताके अनुसार ज्ञानकी विशुद्धता न्यूनाधिक होती है, उसके प्रमाणमें अनुभवका प्रकाशित होना कह सकता है।

३. ज्ञानावरणका सर्वथा निरावरण होना 'केवलज्ञान' अर्थात् 'मोक्ष' है। वह ऐसा नहीं है कि जो बुद्धिबलसे कहा जाता है; परन्तु अनुभवगम्य है।

४. बुद्धिबलसे निश्चित किया हुआ सिद्धांत उससे विशेष बुद्धिबल अथवा तर्कसे कदाचित् बदल सकता है; परन्तु जो वस्तु अनुभवगम्य (अनुभवसिद्ध) हुई है वह त्रिकालमें बदल नहीं सकती।

५. आजके समयमें जैनदर्शनमें अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान तक आत्मानुभव स्पष्ट स्वीकृत है।

६. सातवेंसे सयोगीकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान तकका काल अंतर्मुहूर्तका है। तेरहवें-का काल शायद लंबा भी होता है। वहाँ तक आत्मानुभव प्रतीतिरूप है।

७. इस कालमें मोक्ष नहीं है ऐसा मानकर जीव मोक्षहेतुभूत क्रिया नहीं कर सकता; और वैसी मान्यताके कारण जीवकी प्रवृत्ति दूसरी ही तरह होती है।

८. पिंजरेमें बन्द किया हुआ सिंह पिंजरेसे प्रत्यक्ष भिन्न है, तो भी बाहर निकलनेकी सामर्थ्यसे रहित है। इसी तरह अल्प आयुके कारण अथवा संघयण आदि अन्य साधनोंके अभावसे आत्मारूपी सिंह कर्मरूपी पिंजरेसे बाहर नहीं आ सकता ऐसा माना जाये तो यह मानना सकारण है।

९. इस असार संसारमें मुख्य चार गतियाँ हैं, जो कर्मबन्धसे प्राप्त होती हैं। बंधके बिना वे गतियाँ प्राप्त नहीं होतीं। बंधरहित मोक्षस्थान बंधसे होनेवाली चारगतिरूप संसारमें नहीं है। सम्यक्त्व अथवा चारित्रसे बंध नहीं होता यह तो निश्चित है तो फिर चाहे जिस कालमें सम्यक्त्व अथवा चारित्र प्राप्त करे वहाँ उस समय बंध नहीं, और जहाँ बंध नहीं है वहाँ संसार भी नहीं है।

१०. सम्यक्त्व और चारित्रमें आत्माकी शुद्ध परिणति है, तथापि उसके साथ मन, वचन और शरीरके शुभ योगप्रवृत्ति होती है। उस शुभ योगसे शुभ बंध होता है। उस बंधके कारण देव आदि गतिरूप संसार करना पड़ता है। परन्तु उससे विपरीत जो सम्यक्त्व और चारित्र जितने अंशमें प्राप्त होते हैं उतने अंशमें मोक्ष प्रगट होता है, उसका फल देव आदि गतिका प्राप्त होना नहीं है। देव आदि गति जो प्राप्त हुई वह उपर्युक्त मन, वचन और शरीरके शुभ योगसे हुई है, और जो बंधरहित सम्यक्त्व तथा चारित्र प्रगट हुए हैं वे स्थिर रहकर फिर मनुष्यभव प्राप्त कर, फिर उस भागसे संयुक्त होकर मोक्ष होता है।

११. चाहे जिस कालमें कर्म है, उसका बंध है, उस बंधकी निर्जरा है, और सम्पूर्ण निर्जरा-का नाम 'मोक्ष' है।

●

१२. निर्जराके दो भेद हैं—एक सकाम अर्थात् सहेतु (मोक्षकी हेतुभूत) निर्जरा और दूसरी अकाम अर्थात् विपाकनिर्जरा।

१३. अकामनिर्जरा औदयिक भावसे होती है। यह निर्जरा जीवने अनंत बार की है और यह कर्मबंधका कारण है।

१४. सकामनिर्जरा क्षायोपशमिक भावसे होती है। जो कर्मके अबंधका कारण है। जितने अंशमें सकामनिर्जरा (क्षायोपशमिक भावसे) होती है उतने अंशमें आत्मा प्रगट होती है। यदि अकाम (विपाक) निर्जरा हो तो वह औदयिक भावसे होती है, और वह कर्मबंधका कारण है। यहाँ भी कर्मकी निर्जरा होती है, परन्तु आत्मा प्रगट नहीं होती।

१५. अनंत बार चारित्र प्राप्त करनेसे जो निर्जरा हुई है वह औदयिक भावसे (जो भाव अबंधक नहीं है) हुई है; क्षायोपशमिक भावसे नहीं हुई। यदि वैसे हुई होती तो इस तरह भटकना नहीं पड़ता।

१६. मार्ग दो प्रकारके हैं—एक लौकिक मार्ग और दूसरा लोकोत्तर मार्ग; जो एक दूसरेसे विरुद्ध हैं।

१७. लौकिक मार्गसे विरुद्ध जो लोकोत्तर मार्ग है उसका पालन करनेसे उसका फल उससे विरुद्ध लौकिक नहीं होता। जैसा कृत्य वैसा फल।

●

१८. इस संसारमें जीवोंकी संख्या अनंत कोटि है। व्यवहार आदि प्रसंगमें अनंत जीव क्रोध आदिसे वर्ताव करते हैं। चक्रवर्ती राजा आदि क्रोध आदि भावसे संग्राम करते हैं, और लाखों मनुष्योंका घात करते हैं, तो भी उनमेंसे किसी किसीका उसी कालमें मोक्ष हुआ है।

१९. क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकड़ी कषाय नामसे पहचानी जाती है। यह कपाय अत्यंत क्रोधादिवाला है। यदि वह अनंत संसारका हेतु होकर अनंतानुबंधी कपाय होता हो तो फिर चक्रवर्ती आदिको अनंत संसारकी वृद्धि होनी चाहिए, और इस हिसाबसे अनंत संसार बीतनेसे पहले उनका मोक्ष होना कैसे योग्य हो सकता है? यह बात विचारणीय है।

२०. जिस क्रोध आदिसे अनंत संसारकी वृद्धि हो वह अनंतानुबंधी कषाय है, यह भी निःशंक है। इस हिसाबसे उपर्युक्त क्रोध आदि अनंतानुबंधी नहीं हो सकते। तो फिर अनंतानुबंधीकी चौकड़ी दूसरी तरह हो सकती है।

२१. सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनोंकी एकता 'मोक्ष' है। वह सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र अर्थात् वीतराग ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उसीसे अनंत संसारसे मुक्ति प्राप्त होती है। यह वीतरागज्ञान कर्मके अबंधका हेतु है। वीतरागके मार्गसे चलना अथवा उनकी आज्ञाके अनुसार चलना भी अबंधक है। उसके प्रति जो क्रोध आदि कपाय हों उनसे विमुक्त होना, यही अनंत संसारसे अत्यंतरूपसे मुक्त होना है; अर्थात् मोक्ष है। जिससे मोक्षसे विपरीत ऐसे अनंत संसारकी वृद्धि होती है उसे अनंतानुबंधी कहा जाता है और है भी इसी तरह। वीतरागके मार्गसे और उनकी आज्ञासे चलनेवालोंका कल्याण होता है। ऐसा जो बहुतसे जीवोंके लिए कल्याणकारी मार्ग है उसके प्रति क्रोध आदि भाव (जो महा विपरीतके करनेवाले हैं) ही अनंतानुबंधी कपाय है।

२२. जो कि क्रोध आदि भाव लौकिक व्यवहारमें भी निष्फल नहीं होते, वीतरागसे प्ररूपित वीतरागज्ञान अथवा मोक्षधर्म अथवा तो सद्धर्म उसका खंडन करना या उसके प्रति तीव्र, मंद आदि जैसे भावसे क्रोध आदि भाव होते हों वैसे भावसे अनंतानुबंधी कपायसे बंध होकर अनंत संसारकी वृद्धि होती है।

●

२३. किसी भी कालमें अनुभवका अभाव नहीं है। बुद्धिवलसे निश्चित की हुई जो अप्रत्यक्ष बात है उसका क्वचित् अभाव भी हो सकता है।

२४. केवलज्ञान वह है कि जिससे कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, अथवा जो आत्मप्रदेशका स्वभाव है वह ? :—

(अ) आत्मासे उत्पन्न किया हुआ विभावभाव, और उसमें होनेवाले जड पदार्थके संयोगरूप आवरणसे जो कुछ देखना, जानना आदि होता है वह इंद्रियकी सहायतासे हो सकता है; परन्तु उस संबंधी यह विवेचन नहीं है। यह विवेचन केवलज्ञान सम्बंधी है।

(आ) विभाव-भावसे हुआ जो पुद्‌गलास्तिकायका संबंध है वह आत्मासे पर है। उसका तथा जितना पुद्‌गलका संयोग हुआ उसका यथान्यायसे ज्ञान अर्थात् अनुभव होता है वह अनुभवगम्यमें समाता है, और उसके कारण लोकसमस्तके पुद्‌गलोंका भी ऐसा ही निर्णय होता है उसका समावेश बुद्धिबलमें होता है, जिस तरह, जिस आकाशप्रदेशमें अथवा उसके पास विभावी आत्मा स्थित है उस आकाशप्रदेशके उतने भागको लेकर जो अछेद्य अभेद्य अनुभव होता है वह अनुभवगम्यमें समाता है; और उसके अतिरिक्त शेष आकाश जिसे केवलज्ञानीने स्वयं भी अनंत (जिसका अंत नहीं) कहा है, उस अनंत आकाशका भी तदनुसार गुण होना चाहिए ऐसा बुद्धिबलसे निर्णीत किया हुआ होना चाहिए।

(इ) आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ अथवा तो आत्मज्ञान हुआ, यह बात अनुभवगम्य है। उस आत्मज्ञानके उत्पन्न होनेसे आत्मानुभव होनेके उपरांत क्या क्या होना चाहिए ऐसा जो कहा गया है वह बुद्धिबलसे कहा है, ऐसा माना जा सकता है।

(ई) इंद्रियके संयोगमें जो कुछ भी देखना जानना होता है वह यद्यपि अनुभवगम्यमें समाता है सही; परन्तु यहाँ तो अनुभवगम्य आत्मतत्त्वके विषयमें कहना है, जिसमें इंद्रियोंकी सहायता अथवा तो संबंधकी आवश्यकता नहीं है, उसके सिवायकी बात है। केवलज्ञानी सहज देख-जान रहे हैं; अर्थात् लोकके सर्व पदार्थोंका अनुभव किया है यह जो कहा जाता है उसमें उपयोगका संबंध रहता है; क्योंकि केवलज्ञानीके तेरहवाँ गुणस्थानक और चौदहवाँ गुणस्थानक ऐसे दो विभाग किये गये हैं, उसमें तेरहवें गुणस्थानकवाले केवलज्ञानीके योग रहता है, यह स्पष्ट है, और जहाँ इस तरह है वहाँ उपयोगकी विशेषरूपसे आवश्यकता है, और जहाँ खास तौरसे जरूरत है वहाँ बुद्धिबल है, यह कहे बिना चल नहीं सकता; और जहाँ यह बात सिद्ध होती है वहाँ अनुभवके साथ बुद्धिबल भी सिद्ध होता है।

(उ) इस प्रकार उपयोगके सिद्ध होनेसे आत्माको समीपवर्ती जड पदार्थका तो अनुभव होता है परन्तु दूरवर्ती पदार्थका योग न होनेसे उसका अनुभव होनेकी बात कहना कठिन है, उसके साथ, दूरवर्ती पदार्थ अनुभवगम्य नहीं है, ऐसा कहनेसे तथाकथित केवलज्ञानके अर्थसे विरोध आता है। इसलिए वहाँ बुद्धिबलसे सर्व पदार्थका सर्वथा एवं सर्वदा ज्ञान होता है यह सिद्ध होता है।

२५. एक कालमें कल्पित जो अनंत समय हैं, उसके कारण अनंत काल कहा जाता है। उसमेंसे, वर्तमानसे पहलेके जो समय व्यतीत हो गये हैं वे फिरसे आनेवाले नहीं हैं यह बात न्यायसंपन्न है। वे समय अनुभवगम्य किस तरह हो सकें यह विचारणीय है।

●

२६. अनुभवगम्य जो समय हुए हैं, उनका जो स्वरूप है वह, तथा उस स्वरूपके सिवाय उनका दूसरा स्वरूप नहीं होता, और इसी तरह अनादि-अनंत कालके दूसरे जो समय उनका भी वैसा ही स्वरूप है, ऐसा बुद्धिबलसे निर्णीत हुआ मालूम होता है।

२७. इस कालमें ज्ञान क्षीण हुआ है, और ज्ञानके क्षीण हो जानेसे अनेक मतभेद हो गये हैं। जैसे ज्ञान कम वैसे मतभेद अधिक, और जैसे ज्ञान अधिक वैसे मतभेद कम। जैसे कि जहाँ पैसा घटता है वहाँ क्लेश बढ़ता है, और जहाँ पैसा बढ़ता है वहाँ क्लेश कम होता है।

२८. ज्ञानके विना सम्यक्त्वका विचार नहीं सूझता। जिसके मनमें यह है कि मतभेद उत्पन्न नहीं करना, वह जो जो पढ़ता है, सुनता है वह वह उसके लिए फलित होता है। मतभेद आदिके कारणसे श्रुत-श्रवण आदि फलीभूत नहीं होते।

●

२९. जैसे रास्ते चलते हुए किसीका मुँडासा काँटोंमें उलझ गया और सफर अभी बाकी है, तो पहले भरसक काँटोंको दूर करना; परंतु काँटोंको दूर करना संभव न हो तो उसके लिए वहाँ रातभर रुक न जाना परन्तु मुँडासेको छोड़कर चल देना। उसी तरह जिनमार्गका स्वरूप तथा उसका रहस्य क्या है उसे समझे विना, अथवा उसका विचार किये विना छोटी छोटी शंकाओंके लिए बैठ रहकर आगे न बढ़ना यह उचित नहीं है। जिनमार्ग वस्तुतः देखनेसे तो जीवके लिए कर्मक्षय करनेका उपाय है, परन्तु जीव अपने मतमें फँस गया है।

●

३०. जीव पहले गुणस्थानसे निकलकर ग्रंथिभेद तक अनंत बार आया और वहाँसे वापस लौट गया है।

३१. जीवका ऐसा भाव रहता है कि सम्यक्त्व अनायास आता होगा, परंतु वह तो प्रयास (पुरुषार्थ) किये विना प्राप्त नहीं होता।

३२. कर्मप्रकृति १५८ है। सम्यक्त्वके आये विना उनमेंसे किसी भी प्रकृतिका समूल क्षय नहीं होता। अनादिसे जीव निर्जरा करता है, परन्तु मूलमेंसे एक भी प्रकृतिका क्षय नहीं होता। सम्यक्त्वमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह मूलसे प्रकृतिका क्षय करती है। वह इस तरह कि अमुक प्रकृति-का क्षय होनेके बाद वह आती है, और जीव बलवान हो तो धीरे धीरे सब प्रकृतियोंका क्षय कर देता है।

३३. सम्यक्त्व सभीको मालूम हो जाये ऐसी बात भी नहीं है, और यह बात भी नहीं है कि किसीको भी मालूम न हो। विचारवानको वह मालूम हो जाता है।

३४. जीवकी समझमें आ जाये तो समझनेके बाद सम्यक्त्व बहुत सुगम है; परन्तु समझनेके लिए जीवने आज तक सचमुच ध्यान ही नहीं दिया। जीवको सम्यक्त्व प्राप्त होनेका जब जब योग मिला है तब तब यथोचित ध्यान नहीं दिया, क्योंकि जीवको अनेक अंतराय हैं। कितने अंतराय तो प्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे जाननेमें नहीं आते। यदि जाननेवाला मिल जाये तो भी अंत-रायके योगसे ध्यानमें लेना नहीं बन पाता। कितने अंतराय तो अव्यक्त हैं कि जो ध्यानमें आने ही मुश्किल हैं।

३५. सम्यक्त्वका स्वरूप केवल वाणीयोगसे कहा नहीं जा सकता। यदि एकदम कहा जाये तो उसमें जीवको उलटा भाव भासित हो, तथा सम्यक्त्व पर उलटी रुचि होने लगे; परन्तु

वही स्वरूप यदि अनुक्रमसे ज्यों ज्यों दशा बढ़ती जाये त्यों त्यों कहा अथवा समझाया जाये तो वह समझमें आ सकता है।

३६. इस कालमें मोक्ष है यों दूसरे मार्गोंमें यद्यपि कहा जाता है। यद्यपि जैनमार्गमें इस कालमें अमुक क्षेत्रमें मोक्ष होना कहा नहीं जाता; फिर भी उसी क्षेत्रमें इस कालमें सम्यक्त्व हो सकता है, ऐसा कहा जाता है।

३७. ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों इस कालमें होते हैं। प्रयोजनभूत पदार्थोंका जानना 'ज्ञान', उसके कारण उनकी सुप्रतीति होना 'दर्शन' और उससे होनेवाली क्रिया 'चारित्र' है। यह चारित्र, इस कालमें जैनमार्गमें सम्यक्त्व होनेके सातवें गुणस्थानक तक प्राप्त कर सकना माना गया है।

३८. कोई सातवें तक पहुँच जाये तो भी बड़ी बात है।

३९. सातवें तक पहुँच जाये तो उसमें सम्यक्त्वका समावेश हो जाता है; और यदि वहाँ तक पहुँच जाये तो उसे विश्वास हो जाता है कि अगली दशा किस तरहकी है? परन्तु सातवें तक पहुँचे विना आगेकी बात ध्यानमें नहीं आ सकती।

०

४०. यदि बढ़ती हुई दशा होती हो तो उसका निषेध करनेकी जरूरत नहीं, और न हो तो माननेकी जरूरत नहीं। निषेध किये विना आगे बढ़ते जाना।

०

४१. सामायिक, छः आठ कोटिका विवाद छोड़ देनेके बाद नव कोटिके विना नहीं होता; और अंतमें नव कोटि वृत्तको भी छोड़े विना मोक्ष नहीं है।

४२. ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय किये विना सामायिक नहीं आता। जिसे सामायिक होता है उसकी दशा तो अद्भुत होती है। वहाँसे जीव छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानकमें जाता है, और वहाँसे दो घड़ीमें मोक्ष हो सकता है।

०

४३. मोक्षमार्ग तलवारकी धार जैसा है, अर्थात् वह एक धारा (एक प्रवाहरूप) है। तीनों कालमें एक धारासे अर्थात् एकसा रहे वही मोक्ष मार्ग है,—वहनेमें जो खंडित नहीं वही मोक्ष-मार्ग है।

०

४४. पहले दो बार कहा गया है, फिर भी यह तीसरी बार कहा जाता है कि कभी भी बादर और बाह्यक्रियाका निषेध नहीं किया गया है; क्योंकि हमारी आत्मामें वैसा भाव कभी स्वप्नमें भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

४५. रूढिवाली गाँठ, मिथ्यात्व अथवा कषायका सूचन करनेवाली क्रियाके संबंध कदाचित् किसी प्रसंगपर कुछ कहा गया हो, तो वहाँ क्रियाके निषेधके लिए तो कहा ही नहीं गया हो। फिर भी कहनेसे दूसरी तरह समझमें आया हो, तो उसमें समझनेवालेकी अपनी भूल हुई है, ऐसा समझना है।

४६. जिसने कषाय भावका छेदन किया है वह ऐसा कभी भी नहीं करता कि जिससे कषायका सेवन हो।

४७. जब तक हमारी तरफसे ऐसा नहीं कहा जाता कि अमुक क्रिया करनी तब तक ऐसा समझना कि वह सकारण है; और उससे यह सिद्ध नहीं होता कि क्रिया न करना।

४८. यदि अभी यह कहा जाये कि अमुक क्रिया करना और बादमें देशकालके अनुसार उस क्रियाको दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो श्रोताके मनमें शंका लानेका कारण हो कि एक वक्त इस तरह कहा जाता था, और दूसरे वक्त इस तरह कहा जाता है; ऐसी शंकासे उसका श्रेय होनेके बदले अश्रेय हो जाये।

●

४९ बारहवें गुणस्थानकके अंतिम समय तक भी ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलना होता है। उसमें स्वच्छंदताका विलय होता है।

५०. स्वच्छंदसे निवृत्ति करनेसे वृत्तियाँ शांत नहीं होतीं, परन्तु उन्मत्त होती हैं, और इस लिए पतनका समय आ जाता है; और ज्यों ज्यों आगे जानेके बाद यदि पतन होता है तो त्यों त्यों उसे पछाड़ अधिक लगती है, अतः वह अधिक गहरा जाता है; अर्थात् पहलेमें जाकर पड़ता है। इतना ही नहीं परन्तु उसे जोरकी पछाड़से वहाँ अधिक समय तक पड़े रहना पड़ता है।

५१. अब भी शंका करना हो तो निश्चयसे श्रद्धा करे कि जीवसे लेकर मोक्ष तकके जो पाँच पद (जीव है, वह नित्य है, वह कर्मका कर्ता है, वह कर्मका भोक्ता है, मोक्ष है।) हैं, और मोक्षका उपाय भी है, उसमें कुछ भी असत्य नहीं है। ऐसा निर्णय करनेके बाद उसमें भी तो कभी शंका न करे; और इस प्रकार निर्णय हो जानेके बाद प्रायः शंका नहीं होती। यदि कदाचित् शंका हो तो वह देशशंका होती है, और उसका समाधान हो सकता है। परन्तु मूलमें अर्थात् जीवसे लेकर मोक्ष तक अथवा उसके उपायमें शंका हो तो वह देशशंका नहीं अपितु सर्वशंका है; और उस शंकासे प्रायः पतन होता है; और वह पतन इतने अधिक जोरमें होता है कि उसकी पछाड़ अत्यंत लगती है।

५२. यह श्रद्धा दो प्रकारसे है—एक 'ओघसे' और दूसरी 'विचारपूर्वक'।

●

५३. मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना जा सकता है उसमें अनुमान साथमें रहता है; परंतु उससे आगे, और अनुमानके बिना शुद्धरूपसे जानना यह मनःपर्याय ज्ञानका विषय है। अर्थात् मूलमें तो मति, श्रुत और मनःपर्यायज्ञान एक है; परंतु मनःपर्यायमें अनुमानके बिना मतिकी निर्मलतासे शुद्ध जाना जा सकता है।

५४. मतिकी निर्मलता संयमके बिना नहीं हो सकती। वृत्तिके निरोधसे संयम होता है, और उस संयमसे मतिकी शुद्धता होकर अनुमानके बिना शुद्ध पर्यायको जो जानना हो वह मनःपर्याय ज्ञान है।

५५. मतिज्ञान लिंग अर्थात् चिह्नसे जाना जा सकता है; और मनःपर्यायज्ञानमें लिंग अथवा चिह्नकी जरूरत नहीं रहती।

५६. मतिज्ञानसे जाननेमें अनुमानकी आवश्यकता रहती है, और उस अनुमानसे जाने हुएमें परिवर्तन भी होता है। जब कि मनःपर्यायज्ञानमें वैसा परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि उसमें अनुमानकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। शरीरकी चेष्टासे क्रोध आदि परखे जा सकते हैं, परंतु उनके (क्रोध आदिके) मूलस्वरूपको न दिखानेके लिए शरीरकी विपरीत चेष्टा करनेमें आयी हो

तो उस परसे परख सकता—परीक्षा करना दुष्कर है। तथा शरीरकी चेष्टा किसी भी आकारमें न की गयी हो फिर भी चेष्टाको बिलकुल देखे विना उनका (क्रोध आदिका) जानना अति दुष्कर है, फिर भी उन्हें साक्षात् जान सकना मनःपर्यायज्ञान है।

●

५७. लोगोंमें ओघसंज्ञासे यह माना जाता था कि 'हमें सम्यक्त्व है कि नहीं इसे केवली किस तरह जाने, निश्चय सम्यक्त्व है यह वात तो केवलीगम्य है।' प्रचलितरूढिके अनुसार यह माना जाता था; परंतु बनारसीदास और उस दशाके अन्य पुरुष ऐसा कहते हैं—'हमें सम्यक्त्व हुआ है इसे निश्चयसे कहते हैं।'

५८. शास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि 'निश्चय सम्यक्त्व है कि नहीं इस केवली जाने' यह वात अमुक नयसे सत्य है; तथा केवलज्ञानीके सिवाय भी वनारसीदास आदिने सामान्यतः ऐसा कहा है—'हमें सम्यक्त्व है, अथवा प्राप्त हुआ है', यह वात भी सत्य है, कारण कि 'निश्चयसम्यक्त्व है' उसे प्रत्येक रहस्यके पर्यायसहित केवली जान सकता है, अथवा प्रत्येक प्रयोजनभूत पदार्थके हेतु-अहेतुको संपूर्णतासे केवलीके सिवाय दूसरा कोई नहीं जान सकता, वहाँ निश्चयसम्यक्त्व केवलीगम्य कहा है। उस प्रयोजनभूत पदार्थके सामान्यरूपसे अथवा स्थूलरूपसे हेतु-अहेतुका समझ सकना संभव है, और इस कारणसे महान बनारसीदास आदिने अपनेको सम्यक्त्व है ऐसा कहा है।

५९. समयसार नाटकमें महान बनारसीदासकी बनायी हुई कवितामें 'हमारे हृदयमें बोध-बीज हुआ है,' ऐसा कहा है; अर्थात् यह कहा है—'हमें सम्यक्त्व है।'

६०. सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें मुक्ति होती है, और यदि वहाँसे वह गिरे तो अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल समझा जाये। अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल माना जाये तो भी वह सादि-सांतके भंगमें आ जाता है, यह बात निःशंक है।

६१. सम्यक्त्वके लक्षण—

(१) कषायकी मंदता अथवा उसके रसकी मंदता।

(२) मोक्षमार्गकी ओर वृत्ति।

(३) संसारका बंधनरूप लगना अथवा संसार खारा या जहरसा लगना।

(४) सब प्राणियोंपर दयाभाव, उसमें विशेषतः अपनी आत्माके प्रति दयाभाव।

(५) सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुपर आस्था।

○

६२. आत्मज्ञान अथवा आत्मासे भिन्न कर्मस्वरूप, अथवा पुद्गलास्तिकाय आदिका, भिन्न भिन्न प्रकारसे भिन्न भिन्न प्रसंगमें, अति सूक्ष्मसे सूक्ष्म और अति विस्तृत जो स्वरूप ज्ञानी द्वारा प्रकाशित हुआ है, उसमें कोई हेतु समाता है या नहीं? और यदि समाता है तो क्या? इस विषयमें विचार करनेसे उसमें सात कारण समाये हुए मालूम होते हैं—सद्भूतार्थप्रकाश, उसका विचार, उसकी प्रतीति, जीवसंरक्षण इत्यादि। उन सात हेतुओंका फल मोक्षकी प्राप्ति होना है। तथा मोक्षकी प्राप्तिका जो मार्ग है वह इन हेतुओंसे सुप्रतीत होता है।

○

६३. कर्म अनंत प्रकारके हैं। उनमें मुख्य १५८ हैं। उनमें मुख्य आठ कर्म प्रकृतियोंका वर्णन

किया गया है। इन सब कर्मोंमें मुख्य, प्रधान मोहनीय है जिसकी सामर्थ्य दूसरोंकी अपेक्षा अत्यंत है, और उसकी स्थिति भी सबकी अपेक्षा अधिक है।

६४. आठ कर्मोंमें चार कर्म घनघाती हैं। उन चारमें भी मोहनीय अत्यंत प्रबलतासे घनघाती है। मोहनीयकर्मके सिवाय सात कर्म हैं, वे मोहनीयकर्मके प्रतापसे प्रबल होते हैं। यदि मोहनीय दूर हो जाये तो दूसरे कर्म निर्बल हो जाते हैं। मोहनीय दूर होनेसे दूसरोंका पैर टिक नहीं सकता।

६५. कर्मबंधके चार प्रकार हैं—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और रसबंध। उनमें प्रदेश स्थिति और रस इन तीन बंधोंके जोड़का नाम प्रकृति रखा गया है। आत्माके प्रदेशोंके साथ पुद्गलका अभाव अर्थात् जोड़ प्रदेशबंध होता है। वहाँ उसकी प्रबलता नहीं होती; उसे जीव हटाना चाहे तो हट सकता है। मोहके कारण स्थिति और रसका बंध होता है, और उस स्थिति तथा रसका जो बंध है, उसे जीव बदलना चाहे तो उसका बदल सकना अशक्य ही है। मोहके कारण इस स्थिति और रसकी ऐसी प्रबलता है।

●

६६. सम्यक्त्व अन्योक्तिसे अपना दूषण बताता है :—

'मुझे ग्रहण करनेसे यदि ग्रहण करनेवालेकी इच्छा न हो तो भी मुझे उसे बरबस मोक्ष ले जाना पड़ता है। इसलिए मुझे ग्रहण करनेसे पहले यह विचार करे कि मोक्ष जानेकी इच्छा बदलनी होगी तो भी वह कुछ काम आनेवाली नहीं। क्योंकि मुझे ग्रहण करनेके बाद नौवें समयमें तो मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही चाहिए। ग्रहण करनेवाला कदाचित् शिथिल हो जाये तो भी हो सके तो उसी भवमें और नहीं तो अधिकसे अधिक पंद्रह भवोंमें उसे मोक्षमें पहुँचाना चाहिए। कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे, अथवा प्रबलसे प्रबल मोहको धारण करे, तो भी अर्धपुद्गलपरावर्तनके भीतर मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही चाहिए यह मेरी प्रतिज्ञा है!' अर्थात् सम्यक्त्वकी महत्ता बतायी है।

●

६७. सम्यक्त्व केवलज्ञानसे कहता है:—

'मैं इतना कार्य कर सकता हूँ कि जीवको मोक्षमें पहुँचा दूँ, और तू भी यही कार्य करता है, तू उससे कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता, तो फिर तेरी अपेक्षा मुझमें न्यूनता किस बातकी? इतना ही नहीं अपितु तुझे प्राप्त करनेमें मेरी जरूरत रहती है।'

६८. ग्रंथ आदिका पढ़ना शुरू करते हुए प्रथम मंगलाचरण करें, और उस ग्रंथको फिरसे पढ़ते हुए अथवा चाहे जिस भागसे उसका पढ़ना शुरू करते हुए पहले मंगलाचरण करें, ऐसी शास्त्रपद्धति है। इसका मुख्य कारण यह कि बाह्यवृत्तिसे आत्मवृत्तिकी ओर अभिमुख होना है, अतः वैसा करनेके लिए पहले शांति लानेकी जरूरत है, और तदनुसार प्रथम मंगलाचरण करनेसे शांति आती है। पढ़नेका जो अनुक्रम हो उसे यथासंभव कभी नहीं तोड़ना चाहिए। इसमें ज्ञानीका दृष्टांत लेनेकी जरूरत नहीं है।

●

६९. आत्मानुभवगम्य अथवा आत्मजनित सुख और मोक्षसुख दोनों एक ही हैं। मात्र शब्द भिन्न हैं।

७०. शरीरके कारण अथवा दूसरोंके शरीरकी अपेक्षा उनका शरीर विशेषतावाला देखनेमें आता है, कुछ इसलिए केवलज्ञानी केवलज्ञानी नहीं कहे जाते। और फिर यह भी नहीं है कि वह केवलज्ञान शरीरसे उत्पन्न हुआ है; वह तो आत्मा द्वारा प्रगट किया गया है; इस कारण उसकी शरीरसे विशेषता समझनेका कोई हेतु नहीं है, और विशेषतावाला शरीर लोगोंके देखनेमें नहीं आता इसलिए लोग उसका माहात्म्य बहुत नहीं जान सकते।

७१. जो जीव मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानको अंशसे भी नहीं जानता वह केवलज्ञानके स्वरूपको जानना चाहे तो यह किस तरह हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता।

७२. मति स्फुरायमान होकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है—वह 'मतिज्ञान' है; और श्रवण होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'श्रुतज्ञान' है, और उस श्रुतज्ञानका मनन होकर परिणमित होता है तो फिर वह मतिज्ञान हो जाता है, अथवा उस श्रुतज्ञानके परिणमित होनेके बाद दूसरेको कहा जाये तब वही कहनेवालेमें मतिज्ञान और सुननेवालेके लिए श्रुतज्ञान होता है; तथा श्रुतज्ञान मतिके विना नहीं हो सकता और वही मतिज्ञान पूर्वमें श्रुत होना चाहिए। इस तरह एक दूसरेका कार्यकारण संबंध है। उनके अनेक भेद हैं, उन सब भेदोंको जैसे चाहिए वैसे हेतुसहित नहीं जाना है। हेतुसहित जानना, समझना दुष्कर है। और उसके बाद आगे बढ़नेसे अवधिज्ञान आता है, जिसके भी अनेक भेद हैं, और सभी रूपी पदार्थोंको जानना जिसका विषय है। उसे, और तदनुसार ही मनःपर्यायका विषय है, उन सबको किसी अंशमें भी जानने-समझनेकी जिन्हें शक्ति नहीं है उन मनुष्योंसे, पर और अरूपी पदार्थोंके समस्त भावोंको जाननेवाले 'केवलज्ञान'के विषयमें जानने-समझनेका प्रश्न करें तो वे किस तरह समझ सकें ? अर्थात् न समझ सकें।

●

७३. ज्ञानीके मार्गमें चलनेवालेको कर्मबंध नहीं है, तथा उस ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको भी कर्मबंध नहीं हैं, क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिका वहाँ अभाव है; और उस अभावके कारण कर्मबंध नहीं होता। तो भी 'ईरियापथ' में चलते हुए 'ईरियापथ'की क्रिया ज्ञानीको लगती है, और ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको भी वह क्रिया लगती है।

●

७४. जिस विद्यासे जीव कर्म बाँधता है उसी विद्यासे जीव कर्म छोड़ता है।

७५. उसी विद्यासे सांसारिक हेतुके प्रयोजनसे विचार करनेसे जीव कर्मबंध करता , और उसी विद्यासे द्रव्यका स्वरूप समझनेके प्रयोजनसे विचार करता है तो कर्म छोड़ता है।

●

७६. 'क्षेत्रसमास'में क्षेत्रसंबंध आदिकी जो जो बातें हैं, उन्हें अनुमानसे मानना है। उनमें अनुभव नहीं होता; परन्तु उन सबका वर्णन कुछ कारणोंसे किया जाता है। उनकी श्रद्धा विश्वास-पूर्वक रखना है। मूल श्रद्धामें अंतर हो जानेसे आगे समझानेमें अंत तक भूल चली आती है। जैसे गणितमें पहले भूल हो गयी तो फिर वह भूल अंत तक चली आती है।

●

७७. ज्ञान पाँच प्रकारका है। वह ज्ञान यदि सम्यक्त्वके विना मिथ्यात्वसहित हो तो 'मति अज्ञान', 'श्रुत अज्ञान' और 'अवधि अज्ञान' कहा जाता है। उन्हें मिलाकर ज्ञानके कुल आठ प्रकार है।

●

७८. मति, श्रुत और अवधि मिथ्यात्वसहित हों तो वे अज्ञान हैं, और सम्यक्त्वसहित हों तो 'ज्ञान' हैं। इसके सिवाय और अंतर नहीं है।

•

७९. जीव रागादि सहित कुछ भी प्रवृत्ति करे तो उसका नाम 'कर्म' है, शुभ अथवा अशुभ अध्यवसायवाला परिणमन 'कर्म' कहा जाता है; और शुद्ध अध्यवसायवाला परिणमन कर्म नहीं परन्तु 'निर्जरा' है।

•

८०. अमुक आचार्य यों कहते हैं कि दिगम्बर आचार्यने ऐसा माना है कि 'जीवका मोक्ष नहीं होता, परन्तु मोक्ष समझमें आता है।' वह इस तरह कि जीव शुद्ध स्वरूपवाला है, उसे बंध ही नहीं हुआ तो फिर मोक्ष होना कहाँ रहता है? परन्तु उसने यह मान रखा है, 'मैं बँधा हुआ हूँ', यह मान्यता विचार द्वारा समझमें आती है कि मुझे बंधन नहीं है, मात्र मान लिया था; वह मान्यता शुद्ध स्वरूप समझमें आनेसे नहीं रहती; अर्थात् मोक्ष समझमें आ जाता है।' यह बात 'शुद्धनय' अथवा 'निश्चयनय'की है। पर्यायार्थिक-नयवाले इस नयको पकड़ कर आचरण करें तो उन्हें भटक भटक कर मरना है।

•

८१. ठाणांगसूत्रमें कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये पदार्थ सद्भाव हैं, अर्थात् इनका अस्तित्व विद्यमान है; यह बात नहीं है कि कल्पित किये गये हैं।

•

८२. वेदान्त शुद्धनयाभासी है। शुद्धनयाभासमतवाला 'निश्चयनय' के सिवाय दूसरे नयको अर्थात् 'व्यवहारनय' को ग्रहण नहीं करते। जिनदर्शन अनेकांतिक है, अर्थात् वह स्याद्वादी है।

•

८३. कोई नव तत्त्वकी, कोई सात तत्त्वकी, कोई षड्द्रव्यकी, कोई षट् पदकी, कोई दो राशिकी बात करते हैं; परन्तु यह सब जीव, अजीव ऐसी दो राशि अथवा ये दो तत्त्व अर्थात् द्रव्यमें समा जाते हैं।

•

८४. निगोदमें अनंत जीव रहते हैं, इस बातमें और कंदमूलमें सूईकी नोक जितने सूक्ष्म भागमें अनंत जीव रहते हैं, इस बातमें आशंका करनेकी जरूरत नहीं है। ज्ञानीने जैसा स्वरूप देखा है वैसा ही कहा है। यह जीव जो स्थूल देहप्रमाण हो रहा है और जिसे अपने स्वरूपका अभी ज्ञान नहीं हुआ उसे ऐसी सूक्ष्म बात समझमें नहीं आती यह बात सच्ची है; परन्तु उसके लिए आशंका करनेका कारण नहीं है। वह इस तरह:—

चौमासके समय किसी गाँवके सीमांतकी जाँच करें तो बहुतसी हरी वनस्पति देखी जाती है, और उस थोड़ी हरी वनस्पतिमें अनंत जीव हैं, तो फिर ऐसे अनेक गाँवोंका विचार करें, तो जीवोंकी संख्याके परिमाणका अनुभव न होनेपर भी, उसका बुद्धिबलसे विचार करनेमें अनंतताकी संभावना हो सकती है। कंदमूल आदि अनंतताका संभव है। दूसरी हरी वनस्पतिमें अनंतताका संभव नहीं है; परन्तु कंदमूलमें अनंतता घटित होती है। कंदमूलके अमुक

थोड़े भागको यदि बोया जाये तो वह उगता है; इसलिए भी उसमें जीवोंकी अधिकता घटित होती है; तथापि यदि प्रतीति न होती हो तो आत्मानुभव करें; आत्मानुभव होनेसे प्रतीति होती है। जब तक आत्मानुभव नहीं होता, तब तक उस प्रतीतिका होना मुश्किल है, इसलिए यदि उसकी प्रतीति करनी हो तो पहले आत्माके अनुभवी बनें।

●

८५. जब तक ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम नहीं हुआ, तब तक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेकी इच्छा रखनेवाला उसकी प्रतीति रखकर आज्ञानुसार वर्तन करे।

●

८६. जीवमें संकोच-विस्तारकी शक्तिरूपगुण रहता है, इस कारणसे वह छोटे-बड़े शरीरमें देहप्रमाण स्थिति करके रहता है। इसी कारणसे जहाँ थोड़े अवकाशमें भी वह विशेषरूपसे संकोचता कर सकता है वहाँ जीव वैसा करके रहे हुए हैं।

८७. ज्यों ज्यों जीव कर्मपुद्गल अधिक ग्रहण करता है, त्यों त्यों वह अधिक निविड़ होकर नाना देहोंमें रहता है।

८८. पदार्थमें अचिंत्यशक्ति है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने धर्मका त्याग नहीं करता। एक जीवने परमाणुरूपसे ग्रहण किये हुए कर्म अनंत हैं। ऐसे अनंत जीव, जिनके पास कर्मरूपी परमाणु अनंतानंत है, वे सब निगोदाश्रयी थोड़े अवकाशमें रहे हुए हैं, यह बात भी शंका करनेयोग्य नहीं है। साधारण गिनतीके अनुसार एक परमाणु एक आकाशप्रदेशका अवगाहन करता है, परंतु उसमें अचिंत्य सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यधर्मसे थोड़े आकाशमें अनंत परमाणु रहते हैं। जैसे किसी दर्पणके सन्मुख उससे बहुत बड़ी वस्तु रखी जाये तो भी उतना आकार उसमें समा जाता है। आँख एक छोटी वस्तु है, फिर भी उस छोटीसी वस्तुमें सूर्य, चंद्र आदि बड़े पदार्थोंका स्वरूप देखा जाता है। उसी तरह आकाश जो बहुत बड़ा क्षेत्र है वह भी आँखमें दृश्यरूपसे समा जाता है। तथा आँख जैसी छोटीसी वस्तु बड़े बड़े बहुतसे घरोंको देख सकती है। यदि थोड़े आकाशमें अनंत परमाणु अचिंत्य सामर्थ्यके कारण न समा सकते हों तो फिर आँखसे अपने आकार जितनी वस्तु ही देखी जा सके, परंतु अधिक बड़ा भाग न देखा जा सके; अथवा दर्पणमें अनेक घर आदि बड़ी वस्तुओंका प्रतिबिंब न पड़े। इसी कारणसे परमाणुकी भी अचिंत्य सामर्थ्य है और उसके कारण थोड़े आकाशमें अनंत परमाणु समा कर रह सकते हैं।

८९. इस तरह परमाणु आदि द्रव्योंका सूक्ष्मभावसे निरूपण किया गया है, वह यद्यपि परभावका विवेचन है, तो भी वह सकारण है, और सहेतु किया गया है।

९०. चित्त स्थिर करनेके लिए, अथवा वृत्तिको बाहर न जाने देकर अंतरंगमें ले जानेके लिए परद्रव्यके स्वरूपका समझना काम आता है।

९१. परद्रव्यके स्वरूपका विचार करनेसे वृत्ति बाहर न जाकर अंतरंगमें रहती है, और स्वरूप समझनेके बाद उनसे होनेवाले ज्ञानसे वह उसका विषय हो जानेसे, अथवा अमुक अंशमें समझनेसे उतना उसका विषय हो रहनेसे, वृत्ति सीधे बाहर निकलकर पर पदार्थोंमें रमण करनेके लिए दौड़ती है; तब परद्रव्य कि जिसका ज्ञान हुआ है उसे सूक्ष्मभावसे फिरसे समझने लगनेसे वृत्तिको फिर अंतरंगमें लाना पड़ता है; और इस तरह उसे अंतरंगमें लानेके बाद विशेषरूपसे स्वरूप समझमें आनेसे ज्ञानसे उतना उसका विषय हो रहनेसे फिर वृत्ति बाहर दौड़ने लगती है;

तब जितना समझा हो उससे विशेष सूक्ष्मभावसे पुनः विचार करने लगनेसे वृत्ति फिर अंतरंगमें प्रेरित होती है। यों करते करते वृत्तिको वारंवार अंतरंगमें लाकर शान्त किया जाता है, और इस तरह वृत्तिको अंतरंगमें लाते लाते कदाचित् आत्माका अनुभव भी हो जाता है, और जब इस तरह हो जाता है तब वृत्ति बाहर नहीं जाती, परन्तु आत्मामें शुद्ध परिणतिरूप होकर परिणमन करती है। और तदनुसार परिणमन करनेसे बाह्य पदार्थका दर्शन सहज हो जाता है। इन कारणोंसे पर-द्रव्यका विवेचन उपयोगी अथवा हेतुरूप होता है।

९२. जीव, स्वयंको जो अल्प ज्ञान होता है उससे बड़े ज्ञेयपदार्थके स्वरूपको जानना चाहता है, यह कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। जब जीव ज्ञेयपदार्थके स्वरूपको नहीं जान सकता, तब वह अपनी अल्पज्ञतासे समझमें न आनेका कारण तो मानता नहीं, प्रत्युत बड़े ज्ञेयपदार्थमें दोष निकालता है, परन्तु सीधी तरह अपनी अल्पज्ञतासे समझमें नहीं आनेके कारणको नहीं मानता।

९३. जीव जब अपने ही स्वरूपको नहीं जान सकता, तो फिर परके स्वरूपको जानना चाहे तो उसे वह किस तरह जान-समझ सकता है? और जब तक 'वह समझमें नहीं आता तब तक उसीमें उलझा रहकर उधेड़-बुन किया करता है। श्रेयस्कर निजस्वरूपका ज्ञान जब तक प्रगट नहीं किया, तब तक परद्रव्यका चाहे जितना ज्ञान प्राप्त कर ले तो वह किसी कामका नहीं। इसलिए उत्तम मार्ग यह है कि दूसरी सब बातें छोड़कर अपनी आत्माको पहचाननेका प्रयत्न करे। जो सारभूत है उसे देखनेके लिए 'यह आत्मा सद्भाववाली है', 'वह कर्मका कर्त्ता है', और उससे (कर्मसे) उसे बंध होता है, 'वह बंध किस तरह होता है?' 'वह बंध किस तरह निवृत्त होता है?' और 'उस बंधसे निवृत्त होना मोक्ष है', इत्यादि संबंधी वारंवार और प्रत्येक क्षणमें विचार करना योग्य है; और इस तरह वारंवार विचार करनेसे विचार वृद्धिको पाता है, और उसके कारण निजस्वरूपका अंश-अंशसे अनुभव होने लगता है। ज्यों ज्यों निजस्वरूपका अनुभव होता है, त्यों त्यों द्रव्यकी अचिंत्य सामर्थ्य जीवके अनुभवमें आती जाती है। जिससे उपर्युक्त शंकाएँ (जैसे कि थोड़े आकाशमें अनंत पुद्गल-परमाणुओंका समा जाना अथवा अनंत पुद्गल-परमाणुओंका समाना) करनेका अवकाश नहीं रहता, और उनकी यथार्थता समझमें आ जाती है। यह होनेपर यदि वह माननेमें न आता हो अथवा शंका करनेका कारण रहता हो, तो ज्ञानी कहते हैं कि उपर्युक्त पुरुषार्थ करनेसे अनुभव सिद्ध होगा।

●

९४. जीव जो कर्मबंध करता है वह देहस्थित आकाशमें रहनेवाले सूक्ष्म पुद्गलोंमेंसे ग्रहण करता है। वह बाहरसे लेकर कर्म नहीं बाँधता।

९५. आकाशमें चौदह राजलोकमें पुद्गल-परमाणु सदा भरपूर हैं, उसी तरह शरीरमें रहने-वाले आकाशमें भी सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओंका समूह भरपूर है। जीव वहाँसे सूक्ष्म पुद्गलोंको ग्रहण करके कर्मबंध करता है।

९६. ऐसी शंका की जाये कि शरीरसे दूर-बहुत दूर रहनेवाले किसी पदार्थके प्रति जीव रागद्वेष करे तो वह वहाँके पुद्गल ग्रहण करके कर्मबंध करता है कि नहीं? इसका समाधान यह है कि वह रागद्वेषरूप परिणति तो आत्माकी विभावरूप परिणति है, और उस परिणतिके करने-वाली आत्मा है और वह शरीरमें रहकर करती है, इसलिए शरीरमें रहनेवाली जो आत्मा है, वह

जिस क्षेत्रमें है उस क्षेत्रमें रहे हुए पुद्गल-परमाणुओंको ग्रहण करके बाँधती है। वह उन्हें ग्रहण करनेके लिए बाहर नहीं जाती।

•

९७ यश, अपयश, कीर्ति जो नामकर्म है वह नामकर्म संबंध जिस शरीरको लेकर है, वह शरीर जहाँ तक रहता है वहाँ तक चलता है, वहाँसे आगे नहीं चलता। जीव जब सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है, अथवा विरति प्राप्त करता है तब वह संबंध नहीं रहता, सिद्धावस्थामें एक आत्माके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, और नामकर्म तो एक तरहका कर्म है, तो फिर वहाँ यश-अपयश आदिका संबंध किस तरह घट सकता है? अविरतिपनासे जो कुछ पाप क्रिया होती है वह पाप चला आता है।

९८. 'विरति' अर्थात् 'छुड़ाना', अथवा रतिसे विरुद्ध, अर्थात् रति न होना। अविरतिमें तीन शब्द है—अ + वि + रति = अ = नहीं + वि = विरुद्ध + रति = प्रीति, अर्थात् जो प्रीतिसे विरुद्ध नहीं है वह अविरति है।

९९. पाँच इन्द्रिय, छठा मन तथा पाँच स्थावर जीव, और एक त्रस जीव ये सब मिलकर उसके कुल बारह प्रकार हैं।

१००. ऐसा सिद्धांत है कि कृतिके बिना जीवको पाप नहीं लगता। उस कृतिकी जब तक विरति नहीं की तब तक अविरतिपनाका पाप लगता है। समस्त चौदह राजलोकमेंसे उसकी पाप-क्रिया चली आती है।

१०१. कोई जीव किसी पदार्थकी योजना कर मर जाये, और उस पदार्थकी योजना इस प्रकार की हो कि योजित पदार्थ जब तक रहे, तब तक उससे पापक्रिया हुआ करे, तो तब तक उस जीवको अविरतिपनाकी पापक्रिया चलती रहती है। यद्यपि जीवने दूसरे पर्यायको धारण करनेसे पहलेके पर्यायके समय जिस जिस पदार्थकी योजना की है उसकी उसे खबर नहीं है तो भी, अबके पर्यायके समय वह जीव उस योजित पदार्थकी क्रिया नहीं करता तो भी, जब तक उसका मोहभाव विरतिपनको प्राप्त नहीं हुआ तब तक, अव्यक्तरूपसे उसकी क्रिया चली आती है।

१०२. वर्तमान पर्यायके समय उसकी अज्ञानताका लाभ उसे नहीं मिल सकता। उस जीवको समझना चाहिए था कि इस पदार्थसे होनेवाला प्रयोग जब तक कायम रहेगा तब तक उसकी पापक्रिया चालू रहेगी। उस योजित पदार्थसे अव्यक्तरूपसे भी होनेवाली (लगनेवाली) क्रियासे मुक्त होना हो तो मोहभाव छोड़े। मोह छोड़नेसे अर्थात् विरतिपन करनेसे पापक्रिया बंध होती है। उस विरतिपनेको उसी पर्यायमें अपनाया जाये, अर्थात् योजित पदार्थके ही भवमें अपनाया जाये तो वह पापक्रिया, जबसे विरतिपना ग्रहण करे तबसे आती हुई रुक जाये। यहाँ जो पापक्रिया लगती है वह चारित्रमोहनीयके कारण आती है। वह मोहभावका क्षय हो जानेसे आती हुई रुक जाती है।

१०३. क्रिया दो प्रकारसे होती है—एक व्यक्त अर्थात् प्रगटरूपसे और दूसरी अव्यक्त अर्थात् अप्रगटरूपसे। अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रिया पूरी तरह जानी नहीं जा सकती, इसलिए नहीं होती ऐसी बात तो नहीं है।

१०४. पानीमें लहरें-हिलोरें स्पष्टतासे मालूम होती हैं; परन्तु उस पानीमें गंधक या कस्तूरी

डाल दी हो, और वह पानी शांत स्थितिमें हो तो भी उसमें गंधक या कस्तूरीकी क्रिया है वह यद्यपि दीखती नहीं, तथापि उसमें अव्यक्तरूपसे रही हुई है, इस तरह अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रियामें श्रद्धा न की जाये और मात्र व्यक्तरूप क्रियामें श्रद्धा की जाये, तो एक ज्ञानी जिसमें अविरतिरूप क्रिया नहीं होती वह भाव दूसरा सोया हुआ मनुष्य जो व्यक्तरूपसे कुछ भी क्रिया नहीं करता वह भाव, दोनों एकसा है, परन्तु वस्तुतः ऐसी वात है नहीं। सोये हुए मनुष्यको अव्यक्तरूपसे क्रिया लगती है। इसी तरह जो मनुष्य (जो जीव) चारित्रमोहनीय नामकी निद्रामें सोता है उसे अव्यक्त क्रिया नहीं लगती ऐसा नहीं है। यदि मोहभावका क्षय हो जाये तो ही अविरतिरूप चारित्रमोहनीयकी क्रिया बंद होती है, उससे पहले बंद नहीं होती।

क्रियासे होनेवाला बंध मुख्यतः पाँच प्रकारका है—

१ मिथ्यात्व	२ अविरति	३ कषाय	४ प्रमाद	५ योग
५	१२	२५		१५

१०५. जब तक मिथ्यात्वका अस्तित्व हो तब तक अविरतिपना निर्मूल नहीं होता—नष्ट नहीं होता, परन्तु यदि मिथ्यात्व दूर हो जाये तो अविरतिपना दूर होना चाहिए, यह निःसंदेह है; क्योंकि मिथ्यात्वसहित विरतिपनेको अपनानेसे मोहभाव नहीं जाता। जब तक मोहभाव कायम है तब तक अभ्यन्तर विरतिपन नहीं होता, और मुख्यतासे रहे हुए मोहभावका नाश हो जानेसे अभ्यन्तर अविरतिपन नहीं रहता, और यदि बाह्य विरतिपन अपनाया न गया हो तो भी यदि अभ्यंतर हो तो सहज ही बाहर आ जाता है।

१०६. अभ्यंतर विरतिपन प्राप्त होनेके पश्चात् और उदयाधीन बाह्य विरतिपन न अपना सके तो भी, जब उदयकाल सम्पूर्ण हो जाए तब सहज ही विरतिपन रहता है, क्योंकि अभ्यंतर विरतिपन पहलेसे ही प्राप्त हुआ है, जिससे अब अविरतिपन है नहीं, कि वह अविरतिपनकी क्रिया कर सके।

१०७. मोहभावके कारण ही मिथ्यात्व है। मोहभावका क्षय हो जानेसे मिथ्यात्वका प्रतिपक्ष सम्यक्त्व प्रगट होता है। इसलिए वहाँ मोहभाव कैसे हो सके ? अर्थात् नहीं होता।

१०८. यदि ऐसी शंका की जाये कि पाँच इंद्रियाँ और छठा मन, तथा पाँच स्थावरकाय और छठी त्रस काय, यों बारह प्रकारसे विरति अपनायी जाये तो लोकमें रहे हुए जीव और अजीव नामकी राशिके जो दो समूह हैं उनमेंसे पाँच स्थावरकाय और छठी त्रसकाय मिलकर जीवराशिकी विरति हुई; परन्तु लोकमें भटकानेवाली अजीवराशि जो जीवसे भिन्न है, उसकी प्रीतिकी निवृत्ति इसमें नहीं आती, तब तक विरति किस तरह समझी जा सकती है? इसका समाधान यह है कि पाँच इंद्रियों और छठे मनसे जो विरति करना है, उसके विरतिपनमें अजीवराशिकी विरति आ जाती है।

०

१०९. पूर्वकालमें इस जीवने ज्ञानीकी वाणी कभी निश्चयरूपसे नहीं सुनी अथवा वह वाणी सम्यक् प्रकारसे शिरोधार्य नहीं की, ऐसा सर्वदर्शीने कहा है।

११०. सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट यथोक्त संयमको पालते हुए अर्थात् सद्गुरुकी आज्ञासे चलते हुए पापसे विरति होती है, और अभेद्य संसारसमुद्र तरा जाता है।

०

१११. वस्तुस्वरूप कितने स्थानकोंमें आज्ञासे प्रतिष्ठित है, और कितने स्थानकोमें सद् विचारपूर्वक प्रतिष्ठित है, परन्तु इस दुःषमकालकी इतनी अधिक प्रवलता है कि इसके वादके क्षणमें भी विचारपूर्वक प्रतिष्ठितके लिए जीव किस तरह प्रवृत्ति करेगा यह जाननेकी इस कालमें शक्ति मालूम नहीं होती, इसलिए वहाँ आज्ञापूर्वक प्रतिष्ठित रहना ही योग्य है।

११२. ज्ञानीने कहा है कि 'समझें! क्यों नहीं समझते ? फिर ऐसा अवसर आना दुर्लभ है!'

●

११३. लोकमें जो पदार्थ हैं उनके धर्मोंका, देवाधिदेवने अपने ज्ञानमें भासनेसे यथावत् वर्णन किया है। पदार्थ उन धर्मोंसे बाहर जाकर प्रवृत्ति नहीं करते; अर्थात् ज्ञानी महाराजने उन्हें जिस तरह प्रकाशित किया है उनसे भिन्न प्रकारसे वे प्रवर्तन नहीं करते। इसलिए ऐसा कहा है कि वे ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार प्रवर्तन करते हैं। क्योंकि ज्ञानीने पदार्थोंके धर्म यथावत् कहे हैं।

●

११४. काल मूल द्रव्य नहीं, औपचारिक द्रव्य है; और वह जीव तथा अजीव (अजीवमें—मुख्यतः पुद्गलास्तिकायमें—विशेषरूप समझमें आता है) मेंसे उत्पन्न हुआ है; अथवा जीवाजीवकी पर्यायावस्था काल है। प्रत्येक द्रव्यके अनंत धर्म हैं। उनमें ऊर्ध्वप्रचय और तिर्यक्प्रचय ऐसे दो धर्म हैं; और कालमें तिर्यक्प्रचय धर्म नहीं, मात्र ऊर्ध्वप्रचय धर्म है।

११५. ऊर्ध्वप्रचयसे पदार्थमें जिस धर्मका उद्भव होता है उस धर्मका तिर्यक्प्रचयसे फिर उसमें समावेश हो जाता है। कालके समयका तिर्यक्प्रचय नहीं है, इसलिए जो समय चला गया वह फिर पीछे नहीं आता।

११६. दिगम्बर मतके अनुसार 'कालद्रव्य' के लोकमें असंख्यात अणु हैं।

११७. प्रत्येक द्रव्यके अनंत धर्म हैं। उनमें कितने ही व्यक्त हैं, कितने अव्यक्त हैं, कितने मुख्य हैं, कितने सामान्य हैं, कितने विशेष हैं।

११८. असंख्यातको असंख्यातसे गुना करनेसे भी असंख्यात होता है, अर्थात् असंख्यातके असंख्यात भेद हैं।

११९. एक अंगुलके असंख्यात भाग-अंश-प्रदेश, वे एक अंगुलमें असंख्यात हैं। लोकके भी असंख्यात प्रदेश हैं। चाहे जिस दिशाकी समश्रेणिसे असंख्यात होते हैं। इस तरह एकके वाद एक, दूसरी, तीसरी समश्रेणिका योग करनेसे जो योगफल आता है वह एक गुना, दो गुना, तीन गुना, चार गुना होता है परन्तु असंख्यात गुना नहीं होता। परन्तु एक समश्रेणि जो असंख्यात प्रदेशवाली है उस समश्रेणिकी दिशावाली सभी समश्रेणियाँ जो असंख्यात गुनी है, प्रत्येकको असंख्यातसे गुना करनेसे, इसी तरह दूसरी दिशाकी समश्रेणिका भी गुना करनेसे, और इसी तरह तीसरी दिशाकी समश्रेणिका भी गुना करनेसे असंख्यात होते हैं। इन असंख्यातके भंगोंको जहाँ तक एक दूसरेका गुनाकार किया जा सके वहाँ तक असंख्यात होते हैं और जव उस गुनाकारसे कोई गुनाकार करना वाकी न रहे तव असंख्यात पूरा होनेपर उसमें एक मिला देनेसे जघन्यसे जघन्य अनंत होता है।

●

१२०. नय प्रमाणका एक अंश है। जिस नयसे जो धर्म कहा गया है, वहाँ उतना प्रमाण है। इस नयसे जो धर्म कहा गया है, उसके सिवाय वस्तुमें दूसरे जो धर्म हैं उनका निषेध नहीं किया

गया है। एक ही समयमें वाणीसे समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते। तथा जो जो प्रसंग होता है उस उस प्रसंगपर वहाँ मुख्यतः वही धर्म कहा जाता है। वहाँ वहाँ उस उस नयसे प्रमाण है।

१२१. नयके स्वरूपसे दूर जाकर जो कुछ कहा जाता है वह नय नहीं है, परन्तु नयाभास है, और जहाँ नयाभास है वहाँ मिथ्यात्व ठहरता है।

१२२. नय सात माने हैं। उनके उपनय सात सौ है, और विशेष स्वरूपसे अनंत हैं, अर्थात् जितने वचन हैं उतने नय हैं।

१२३. एकान्तिकता ग्रहण करनेका स्वच्छंद जीवको विशेषरूपसे होता है, और एकान्तिकता ग्रहण करनेसे नास्तिकता होती है। उसे न होने देनेके लिए यह नयका स्वरूप कहा गया है। जिसे समझनेसे जीव एकान्तिकता ग्रहण करनेसे रुककर मध्यस्थ रहता है, और मध्यस्थ रहनेसे नास्तिकता अवकाश नहीं पा सकती।

१२४. नय जो कहनेमें आता है वह नय स्वयं कोई वस्तु नहीं है, परन्तु वस्तुका स्वरूप समझने और उसकी सुप्रतीति होनेके लिए प्रमाणका एक अंश है।

१२५. यदि अमुक नयसे कहा गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे नयसे प्रतीत होनेवाले धर्मका अस्तित्व नहीं है।

●

१२६. केवलज्ञान अर्थात् मात्र ज्ञान ही, उसके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं, और जब ऐसा है तब उसमें दूसरा कुछ नहीं समाता। जब सर्वथा सर्व प्रकारसे रागद्वेषका क्षय हो जाये तभी केवलज्ञान कहा जाये। यदि किसी अंशमें रागद्वेष हों तो वह चारित्रमोहनीयके कारणसे हैं। जहाँ जितने अंशमें रागद्वेष हैं, वहाँ उतने ही अंशमें अज्ञान है, जिससे वे केवलज्ञानमें समा नहीं सकते, अर्थात् केवलज्ञानमें वे नहीं होते। वे एक दूसरेके प्रतिपक्षी हैं। जहाँ केवलज्ञान है वहाँ रागद्वेष नहीं अथवा जहाँ रागद्वेष हैं वहाँ केवलज्ञान नहीं है।

●

१२७. गुण और गुणी एक ही हैं; परन्तु किसी कारणसे वे भिन्न भी हैं। सामान्यतः तो गुणोंका समुदाय 'गुणी' है; अर्थात् गुण और गुणी एक ही है, भिन्न भिन्न वस्तु नहीं हैं। गुणीसे गुण अलग नहीं हो सकता जैसे मिस्रीका टुकड़ा गुणी है और मिठास गुण है। गुणी मिस्री और गुण मिठास वे दोनों साथ ही रहते हैं, मिठास कुछ भिन्न नहीं होती; तथापि गुण और गुणी किसी अंशसे भेदवाले हैं।

१२८. केवलज्ञानीकी आत्मा भी देहव्यापकक्षेत्रावगाहित है; फिर भी लोकालोकके समस्त पदार्थ, जो देहसे दूर है, उन्हें भी एकदम जान सकती है।

१२९. स्व-परको अलग करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान है। इस ज्ञानको प्रयोजनभूत कहा गया है। इसके सिवाय जो ज्ञान है वह अज्ञान है। शुद्ध आत्मस्वरूप शांत जिन है। उसकी प्रतीति जिनप्रतिबिंब सूचित करता है। उस शांत दशाको पानेके लिए जो परिणति, अथवा अनुकरण अथवा मार्ग है उसका नाम 'जैन'—जिस मार्गपर चलनेसे जैनत्व प्राप्त होता है।

१३०. यह मार्ग आत्मगुणरोधक नहीं परन्तु बोधक है, अर्थात् आत्मगुणको प्रगट करता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। यह बात परोक्ष नहीं परन्तु प्रत्यक्ष है। प्रतीति करनेके अभिलाषीको पुरुषार्थ करनेसे सुप्रतीत होकर प्रत्यक्ष अनुभवगम्य हो जाता है।

१३१. सूत्र और सिद्धांत ये दोनों भिन्न हैं। रक्षण करनेके लिए सिद्धांतरूपी पेटीमें रखे गये हैं। देश-कालके अनुसार सूत्र रचे जाते हैं और उनमें सिद्धांत गूँथे जाते हैं। वे सिद्धांत चाहे जिस कालमें, चाहे जिस क्षेत्रमें बदलते नहीं हैं, अथवा खंडित नहीं होते, और यदि वे खंडित हो जाये तो वे सिद्धांत नहीं हैं।

१३२. सिद्धांत गणितकी तरह प्रत्यक्ष हैं, इसलिए उनमें किसी तरहकी भूल या अधूरापन नहीं रहता। अक्षर त्रिकल मात्रा, शिरोरेखा आदिके विना हों तो उन्हे सुधारकर मनुष्य पढ़ लेते हैं; परन्तु यदि अंकोंकी भूल हो तो हिसाब झूठा ठहरता है, इसलिए अंक विकल नहीं होते। इस दृष्टांतको उपदेशमार्ग और सिद्धान्तमार्गपर घटायें।

१३३. सिद्धांत चाहे जिस कालमें और जिस भाषामें लिखे गये हों तो भी वे असिद्धांत नहीं हो जाते। उदाहरणरूपमें दो और दो चार होते हैं। फिर चाहे वे गुजराती, संस्कृत, प्राकृत, चीनी, अरबी, फारसी और अंगरेजी भाषामें क्यों न लिखे गये हों। उन अंकोंको चाहे जिस संज्ञासे पहचाना जाये तो भी दो और दोका योगफल चार ही होता है यह बात प्रत्यक्ष है। जैसे नौ नाम इक्यासी उसे चाहे जिस देशमें, चाहे जिस भाषामें, और दिन-दहाड़े या काली रातमें गिना जाये तो भी अस्सी या बियासी नहीं होते, परन्तु इक्यासी ही होते हैं। यही बात सिद्धांतकी भी है।

१३४. सिद्धांत प्रत्यक्ष है, ज्ञानीके अनुभवसिद्ध विषय है। उनमें अनुमान काम नहीं आता। अनुमान तो तर्कका विषय है, और तर्क आगे बढ़नेपर कितनी बार झूठा भी हो जाता है; प्रत्यक्ष जो अनुभवसिद्ध है उसमें कुछ भी असत्यता नहीं रहती।

१३५. जिसे गुणन और जोड़का ज्ञान हुआ है वह यह कहता है कि नौ नाम इक्यासी, परन्तु जिसे जोड़ अथवा गुणनका ज्ञान नहीं हुआ, अर्थात् क्षयोपशम नहीं हुआ वह अनुमानसे या तर्कसे यों कहे कि 'अट्टानवे होते हों तो क्यों न कहा जा सके? तो इसमें कुछ आश्चर्य करने जैसी बात नहीं है, क्योंकि उसे ज्ञान न होनेसे वैसा कहता है यह स्वाभाविक है। परन्तु यदि उसे गुणनकी रीतिको अलग अलग करके, एकसे नौ तक अंक बताकर नौ बार गिनाया जाये तो इक्यासी होनेसे अनुभवगम्य हो जानेसे उसे सिद्ध होते हैं। कदाचित् उसके मंद क्षयोपशमसे, गुणन अथवा जोड़ करनेके इक्यासी समझमें न आयें तो भी इक्यासी होते हैं इसमें फर्क नहीं है। इसी तरह आवरणके कारण सिद्धांत समझमें न आयें तो भी वे असिद्धांत नहीं हो जाते इस बातकी निश्चित प्रतीति रखें! फिर भी प्रतीति करनेकी जरूरत हो तो उसमें बताये अनुसार करनेसे प्रतीति हो जानेसे प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध होता है।

१३६. जब तक अनुभव सिद्ध न हो तब तक सुप्रतीति रखनेकी जरूरत है, और सुप्रतीतिसे क्रमशः अनुभव सिद्ध होता है।

१३७. सिद्धांतके दृष्टांत—

(१) रागद्वेषसे बंध होता है।

(२) बंधका क्षय होनेसे मुक्ति होती है।

इस सिद्धांतकी प्रतीति करनी हो तो रागद्वेष छोड़ें। यदि सर्व प्रकारसे रागद्वेष छूट जायें तो आत्माका सर्व प्रकारसे मोक्ष हो जाता है। आत्मा बंधनके कारणसे मुक्त नहीं हो सकती। बंधन छूटा कि मुक्त है। बंधन होनेके कारण रागद्वेष हैं। जहाँ रागद्वेष सर्वथा छूटे कि बंधसे छूट ही गयी है आत्मा। इसमें कोई प्रश्न या शंका नहीं रहती।

१३८. जिस समय जिसके रागद्वेषका सर्वथा क्षय हो जाता है, उसे दूसरे ही समयमें केवलज्ञान हो जाता है।

१३९. जीव पहले गुणस्थानकमेंसे आगे नहीं जाता। आगे जानेका विचार नहीं करता। पहलेसे आगे किस तरह बढ़ा जा सकता है? उसका क्या उपाय है? किस तरह पुरुषार्थ करे? उसका विचार भी नहीं करता; और जब बातें करने बैठता है तब ऐसी करता है कि इस क्षेत्रमें इस कालमें तेरहवाँ गुणस्थानक प्राप्त नहीं होता। ऐसी ऐसी गहन बातें, जो अपनी शक्तिके बाहर है, उन्हें वह कैसे समझ सकता है? अर्थात् अपनेको जितना क्षयोपशम हो उसके अतिरिक्तकी बातें करने बैठे तो वे समझी ही नहीं जा सकतीं।

१४०. ग्रंथि पहले गुणस्थानकमें है, उसका भेदन करके आगे बढ़कर संसारी जीव चौथे गुणस्थानक तक नहीं पहुँचे। कोई जीव निर्जरा करनेसे ऊँचे भावोंमें आनेसे, पहलेसे निकलनेका विचार करके, ग्रंथिभेदके समीप आता है, परन्तु वहाँ उसपर ग्रंथिका इतना अधिक जोर होता है कि ग्रंथिभेद करनेमें शिथिल होकर रुक जाता है, और इस प्रकार मंद होकर वापस आ जाता है। इस तरह जीव अनंत बार ग्रंथिभेदके समीप आकर वापस लौट गया है। कोई जीव प्रबल पुरुषार्थ करके, निमित्त कारणका योग पाकर पूर्ण शक्ति लगाकर ग्रंथि भेद करके आगे बढ़ जाता है, और जब ग्रंथिभेद करके आगे बढ़ा कि चौथेमें आ जाता है, और चौथेमें आया कि जल्दी या देरसे मोक्ष होगा, ऐसी उस जीवको मुहर लग जाती है।

१४१. इस गुणस्थानकका नाम 'अविरतिसम्यग्दृष्टि है, जहाँ विरतिपनके बिना सम्यक् ज्ञान-दर्शन है।

१४२. यह कहा जाता है कि तेरहवाँ गुणस्थानक इस कालमें और इस क्षेत्रसे प्राप्त नहीं होता; परन्तु ऐसा कहनेवाले पहलेसे भी नहीं निकलते। यदि वे पहलेसे निकलकर चौथे तक आये, और वहाँ पुरुषार्थ करके सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक तक पहुँच जायें, तो भी यह एक बड़ीसे बड़ी बात है। सातवें तक पहुँचे बिना उसके बादकी दशाकी सुप्रतीति हो सकना मुश्किल है।

१४३. आत्मामें जो प्रमादरहित जागृतदशा है वही सातवाँ गुणस्थानक है। वहाँ तक पहुँच जानेसे उसमें सम्यक्त्व समा जाता है। जीव चौथे गुणस्थानकमें आकर वहाँसे पाँचवें 'देशविरति', छठे 'सर्वविरति' और सातवें 'प्रमादरहित विरति' में पहुँचता है। वहाँ पहुँचनेसे आगेकी दशाका अंशतः अनुभव अथवा सुप्रतीति होती है। चौथे गुणस्थानकवाला जीव सातवें गुणस्थानकमें पहुँचनेवालेकी दशाका यदि विचार करे तो किसी अंशसे प्रतीत हो सके। परन्तु पहले गुणस्थानकवाला जीव उसका विचार करे तो वह किस तरह प्रतीतिमें आ सकता है? क्योंकि उसे जाननेका साधन जो आवरणरहित होना है वह पहले गुणस्थानकवालेके पास नहीं होता।

१४४. सम्यक्त्वप्राप्त जीवकी दशाका स्वरूप ही भिन्न होता है। पहले गुणस्थानकवाले जीवकी दशाकी जो स्थिति अथवा भाव है उसकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानकको प्राप्त करनेवालेकी स्थिति अथवा भाव भिन्न देखनेमें आते हैं अर्थात् भिन्न ही दशाका वर्तन देखनेमें आता है।

१४५. पहलेको शिथिल करे तो चौथेमें आये यह कथन मात्र है। चौथेमें आनेमें जो वर्तन है वह विषय विचारणीय है।

१४६. पहले ४ थे, ५ वें, ६ ठे और ७ वें गुणस्थानककी जो बात कही गयी है वह कुछ कथन मात्र अथवा श्रवण मात्र ही है, यह बात नहीं; परन्तु समझकर वारंवार विचारणीय है।

१४७. यथासंभव पुरुषार्थ करके आगे बढ़ना आवश्यक है।

१४८. अप्राप्य धैर्य, संहनन, आयुकी पूर्णता इत्यादिके अभावसे कदाचित् सातवें गुणस्थानकसे आगेका विचार अनुभवमें न आ सके, परन्तु सुप्रतीत हो सकता है।

१४९. सिंहका दृष्टांतः—सिंहको लोहेके मजबूत पिंजरेमें रखा गया हो तो वह अंदर रहा हुआ अपनेको सिंह समझता है, पिंजरेमें बंद किया हुआ मानता है; और पिंजरेसे बाहरकी भूमि भी देखता है, मात्र लोहेकी छड़ोंकी आड़के कारण बाहर नहीं निकल सकता। इसी तरह सातवें गुणस्थानकसे आगेका विचार सुप्रतीत हो सकता है।

१५०. इस प्रकार होनेपर भी जीव मतभेद आदि कारणोंसे अवरुद्ध होकर आगे नही बढ़ सकता।

१५१. मतभेद अथवा रूढि आदि तुच्छ विषय हैं। अर्थात् उसमें मोक्ष नहीं है। इसलिए वस्तुतः सत्यकी प्रतीति करनेकी जरूरत है।

●

१५२. शुभाशुभ और शुद्धाशुद्ध परिणामपर सारा आधार है। छोटी छोटी बातोंमें भी दोष माने जायें तो उस स्थितिमें मोक्ष नहीं होता। लोकरूढि अथवा लोकव्यवहारमें पड़ा हुआ जीव मोक्ष तत्त्वका रहस्य नहीं जान सकता, उसका कारण यह है कि उसके मनमें रूढि अथवा लोकसंज्ञाका माहात्म्य बसा हुआ है। इसलिए बादर क्रियाका निषेध नहीं किया जाता। जो कुछ भी न करते हुए एकदम अनर्थ करता है उसकी अपेक्षा बादरक्रिया उपयोगी है। तो भी इसका आशय यह भी नहीं है कि बादरक्रियासे आगे न बढ़े।

●

१५३. जीवको अपनी चतुराई और इच्छासे चलना अच्छा लगता है, परंतु यह जीवका बुरा करनेवाली वस्तु है। इस दोषको दूर करनेके लिए ज्ञानीका यह उपदेश है कि पहले किसीको उपदेश नहीं देना है परन्तु पहले स्वयं उपदेश लेना है। जिसमें रागद्वेष न हों उसका संग हुए विना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। सम्यक्त्व आनेसे (प्राप्त होनेसे) जीव बदलता है, (जीवकी दशा बदलती है); अर्थात् प्रतिकूल हो तो अनुकूल हो जाती है। जिनकी प्रतिमा (शांतिके लिए)-का दर्शन करनेसे सातवें गुणस्थानकमें रहनेवाले ज्ञानीकी जो शांतदशा है उसकी प्रतीति होती है।

१५४. जैनमार्गमें आज-कल अनेक गच्छ प्रचलित हैं, जैसे कि तपगच्छ, अंचलगच्छ, लुंकागच्छ, खरतरगच्छ इत्यादि। यह प्रत्येक अपनेसे अन्य पक्षवालेको मिथ्यात्वी मानता है। इसी तरह दूसरा विभाग छ कोटि, आठ कोटि इत्यादिका है। यह प्रत्येक अपनेसे अन्य कोटिवालेको मिथ्यात्वी मानता है। वस्तुतः नौ कोटि चाहिए। उनमेंसे जितनी कम उतनी कम, और उसकी अपेक्षा भी आगे जायें तो समझमें आता है कि अंतमें नौ कोटि भी छोड़े विना रास्ता नहीं है।

१५५. तीर्थंकर आदिने जिस मार्गसे मोक्ष प्राप्त किया वह मार्ग तुच्छ नहीं है। जैनरूढिका थोड़ा भी छोड़ना अत्यंत कठिन लगता है, तो फिर महान तथा महा भारत जैसे मोक्षमार्गको वह किस तरह ग्रहण कर सकेगा? यह विचारणीय है।

●

१५६. मिथ्यात्व प्रकृतिका क्षय किये विना सम्यक्त्व नहीं आता। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसकी दशा अद्भुत रहती है! वहाँसे ५वें, ६ठे, ७वें और ८वें में जाकर दो घड़ीमें मोक्ष हो सकता है। एक सम्यक्त्व प्राप्तकर लेनेसे कैसा अद्भुत कार्य हो जाता है! इससे सम्यक्त्वकी चमत्कृति अथवा उसका माहात्म्य किसी अंशमें आ सकता है।

१५७. दुर्धर पुरुषार्थसे प्राप्य मोक्षमार्ग अनायास प्राप्त नहीं होता। आत्मज्ञान अथवा मोक्षमार्ग किसीके शापसे अप्राप्त नहीं होता, या किसीके आशीर्वादसे प्राप्त नहीं होता। पुरुषार्थके अनुसार होता है, इसलिए पुरुषार्थकी जरूरत है।

●

१५८. सूत्र, सिद्धांत, शास्त्र सत्पुरुषके उपदेशके विना फल नहीं देते फिर जो है वह व्यवहार मार्गमें है। मोक्षमार्ग तो फेरवाला नहीं है, एक ही है। उसे प्राप्त करनेमें शिथिलताका निषेध किया गया है। इसमें शूरवीरता ग्रहण करने योग्य है। जीवको अमूर्च्छित करना जरूरी है।

१५९. विचारवान पुरुष व्यवहारके भेदसे न घबराये।

१६०. ऊपरकी भूमिकावाला नीचेकी भूमिकावालेके बरावर नहीं है, परंतु नीचेकी भूमिकावालेसे ठीक है। स्वयं जिस व्यवहारमें हो उससे दूसरेका ऊँचा व्यवहार देखनेमें आये, तो उस ऊँचे व्यवहारका निषेध न करे, कारण कि मोक्षमार्गमें कुछ अंतर नहीं है। तीनों कालमें चाहे क्षेत्रमें जो एक ही सरीखा रहे वही मोक्षमार्ग है।

●

१६१. अल्पसे अल्प निवृत्ति करनेमें भी जीवको कँपकँपी होती है तो फिर वैसी अनंत प्रवृत्तियोंसे जो मिथ्यात्व होता है, उससे निवृत्ति करना यह कितना दुर्धर हो जाना चाहिए? मिथ्यात्वकी निवृत्ति ही सम्यक्त्व है।

१६२. जीवाजीवकी विचाररूपसे प्रतीति न की गयी हो, कथन मात्र ही जीवाजीव है, यह कहना सम्यक्त्व नहीं है। तीर्थंकर आदिने भी पूर्वकालमें इसका आराधन किया है, इसलिए पहलेसे ही उनमें सम्यक्त्व होता है, परंतु दूसरोंके वह कुछ अमुक कुलमें, अमुक जातिमें या अमुक वर्गमें अथवा अमुक देशमें जन्म लेनेसे ही सम्यक्त्व होता है, यह बात नहीं है।

१६३. विचारके विना ज्ञान नहीं। ज्ञानके विना सुप्रतीति अर्थात् सम्यक्त्व नहीं। सम्यक्त्वके विना चारित्र नहीं आता, और जब तक चारित्र न आये तब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता, और जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता तब तक मोक्ष नहीं यह देखनेमें आता है।

●

१६४. देवका वर्णन। तत्त्व। जीवका स्वरूप।

●

१६५. कर्मरूपसे रहे हुए परमाणु केवलज्ञानीके दृश्य होते हैं, उसके सिवाय दूसरोंके लिए कोई निश्चित नियम नहीं होता। परमावधिवालेको उनका दृश्य होना संभव है, और मनःपर्यायज्ञानीको अमुक देशसे दृश्य होना संभव है।

●

१६६. पदार्थमें अनंत धर्म (गुण आदि) रहते हैं। उनके अनंतवें भाग वाणीसे कहे जा सकते हैं। उसके अनंतवें भाग सूत्रमें गूँथे जा सकते हैं।

●

१६७. यथाप्रवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरणके वाद युंजनकरण और गुणकरण है। युंजनकरणको गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६८. युंजनकरण अर्थात् प्रकृतिको योजित करना। आत्मगुण जो ज्ञान, और उससे दर्शन,

और उससे चारित्र, ऐसे गुणकरणसे युंजनकरणका क्षय किया जा सकता है। अमुक अमुक प्रकृति जो आत्मगुणरोधक है उसका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६९. कर्मप्रकृति, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्मभाव, उसके बंध, उदय, उदीरणा, संक्रमण, सत्ता और क्षयभाव जो बताये गये हैं (वर्णन किया गया है), वे परम सामर्थ्यके बिना वर्णित नहीं किये जा सकते। इनका वर्णन करनेवाला जीवकोटिका पुरुष नहीं, परंतु ईश्वरकोटिका पुरुष होना चाहिए, ऐसी सुप्रतीति होती है।

१७०. किसी किसी प्रकृतिका कैसे रससे क्षय हुआ हुआ होना चाहिए? कौनसी प्रकृति सत्तामें है? कौनसी उदयमें है? किसने संक्रमण किया है? इत्यादिका रचना कहनेवालेने, उपर्युक्तके अनुसार प्रकृतिके स्वरूपको माप-तोल कर कहा है, उनके परमज्ञानकी यह बात एक ओर रहने दें तो भी यह कहनेवाला ईश्वरकोटिका पुरुष होना चाहिए, यह निश्चित होता है।

१७१. जातिस्मरणज्ञान मतिज्ञानके 'धारणा' नामके भेदके अंतर्गत है। वह पिछला भव जान सकता है। जहाँ तक पिछले भवमें असंज्ञीपना न आया हो वहाँ तक वह आगे चल सकता है।

१७२. (१) तीर्थंकरने आज्ञा न दी हो और जीव अपनी वस्तुके सिवाय परवस्तुका जो कुछ ग्रहण करता है वह पराया लिया हुआ और अदत्त गिना जाता है। उस अदत्तमेंसे तीर्थंकरने पर-वस्तु जितनी ग्रहण करनेकी छूट दी है उतनेको अदत्त नहीं गिना जाता।

२. गुरुकी आज्ञाके अनुसार किये हुए वर्तनके सम्बंधमें अदत्त नहीं गिना जाता।

१७३. उपदेशके मुख्य चार प्रकार हैं—(१) द्रव्यानुयोग, (२) चरणानुयोग, गणितानुयोग, (३) धर्मकथानुयोग।

(१) लोकमें रहनेवाले द्रव्य, उनका स्वरूप, उनका गुण, धर्म, हेतु, अहेतु, पर्याय आदि अनंतानंत प्रकार है, उनका जिसमें वर्णन है वह 'द्रव्यानुयोग' है।

(२) इस द्रव्यानुयोगका स्वरूप समझमें आनेके बाद, आचरणसंबंधी वर्णन जिसमें हो वह 'चरणानुयोग' है।

(३) द्रव्यानुयोग तथा चरणानुयोगकी गिनतीके प्रमाण, तथा लोकमें रहनेवाले पदार्थ, भाव, क्षेत्र, काल आदिकी गिनतीके प्रमाणका जो वर्णन है वह 'गणितानुयोग' है।

(४) सत्पुरुषोंके धर्मचरित्रोंकी कथाएँ, जिनका बोध लेनेसे वे गिरनेवाले जीवको अवलंबन-कारी फलित होती हैं, वह 'धर्मकथानुयोग' है।

१७४. परमाणुमें रहनेवाले गुण, स्वभाव आदि स्थिर रहते हैं, और पर्याय बदलते हैं। दृष्टांतरूपमें:—पानीमें रहनेवाला शीत-गुण नहीं बदलता, परन्तु पानीमें जो तरंगें उठती हैं वे अर्थात् वे एकके बाद एक उठकर उसमें समा जाती हैं। इस प्रकार पर्याय, अवस्था अवस्थांतर हुआ करते हैं। इससे पानीमें रहनेवाली शीतलता अथवा पानीपन नहीं बदलते, परन्तु स्थिर रहते हैं; और पर्यायरूप तरंग बदलती रहती है। इसी तरह उस गुणकी हानिवृद्धिरूप परिवर्तन भी पर्याय है। उसके विचारसे प्रतीति, प्रतीतिसे त्याग और त्यागसे ज्ञान होता है।

१७५. तेजस और कार्मण शरीर स्थूलदेहप्रमाण हैं। तेजस शरीर गरमी करता है, तथा आहारको पचानेका काम करता है। शरीरके अमुक अमुक अंग घिसनेसे गरम मालूम होते हैं, वे

तेजसके कारण मालूम होते हैं। सिरपर घृत आदि रखकर शरीरकी परीक्षा करनेकी जो रूढि है; उसका अर्थ यह है कि वह शरीर स्थूल शरीरमें है कि नहीं? अर्थात् स्थूल शरीरमें जीवकी भाँति वह सारे शरीरमें रहता है।

१७६. इस तरह कार्मण शरीर भी है, जो तेजसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वह भी तेजसकी तरह रहता है। स्थूल शरीरमें पीड़ा होती है, अथवा क्रोध आदि होते हैं, वही कार्मण शरीर है। कार्मणसे क्रोध आदि होकर तेजोलेश्या आदि उत्पन्न होते हैं। वेदनाका अनुभव जीव करता है, परन्तु वेदना कार्मण शरीरके कारण होती है। कार्मण शरीर जीवका अवलंबन है।

१७७. उपर्युक्त चार अनुयोगों तथा उनके सूक्ष्म भावोंका स्वरूप जीवके लिए वारंवार विचारणीय है, ज्ञेय है। वह परिणाममें निर्जराका हेतु होता है, अथवा उससे निर्जरा होती है। चित्तकी स्थिरता करनेके लिए यह सब कहा गया है; क्योंकि इस सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्वरूपको यदि जीवने कुछ समझा हो तो उसके लिए वारंवार विचार करना होता है, और उस विचारके करनेसे जीवकी बाह्यवृत्ति न होकर, वह विचार करने तक अंदरकी अंदर ही समायी रहती है।

१७८. अंतरविचारका साधन न हो तो जीवकी वृत्ति बाह्य वस्तुपर जाकर अनेक प्रकारकी योजनाएँ की जाती हैं। जीवको आलंबनकी जरूरत है। उसे खाली बैठे रहना ठीक नहीं लगता। उसे ऐसी ही आदत पड़ गयी है; इसलिए यदि उक्त पदार्थोंका ज्ञान हुआ हो तो उसके विचारके कारण सत्चित्तवृत्ति वाहर जानेके बदले भीतर समायी रहती है, और ऐसा होनेसे निर्जरा होती।

१७९. पुद्गल, परमाणु और उसके पर्याय आदिकी सूक्ष्मता है, वह जितनी वाणीगोचर हो सकती है उतनी कही गयी है। वह इसलिए कि ये पदार्थ मूर्त्त हैं, अमूर्त्त नहीं। मूर्त्त होनेपर भी इतने सूक्ष्म हैं कि उनका वारंवार विचार करनेसे उनका स्वरूप समझमें आता है, और उस तरह समझमें आनेसे उससे सूक्ष्म अरूपी आत्मासंबंधी जाननेका काम सरल हो जाता है।

१८०. मान और मताग्रह ये मार्गप्राप्तिमें अवरोधक स्तंभरूप हैं। उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता, और इसलिए समझमें नहीं आता। समझनेमें विनय-भक्तिकी पहले जरूरत रहती है। वह भक्ति मान, मताग्रहके कारण अपनायी नहीं जा सकती।

१८१. (१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परावर्तना, (४) वित्तका निश्चयमें लाना, (५) धर्मकथा। वेदान्तमें भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन यों भेद बताये हैं।

१८२. उत्तराध्ययनमें धर्मके मुख्य चार अंग कहे हैं :—

(१) मनुष्यता, (२) सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण, (३) उनकी प्रतीति, (४) धर्ममें प्रवर्तना ये चार वस्तुएँ दुर्लभ हैं।

१८३. मिथ्यात्वके दो भेद हैं—(१) व्यक्त, (२) अव्यक्त। उसके तीन भेद भी किये हैं—(१) उत्कृष्ट, (२) मध्यम, (३) जघन्य। जब तक मिथ्यात्व होता है तब तक जीव पहले गुणस्थानकसे बाहर नहीं निकलता। तथा जब तक उत्कृष्ट मिथ्यात्व होता है तब तक वह मिथ्यात्व गुणस्थानक नहीं माना जाता। गुणस्थानक जीवाश्रयी है।

१८४. मिथ्यात्व द्वारा मिथ्यात्व मंद पड़ता हैं, और इसलिए वह जरा आगे चला कि तुरत वह मिथ्यात्वगुणस्थानकमें आता है।

१८५. गुणस्थानक यह आत्माके गुणको लेकर होता है।

१८६. मिथ्यात्वमेंसे जीव एकदम न निकला हो परन्तु थोड़ा निकला हो तो भी उससे मिथ्यात्व मंद पड़ता है। यह मिथ्यात्व भी मिथ्यात्वसे मंद होता है। मिथ्यात्वगुणस्थानकमें भी मिथ्यात्वका अंश कषाय हो, उस अंशसे भी मिथ्यात्वमेंसे मिथ्यात्वगुणस्थानक कहा जाता है।

१८७. प्रयोजनभूत ज्ञानके मूलमें, पूर्ण प्रतीतिमें, वैसे ही आकारमें मिलते-जुलते अन्य मार्गकी समानताके अंशसे समानतारूप प्रतीत होना मिश्रगुणस्थानक है। परंतु अमुक दर्शन सत्य है, और अमुक दर्शन भी सत्य है, ऐसी दोनोंपर एकसी प्रतीति होना मिश्र नहीं परंतु मिथ्यात्वगुणस्थानक है। अमुक दर्शनसे अमुक दर्शन अमुक अंशमें मिलता आता है, ऐसा कहनेमें सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती; क्योंकि वहाँ तो अमुक दर्शनकी दूसरे दर्शनके साथ समानता करनेमें पहला दर्शन सम्पूर्ण-रूप प्रतीतिरूप होता है।

१८८. पहले गुणस्थानकसे दूसरेमें जाना नहीं होता, परंतु चौथेसे वापस आते हुए पहलेमें आना रहता है। तब बीचका अमुक काल दूसरा गुणस्थानक है। उसे यदि चौथेके बाद पाँचवाँ माना जाये तो जीव चौथेसे पाँचवेंमें चढ़ जाये और यहाँ सास्वादन चौथेसे पतित हुआ माना गया है, अर्थात् वह नीचा है इसलिए पाँचवाँ नहीं कहा जा सकता परंतु दूसरा कहना ठीक है।

१८९. आवरण है यह बात निःसंदेह है, जिसे श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों कहते हैं; परंतु आवरणको साथ लेकर कहनेमें एक दूसरेसे थोड़ा भेदवाला है।

१९०. दिगम्बर कहते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे नहीं परंतु शक्तिरूपसे है।

१९१. यद्यपि सत्ता और शक्तिका सामन्य अर्थ एक है, परंतु विशेषार्थकी दृष्टिसे कुछ फ़र्क रहता है।

•

१९२. दृढतासे ओघ आस्थासे, विचारपूर्वक अभ्याससे 'विचारसहित आस्था' होती है।

•

१९३. तीर्थंकर जैसे भी संसारपक्षमें विशेषातिविशेष समृद्धिके धनी थे, फिर भी उन्हें भी त्याग करनेकी जरूरत पड़ी थी, तो फिर अन्य जीवोंको वैसा किये बिना छुटकारा नहीं है।

१९४. त्यागके दो प्रकार है :—एक बाह्य और दूसरा अभ्यंतर। बाह्य त्याग अभ्यंतर त्यागका सहकारी है। त्यागके साथ वैराग्य जोड़ा जाता है, क्योंकि वैराग्य होनेपर ही त्याग होता है।

१९५. जीव ऐसा मानता है कि 'मैं कुछ समझता हूँ, और जब मैं त्याग करना चाहूँगा तब एकदम त्याग कर सकूँगा,' परंतु यह मानना भूलभरा होता है। जब तक ऐसा प्रसंग नहीं आया तब तक अपना जोर रहता है। जब ऐसा वक्त आता है तब शिथिल-परिणामी होकर मंद पड़ जाता है। इसलिए धीरे धीरे जीव जाँच करे और त्यागका परिचय करने लगे, जिससे मालूम हो कि त्याग करते समय परिणाम कैसे शिथिल हो जाते हैं?

१९६. आँख, जीभ आदि इंद्रियोंकी एक एक अंगुल जितनी जगह जीतनी भी जिसे मुश्किल हो जाती है, अथवा जीतनी असंभव हो जाती है, उसे बड़ा पराक्रम करनेका अथवा बड़ा क्षेत्र जीतनेका काम सौंपा हो तो वह किस तरह बन सकता है? 'एकदम त्याग करनेका वक्त आये, तबकी बात तब,' इस विचारकी ओर ध्यान रखकर अभी तो धीरे धीरे त्यागकी कसरत करनेकी जरूरत है। उसमें भी शरीर और शरीरके साथ संबंध रखनेवाले सगे-संबंधियोंके बारेमें पहले

आजमाइश करनी; और शरीरमें भी आँख, जीभ और उपस्थ इन तीन इंद्रियोंके विषयको देश-देशसे त्याग करनेकी तरफ लगाना है और इसके अभ्याससे एकदम त्याग सुगम हो जाता है।

१९७. अभी जाँचके तौरपर अंश अंशसे जितना जितना त्याग करना है उसमें भी शिथिलता नहीं रखना, तथा रूढिका अनुसरण करके त्याग करनेकी बात भी नहीं है। जो कुछ त्याग करना वह शिथिलतारहित तथा छूट-छाटरहित करना, अथवा छूट-छाट रखनेकी जरूरत हो वह भी निश्चितरूपमें खुले तौरसे रखना, परंतु ऐसी न रखना कि उसका अर्थ जिस समय जैसा करना हो वैसा हो सके। जब जिसकी जरूरत पड़े तब उसका इच्छानुसार अर्थ हो सके ऐसी व्यवस्था ही त्यागमें नहीं रखना। यदि ऐसी व्यवस्था की जाय कि अनिश्चितरूपसे अर्थात् जब जरूरत पड़े तब मनभाता अर्थ हो सके, तो जीव शिथिल-परिणामी होकर त्याग हुआ सब कुछ बिगाड़ डालता है।

१९८. यदि अंशसे भी त्याग करें तो पहलेसे ही उसकी मर्यादा निश्चित करके और साक्षी रखकर त्याग करें, तथा त्याग करनेके बाद अपना मनभाता अर्थ न करें।

●

१९९. संसारमें परिभ्रमण करानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकड़ीरूप कषाय है, उसका स्वरूप भी समझने योग्य है। उसमें भी जो अनंतानुबंधी कषाय है वह अनंत संसारमें भटकानेवाला है। उस कषायके क्षय होनेका क्रम सामान्यतः इस तरह है कि पहले क्रोधका और फिर क्रमसे मान, माया और लोभका क्षय होता है, उसके उदय होनेका क्रम सामान्यतः इस तरह है कि पहले मान और फिर क्रमसे लोभ, माया और क्रोधका उदय होता है।

२००. इस कषायके असंख्यात भेद हैं। जिस रूपमें कषाय होता है उस रूपमें जीव संसार-परिभ्रमणके लिए कर्मबंध करता है। कषायमें बड़ेसे बड़ा बंध अनंतानुबंधी कषायका है। जो अंतर्मुहूर्तमें चालीस कोड़ाकड़ी सागरोपमका बंध करता है। उस अनंतानुबंधीका स्वरूप भी जबरदस्त है। वह इस तरह कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार, मिथ्यात्वरूपी राजाको भलीभाँति हिफाजतसे सैन्यके मध्यभागमें रखकर उसकी रक्षा करते हैं, और जिस वक्त जिसकी जरूरत होती है उस वक्त वह बिना बुलाये मिथ्यात्वमोहकी सेवा करने लग जाता है। इसके अतिरिक्त नोकषायरूप दूसरा परिवार, वह कषायके अग्रभागमें रहकर मिथ्यात्वमोहकी रखवाली करता है, परन्तु ये दूसरे सब चौकीदार नहीं जैसे कषायका काम करते हैं। भटकानेवाला तो कषाय है। और उस कषायमें अनंतानुबंधी कषायके चार योद्धा बहुत ही मार डालते हैं। इन चार योद्धाओंमेंसे क्रोधका स्वभाव दूसरे तीनकी अपेक्षा कुछ भोला मालूम पड़ता है; क्योंकि उसका स्वरूप सबकी अपेक्षा जल्दी मालूम हो सकता है। इस तरह जब जिसका स्वरूप जल्दी मालूम हो जाये तब उसके साथ लड़ाई करनेमें क्रोधीकी प्रतीति हो जानेसे लड़नेकी हिम्मत आती है।

●

२०१. घनघाती चारकर्म—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, और अंतराय; जो आत्माके गुणोंका आवरण करनेवाले हैं। उनका एक प्रकारसे क्षय करना सरल भी है। वेदनीय आदि कर्म जो घनघाती नहीं हैं तो भी उनका एक तरहसे क्षय करना कठिन है। वह इस तरह कि वेदनीय आदि कर्मका उदय प्राप्त हो तो उनका क्षय करनेके लिए उन्हें भोगना चाहिए। उन्हें न भोगनेकी इच्छा हो तो भी वहाँ वह काम नहीं आती, भोगने चाहिए; और ज्ञानावरणीयका उदय हो तो यत्न करनेसे उसका क्षय हो जाता है। उदाहरणरूपमें, कोई श्लोक ज्ञानावरणीयके

उदयसे याद न रहता हो तो उसे दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौसठ, सौ अर्थात् अधिक बार याद करनेसे ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम अथवा क्षय होकर याद रहता है; अर्थात् बलवान हो जानेसे उसका उसी भवमें अमुक अंशमें क्षय किया जा सकता है। इसी तरह दर्शनावरणीय कर्मके सम्बंधमें समझें। मोहनीयकर्म जो महा बलशाली एवं भोला भी है, वह तुरत खपाया जा सकता है। जैसे उसका आना, आनेका वेग प्रबल है, वैसे वह जल्दीसे दूर भी हो सकता है। मोहनीय-कर्मका तीव्र बंध होता है, तो भी वह प्रदेशबंध न होनेसे तुरत खपाया जा सकता है। नाम, आयु आदि कर्म जिनका प्रदेशबंध होता है वे केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद भी अंत तक भोगने पड़ते हैं; जब कि मोहनीय आदि चार कर्म उससे पहले ही क्षीण हो जाते हैं।

२०२. 'उन्माद' यह चारित्रमोहनीयका विशेष पर्याय है। वह क्वचित् हर्ष, क्वचित् शोक, क्वचित् रति, क्वचित् अरति, क्वचित् भय, और क्वचित् जुगुप्सारूपसे मालूम होता है। कुछ अंशसे उसका ज्ञानावरणीयमें भी समावेश होता है। स्वप्नमें विशेषरूपसे ज्ञानावरणीयका पर्याय मालूम होता है।

२०३. 'संज्ञा' यह ज्ञानका भाग है। परन्तु 'परिग्रहसंज्ञा' 'लोभप्रकृति'में समाती है; 'मैथुन-संज्ञा' वेदप्रकृतिमें समाती है; आहारसंज्ञा' वेदनीयमें समाती है; और 'भयसंज्ञा' 'भयप्रकृतिमें समाती है।

२०४. अनंत प्रकारके कर्म मुख्य आठ प्रकारसे और उत्तर एक सौ अट्ठावन प्रकारसे प्रकृति-के नामसे पहचाने जाते हैं। वह इस तरह कि अमुक अमुक प्रकृति अमुक अमुक गुणस्थानक तक होती है। इस तरह मापतोल कर ज्ञानीदेवने दूसरोंको समझानेके लिए स्थूल स्वरूपसे उसका विवे-चन किया है। उसमें दूसरे कितने ही तरहके कर्म अर्थात् 'कर्मप्रकृति'का समावेश होता है। अर्थात् जिस जिस प्रकृतिके नाम कर्मग्रंथमें नहीं आते वे सब प्रकृतियाँ उपर्युक्त प्रकृतिके विशेष पर्याय है अथवा वे उपर्युक्त प्रकृतिमें समा जाते है।

२०५. 'विभाव' अर्थात् 'विरुद्धभाव' नहीं, परन्तु 'विशेषभाव'। आत्मा आत्मारूपसे परिण-मे वह 'भाव' है अथवा 'स्वभाव' है। जब आत्मा और जड़का संयोग होनेसे आत्मा स्वभावकी अपेक्षा आगे जाकर 'विशेषभाव'से परिणमे वह 'विभाव' है। इसी तरह जड़के बारेमें समझें।

२०६. 'काल'के 'अणु' लोकप्रमाण असंख्यात हैं। उस अणुमें रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण नहीं हैं। इसलिए एक अणु दूसरेमें नहीं मिलता, और प्रत्येक पृथक् पृथक् रहता है। परमाणु-पुद्गलमें वह गुण होनेसे मूल सत्ता कायम रहकर उसका (परमाणु-पुद्गलका) स्कंध होता है।

●

२०७. धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, (लोक) आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय उसके भी असंख्यात प्रदेश हैं। और उसके प्रदेशमें रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण नहीं है, फिर भी वे कालकी तरह प्रत्येक अणु अलग अलग रहनेके बदले एक समूह होकर रहते हैं। इसका कारण यह है कि काल प्रदेशात्मक नहीं हैं, परन्तु अणु होकर पृथक् पृथक् है, और धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य प्रदेशात्मक हैं।

२०८. वस्तुको समझानेके लिए अमुक नयसे भेदरूपसे वर्णन किया गया है। वस्तुतः वस्तु, उसके गुण और पर्याय यों तीन पृथक् पृथक् नहीं हैं, एक ही है। गुण और पर्यायको लेकर वस्तुका स्वरूप समझमें आता है। जैसे मिस्री यह वस्तु, मिठास यह गुण और खुरदरा आकार यह पर्याय है। इन तीनोंको लेकर मिस्री है। मिठासवाले गुणके बिना मिस्री पहचानी नहीं जा सकती। वैसा

कोई खुरदरे आकारवाला टुकड़ा हो, परन्तु उसमें खारेपनका गुण हो तो वह मिस्री नहीं परन्तु नमक अर्थात् लोन है। इस जगह पदार्थकी प्रतीति अथवा ज्ञान, गुणके कारण होता है, इस तरह गुणी और गुण भिन्न नहीं है। फिर भी अमुक कारणको लेकर पदार्थका स्वरूप समझानेके लिऐ भिन्न कहे गये हैं।

२०९. गुण और पर्यायको लेकर पदार्थ है। यदि वे दोनों न हों तो फिर पदार्थका होना न होनेके बराबर है, कारण कि वह किस कामका है?

२१०. एक दूसरेसे विरुद्ध पदवाली ऐसी त्रिपदी पदार्थमात्रमें रहती है। ध्रुव अर्थात् सत्ता-अस्तित्व पदार्थका सदा है। उसके होनेपर भी पदार्थमें उत्पाद और व्यय ये दो पद रहते हैं। पूर्व पर्यायका व्यय और उत्तर पर्यायका उत्पाद हुआ करते हैं।

२११. इस पर्यायके परिवर्तनसे काल मालूम होता है। अथवा उस पर्यायका परिवर्तन होनेमें काल सहकारी है।

२१२. प्रत्येक पदार्थमें समय-समयपर षट्चक्र उठता है। वह यह कि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनंतगुणहानि; जिसका स्वरूप श्री वीतरागदेव अवाक्गोचर कहते हैं।

२१३. आकाशके प्रदेशकी श्रेणि सम है। विषम मात्र एक प्रदेशकी विदिशाकी श्रेणि है। समश्रेणि छः हैं और वे दो प्रदेशी है। पदार्थमात्रका गमन समश्रेणिसे होता है, विषमश्रेणिसे नहीं होता। कारण कि आकाशके प्रदेशकी समश्रेणि है। इसी तरह पदार्थमात्रमें अगुरुलघु धर्म है। उस धर्मके कारण पदार्थ विषमश्रेणिसे गमन नहीं कर सकता।

•

२१४. चक्षुरिंद्रियके सिवाय दूसरी इंद्रियोंसे जो जाना जा सकता है उसका समावेश जाननेमें होता है।

२१५. चक्षुरिंद्रियसे जो देखा जाता है वह भी जानना है। जब तक संपूर्ण जानने-देखनेमें नहीं आता तब तक जानना अधूरा माना जाता है, केवलज्ञान नहीं माना जाता।

२१६. जहाँ त्रिकाल अवबोध है वहाँ संपूर्ण जानना होता है।

२१७. भासन शब्दमें जानना और देखना दोनोंका समावेश होता है।

२१८. जो केवलज्ञान है वह आत्मप्रत्यक्ष है अथवा अतींद्रिय है। जो अंधता है वह इंद्रिय द्वारा देखनेका व्याघात है। वह व्याघात अतींद्रियको बाधक होना संभव नहीं।

जब चार घनघाती कर्मोंका नाश होता है तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उन चार घन-घातियोंमें एक दर्शनावरणीय है। उसकी उत्तर प्रकृतिमें एक चक्षुदर्शनावरणीय है उसका क्षय होनेके बाद केवलज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा जन्मांधता कि अंधताका आवरण क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

अचक्षुदर्शन आँखके सिवाय दूसरी इंद्रियों और मनसे होता है। उसका भी जब तक आवरण होता है तब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसलिए जैसे चक्षुके लिए है वैसे दूसरी इंद्रियोंके लिए भी मालूम होता है।

२१९. ज्ञान दो प्रकारसे बताया गया है। आत्मा इंद्रियोंकी सहायाताके बिना स्वतंत्ररूपसे जाने देखे वह आत्मप्रत्यक्ष है। आत्मा इंद्रियोंकी सहायतासे अर्थात आँख, कान, जिह्वा आदिसे जाने-देखे वह इंद्रियप्रत्यक्ष है। व्याघात और आवरणके कारणसे इंद्रियप्रत्यक्ष नहीं होता, इससे आत्मप्रत्यक्षको बाध नहीं है। जब आत्माको प्रत्यक्ष होता है, तब इंद्रियप्रत्यक्ष स्वयमेव होता है अर्थात् इंद्रियप्रत्यक्षके आवरणके दूर होनेपर ही आत्मप्रत्यक्ष होता है।

•

२२०. आज तक आत्माका अस्तित्व भासित नहीं हुआ। आत्माके अस्तित्वका भास होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अस्तित्व सम्यक्त्वका अंग है। अस्तित्व यदि एक वक्त भी भासित हो तो वह दृष्टिके सामने रहा करता है, और सामने रहनेसे आत्मा वहाँसे हट नहीं सकती। यदि आगे बढ़े तो भी पैर पीछे पड़े हैं, अर्थात् प्रकृति जोर नहीं मारती। एक बार सम्यक्त्व आनेके बाद वह पड़े तो फिर ठिकानेपर आ जाता है। ऐसा होनेका मूल कारण अस्तित्वका भासना है।

यदि कदाचित् अस्तित्वकी बात कही जाती हो तो भी वह कथन मात्र है, क्योंकि सच्चा अस्तित्व भासित नहीं हुआ।

२२१. जिसने बड़का वृक्ष न देखा हो उसे यह कहा जाये कि इस राईके दाने जितने बड़के बीजमेंसे इतना बड़ा वृक्ष हो सकता है कि जो लगभग एक मीलके विस्तारमें समाये तो यह बात उसके माननेमें नहीं आती जिससे कहनेवालेको अन्यथा समझ लेता है। परन्तु जिसने बड़का वृक्ष देखा है और जिसे इस बातका अनुभव है उसे बड़के बीजमें शाखा, मूल, पत्ते, फल, फूल आदि वाला बड़ा वृक्ष समाया हुआ है यह बात माननेमें आती है, प्रतीत होती है। पुद्गल रूपी पदार्थ है, मूर्तिमान है, उसके एक स्कंधके एक भागमें अनंत भाग हैं यह बात प्रत्यक्ष होनेसे मानी जाती है; परन्तु उतने ही भागमें जीव अरूपी एवं अमूर्त होनेसे अधिक समा सकता है। परन्तु वहाँ अनंतके बदले असंख्यात कहा जाये तो भी माना नहीं जाता, यह आश्चर्यकारक बात है।

इस प्रकार प्रतीत होनेके लिए अनेक नय—रास्ते बताये गये हैं, जिससे किसी तरह यदि प्रतीति हो गयी तो बड़के बीजकी प्रतीतिकी भाँति मोक्षके बीजकी सम्यक्त्वरूपसे प्रतीति होती है; मोक्ष है यह निश्चय हो जाता है, इसमें कुछ भी शक नहीं है।

•

२२२. धर्मसंबंधी (श्री रत्नकरंड श्रावकाचार)।

○

आत्माको स्वभावमें धारण करे वह धर्म है।

आत्माका स्वभाव धर्म है।

जो स्वभावमेंसे परभावमें नहीं जाने देता वह धर्म है।

परभाव द्वारा आत्माको दुर्गतिमें जाना पड़ता है। जो आत्माको दुर्गतिमें न जाने देकर स्वभावमें रखता है वह धर्म है।

सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और स्वरूपाचरण धर्म है। वहाँ बंधका अभाव है।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र इस रत्नत्रयीको श्री तीर्थंकरदेव धर्म कहते हैं।

षड्द्रव्यका श्रद्धान, ज्ञान और स्वरूपाचरण धर्म है।

जो संसारपरिभ्रमणसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धारण करता है वह धर्म है।

आप्त अर्थात् सब पदार्थोंका जानकर उनके स्वरूपका सत्यार्थ प्रगट करनेवाला।

आगम अर्थात् आप्तकथित पदार्थकी शब्दद्वारा रचनारूप शास्त्र।

आप्तप्ररूपित शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला, आप्तप्रदर्शित मार्गमें चलनेवाला सद्गुरु है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् सत्य आप्त, शास्त्र और गुरुका श्रद्धान।

सम्यग्दर्शन तीन मूढ़तासे रहित, निःशंक आदि आठ अंगसहित, आठ मद और छः अनायतनसे रहित है।

सात तत्त्व अथवा नव पदार्थके श्रद्धानको शास्त्रमें सम्यग्दर्शन कहा है। परन्तु दोषरहित शास्त्रके उपदेशके विना सात तत्त्वका श्रद्धान किस तरह होता है? निर्दोष आप्तके विना सत्यार्थ आगम किस तरह प्रगट होता है? इसलिए सम्यग्दर्शनका मूल कारण सत्यार्थ आप्त ही है।

आप्तपुरुष क्षुधातृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित होता है

धर्मका मूल आप्त भगवान है।

आप्त भगवान निर्दोष सर्वज्ञ और हितोपदेशक है।

□

श्री

व्याख्यानसार—२

[८६४] ९५९

[८६४-१] १* मोरवी, आषाढ़, १९५६

१. ज्ञानके साथ वैराग्य और वैराग्यके साथ ज्ञान होता है। वे अकेले नहीं होते।

२. वैराग्यके साथ शृंगार नहीं होता, और शृंगारके साथ वैराग्य नहीं होता।

३. वीतराग वचनके असरसे जिसे इंद्रियसुख नीरस नहीं लगे, उसने ज्ञानीके वचन सुने ही नहीं, ऐसा समझें।

४. ज्ञानीके वचन विषयका वमन, विरेचन करानेवाले हैं।

५. छद्मस्थ अर्थात् आवरणयुक्त।

६. शैलेशीकरण = शैल = पर्वत + ईश = महान्, अर्थात् पर्वतोंमें महान मेरुके समान अकंप-गुणवाला।

७. अकंपगुणवाला = मन, वचन और कायाके योगकी स्थिरतावाला।

८. मोक्षमें आत्माके अनुभवका जो नाश होता हो तो वह मोक्ष किस कामका ?

---

*. वि०सं० १९५६ के आषाढ़ और सावनमें श्रीमद्जी मोरवीमें ठहरे थे। उस अरसेमें उन्होंने समय-समयपर जो व्याख्यान दिये थे और मुमुक्षुओंके प्रश्नोंका समाधान किया था। एक मुमुक्षु श्रोताने उस सबका सार संक्षेपमें लिख लिया था। वही संक्षिप्त सार यहां दिया गया है।

९. आत्माका ऊर्ध्वस्वभाव है, तदनुसार आत्मा पहले ऊँचे जाती है और कदाचित् सिद्ध शिलासे टकराये; परन्तु कर्मरूपी बोझ होनेसे नीचे आये। जैसे कि डूबा हुआ मनुष्य उछालसे एक वक्त ऊपर आ जाता है।

१०. भरतेश्वरकी कथा। (भरत चेत, काल झटका देगा।)

११. सगर चक्रवर्तीकी कथा। (६०००० पुत्रोंकी मृत्युके श्रवणसे वैराग्य।)

१२. नमिराजर्षिकी कथा। (मिथिला जलती हुई दिखायी इत्यादि।)

●

[८६४–२] २ मोरवी, आषाढ़ सुदी ५, सोम, १९५६

१. जैन आत्माका स्वरूप है। उस स्वरूप (धर्म) के प्रवर्तक भी मनुष्य थे। जैसे कि वर्तमान अवसर्पिणीकालमें ऋषभ आदि पुरुष उस धर्मके प्रवर्तक थे। बुद्ध आदि पुरुषोंको भी उस उस धर्मके प्रवर्तक जानें। इससे कुछ अनादि आत्मधर्मका विचार न था ऐसा नहीं था।

२. लगभग दो हजार वर्ष पहले जैन यति शेखरसूरि आचार्यने वैश्योंको क्षत्रियोंके साथ मिलाया।

३. 'ओसवाल' 'ओरपाक' जातिके राजपूत हैं।

४. उत्कर्ष, अपकर्ष और संक्रमण ये सत्तामें रही हुई कर्म-प्रकृतिके हो सकते हैं; उदयमें आई प्रकृतिके नहीं हो सकते।

५. आयुकर्मका जिस प्रकारसे बंध होता है उस प्रकारसे देहस्थिति पूर्ण होती है।

६. अंधेरेमें नहीं देखना, यह एकांत दर्शनावरणीय कर्म नहीं कहा जाता, परन्तु मंद दर्शनावरणीय कहा जाता है। तमके निमित्त और तेजके अभावके कारण वैसा होता है।

७. दर्शन रुकनेपर ज्ञान रुक जाता है।

८. ज्ञेय जाननेके लिए ज्ञानको बढ़ाना चाहिए। जैसा वजन वैसे बाट।

९. जैसे परमाणुकी शक्ति पर्यायको प्राप्त करनेसे बढ़ती जाती है, वैसे ही चैतन्यद्रव्यकी शक्ति विशुद्धताको प्राप्त करनेसे बढ़ती जाती है। काँच, चश्मा, दूरबीन आदि पहले (परमाणु) के प्रमाण हैं, और अवधि, मनःपर्याय, केवलज्ञान, लब्धि, सिद्धि आदि दूसरे (चैतन्यद्रव्य) के प्रमाण हैं।

●

[८६४–३] ३ मोरवी, आषाढ़ सुदी ६, मंगल, १९५६

१. क्षयोपशमसम्यक्त्वको वेदकसम्यक्त्व भी कहा जाता है। परन्तु क्षयोपशममेंसे क्षायिक होनेकी संधिके समयका जो सम्यक्त्व है वह वस्तुतः वेदकसम्यक्त्व है।

२. पाँच स्थावर एकेन्द्रिय बादर हैं, तथा सूक्ष्म भी हैं। निगोद बादर और सूक्ष्म है। वनस्पतिके सिवाय बाकीके चारमें असंख्यात सूक्ष्म कहे जाते हैं। निगोद सूक्ष्म अनंत हैं, और वनस्पतिके सूक्ष्म अनंत है, वहाँ निगोदमें सूक्ष्म वनस्पति घटती है।

३. श्री तीर्थंकर ग्यारहवें गुणस्थानकका स्पर्श नहीं करते, इसी तरह वे पहले दूसरे तथा तीसरेका भी स्पर्श नहीं करते।

४. वर्धमान, हीयमान और स्थित ऐसी जो परिणामकी तीन धाराएँ हैं, उनमें हीयमान परिणामकी धारा सम्यक्त्व-आश्रयी (दर्शन-आश्रयी) श्री थँकरदेवको नहीं होती, और चारित्र-आश्रयी भजना।

५. जहाँ क्षायिकचारित्र है वहाँ मोहनीयका अभाव है; और जहाँ मोहनीयका अभाव है वहाँ पहला, दूसरा, तीसरा और ग्यारहवाँ इन चार गुणस्थानकोंकी स्पर्शनाका अभाव है।

६. उदय दो प्रकारका हैं—एक प्रदेशोदय और दूसरा विपाकोदय। विपाकोदय वाह्य (दीखती हुई) रीतिसे वेदन किया जाता है, और प्रदेशोदय भीतरसे वेदन किया जाता है।

७. आयुकर्मका बंध प्रकृतिके विना नहीं होता, परन्तु वेदनीयका होता है।

८. आयुप्रकृतिका वेदन एक ही भवमें किया जाता है। दूसरी प्रकृतियोंका वेदन उस भव और अन्य भवमें भी किया जाता है।

९. जीव जिस भवकी आयुप्रकृति भोगता है, वह सारे भवकी एक ही वंधप्रकृति है। उस वंधप्रकृतिका उदय आयुके आरंभसे गिना जाता है। इसलिए उस भवकी आयुप्रकृति उदयमें है; उसमें संक्रमण, उत्कर्ष, अपकर्ष आदि नहीं हो सकते।

१०. आयुकर्मकी प्रकृति दूसरे भवमें नहीं भोगी जाती।

११. गति, जाति, स्थिति, संबंध, अवगाह (शरीरप्रमाण) और रस इन्हें अमुक जीव अमुक प्रमाणमें भोगे इसका आधार आयुकर्मपर है। जैसे कि एक मनुष्यकी सौ वर्षकी आयुकर्म प्रकृतिका उदय हो, उसमेंसे अस्सीवें वर्ष अधूरी आयुमें मर जाये तो वाकीके वीस वर्ष कहाँ और किस तरह भोगे जायें? दूसरे भवमें गति, जाति, स्थिति, संबंध आदि नये सिरेसे होते हैं, इक्यासीवें वर्षसे नहीं होते। इसलिए आयुकी उदयप्रकृति अध-वीचमें नहीं टूट सकती। जिस जिस प्रकारसे बंध पड़ा हो उस उस प्रकारसे उदयमें आनेसे किसीकी दृष्टिमें कदाचित् आयुका टूटना आये, परंतु ऐसा नहीं हो सकता।

१२. जब तक आयुकर्मवर्गणा सत्तामें होती है तव तक संक्रमण, अपकर्ष, उत्कर्ष आदि करणका नियम लागू हो सकता है; परंतु उदयका आरंभ होनेके वाद लागू नहीं हो सकता।

१३. आयुकर्म पृथ्वीके समान है और दूसरे कर्म वृक्षके समान हैं। (यदि पृथ्वी हो तो वृक्ष होता है।)

१४. आयुके दो प्रकार हैं—(१) सोपक्रम और (२) निरुपक्रम। इनमेंसे जिस प्रकारकी आयु बाँधी हो उसी प्रकारकी आयु भोगी जाती है।

१५. उपशमसम्यक्त्व क्षयोपशम होकर क्षायिक होता है; क्योंकि उपशममें जो प्रकृतियाँ सत्तामें हैं; वे उदयमें आकर क्षीण होती हैं।

१६. चक्षुके दो प्रकार हैं—(१) ज्ञानचक्षु और (२) चर्मचक्षु। जैसे चर्मचक्षुसे एक वस्तु जिस स्वरूपसे दिखायी देती है वह वस्तु दूरवीन तथा सूक्ष्मदर्शक आदि यंत्रोंसे भिन्न स्वरूपसे ही दिखायी देती है, वैसे चर्मचक्षुसे वह जिस स्वरूपसे दिखायी देती है, वह ज्ञानचक्षुसे किसी भिन्न स्वरूपसे ही दिखायी देती है और उसी तरह कही जाती है, उसे आप अपनी चतुराई, अहत्वसे न मानें यह योग्य नहीं है।

●

[८६४–४] ४ मोरवी, आषाढ सुदी ७, वुध, १९५६

१. श्रीमान कुंदकुंदाचार्यने अष्टपाहुड (अष्टप्राभृत) रचा है। प्राभृतभेद—दर्शनप्राभृत, ज्ञानप्राभृत, चारित्रप्राभृत, भावप्राभृत इत्यादि। दर्शनप्राभृतमें जिनभावका स्वरूप वताया है।

शास्त्रकर्त्ता कहते हैं कि अन्य भावोंका हमने, आपने और देवाधिदेव तकने पूर्वकालमें भावन किया है, और उससे कार्य सिद्ध नहीं हुआ; इसलिए जिनभावका भावन करनेकी जरूरत है। जो जिनभाव शांत है, आत्माका धर्म है, और उसका भावन करनेसे ही मुक्ति होती है।

२. चारित्रप्राभृत।

३. द्रव्य और उसके पर्याय नहीं माने जाते; वहाँ विकल्प होनेसे उलझ जाना होता है। पर्यायोंको न माननेका कारण, उतने अंशको नहीं पहुँचना है।

४. ऐसा माना जाता है कि द्रव्यके पर्याय हैं, वहाँ द्रव्यका स्वरूप समझनेमें विकल्प रहनेसे उलझ जाना होता है, और इसीसे भटकना होता है।

५. सिद्धपद द्रव्य नहीं है, परन्तु आत्माका एक शुद्ध पर्याय है। उससे पहले मनुष्य अथवा देव था, तब वह पर्याय था, यों द्रव्य शाश्वत रहकर पर्यायांतर होता है।

६. शांतता प्राप्त होनेसे ज्ञान बढ़ता है।

७. आत्मसिद्धिके लिए द्वादशांगीका ज्ञान करते हुए बहुत वक्त चला जाता है; जब कि एक मात्र शांतताका सेवन करनेसे तुरत प्राप्त होती।

८. पर्यायका स्वरूप समझानेके लिए श्री तीर्थंकरदेवने त्रिपद (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) समझाया है।

९. द्रव्य ध्रुव सनातन है।

१०. पर्याय उत्पादव्यययुक्त है।

११. छहों दर्शन एक जैनदर्शनमें समाते हैं। उनमें भी जैन एक दर्शन है। बौद्ध—क्षणिकवादी = पर्यायरूपसे 'सत्' है। वेदांत—सनातन = द्रव्यरूपसे 'सत्' है। चार्वाक निरीश्वरवादी जब तक आत्माकी प्रतीति नहीं हुई तब तक उसे पहचाननेरूपसे 'सत्' है।

१२. जीवपर्यायके दो भेद हैं—संसारपर्याय और सिद्धपर्याय। सिद्धपर्याय सौ फीसदी ख़ालिस सोनेके समान है और संसारपर्याय खोटसंहित सोनेके समान है।

१३. व्यंजनपर्याय।

१४. अर्थपर्याय।

१५. विषयका नाश (वेदका अभाव) क्षायिकचारित्रसे होता है। चौथे गुणस्थानकमें विषयकी मंदता होती है, और नौवें गुणस्थानक तक वेदका उदय होता है।

१६. जो गुण अपनेमें नहीं है वह गुण अपनेमें है, ऐसा जो कहता अथवा मानता है, उसे मिथ्यादृष्टि समझें।

१७. जिन और जैन शब्दका अर्थ—

[1]घट घट अंतर् जिन बसै, घट घट अंतर् जैन।
मत मदिराके पानसें, मतवारा समजै न॥

—समयसार नाटक

१८. सनातन आत्मधर्म है शांत होना विराम पाना; सारी द्वादशांगीका सार भी यही है। वह षड्दर्शनमें समा जाता है, और वह षड्दर्शन जैनदर्शनमें समा जाता है।

१९. वीतरागके वचन विषयका विरेचन करानेवाले हैं।

---

१. **भावार्थ**—प्रत्येक हृदयमें जिनराज और जैनधर्मका निवास है, परंतु सम्प्रदाय-मदिराके पानसे मतवाले लोग नहीं समझते।

२०. जैनधर्मका आशय, दिगंबर तथा श्वेतांबर आचार्योका आशय, और द्वादशांगीका आशय मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त कराना है, और यही साररूप है। इस बातमें किसी प्रकारसे ज्ञानियोंका विकल्प नहीं है। यही तीनों कालोंमें ज्ञानियोंका कथन है, था और होगा; परंतु वह समझमें नहीं आता यही बड़ी समस्या है।

२१. बाह्य विषयोंसे मुक्त होकर ज्यों ज्यों उसका विचार किया जाये त्यों त्यों आत्मा अविरोधी होती जाती है, निर्मल होती है।

२२. भंगजालमें न पड़ें। मात्र आत्माकी शांतिका विचार करना योग्य है।

२३. ज्ञानी यद्यपि बनियोंकी तरह हिसाबी (सूक्ष्मरूपसे शोधन कर तत्त्वोंको स्वीकार करनेवाले) होते हैं, तो भी आखिर लोग जैसे लोग (एक सारभूत बातको पकड़ रखनेवाले) होते हैं। अर्थात् अंतमें चाहे जो हो परंतु एक शांततासे नहीं चूकते; और सारी द्वादशांगीका सार भी यही है।

२४. ज्ञानी उदयको जानता है, परन्तु वह साता-असातामें परिणमित नहीं होता।

२५. इंद्रियोंके भोगसहित मुक्ति नहीं। जहाँ इंद्रियोंका भोग है वहाँ संसार है, और जहाँ संसार है वहाँ मोक्ष नहीं।

२६. बारहवें गुणस्थानक तक ज्ञानीका आश्रय लेना है, ज्ञानीकी आज्ञासे वर्तन करना है।

२७. महान आचार्यों और ज्ञानियोंमें दोष तथा भूलें नहीं होते। अपनी समझमें न आनेसे हम भूल मानते हैं। अपनेमें ऐसा ज्ञान नहीं है कि जिससे अपनी समझमें आ जाये। इसलिए वैसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जो ज्ञानीका आशय भूलवाला लगता है, वह समझमें आ जायेगा, ऐसी भावना रखें। परस्पर आचार्योंके विचारमें यदि किसी जगह कुछ भेद देखनेमें आये तो वह क्षयोपशमके कारण संभव है, परन्तु वस्तुतः उसमें विकल्प करना योग्य नहीं।

२८. ज्ञानी बहुत चतुर थे। वे विषयसुख भोगना जानते थे, उनकी पाँचों इंद्रियाँ पूर्ण थीं, (जिसकी पाँचों इंद्रियाँ पूर्ण होती हैं वही आचार्यपदवीके योग्य होता है)। फिर भी यह संसार (इंद्रियसुख) निःसार लगनेसे तथा आत्माके सनातन धर्ममें श्रेय मालूम होनेसे वे विषयसुखसे विरत होकर आत्माके सनातन धर्ममें संलग्न हुए हैं।

२९. अनंतकालसे जीव भटकता है, फिर भी उसका मोक्ष नहीं हुआ। जब कि ज्ञानीने एक अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष बताया है।

३० जीव ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार शांतिमें विचरे तो अंतर्मुहूर्तमें मुक्त होता है।

३१. अमुक वस्तुओंका व्यवच्छेद हो गया है, ऐसा कहा जाता है; परंतु उनके लिए पुरुषार्थ नहीं किया जाता, इसलिए उनके व्यवच्छेदकी बात कही जाती है। यदि उनके लिए सच्चा—जैसा चाहिए वैसा पुरुषार्थ हो तो वे गुण प्रगट हों इसमें संशय नहीं है। अंग्रेजोंने उद्यम किया तो हुन्नर और राज्य प्राप्त किये, और हिन्दुस्तानियोंने उद्यम नहीं किया तो प्राप्त नहीं कर सके, इसलिए विद्या (ज्ञान)का व्यच्छेद जाना नहीं कहा जाता।

३२ विषय क्षीण नहीं हुए, फिर भी जो जीव अपनेमें वर्तमानमें गुण मान बैठे हैं, उन जीवों जैसी भ्रांति न करते हुए उन विषयोंका क्षय करनेकी ओर ध्यान दें।

[८६४-५] ५ मोरवी, आषाढ़ सुदी ८, गुरु, १९५६

१. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष प्रथम तीनसे बढ़कर है, मोक्षके लिए बाकी तीन हैं।

२. सुखरूप आत्माका धर्म है, ऐसा प्रतीत होता है। वह सोनेकी तरह शुद्ध है।

३. कर्मसे सुखदुःख सहन करते हुए भी परिग्रहके उपार्जन तथा उसके रक्षणके लिए सब प्रयत्न करते हैं। सब सुखको चाहते हैं, परंतु वे परतंत्र है। परतंत्रता प्रशंसापात्र नहीं है, वह दुर्गतिका हेतु है। अतः सच्चे सुखके इच्छुकके लिए मोक्षमार्गका वर्णन किया गया है।

४. वह मार्ग (मोक्ष) रत्नत्रयकी आराधनासे सब कर्मोंका क्षय होनेसे प्राप्त होता है।

५. ज्ञानी द्वारा निरूपित तत्त्वोंका यथार्थ बोध होना 'सम्यग्ज्ञान' है।

६. जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये तत्त्व हैं। यहाँ पुण्य-पाप आस्रवमें गिने हैं।

७. जीवके दो भेद—सिद्ध और संसारी।

सिद्धः—अनंत ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सिद्धके स्वभाव समान हैं फिर भी अनंतर परंपरा होनेरूप पंद्रह भेद इस प्रकार कहे हैं—(१) तीर्थ, (२) अतीर्थ, (३) तीर्थंकर, (४) अतीर्थंकर, (५) स्वयंबुद्ध, (६) प्रत्येक बुद्ध, (७) बुद्धबोधित (८) स्त्रीलिंग, (९) पुरुषलिंग, (१०) नपुंसकलिंग, (११) अन्यलिंग, (१२) जैनलिंग, (१३) गृहस्थलिंग, (१४) एक, (१५) अनेक।

संसारीः—संसारी जीव एक प्रकारसे, दो प्रकारसे इत्यादि अनेक प्रकारसे कहे हैं।

एक प्रकारः—सामान्यरूपसे उपयोग लक्षणसे सर्व संसारी जीव हैं।

दो प्रकारः—त्रस, स्थावर अथवा व्यवहारराशि अव्यवहारराशि। सूक्ष्म निगोदमेंसे निकल कर एक बार त्रसपर्यायको प्राप्त किया है, वह 'व्यवहारराशि'।

फिर वह सूक्ष्म निगोदमें जाये तो भी वह व्यवहारराशि। अनादिकालसे सूक्ष्मनिगोदमेंसे निकल कर कभी त्रसपर्यायको प्राप्त नहीं किया है वह 'अव्यवहारराशि।'

तीन प्रकारः—संयत, असंयत और संयतासंयत अथवा स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

चार प्रकारः—गतिकी अपेक्षासे।

पाँच प्रकारः—इंद्रियको अपेक्षासे।

छः प्रकारः—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस।

सात प्रकारः—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुकल और अलेशी। (चौदहवे गुणस्थानकवाले जीव लेना परंतु सिद्ध न लेना, क्योंकि संसारी जीवकी व्याख्या है।)

आठ प्रकारः—अंडज, पोतज, जरायुज, स्वेदज, रसज, संमूर्च्छन, उद्भिज और उपपाद्।

नौ प्रकारः—पाँच स्थावर, तीन विकलेंद्रिय और पंचेन्द्रिय।

दस प्रकारः—पाँच स्थावर, तीन विकलेंद्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पंचेंद्रिय।

ग्याहर प्रकारः—सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेंद्रिय, और पंचेंद्रियमें जलचर, स्थलचर, नभश्चर, मनुष्य, देवता और नारक।

बारह प्रकारः—छकायके पर्याप्त और अपर्याप्त।

तेरह प्रकारः—उपर्युक्त बारह भेद संव्यवहारिक तथा असंव्यवहारिक (सूक्ष्म निगोदका)।

चौदह प्रकारः—गुणस्थानक-आश्रयी, अथवा सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेंद्रिय, तथा संज्ञी, असंज्ञी इन सातके पर्याप्त और अपर्याप्त।

इस तरह बुद्धिमान पुरुषोंने सिद्धांतके अनुसार जीवके अनेक भेद (विद्यमान भावोंके भेद) कहे हैं।

●

[८६४–६] ६ मोरवी, आषाढ़ सुदी ९, शुक्र, १९५६

१. जातिस्मरणज्ञानके विषयमें जो शंका रहती है, उसका समाधान इस प्रकारसे होगा:—

जैसे बाल्यावस्थामें जो कुछ देखा हो अथवा अनुभव किया हो उसका स्मरण वृद्धावस्थामें कितनोंको होता है और कितनोंको नहीं होता, वैसे कितनोंको पूर्वभवका भान रहता है और कितनों-को नहीं रहता। न रहनेका कारण यह है कि पूर्वदेहको छोड़ते हुए जीव बाह्य पदार्थोंमें लगे रह कर मरता है और नयी देह प्राप्त कर उसीमें आसक्त रहता है, उसे पूर्वपर्यायका भान नहीं रहता; इससे उलटी रीतिसे प्रवर्तन करनेवालेको अर्थात् जिसने अवकाश रखा हो उसे पूर्वभव अनुभवमें आता है।

२. एक सुन्दर वनमें आपकी आत्मामें क्या निर्मलता है, जिसे जाँचते हुए आपको अधिकसे अधिक स्मृति होती है कि नहीं ? आपकी शक्ति भी हमारी शक्तिकी तरह स्फुरायमान क्यों न हो ? उसके कारण विद्यमान हैं। प्रकृतिबंधमें उसके कारण बताये हैं। 'जातिस्मरणज्ञान' मतिज्ञानका भेद है।

एक मनुष्य बीस वर्षका और दूसरा मनुष्य सौ वर्षका होकर मर जाये, उन दोनोंने पाँच वर्षकी उमरमें जो देखा या अनुभव किया हो वह यदि अमुक वर्ष तक स्मृतिमें रह सकता हो तो बीस वर्षमें मर जाये उसे इक्कीसवें वर्षमें फिरसे जन्म लेनेके बाद स्मृति हो परंतु वैसा होता नहीं। कारण कि पूर्वपर्यायमें उसके स्मृतिके साधन पर्याप्त होनेसे, पूर्वपर्यायको छोड़ते हुए मृत्यु आदि वेदनाके कारण, नयी देह धारण करते हुए गर्भवासके कारण, बालपनमें मूढताके कारण और वर्तमान देहमें अति लीनताके कारण पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेका अवकाश ही नहीं मिलता। तथापि जिस तरह गर्भावास तथा बाल्यावस्था स्मृतिमें नहीं रहते, इसलिए यह बात नहीं है कि वे नहीं थे; उसी तरह उपर्युक्त कारणोंसे पूर्वपर्याय स्मृतिमें नहीं रहती, जिससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं था। जिस तरह आम आदि वृक्षोंकी कलम की जाती है, उसमें सानुकूलता हो तो होती है, उसी तरह यदि पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेके लिए क्षयोपशम आदि सानुकूलता (योग्यता) हो तो जातिस्मरणज्ञान होता है। पूर्वसंज्ञा कायम होनी चाहिए। असंज्ञीका भव आ जानेसे जातिस्मरणज्ञान नहीं होता।

कदाचित् स्मृतिका काल थोड़ा कहें तो सौ वर्षका होकर मर जानेवाले व्यक्तिने पाँच वर्षकी उमरमें जो देखा अथवा अनुभव किया हो वह पंचानवें वर्षमें स्मृतिमें नहीं रहना चाहिए, परंतु यदि पूर्वसंज्ञा कायम हो तो स्मृतिमें रहे।

३. आत्मा है। आत्मा नित्य है। उसके प्रमाण :—

(१) बालकको माँका दूध पीते हुए चुक-चुक करना क्या कोई सिखाता है ? वह तो पूर्वाभ्यास है।

(२) सर्प और मोरका, हाथी और सिंहका चूहे और बिल्लीका स्वाभाविक वैर है। उसे कोई नहीं सिखाता। पूर्वभवके वैरकी स्वाभाविक संज्ञा है, पूर्वज्ञान है।

४. निःसंगता वनवासीका विषय है ऐसा ज्ञानियोंने कहा है, वह सत्य है। जिसमें दो व्यवहार-सांसारिक और असांसारिक होते हैं, उससे निःसंगता नहीं होती।

५. संसार छोड़े विना अप्रमत्तगुणस्थानक नहीं है। अप्रमत्त गुणस्थानककी स्थिति अंतर्मुहूर्तकी है।

६. 'हम समझ गये हैं', 'हम शांत है', ऐसा जो कहते हैं वे तो ठगे गये हैं।

७. संसारमें रहकर सातवें गुणस्थानकसे आगे नहीं बढ़ सकते, इससे संसारीको निराश नहीं होना है, परंतु उसे ध्यानमें रखना है।

८. पूर्वकालमें स्मृतिमें आयी हुई वस्तुको फिर शांतिसे याद करे तो यथास्थित याद आ जाती है। अपना दृष्टांत देते हुए वताया कि उन्हें ईडर वसोके शांत स्थान याद करनेसे तद्रूप याद आ जाते हैं। तथा संभातके पास वडवा गाँवमें ठहरे थे, वहाँ वावडीके पीछे थोड़े ऊँचे टीलेके पास बाड़के आगे जाकर रास्ता, फिर शांत और शीतल अवकाशका स्थान था। उन स्थानोंमें स्वयं शांत समाधिस्थ दशामें बैठे थे, वह स्थिति आज उन्हें पाँच सौ बार स्मृतिमें आयी है। दूसरे भी उस समय वहाँ थे। परंतु सभीको वैसी याद नहीं आवे। कारण कि वह क्षयोपशमके अधीन है। स्थल भी निमित्त कारण है।

९. *ग्रंथिके दो भेद हैं:-एक द्रव्य, बाह्य ग्रंथि (चतुष्पद, द्विपद, अपद इत्यादि); दूसरी भाव-अभ्यंतर ग्रंथि (आठ कर्म इत्यादि), सम्यक् प्रकारसे जो दोनों ग्रंथियोंसे निवृत्त हो वह 'निर्ग्रंथ' है।

१०. मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति आदि भाव जिसे छोड़ने ही नहीं उसके वस्त्रका त्याग हो, तो भी पारलौकिक कल्याण क्या कर सके ?

११. सक्रिय जीवको अबंधका अनुष्ठान हो ऐसा कभी नहीं होता। क्रिया होनेपर अबंध गुणस्थानक नहीं होता।

१२. राग आदि दोषोंका क्षय हो जानेसे उनके सहायक कारणोंका क्षय होता है। जब तक संपूर्णरूपसे उनका क्षय नहीं होता तब तक मुमुक्षुजीव संतोष मानकर नहीं बैठता।

१३. राग आदि दोष और उनके सहायक कारणोंके अभावमें बंध नहीं होता। राग आदिके प्रयोगसे कर्म होता है। उनके अभावमें सब जगह कर्मका अभाव समझें।

१४. आयुकर्मसंबंधी—(कर्मग्रंथ)

(अ) अपवर्तन = विशेष कालका हो तो वह कर्म थोड़े कालमें वेदा जा सकता है। उसका कारण पूर्वका वैसा बंध है, जिससे वह इस प्रकारसे उदयमें आता है और भोगा जाता है।

(आ) 'टूट गया' का अर्थ बहुतसे 'दो भाग हुए' ऐसा करते हैं; परंतु वैसा अर्थ नहीं है। जिस तरह 'कर्जा टूट गया' का अर्थ 'कर्जा उतर गया—कर्जा दे दिया होता है', उसी तरह 'आयु टूट गयी' का आशय समझें।

(इ) सोपक्रम=शिथिल, जिसे एकदम भोग लिया जाये।

(ई) निरुपक्रम=निकाचित। देव, नारक, युगलिया, तिरसठ शलाकापुरुष और चरमशरीरीको वह होता है।

(उ) प्रदेशोदय=प्रदेशको आगे लाकर वेदन करना वह प्रदेशोदय। प्रदेशोदयसे ज्ञानी कर्मका क्षय अंतर्मुहूर्तमें करते हैं।

(ऊ) 'अनपवर्तन' और 'अनुदीरणा' इन दोनोंका अर्थ मिलता हुआ है, तथापि अंतर यह है कि उदीरणामें आत्माकी शक्ति है, और अनपवर्तनमें कर्मकी शक्ति है।

---

*धर्मसंग्रहणी गाथा १०७०, १०७१, १०७४, १०७५।

(ए) आयु घटती है, अर्थात् थोड़े कालमें भोगी जाती है।

१५. असाताके उदयमें ज्ञानकी कसौटी होती है।

१६. परिणामकी धारा थरमामीटरके समान है।

●

७ मोरबी, आषाढ सुदी १०, शनि, १९५६

१. मोक्षमालामेंसेः—

असमंजसता = अमिलनता, अस्पष्टता।

विषम = जैसे तैसे।

आर्य = उत्तम। 'आर्य' शब्द श्री जिनेश्वरके, मुमुक्षुके, तथा आर्यदेशके रहनेवालेके लिए प्रयुक्त होता है।

निक्षेप = प्रकार, भेद, भाग।

भयत्राण = भयसे तारनेवाला, शरण देनेवाला।

२. श्री हेमचंद्राचार्य धंधुकाके मोढ बनिया थे। उन महात्माने कुमारपाल राजासे अपने कुटुंबके लिए एक क्षेत्र भी नहीं माँगा था, तथा स्वयं भी राजाके अन्नका एक ग्रास भी नहीं लिया था ऐसा श्री कुमारपालने उन महात्माके अग्निदाहके समय कहा था। उनके गुरुदेव देवचंद्रसूरि थे।

●

८ मोरबी, आषाढ़ सुदी ११, रवि, १९५६

१. सरस्वती = जिनवाणीकी धारा।

२. (१) बाँधनेवाला, (२) बाँधनेके हेतु, (३) बंधन और (४) बंधनके फलसे सारे संसारका प्रपंच रहता है ऐसा श्री जिनेंद्रने कहा है।

●

९ मोरबी, आषाढ़ सुदी १२, सोम, १९५६

१. श्री यशोविजयजीने योगदृष्टि ग्रंथमें छठी 'कांतादृष्टिमें' बताया है कि वीतरागस्वरूपके सिवाय दूसरे कहीं भी स्थिरता नहीं हो सकती; वीतरागसुखके सिवाय दूसरा सुख निःसत्व लगता है, आडंबररूप लगता है। पाँचवीं 'स्थिरादृष्टि'में बताया है कि वीतरागसुख प्रियकारी लगता है। आठवीं 'परादृष्टि'में बताया है कि परमावगाढ सम्यक्त्वका संभव है जहाँ केवलज्ञान होता है।

२. 'पातंजलयोग'के कर्ताको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ था; परंतु हरिभद्रसूरिने उन्हें मार्गानुसारी माना है।

३. हरिभद्रसूरीने उन दृष्टियोंका अध्यात्मरूपसे वर्णन किया है, और उसपरसे यशोविजयजी महाराजने ढालरूपसे गुजरातीमें लिखा है।

४. योगदृष्टिमें छहों भाव—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक, और सान्निपातिक—का समावेश होता है। ये छः भाव जीवके स्वतत्त्वभूत हैं।

५. जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक मौन रहना ठीक है। नहीं तो अनाचार दोष लगता है। इस विषयमें 'उत्तराध्ययनसूत्र'में 'अनाचार' नामक अधिकार है। (अध्ययन छठा)

६. ज्ञानीके सिद्धांतमें अंतर नहीं हो सकता।

७. सूत्र आत्माका स्वधर्म प्राप्त करनेके लिए बनाये गये हैं; परंतु उनका रहस्य, यथार्थ समझमें नहीं आता, इससे अंतर लगता है।

८ दिगम्बरके तीव्र वचनोंके कारण कुछ रहस्य समझा जा सकता है। श्वेताम्बरकी शिथिलताके कारण रस ठंडा होता गया।

९. 'शाल्मलि वृक्ष' नरकमें नित्य असातारूपसे है। वह वृक्ष शमी वृक्षसे मिलता-जुलता होता है। भावसे संसारी आत्मा उस वृक्षरूप है। आत्मा परमार्थसे, उस अध्यवसायको छोड़कर, नंदनवनके समान है।

१०. जिनमुद्रा दो प्रकारकी है:—कायोत्सर्ग और पद्मासन। प्रमाद दूर करनेके लिए दूसरे अनेक आसन किये हैं। परंतु मुख्यतः ये दो आसन हैं।

११. [1]**प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।**
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव॥

१२. चैतन्यका लक्ष्य करनेवालेकी बलिहारी है।

१३. तीर्थ—तरनेका मार्ग।

१४. अरनाथ प्रभुकी स्तुति महात्मा आनंदघनजीने की है। श्री आनंदघनजीका दूसरा नाम 'लाभानंदजी' था। वे तपगच्छमें हुए हैं।

१५. वर्तमानमें लोगोंका ज्ञान और शांतिके साथ संबंध नहीं रहा; मताचार्यने मार डाले हैं।

१६ '[2]**आशय आनंदघन तणो, अति गंभीर उदार।**
बालक बांय पसारीने कहे उदधि विस्तार॥'

१७. ईश्वरत्व तीन प्रकारसे जाना जाता है:—

(१) जड़ जड़ात्मकतासे रहता है। (२) चैतन्य—सांसारी जीव विभावात्मकतासे रहते हैं। (३) सिद्ध—शुद्ध चैतन्यात्मकतासे रहते हैं।

●

१०　　　मोरबी, आषाढ़ सुदी १३, मंगल, १९५६

'भगवती आराधना' जैसी पुस्तकें मध्य एवं उत्कृष्ट भावके महात्माओंके तथा मुनियोंके ही योग्य हैं। ऐसे ग्रन्थ उससे कम पदवो, योग्यतावाले साधु तथा श्रावकको देनेसे वे कृतघ्नी होते हैं; उन्हें उनसे उलटे हानि होती है सच्चे मुमुक्षुओंको ही ये लाभकारी हैं।

२. मोक्षमार्ग अगम्य तथा सरल है।

अगम्य—मात्र विभावदशाके कारण मतभेद पड़ जानेसे किसी भी जगह मोक्षमार्ग ऐसा नहीं रहा कि जो समझमें आ सके, और इस कारण वर्तमानमें वह अगम्य है। मनुष्यके मर जानेके वाद अज्ञानसे नाड़ी पकड़कर इलाज़ करनेके फलके समान मतभेद पड़नेका फल हुआ है, और इसलिए मोक्षमार्ग समझमें नहीं आता।

सरल—मतभेदकी माथापच्ची दूर कर, आत्मा और पुद्गलका भेद करके शांतिसे आत्माका

---

१. अर्थके लिए देखें उपदेश नोंध २२।

२. **भावार्थ**—योगीवर श्री आनंदघनजीका आशय अति गंभीर और उदार है, उसे पूरी तरहसे समझना असंभवसा है; जैसे कि बालक बाहु फैलाकर सागरके विस्तारका मात्र संकेत करता है।

अनुभव किया जाये तो मोक्षमार्ग सरल है; और दूर नहीं है। जैसे कि एक ग्रन्थको पढ़ते हुए कितना वक्त जाता है और उसे समझनेमें अधिक वक्त जाना चाहिए, उसी तरह अनेक शास्त्र हैं। उन्हें एक एक करके पढ़नेके बाद उनका निर्णय करनेके लिए बैठा जाये, तो उस हिसाबसे पूर्व आदिका ज्ञान और केवलज्ञान किसी भी उपायसे प्राप्त न हो, अर्थात् उस तरह पढ़नेमें आते हों तो कभी पार न आये; परन्तु उसकी संकलना है, और उसे श्री गुरुदेव बताते हैं कि महात्मा उसे अंतर्मुहूर्तमें प्राप्त करते हैं।

३. इस जीवने नवपूर्व तक ज्ञान प्राप्त किया तो भी कुछ सिद्धि नहीं हुई, उसका कारण विमुखदशासे परिणमन होना है। यदि सन्मुखदशासे परिणमन हुआ होता तो तत्क्षण मुक्त हो जाता।

४. परमशांत रसमय भगवती आराधना जैसे एक ही शास्त्रका अच्छी तरह परिणमन हुआ हो तो बस है। कारण कि इस आरे-कालमें वह सहज है, सरल है।

५. इस आरे (काल) में संहनन अच्छे नहीं, आयु कम, दुर्भिक्ष और महामारी जैसे संयोग वारंवार आते हैं, इसलिए आयुकी कोई निश्चयपूर्वक स्थिति नहीं है, इसलिए यथासंभव आत्महित-की बात तुरत ही करे। उसे स्थगित कर देनेसे जीव धोखा खा बैठता है। ऐसे अल्प समयमें नितांत सम्यक्मार्ग परमशांत होना है, उसे ग्रहण करे। उसीसे उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भाव होते हैं।

६. काम आदि कभी ही अपनेसे हार मानते हैं, नहीं तो बहुत वार तो अपनेको थप्पड़ मार देते हैं। इसलिए भरसक यथासंभव जल्दी ही उन्हें छोड़नेके लिए अप्रमादी बनें। जैसे शीघ्र हुआ जाये वैसे होना। शूरवीरतासे वैसे तुरत हुआ जा सकता है।

७. वर्तमानमें दृष्टिरागानुसारी मनुष्य विशेषरूपसे हैं।

८. यदि सच्चे वैद्यकी प्राप्ति हो जाये तो देहका धर्म सहज ही औषधि द्वारा विधर्ममेंसे निकल कर स्वधर्म पकड़ लेता है। उसी तरह यदि सच्चे गुरुकी प्राप्ति हो जाये तो आत्माकी शांति बहुत ही सुगमतासे और सहजमें हो जाती है। इसलिए वैसी क्रिया करनेमें स्वयं तत्पर अर्थात् अप्रमादी हो। प्रमादसे उलटे कायर न हो।

९. सामायिक = संयम

१०. प्रतिक्रमण = आत्माकी क्षमापना, आराधना।

११. पूजा = भक्ति।

१२. जिनपूजा, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि किस अनुक्रमसे करने, यह कहनेसे एकके बाद एक प्रश्न उठता है, और उसका किसी तरह अंत आनेवाला नहीं है। परन्तु यदि ज्ञानीकी आज्ञासे यह जीव चाहे जैसे (ज्ञानी द्वारा कहे अनुसार) चले तो भी वह मोक्षमार्गमें है।

१३. हमारी आज्ञासे चलते हुए यदि पाप लगे तो उसे हम अपने सिरपर ले लेते हैं; क्योंकि जैसे कि रास्तेमें काँटे पड़े हों तो ऐसा जानकर कि वे किसीको लगेंगे, मार्गमें चलता हुआ कोई व्यक्ति उन्हें वहाँसे उठाकर, किसी ऐसी एकांत जगहमें रख दे कि जहाँ वे किसीको न लगें तो उसने कुछ राज्यका अपराध किया नहीं कहा जाये और राजा उसे दंड न दे; उसी तरह मोक्षका शांतमार्ग बतानेसे पाप किस तरह लग सकता है?

१४. ज्ञानीकी आज्ञासे चलते हुए ज्ञानी गुरुने योग्यतानुसार क्रियासंबंधी किसीको कुछ बताया हो और किसीको कुछ बताया हो, तो इससे मोक्ष (शांति) का मार्ग रुकता नहीं।

१५. यथार्थ स्वरूप समझे विना अथवा जो स्वयं कहता है वह परमार्थसे यथार्थ है कि नहीं, इस जाने विना, समझे विना जो वक्ता होता है वह अनंत संसार बढ़ाता है। इसलिए जब तक यह समझनेकी शक्ति न हो तब तक मौन रहना अच्छा है।

१६. वक्ता होकर एक भी जीवको यथार्थ-मार्ग प्राप्त करानेसे तीर्थंकरगोत्र बँधता है और उससे उलटा करनेसे महामोहनीयकर्म बँधता है।

१७. यद्यपि हम आप सबको अभी मार्गपर चढ़ा दें, परन्तु बरतनके अनुसार वस्तु रखी जाती है। नहीं तो जिस तरह हलके बरतनमें भारी वस्तु रख देनेसे बरतनका नाश हो जाता है, उसी तरह यहाँ भी हो जाये। क्षयोपशमके अनुसार समझा जा सकता है।

१८. आपको किसी तरह डरने जैसा नहीं है, क्योंकि आपके सिरपर हमारे जैसे हैं, तो अब मोक्ष आपके पुरुषार्थके अधीन है। यदि आप पुरुषार्थ करेंगे तो मोक्ष होना दूर नहीं। जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया वे सब महात्मा पहले अपने जैसे मनुष्य थे; और केवलज्ञान प्राप्त करनेके बाद भी (सिद्ध होनेसे पहले) देह तो वहीकी वही रहती है; तो फिर अब उस देहमेंसे उन महात्माओंने क्या निकाल डाला, यह समझकर हमें भी उसे निकाल डालना है। इसमें डर किसका? वाद-विवाद कि मतभेद किसका? मात्र शांतिसे वही उपासनीय है।

●

११ मोरबी, आषाढ़ सुदी १४, बुध १९५६

१. पहलेसे आयुधको बाँधना और उसका उपयोग करना सीखे हों तो लड़ाईके वक्त वह काम आता है; उसी तरह पहलेसे वैराग्यदशा प्राप्त की हो तो अवसर आनेपर काम आती है; आराधना हो सकती है।

२. यशोविजयजीने ग्रन्थ रचते हुए इतना उपयोग रखा था कि वे प्रायः किसी जगह भी चूके न थे। तो भी छद्मस्थ अवस्थाके कारण डेढ सौ गाथाके स्तवनमें सातवें ठाणांगसूत्रकी साख दी है वह मिलती नहीं। वह श्री भगवतीसूत्रके पाँचवें शतकके उद्देशमें मालूम होती है। इस जगह अर्थकर्ताने 'रासभवृत्ति'का अर्थ पशुतुल्य माना है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं। 'रासभवृत्ति' अर्थात् गधेको अच्छी शिक्षा दी हो तो भी जातिस्वभावके कारण धूल देखकर उसका मन लोटनेका हो जाता है; उसी तरह वर्तमानकालमें बोलते हुए भविष्यकालमें कहनेकी बात बोल दी जाती है।

३. 'भगवती आराधना'में लेश्याके अधिकारमें प्रत्येककी स्थिति आदि अच्छी तरह बतायी है।

४. परिणाम तीन प्रकारके हैं—हीयमान, वर्धमान और समवस्थित। पहले दो छद्मस्थको होते हैं, और अंतिम समवस्थित (अचल अकंप शैलेशीकरण) केवलज्ञानीको होता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें लेश्या तथा योग चलाचलता है, तो फिर वहाँ समवस्थित परिणाम किस तरह हो सकता है? उसका आशय यह है कि सक्रिय जीवको अबंध अनुष्ठान नहीं होता। तेरहवें गुणस्थानकमें केवलीको भी योगके कारण सक्रियता है, और उससे बंध है; परन्तु वह बंध अबंधबंध गिना जाता है। चौदहवें गुणस्थानकमें आत्माके प्रदेश अचल होते हैं। उदाहरणरूपमें, जिस तरह पिंजरेका सिंह जालीको नहीं छूता, और स्थिर होकर बैठ रहता है, तथा कोई क्रिया नहीं करता, उसी तरह यहाँ आत्माके प्रदेश अक्रिय रहते हैं। जहाँ प्रदेशकी अचलता है वहाँ अक्रियता मानी जाती है।

६. 'चलई सो बंधे', योगका चलायमान होना बंध है; योगका स्थिर होना अबंध है।

७. जब अबंध हो तब मुक्त हुआ कहा जाता है।

८. उत्सर्ग अर्थात् ऐसे होना चाहिए अथवा सामान्य।

अपवाद अर्थात् ऐसा चाहिए परन्तु वैसे न हो तो ऐसे। अपवादके लिए गली शब्दका प्रयोग करना बहुत ही हलका है। इसलिए उसका प्रयोग न करें।

९. उत्सर्गमार्ग अर्थात् यथाख्यातचारित्र, जो निरतिचार है। उत्सर्गमें तीन गुप्ति समाती है; अपवादमें पाँच समिति समाती है। उत्सर्ग अक्रिय है। अपवाद सक्रिय है। उत्तम उत्सर्गमार्ग है; और उससे निकृष्ट अपवाद है। चौदहवाँ गुणस्थानक उत्सर्ग है, उससे नीचेके गुणस्थानक एक दूसरेकी अपेक्षासे अपवाद हैं।

१०. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगसे एकके बाद एक अनुक्रमसे बंध पड़ता है।

११. मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ समझमें न आना। मिथ्यात्वसे विरति नहीं होती, विरतिके अभावसे कषाय होता है, कषायसे योगकी चलायमानता होती है, योगकी चलायमानता आस्रव, और उससे उलटा संवर है।

१२. दर्शनमें भूल होनेसे ज्ञानमें भूल होती है। जैसे रससे ज्ञानमें भूल होती है वैसे ही आत्माका वीर्य स्फुरित होता है, और तदनुसार वह परमाणु ग्रहण करती है और वैसा ही बंध पड़ता है, और तदनुसार विपाक उदयमें आता है। दो उँगलियोंको परस्पर फँसाने अँकुड़ी पड़ती है, उस अँकुड़ीरूप उदय है और उनको मरोड़नेरूप भूल है; उस भूलसे दुःख होता है अर्थात् बंध बंधता है। परन्तु मरोड़नेरूप भूल दूर हो जानेसे अँकुड़ी सहजमें ही दूर हो जाती है। उसी तरह दर्शनकी भूल दूर हो जानेसे कर्मोदय सहजमें ही विपाक देकर उसकी निर्जरा हो जाती है और नया बंध नहीं होता।

१३. दर्शनमें भूल होती है, उसका उदाहरण—जैसे लड़का बापके ज्ञानमें और दूसरेके ज्ञानमें देहकी अपेक्षासे एक ही है, दूसरी तरह नहीं, परन्तु बाप उसे अपना लड़का करके मानता है वही भूल है। वही दर्शनमें भूल करता है, और उससे उपर्युक्तके अनुसार बंध होता है।

१४. यदि उदयमें आनेसे पहले रसमें मंदता कर दी जाये तो आत्मप्रदेशसे कर्म झड़कर निर्जरा हो जाये, अथवा मंद रससे उदयमें आये।

१५. ज्ञानी नयी भूल नहीं करते, इसलिए वे अबंध हो सकते हैं।

१६. ज्ञानियोंने माना है कि यह देह अपनी नहीं है, यह रहनेवाली भी नहीं है, कभी न कभी उसका वियोग होनेवाला ही है। इस भेदविज्ञानके कारण ज्ञानी नगारेकी आवाजकी तरह उक्त तथ्यको सदा सुनते रहते हैं और अज्ञानीके कान बहरे होते हैं इसलिए वह उसे नहीं सुनता।

१७. ज्ञानी देहको नश्वर समझकर, उसका वियोग होनेपर खेद नहीं करता। परन्तु वह ली हुई वस्तुकी तरह उसे उल्लासपूर्वक वापस दे देता है, अर्थात् देह-परिणामी नहीं होता।

१८. देह और आत्माका भेद करना 'भेदज्ञान' है। ज्ञानीका वह जाप है। उस जापसे वह देह और आत्माको अलग कर सकता है। उस भेदविज्ञानके होनेके लिए महात्माओंने सब शास्त्र रचे हैं। जैसे तेजाबसे सोना और रांगा अलग हो जाते हैं, वैसे ज्ञानीके भेदविज्ञानके जापरूप तेजाबसे स्वाभाविक आत्मद्रव्य अगुरुलघु स्वभाववाला होकर प्रयोगी द्रव्यसे पृथक् होकर स्वधर्ममें आ जाता है।

१९. दूसरे उदयमें आये हुए कर्मोंका आत्मा चाहे जिस तरह समाधान कर सकती है, परंतु वेदनीयकर्ममें वैसा नहीं हो सकता; और उसका आत्मप्रदेशोंसे वेदन करना ही चाहिए; और उसका वेदन करते हुए कठिनाईका पूर्ण अनुभव होता है। वहाँ यदि भेदज्ञान संपूर्ण प्रगट न हुआ हो तो आत्मा देहाकारसे परिणमन करती है, अर्थात् देहको अपनी मानकर वेदन करती है, जिससे आत्माकी शांतिका भंग होता है। ऐसे प्रसंगमें जिन्हें संपूर्ण भेदज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानियोंकी असातावेदनीयका वेदन करते हुए निर्जरा होती है, और वहाँ ज्ञानीकी कसौटी होती है। इसलिए दूसरे दर्शनवाले वहाँ उस तरह नहीं टिक सकते, और ज्ञानी इस तरह मानकर टिक सकता है।

२०. पुद्गलद्रव्यकी अपेक्षा रखी जाये तो भी वह कभी न कभी नष्ट हो जानेवाला है; और जो अपना नहीं वह अपना होनेवाला नहीं; इसलिए लाचार होकर दीन बनना किस कामका ?

२१. 'जोगा पयडिपदेसा',—योगसे प्रकृति और प्रदेश बंध होता है।

२२. स्थिति तथा अनुभाग कषायसे बँधते हैं।

२३. आठविध, सातविध, छविध, और एकविध इस प्रकार बँध बँधा जाता है।

●

१२ मोरबी, आषाढ़ सुदी १५, गुरु, १९५६

ज्ञानदर्शनका फल यथाख्यातचारित्र, और उसका फल निर्वाण, उसका फल अव्याबाध सुख है।

●

१३ मोरबी, आषाढ वदी १, शुक्र, १९५६

१. 'देवागमस्तोत्र' जो महात्मा समंतभद्राचार्यने (जिसके नामका शब्दार्थ यह होता है कि 'जिसे कल्याण मान्य है') बनाया है, और उसपर दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंने टीका लिखी है। ये महात्मा दिगम्बराचार्य थे, फिर उनका बनाया हुआ उक्त स्तोत्र श्वेताम्बर आचार्योंको भी मान्य है। उस स्तोत्रमें प्रथम श्लोक निम्नलिखित है—

'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान्॥'

इस श्लोकका भावार्थ यह है कि देवागम (देवताओंका आना होता हो), आकाशमें गमन (आकाशमें गमन होता हो), चामरादि विभूति (चामर आदि विभूति हो—समवसरण होता हो इत्यादि,) ये सब तो मायावियोंमें भी देखे जाते हैं (मायासे अर्थात् युक्तिसे भी हो सकते है), इसलिए उतनेसे ही आप हमारे महत्तम नहीं हैं। (उतने मात्रसे कुछ तीर्थंकर अथवा जिनेंद्रदेवका अस्तित्व माना नहीं जा सकता। ऐसी विभूति आदिसे हमें कुछ काम नहीं। हमने तो उसका त्याग किया है।)

इस आचार्यने न जाने गुफामेंसे निकलते हुए तीर्थंकरकी कलाई पकड़कर उपर्युक्त निरपेक्षता-से वचन कहे हों, यह आशय यहाँ बताया गया है।

२. आप्त अथवा परमेश्वरके लक्षण कैसे होने चाहिए, उसके संबंधमें 'तत्त्वार्थसूत्र'की टीकामें (सर्वार्थसिद्धिमें) पहली गाथा इस प्रकारसे है—

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥'

सारभूत अर्थ—'मोक्षमार्गस्य नेतारं'—(मोक्षमार्गमें ले जानेवाला)—यह कहनेसे मोक्षका 'अस्तित्व', 'मार्ग', और 'ले जानेवाला', ये तीन बातें स्वीकृत की हैं। यदि मोक्ष है तो उसका मार्ग भी चाहिए और यदि मार्ग है तो उसका दृष्टा भी चाहिए, और जो दृष्टा होता है वही मार्गमें ले जा सकता है। मार्गमें ले जानेका काम निराकार नहीं कर सकता, परन्तु साकार कर सकता है, अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश साकार उपदेष्टा अर्थात् जिसने देह स्थितिसे मोक्ष मार्गका अनुभव किया है वही कर सकता है। 'भेत्तारं कर्मभूभृताम्'—(कर्मरूप पर्वतोंका भेदन करनेवाला) अर्थात् कर्मरूपी पर्वतोंको तोड़नेसे मोक्ष हो सकता है। इसलिए जिसने देहस्थितिसे कर्मरूपी पर्वत तोड़े हैं वह साकार उपदेष्टा है। वैसा कौन ? वर्तमान देहमें जो जीवन्मुक्त है। जो (कर्मरूपी) पर्वत तोड़कर मुक्त हुआ है, उसके लिए फिर कर्मका अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए जैसा बहुतसे मानते हैं कि मुक्त होनेके बाद जो देह धारण करता है वह जीवन्मुक्त है, सो हमें ऐसा जीवन्मुक्त नहीं चाहिए। 'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां'—('विश्वके तत्त्वोंको जाननेवाला') यों कहनेसे यह बताया कि आप्त ऐसा होना चाहिए कि जो समस्त विश्वका ज्ञाता हो। 'वंदे तद्गुणलब्धये'—(उसके गुणोंकी प्राप्तिके लिए उसे वंदन करता हूँ), अर्थात् जो इन गुणोंसे युक्त पुरुष हो वही आप्त है और वही वंदनीय है।

३. मोक्षपद सभी चैतन्योंके लिए सामान्य होना चाहिए, एक जीवाश्रयी नहीं है; अर्थात् यह चैतन्यका सामान्य धर्म है। यह नहीं हो सकता कि एक जीवको हो और दूसरे जीवको न हो।

४. 'भगवती आराधना' पर श्वेताम्बराचार्योंने जो टीका की है वह भी उसी नामसे कही जाती है।

५. करणानुयोग या द्रव्यानुयोगमें दिगम्बर और श्वेताम्बरके बीचमें अन्तर नहीं है। मात्र बाह्य व्यवहारमें अन्तर है।

६. करणानुयोगमें गणितरूपसे सिद्धांत एकत्रित किये हैं। उनमें अंतर होना संभव नहीं।

७. कर्मग्रंथ मुख्यतः करणानुयोगके अंतर्गत है।

८. 'परमात्मप्रकाश' दिगम्बर आचार्यका बनाया हुआ है। उसपर टीका हुई है।

९. निराकुलता सुख है। संकल्प दुःख है।

१०. कायक्लेश तप करते हुए भी महामुनिमें निराकुलता अर्थात् स्वस्थता देखनेमें आती है। तात्पर्य कि जिसे तप आदिकी आवश्यकता है, इसलिए तप आदि कायक्लेश करता है, फिर भी वह स्वास्थ्यदशाका अनुभव करता है। तो फिर जिसे कायक्लेश करना नहीं रहा ऐसे सिद्ध भगवानको निराकुलता क्यों नहीं हो सकती ?

११. देहकी अपेक्षा चैतन्य बिलकुल स्पष्ट है। जैसे देहगुणधर्म देखनेमें आते हैं वैसे आत्मगुणधर्म देखनेमें आयें तो देहका राग नष्ट हो जाये। आत्मवृत्ति विशुद्ध हो जानेसे दूसरे द्रव्यके संयोगसे आत्मा देहरूपसे, विभावसे परिणमित हुई मालूम हो।

१२. चैतन्यका स्थिर अत्यंत होना 'मुक्ति' है।

१३. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और योग, इनके अभावमें अनुक्रमसे योग स्थिर होता है।

१४. पूर्वके अभ्यासके कारण जो झोंका आ जाता है वह प्रमाद है।

१५. योगको आकर्षण करनेवाला न होनेसे वह स्वयं ही स्थिर हो जाता है।

१६. राग और द्वेष आकर्षण हैं

१७. संक्षेपमें ज्ञानीका यों कहना है कि पुद्गलसे चैतन्यका वियोग कराना है, अर्थात् रागद्वेष-से आकर्षण दूर करना है

१८. जहाँ तक अप्रमत्त हुआ जाये वहाँ तक जागृत ही रहना है।

१९. जिन पूजा आदि अपवाद मार्ग है।

२०. मोहनीयकर्म मनसे जीता जाता है परन्तु वेदनीयकर्म मनसे नहीं जीता जाता; तीर्थंकर आदिको भी उसका वेदन करना पड़ता है, और दूसरोंके समान कठिन भी लगता है। परन्तु उसमें (आत्मधर्ममें) उनके उपयोगकी स्थिरता होकर निर्जरा होती है, और दूसरेको (अज्ञानीको) बंध होता है। क्षुधा, तृषा यह मोहनीय नहीं परन्तु वेदनीयकर्म है।

२१. '[1]**जो पुमान परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ।**
जे अपनो धन विवहरै, सो धनपति धर्मज्ञ॥'

—श्री बनारसीदास

श्री बनासीदास आगराके दशाश्रीमाली बनिया थे।

२२. 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रंथके तीसरे भागमें जिनकल्पका वर्णन किया है। यह ग्रंथ श्वेताम्बरीय है। उसमें कहा है कि इस कल्पका साधक निम्नलिखित गुणवाला महात्मा होना चाहिए—

१. संघयण, २. धीरता, ३. श्रुत, ४. वीर्य, और ५. असंगता।

२३. दिगम्बरदृष्टिमें यह दशा सातवें गुणस्थानकवर्तीकी है। दिगम्बर-दृष्टिके अनुसार स्थविर-कल्पी और जिनकल्पी नग्न होते हैं; और श्वेताम्बर-दृष्टिके अनुसार प्रथम अर्थात् स्थविर नग्न नहीं होते। इस कल्पके साधकका श्रुतज्ञान इतना अधिक बलवान होना चाहिए कि वृत्ति श्रुतज्ञानाकार हो जानी चाहिए, विषयाकार वृत्ति नहीं होनी चाहिए। दिगम्बर कहते हैं कि नग्न स्थितिवालेका मोक्षमार्ग, बाकीका तो उन्मार्ग है। **'णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।'** तथा 'नागो ए बादशाहथी आघो' अर्थात नग्न बादशाहसे भी बढ़कर है, इस कहावतके अनुसार यह स्थिति बादशाहको पूज्य है।

२४. चेतना तीन प्रकारकी है:—१. कर्मफलचेतना—एकेंद्रिय जीव अनुभव करते हैं। २. कर्म-चेतना—विकलेंद्रिय तथा पंचेंद्रिय अनुभव करते हैं। ३. ज्ञानचेतना—सिद्धपर्याय अनुभव करता है।

२५. मुनियोंकी वृत्ति अलौकिक होनी चाहिए, उसके बदले अभी लौकिक देखनेमें आती है।

●

१४ मोरबी, आषाढ़ वदी २, शनि, १९५६

१. पर्यायालोचन—एक वस्तुका दूसरी तरह विचार करना।

२. आगमकी प्रतीतिके लिए संकलनाके प्रति दृष्टांत:—छः इंद्रियोंमें मन अधिष्ठाता है, और बाकी पाँच इंद्रियाँ उसकी आज्ञानुसार चलनेवाली हैं, और उनकी संकलना करनेवाला भी एक मन ही है। यदि मन न होता तो कोई कार्य न हो सकता। वस्तुतः किसी इंद्रियका कुछ भी वस नहीं चलता। मनका हो समाधान होता है; वह इस तरह कि कोई चीज आँखसे देखी, उसे लेनेके लिए पैरोंसे चलने लगे, वहाँ जाकर उसे हाथमें लिया और खाया इत्यादि। उन सब क्रियाओंका समाधान मनने किया, फिर भी उन सबका आधार आत्मापर है।

---

१. परधन = जड, परसमय। अपनो धन = अपना धन, चेतन, स्व समय। विवहरै = व्यवहार करे, विभाग करे, विवेक करे।

३. जिस प्रदेशमें वेदना अधिक हो वह उसका मुख्यतः वेदन करता है और बाकी प्रदेश गौणतासे उसका वेदन करते हैं।

४. जगतमें अभव्य जीव अनंत हैं। उससे अनंत गुने परमाणु एक समयमें जीव ग्रहण करता है और छोड़ता है।

५. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे बाह्य और अभ्यंतर परिणमन करते हुए परमाणु जिस क्षेत्रमें वेदनारूपसे उदयमें आते हैं, वहाँ इकट्ठे होकर वे वहाँ उस रूपसे परिणमन करते हैं; और वहाँ जिस प्रकारका बंध होता है, वह उदयमें आता है। परमाणु यदि सिरमें इकट्ठे हों तो वहाँ वे सिरके दुखानेके आकारसे परिणमन करते हैं, आँखमें आँखकी वेदनाके आकारसे परिणमन करते हैं

६. वहीका वही चैतन्य स्त्रीको स्त्रीरूपसे और पुरुषको पुरुषरूपसे परिणमन करता हैं; और भोजन भी तथाप्रकारके आकारसे परिणमन कर पुष्टि देता है।

७. शरीरमें परमाणुसे परमाणुको लड़ते हुए किसीने नहीं देखा; परंतु उसका परिणाम विशेष जाननेमें आता है। बुखारकी दवा बुखारको रोकती है, इसे हम जान सकते हैं; परंतु भीतर क्या क्रिया हुई, इसे नहीं जान सकते। इस दृष्टांतसे कर्मबंध होता हुआ देखनेमें नहीं आता, परंतु उसका विपाक देखनेमें आता है।

८. अनागार = जिसे व्रतमें अपवाद नहीं।

९. अणगार = घर विनाका।

१०. समिति = सम्यक् प्रकारसे जिसकी मर्यादा है उस मर्यादासहित, यथास्थितरूपसे प्रवृत्ति करनेका ज्ञानियोंने जो मार्ग कहा है उस मार्गके अनुसार मापसहित प्रवृत्ति करना।

११. सत्तागत = उपशम।

१२. श्रमण भगवान = साधु भगवान अथवा मुनि भगवान।

१३. अपेक्षा = जरूरत, इच्छा।

१४. सापेक्ष = दूसरे कारणकी, हेतुकी जरूरतकी इच्छा करना।

१५. सापेक्षत्व अथवा अपेक्षासे = एक दूसरेको लेकर।

●

१५ मोरबी, आषाढ वदी ३, रवि, १९५६

अनुपपन्न = जो संभव नहीं; सिद्ध न होने योग्य।

●

१६ रातमें

श्रावकाश्रयी, परस्त्रीत्याग तथा दूसरे अणुव्रतके विषयमें।

१. जब तक मृषा और परस्त्रीका त्याग न किया जाये, तब तक सब क्रियाएँ निष्फल हैं; तब तक आत्मामें छलकपट होनेसे धर्मपरिणमित नहीं होता।

२. धर्म पानेकी यह प्रथम भूमिका है।

३. जब तक मृषात्याग और परस्त्रीत्यागके गुण न हों तब तक वक्ता और श्रोता नहीं हो सकते।

४. मृषा दूर हो जानेसे बहुतसी असत्य प्रवृत्ति कम होकर निवृत्तिका प्रसंग आता है। सहज बातचीत करते हुए भी विचार करना पड़ता है।

५. मृषा बोलनेसे ही लाभ होता है, ऐसा नियम नहीं है। यदि ऐसा होता तो सच बोलनेवालोंकी अपेक्षा जगतमें जो असत्य बोलनेवाले बहुत होते हैं, उन्हें अधिक लाभ होना चाहिए, परंतु वैसा कुछ देखनेमें नहीं आता; तथा असत्य बोलनेसे लाभ होता हो तो कर्म एकदम रद्द हो जायें और शास्त्र भी झूठे हो जायें।

६. सत्यकी ही जय है। पहले मुश्किल मालूम होती है, परंतु पीछेसे सत्यका प्रभाव होता है और उसका असर दूसरे मनुष्य तथा संबंधमें आनेवालापर होता है।

७. सत्यसे मनुष्यकी आत्मा स्फटिक जैसी मालूम होती है।

●

१७ मोरबी, आषाढ वदी ४, सोम, १९५६

१. दिगम्बरसंप्रदाय यह कहता है कि आत्मामें केवलज्ञान शक्तिरूपसे रहता है।

२. श्वेताम्बरसंप्रदाय आत्मामें केवलज्ञानको सत्तारूपसे मानता है।

३. 'शक्ति' शब्दका अर्थ 'सत्ता' से अधिक गौण होता है।

४. शक्तिरूपसे है अर्थात् आवरणसे रुका हुआ नहीं है, ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् उस पर ज्यों ज्यों प्रयोग होता जाता है, त्यों त्यों ज्ञान विशुद्ध होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

५. सत्तामें अर्थात् आवरणमें रहा हुआ है, ऐसा कहा जाता है।

६. सत्तामें कर्मप्रकृति हो वह उदयमें आये यह शक्तिरूपसे नहीं कहा जाता।

७. सत्तामें केवलज्ञान हो और आवरणमें न हो, यह नहीं हो सकता। 'भगवती आराधना' देखियेगा।

८. कांति, दीप्ति, शरीरका मुड़ना, भोजनका पचना, लहूका फिरना, ऊपरके प्रदेशोंका नीचे आना, नीचेके प्रदेशोंका ऊपर जाना (विशेष कारणसे समुद्धात आदि), ललाई, बुखार आना, ये सब तेजस् परमाणुकी क्रियाएँ हैं। तथा सामान्यतः आत्माके प्रदेश ऊँचे नीचे हुआ करते हैं अर्थात् कंपायमान रहते हैं, यह भी तेजस् परमाणुसे होता है।

९. कार्मणशरीर उसी स्थलमें आत्मप्रदेशोंको अपने आवरणका स्वभाव बताता है।

१०. आत्माके आठ रुचक प्रदेश अपना स्थान नहीं बदलते। सामान्यतः स्थूल नयसे ये आठ प्रदेश नाभिके कहे जाते हैं, सूक्ष्मरूपसे वहाँ असंख्यात प्रदेश कहे जाते हैं,

११. एक परमाणु एक प्रदेशी होते हुए भी छः दिशाओंको स्पर्श करता है। चार दिशाएँ तथा एक ऊर्ध्व और एक अधः यह सब मिलकर छः दिशाएँ होती हैं।

१२. नियाणु अर्थात् निदान।

१३. आठ कर्म सभी वेदनीय हैं, कारण कि सबका वेदन किया जाता है; परंतु उनका वेदन लोकप्रसिद्ध नहीं होनेसे लोकप्रसिद्ध वेदनीयकर्म अलग माना है।

१४. कार्मण, तैजस, आहारक, वैक्रिय और औदारिक इन पाँच शरीरोंके परमाणु एकसे अर्थात् समान हैं; परंतु वे आत्माके प्रयोगके अनुसार परिणमन करते हैं।

१५. मस्तिष्ककी अमुक अमुक नसें दबानेसे क्रोध, हास्य, उन्मत्तता उत्पन्न होते हैं। शरीरमें

मुख्य मुख्य स्थल जीभ, नासिका इत्यादि प्रगट मालूम होते हैं इसलिए मानते हैं; परंतु ऐसे सूक्ष्म स्थान प्रगट मालूम नहीं होते; अतः नहीं मानते; परंतु वे हैं जरूर।

१६. वेदनीयकर्म निर्जरारूप है, परंतु दवा इत्यादि उसमेंसे हिस्सा ले लेती है।

१७. ज्ञानीने ऐसा कहा है कि आहार लेते हुए भी दुःख होता हो और छोड़ते हुए भी दुःख होता हो, तो वहाँ संलेखना करें। उसमें भी अपवाद होता है। ज्ञानीने कुछ आत्मघात करनेकी विज्ञप्ति नहीं की है।

१८. ज्ञानीने अनंत औषधियाँ अनंत गुणोंसे संयुक्त देखी हैं, परंतु कोई ऐसी औषधि देखनेमें नहीं आयी कि जो मौतको दूर कर सके! वैद्य और औषधि ये निमित्तरूप हैं।

१९. बुद्धदेवको रोग, दरिद्रता, वृद्धावस्था और मौत, इन चार बातोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ था।

●

१८ मोरबी, आषाढ वदी ५, मंगल, १९५६

१. चक्रवर्तीको उपदेश किया जाये तो वह घड़ी-भरमें राज्यका त्याग कर दे। परंतु भिक्षुको अनंत तृष्णा होनेसे उस प्रकारका उपदेश उसे असर नहीं करता।

२. यदि एक बार आत्मामें अंतर्वृत्तिका स्पर्श हो जाये, तो वह अर्धपुद्गलपरावर्तन तक रहे, यों तीर्थंकर आदिने कहा है। अंतर्वृत्ति ज्ञानसे होती है। अंतर्वृत्ति होनेका आभास स्वयं ही (स्वभावसे ही) आत्मामें होता है; और वैसा होनेकी प्रतीति भी स्वाभाविक होती है। अर्थात् आत्मा 'थरमामीटर' के समान है। बुखार होनेकी और उतरनेकी प्रतीति 'थरमामीटर' कराता है। यद्यपि 'थरमामीटर' बुखारकी आकृति नहीं बताता, फिर भी उससे प्रतीति होती है। उसी तरह अंतर्वृत्ति होनेकी आकृति मालूम नहीं होती, फिर भी अंतर्वृत्ति हुई है ऐसी आत्माको प्रतीति होती है। औषध ज्वरको किस तरह दूर करती है वह कुछ नहीं बताती, फिर भी औषधसे ज्वर चला जाता है, ऐसी प्रतीति होती है, इसी तरह अंतर्वृत्ति होनेकी प्रतीति अपने आप ही हो जाती है। यह प्रतीति 'परिणामप्रतीति' है।

३. वेदनीयकर्म[1]

४. निर्जराका असंख्यातगुना उत्तरोत्तर क्रम है। जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुनी निर्जरा करता है।[2]

५. तीर्थंकर आदिको गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी गाढ अथवा अवगाढ सम्यक्त्व होता है।

६. 'गाढ' अथवा 'अवगाढ' एक ही कहा जाता है।

७. केवलीको 'परमावगाढ सम्यक्त्व' होता है।

८. चौथे गुणस्थानकमें 'गाढ' अथवा 'अवगाढ' सम्यक्त्व होता है।

९. क्षायिक सम्यक्त्व अथवा गाढ-अवगाढ सम्यक्त्व एकसा है।

---

१. श्रोताकी नोंध—वेदनीयकर्मकी उदयमान प्रकृतिमें आत्मा हर्ष धारण करती है, तो कैसे भावमें आत्माके भावित रहनेसे वैसा होता है इस विषयमें श्रीमद्ने स्वात्माश्रयी विचार करना कहा है।

२. इस तरह असंख्यातगुनी निर्जराका वर्धमान क्रम चौदहवें गुणस्थानक तक श्रीमद्ने बताया है, और स्वामीकार्तिकने साख दी है।

१०. देव, गुरु, तत्त्व अथवा धर्म अथवा परमार्थकी परीक्षा करनेके तीन प्रकार हैं--(१) कष, (२) छेद और (३) ताप । इस तरह तीन प्रकारसे कसौटी होती है । इसे सोनेकी कसौटीके दृष्टान्तसे समझें । (धर्मबिंदु ग्रंथमें है ।) पहले और दूसरे प्रकारसे किसीमें मिलनता आ सके, परंतु तापकी विशुद्ध कसौटीसे शुद्ध मालूम हो तो वह देव, गुरु और धर्म सच्चे माने जायें ।

११. शिष्यकी जो कमियाँ होती हैं, वे जिस उपदेशकके ध्यानमें नहीं आतीं उसे उपदेश-कर्ता न समझें । आचार्य ऐसे होने चाहिए कि शिष्यका अल्प दोष भी जान सकें और उसका यथासमय बोध भी दे सकें ।

१२. सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ऐसा होना चाहिए कि जिसकी प्रतीति शत्रु भी करें, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है । तात्पर्य कि ऐसे निष्कलंक धर्म पालनेवाले होने चाहिए ।

●

१९ रातमें

१. अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें अंतर ।[1]

२. परमावधिज्ञान मनःपर्यायज्ञानसे भी बढ़ जाता है, और वह एक अपवादरूप है ।

●

२० मोरबी, आषाढ वदी ७, बुध, १९५६

१. आराधना होनेके लिए सारा श्रुतज्ञान है, और उस आराधनाका वर्णन करनेके लिए श्रुतकेवली भी अशक्त है ।

२. ज्ञान, लब्धि, ध्यान और समस्त आराधनाका प्रकार भी ऐसा ही है ।

३. गुणकी अतिशयता ही पूज्य है, और उसके अधीन लब्धि, सिद्धि इत्यादि हैं, और चारित्र स्वच्छ करना यह उसकी विधि है ।

४. दशवैकालिककी पहली गाथा—

[2]धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

इसमें सारी विधि समा जाती है । परंतु अमुक विधि ऐसे कहनेमें नहीं आयी, इससे यों समझमें आता है कि स्पष्टतासे विधि नहीं बतायी ।

५. (आत्मा के) गुणातिशयमें ही चमत्कार है ।

६. सर्वोत्कृष्ट शांत स्वभाव करनेसे परस्पर वैरवाले प्राणी अपना वैरभाव छोड़कर शांत हो बैठते हैं, ऐसा तीर्थंकरका अतिशय है ।

---

१. श्रीमद्ने बताया कि अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानके संबंधमें जो कथन नंदीसूत्रमें है उससे भिन्न आशयवाला कथन भगवती आराधनामें है । अवधिज्ञानके टुकड़े हो सकते हैं; हीयमान इत्यादि चौथे गुणस्थानकमें भी हो सकते हैं । स्थूल है, अर्थात् मनके स्थूल पर्याय जान सकता है; और दूसरा मनःपर्यायज्ञान स्वतंत्र है; खास मनके पर्यायसंबंधी शक्तिविशेषको लेकर एक अलग तहसीलकी तरह है, वह अखंड है; अप्रमत्तको ही हो सकता है, इत्यादि मुख्य मुख्य अंतर कह बताये ।

२. **भावार्थ**—धर्म, अहिंसा, संयम और तप--ही उत्कृतष्ट मंगल है । जिसका धर्ममें निरंतर मन है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं ।

७. जो कुछ सिद्धि, लब्धि इत्यादि हैं वे आत्माके जागृतभावमें अर्थात् आत्माके अप्रमत्त स्वभावमें हैं। वे सब शक्तियाँ आत्माके अधीन हैं। आत्माके विना कुछ नहीं है। इन सबका मूल सम्यक्ज्ञान-दर्शन और चारित्र है।

८. अत्यंत लेश्याशुद्धि होनेके कारण परमाणु भी शुद्ध होते हैं, इसे सात्त्विक वृक्षके नीचे बैठनेसे प्रतीत होनेवाले असरके दृष्टान्तसे समझें।

९. लब्धि, सिद्धि सच्ची हैं, और वे निरपेक्ष महात्माको प्राप्त होती है; जोगी, वैरागी ऐसे मिथ्यात्वीको प्राप्त नहीं होतीं। उसमें भी अनंत प्रकार होनेसे सहज अपवाद है। ऐसी शक्तिवाले महात्मा प्रकाशमें नहीं आते, और शक्ति बताते भी नहीं। जो जैसा कहता है उसके पास वैसा नहीं होता।

१०. लब्धि क्षोभकारी और चारित्रको शिथिल करनेवाली है। लब्धि आदि मार्गसे च्युत होनेके कारण हैं। इसलिए ज्ञानी उनका तिरस्कार करता है। ज्ञानीको जहाँ लब्धि, सिद्धि आदिसे च्युत होनेका संभव होता है वहाँ वह अपनेसे विशेष ज्ञानीका आश्रय खोजता है।

११. आत्माकी योग्यताके विना यह शक्ति नहीं आती। आत्मा अपना अधिकार बढ़ाये तो वह आती है।

१२. देहका छूटना पर्यायका छूटना है; परन्तु आत्मा आत्माकारसे अखंड अवस्थित रहती है, उसका अपना कुछ नहीं जाता। जो जाता है वह अपना नहीं, ऐसा प्रत्यक्षज्ञान जब तक नहीं होता तब तक मृत्युका भय लगता है।

"[1]गुरु गणधर गुणधर अधिक (सकल) प्रचुर परंपर और।
व्रततपधर तनु नगनधर, वंदौ वृष सिरमौर॥"

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, दोहा ३

गणधर = गण-समुदायका धारक; गुणधर = गुणका धारक; वृष = धर्म, सिरमौर = सिरका मुकुट।

१४. अवगाढ = मजबूत। परमावगाढ़ = उत्कृष्टतासे मजबूत। अवगाढ = एक परमाणु प्रदेश रोकना, व्याप्त। श्रावक = ज्ञानीके वचनका श्रोता, ज्ञानीका वचन सुननेवाला। दर्शन-ज्ञानके विना, क्रिया करते हुए भी, श्रुतज्ञान पढ़ते हुए भी श्रावक या साधु नहीं हो सकता। औदयिक भावसे वह श्रावक, साधु कहा जाता है; पारिणामिक भावसे नहीं कहा जाता। स्थविर = स्थिर, दृढ।

१५. स्थविरकल्प = जो साधु वृद्ध हो गये हैं उनके लिए, शास्त्रमर्यादासे वर्तन करनेका, चलनेका ज्ञानियों द्वारा मुकर्रर किया हुआ—बाँधा हुआ–निश्चित किया हुआ मार्ग या नियम।

१६. जिनकल्प—एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिए कल्पित किया हुआ अर्थात् बाँधा हुआ, मुकर्रर किया हुआ जिनमार्ग या नियम।

●

२१ मोरबी, आषाढ़ वदी ८, गुरु, १९५६

१. सब धर्मोकी अपेक्षा जैनधर्म उत्कृष्ट दयाप्रणीत है। दयाका स्थापन जैसा उसमें किया गया है, वैसा दूसरे किसीमें नहीं। 'मार' इस शब्दको ही मार डालनेकी दृढ छाप तीर्थंकरोंने

१. अर्थके लिए देखें आंक ९०१।

आत्मामें मारी है। इस जगहमें उपदेशके वचन भी आत्मामें सर्वोत्कृष्ट असर करते हैं। श्री जिनकी छातीमें जीवहिंसाके परमाणु ही न हों ऐसा अहिंसाधर्म श्री जिनका है। जिसमें दया नहीं होती वह जिन नहीं होता। जैनके हाथसे खून होनेकी घटनाएँ प्रमाणमें अल्प होंगी। जो जैन होता है वह असत्य नहीं बोलता।

२. जैनधर्मके सिवाय दूसरे धर्मोंकी तुलनामें अहिंसामें बौद्धधर्म भी बढ़ जाता है। ब्राह्मणोंकी यज्ञ आदि हिंसक क्रियाओंका नाश भी श्री जिन और बुद्धने किया है, जो अभी तक कायम है।

३. श्री जिन तथा बुद्धने, यज्ञ आदि हिंसक धर्मवाला होनेसे ब्राह्मणोंको सख्त शब्दोंका प्रयोग करके धिक्कारा है, वह यथार्थ है।

४. ब्राह्मणोंने स्वार्थबुद्धिसे ये हिंसक क्रियाएँ दाखिल की हैं। श्री जिनने तथा बुद्धने स्वयं वैभवका त्याग किया था, इसलिए उन्होंने निःस्वार्थबुद्धिसे दयाधर्मका उपदेश करके हिंसक-क्रियाओंका विच्छेद किया। जगतके सुखमें उनकी स्पृहा न थी।

५. हिन्दुस्तानके लोग एक वक्त एक विद्याका अभ्यास इस तरह छोड़ देते हैं कि उसे फिरसे ग्रहण करते हुए कंटाला आता है। युरोपियन प्रजामें इससे उलटा है, वे एकदम उसे छोड़ नहीं देते, परंतु चालू ही रखते हैं। प्रवृत्तिके कारण कम-ज्यादा अभ्यास हो सके, यह बात अलग है।

•

२२ रातमें

१. वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तकी है; उससे कम स्थितिका बंध भी कषायके विना एक समयका होता है, दूसरे समयमें वेदन होता है और तीसरे समयमें निर्जरा होती है।

२. ईर्यापथिकी क्रिया = चलनेकी क्रिया।

३. एक समयमें सात अथवा आठ प्रकृतियोंका बंध होता है। प्रत्येक प्रकृति उसका बटवारा किस तरह करती है इस संबंधमें भोजन तथा विषका दृष्टांतः—जैसे भोजन एक जगहसे लिया जाता है परंतु उसका रस प्रत्येक इन्द्रियको पहुँचता है, और प्रत्येक इन्द्रिय ही अपनी अपनी शक्तिके अनुसार ग्रहण कर उस रूपसे परिणमन करती है, उसमें अंतर नहीं आता। उसी तरह विष लिया जाये, अथवा सर्प काट ले तो वह क्रिया तो एक ही जगह होती है; परंतु उसका असर विषरूपसे प्रत्येक इंद्रियको भिन्न भिन्न प्रकारसे सारे शरीरमें होता है। इसी तरह कर्म बाँधते समय मुख्य उपयोग एक प्रकृतिका होता है, परन्तु उसका असर अर्थात् बटवारा दूसरी सब प्रकृतियोंके पारस्परिक संबंधको लेकर मिलता है। जैसा रस वैसा ही उसका ग्रहण होता है। जिस भागमें सर्पदंश होता है उस भागको यदि काट दिया जाये तो विष चढ़ता नहीं; उसी तरह यदि प्रकृतिका क्षय किया जाये तो बंध होता हुआ रुक जाता है, और उस कारण दूसरी प्रकृतियोंमें बटवारा होता हुआ रुक आता है। जैसे दूसरे प्रयोगसे चढ़ा हुआ जहर वापस उतर जाता है, वैसे प्रकृतिका रस मंद कर डाला जाये तो उसका बल कम होता है। एक प्रकृति बंध करती है तो दूसरी प्रकृतियाँ उसमेंसे भाग लेती है, ऐसा उनका स्वभाव है।

४. मूल कर्मप्रकृतिका क्षय न हुआ हो तब तक उत्तर कर्मप्रकृतिका बंध विच्छेद हो गया हो तो भी उसका बंध मूल प्रकृतिमें रहे हुए रसके कारण हो सकता है, यह आश्चर्य जैसा है। जैसे दर्शनावरणीयमें निद्रा-निद्रा आदि।

५. अनंतानुबंधी कर्मप्रकृतिकी स्थिति ४० कोड़ाकोड़ीकी, और मोहनीय (दर्शनावरणीय) की सत्तर कोड़ाकोड़ीकी है।

●

२३ मोरबी, आषाढ वदी ९, शुक्र, १९५६

१. आयुका बंध एक आनेवाले भवका आत्मा कर सकती है, उससे अधिक भवोंका बंध नहीं कर सकती।

२. कर्मग्रंथके बंधचक्रमें जो आठ कर्मप्रकृतियाँ बतायी हैं, उनकी उत्तरप्रकृतियाँ एक जीव-आश्रयी अपवादके साथ बंध उदय आदिमें हैं; परन्तु उसमें आयु अपवादरूप है। वह इस तरह कि मिथ्यात्वगुणस्थानकवर्ती जीवको बंधमें चार आयुकी प्रकृतिका (अपवाद) बताया है। उसमें ऐसा नहीं समझना कि जीव चालू पर्यायमें चारों गतियोंकी आयुका बंध करता है; परंतु आयुका बंध करनेके लिए वर्तमान पर्यायमें इस गुणस्थानकवर्ती जीवकी चारों गतियाँ खुली हैं। उसमें चारमेंसे एक एक गतिका बंध कर सकता है। उसी तरह जिस पर्यायमें जीव हो उसे उस आयुका उदय हो। तात्पर्य कि चार गतियोंमेंसे वर्तमान एक गतिका उदय हो सकता है; और उदीरणा भी उसीकी हो सकती है।

३. सत्तर कोड़ाकोड़ी बड़ेसे बड़ा स्थितिबंध है। उसमें असंख्यातों भव होते हैं। तथा बादमें वैसेका वैसा क्रम क्रमसे बंध होता जाता है। ऐसे अनंत बंधकी अपेक्षासे अनंत भव कहे जाते हैं; परंतु पूर्वोक्तके अनुसार ही भवका बंध होता है।

●

२४ मोरबी, आषाढ़ वदी १०, शनि, १९५६

१. विशिष्ट—मुख्यत—मुख्यतावाचक शब्द है।

२. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय ये तीन प्रकृतियाँ उपशमभावमें हो ही नहीं सकतीं, क्षयोपशमभावमें ही होती हैं। ये प्रकृतियाँ यदि उपशमभावमें हों तो आत्मा जडवत् हो जाये, और क्रिया भी न कर सके; अथवा तो उससे प्रवर्तन भी न हो सके। ज्ञानका काम जानना है, दर्शनका काम देखना है, और वीर्यका काम प्रवर्तन करना है। वीर्य दो प्रकारसे प्रवर्तन कर सकता है—(१) अभिसंधि। (२) अनभिसंधि। अभिसंधि=आत्माकी प्रेरणासे वीर्यका प्रवर्तन होना। अनभिसंधि—कषायसे वीर्यका प्रवर्तन होना। ज्ञानदर्शनमें भूल नहीं होती। परंतु उदय-भावमें रहे हुए दर्शनमोहके कारण भूल होनेसे अर्थात् और का और जाननेसे वीर्यकी प्रवृत्ति विपरीतरूपसे होती है, यदि सम्यक्‌रूपसे हो तो सिद्धपर्याय पा ले। आत्मा कभी भी क्रियाके बिना नहीं हो सकती। जब तब योग है तब तक क्रिया करती है, वह अपनी वीर्यशक्तिसे करती है। वह क्रिया देखनेमें नहीं आती; परंतु परिणामसे जाननेमें आती है। खाई हुई खुराक निद्रामें पच जाती है, यों सवेरे उठनेसे मालूम होती है। निद्रा अच्छी आयी थी इत्यादि कहते हैं, तो यह हुई क्रियाके समझमें आनेसे कहा जाता है। यदि चालीस बरसकी उमरमें अंक गिनना आये तो इससे क्या यह कहा जा सकेगा कि अंक पहले नहीं थे? बिलकुल नहीं। स्वयंको उसका ज्ञान नहीं था इसलिए ऐसा कह सके। इसी तरह ज्ञान-दर्शनका समझना है। आत्माके ज्ञान, दर्शन और वीर्य थोड़े-बहुत भी खुले रहनेसे आत्मा क्रियामें प्रवृत्ति कर सकती है। वीर्य सदा चलाचल रहा करता है। कर्मग्रंथ पढ़नेसे विशेष स्पष्ट होगा। इतने स्पष्टीकरणसे बहुत लाभ होगा।

३. पारिणामिक भावसे सदा जीवत्व है, अर्थात् जीव जीवरूपसे परिणमन करता है, और सिद्धत्व क्षायिक-भावसे होता है, कारण कि प्रकृतियोंका क्षय करनेसे सिद्धपर्याय मिलती है।

४. मोहनीयकर्म औदयिक भावसे होता है।

५. वनिया विकल अर्थात् मात्रा, शिरोरेखा आदिके विना अक्षर लिखता है, परंतु अंक विकल नहीं लिखता, उन्हें तो वहुत स्पष्टतासे लिखता है। उसी तरह कथानुयोगमें ज्ञानियोंने शायद विकल लिखा हो तो भले; परन्तु कर्मप्रकृतिमें तो निश्चित अंक लिखे हैं। उसमें जरा भी फर्क नहीं आने दिया।

•

२५ मोरवी, आषाढ़ वदी ११, रवि, १९५६

१. ज्ञान धागा पिरोयी हुई सूईके समान है, ऐसा उत्तराध्ययनमें कहा है। धागेवाली सूई खोयी नहीं जाती। उसी तरह ज्ञान होनेसे संसारमें भूला नहीं जाता।

•

२६ मोरवी, आषाढ़ वदी १२, सोम, १९५६

१. प्रतिहार = तीर्थंकरका धर्मराज्यत्व वतानेवाला प्रतिहार = दरवान।

२. स्थूल, अल्पस्थूल, उससे भी स्थूल; दूर, दूरसे दूर, उससे भी दूर; ऐसा मालूम होता है; इस आधारसे सूक्ष्म, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आदिका ज्ञान किसीको भी होना सिद्ध हो सकता है।

३. नग्न = आत्ममग्न

४. उपहत = मारा गया। अनुपहत = नहीं मारा गया। उपष्टंभजन्य = आधारभूत। अभिधेय = जो वस्तु धर्म कहा जा सके। पाठांतर = एक पाठकी जगह दूसरा पाठ। अर्थांतर = कहनेका हेतु वदल जाना। विषम = जो यथायोग्य न हो, अंतरवाला, कम-ज्यादा। आत्मद्रव्य सामान्य-विशेष उभयात्मक सत्तावाला है। सामान्य चेतनसत्ता दर्शन है। सविशेष चेतनसत्ता ज्ञान है।

५. सत्ता समुद्भुत = सम्यक् प्रकारसे सत्ताका उदयभूत होना, प्रकाशित होना, स्फुरित होना, ज्ञात होना।

६. दर्शन = जगतके किसी भी पदार्थका भेदरूप रसगंधरहित निराकार प्रतिविंवित होना, उसका अस्तित्व मालूम होना; निर्विकल्परूपसे कुछ है, इस तरह आरसीकी झलककी भाँति सामनेके पदार्थका भास होना, यह दर्शन है। जहाँ विकल्प होता है वहाँ ज्ञान होता है।

७. दर्शनावरणीय कर्मके आवरणके कारण दर्शन अवगाढतासे आवृत्त होनेसे चेतनमें मूढता हो गयी और वहाँसे शून्यवाद शुरू हुआ।

८. जहाँ दर्शन रुक जाता है वहाँ ज्ञान भी रुक जाता हैं।

९. दर्शन और ज्ञानका वटवारा किया गया है। ज्ञान-दर्शनके कुछ टुकड़े होकर वे अलग अलग नहीं हो सकते। ये आत्माके गुण हैं। जिस तरह रुपयेमें दो अठन्नी होती हैं उसी तरह आठ आना दर्शन और आठ आना ज्ञान है।

१०. तीर्थंकरको एक ही समयमें दर्शन और ज्ञान दोनों साथ होते हैं, इस तरह दिगम्वर-मतके अनुसार दो उपयोग माने हैं, श्वेताम्वर-मतके अनुसार नहीं। वारहवें गुणस्थानकमें ज्ञानावरणीय,

दर्शनावरणीय और अंतराय इन तीन प्रकृतियोंका क्षय एक साथ होता है, और उत्पन्न होनेवाली लब्धि भी साथमें होती हे। यदि एक समयमें न होते हों तो एक दूसरी प्रकृतिको रुकना चाहिए। श्वेताम्बर कहते हैं कि ज्ञान सत्तामें रहना चाहिए, कारण कि एक समयमें दो उपयोग नहीं होते, परन्तु दिगम्बरोंकी उससे भिन्न मान्यता है।

११. शून्यवाद = कुछ भी नहीं ऐसा माननेवाला, यह बोद्धधर्मका एक भेद है। आयतन = किसी भी पदार्थका स्थल, पात्र। कूटस्थ = अचल, जो दूर न हो सके। तटस्थ = किनारे पर; उस स्थलमें। मध्यस्थ = बीचमें।

●

२७ मोरबी, आषाढ़ वदी १३, मंगल, १९५६

१. चयोपचय = जाना-जाना, परन्तु प्रसंगवशात् आना-जाना, गमनागमन। मनुष्यके जाने-आनेका लागू नहीं होता। श्वासोच्छ्वास इत्यादि सूक्ष्म क्रियाको लागू होता है। चयविचय = जाना आना

२. आत्माका ज्ञान जब चितामें रुक जाता है तब नये परमाणु ग्रहण नहीं हो सकते; और जो होते हैं, वे चले जाते हैं, इससे शरीरका वजन घट जाता है।

३. श्री आचारांगसूत्रके पहले शास्त्र परिज्ञाके अध्ययनमें और श्री षड्दर्शनसमुच्चयमें मनुष्य और वनस्पतिके धर्मकी तुलना कर वनस्पतिमें आत्माका अस्तित्व सिद्ध कर बताया है, वह इस तरह कि दोनों उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, आहार लेते हैं, परमाणु लेते हैं, छोड़ते हैं, मरते हैं इत्यादि।

●

२८ मोरबी, श्रावण सुदी ३, रवि, १९५६

१. साधु = सामान्यतः गृहवासका त्यागी, मूलगुणोंका धारक। यति = ध्यानमें स्थिर होकर श्रेणि शुरू करनेवाला। मुनि = जिसे अवधि, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान हो। ऋषि = बहुत ऋद्धिधारी। ऋषिके चार भेद—(१) राज०, (२) ब्रह्म०, (३) देव० (४) परम० राजर्षि = ऋद्धिवाला, ब्रह्मर्षि = अक्षीण महान् ऋद्धिवाला, देवर्षि = आकाशगामी मुनिदेव, परमर्षि = केवलज्ञानी।

●

२९ श्रावण सुदी १०, सोम, १९५६

१. अभव्य जीव अर्थात् जो जीव उत्कट रससे परिणमन करे और उससे कर्म बाँधा करे, और इस कारण उसका मोक्ष न हो। भव्य अर्थात् जिस जीवका वीर्य शांतरससे परिणमन करे और उससे नया कर्मबंध न होनेसे मोक्ष हो। जिस जीवकी वृत्ति उत्कट रससे परिणमन करती हो उसका वीर्य उसीके अनुसार परिणमन करता है; इसलिए ज्ञानीके ज्ञानमें अभव्य मालूम हुआ। आत्माकी परमशांत दशासे मोक्ष, और उत्कट दशासे अमोक्ष। ज्ञानीने द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे भव्य, अभव्य कहे हैं। जीवका वीर्य उत्कट रससे परिणमन करते हुए सिद्धपर्याय नहीं पा सकता,

ऐसा ज्ञानीने कहा है। भजना = अंशसे, हो या न हो। वंचक = (मन, वचन और कायासे) ठगनेवाला।

●

३० मोरबी, श्रावण वदी ८, शनि, १९५६

१. कम्मदव्वे हिं संमं संजोगो होइ जो उ जीवस्स।
सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो॥

अर्थ—कर्मद्रव्य अर्थात् पुद्गलद्रव्यके साथ जीवका जो संबंध होना है वह बंध है, उसका वियोग होना मोक्ष है। संमं = अच्छी तरहसे संबंध होना, यथार्थतासे संबंध होना, जैसे तैसे कल्पना करके संबंध होनेका मान लेनेकी बात नहीं।

२. प्रदेश और प्रकृतिबंध मन-वचन-कायाके योगसे होता है। स्थिति और अनुभागबंध कषायसे होता है।

३. विपाक अर्थात् अनुभाग द्वारा फलपरिपक्वता होना। सब कर्मोंका मूल अनुभाग है, उसमें जैसा तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर रस पड़ा है वैसा उदयमें आता है। उसमें अंतर या भूल नहीं होती। कुल्हियामें पैसा, रुपया, मुहर आदि रखनेका दृष्टांत—जैसे किसी कुल्हियामें बहुत समय पहले पैसा, रुपया और मुहर डाल रखे हों; उन्हें जिस समय निकालें तो वे उसी जगह उसी धातुरूपसे निकलते हैं, उसमें जगहकी और उनकी स्थितिमें परिवर्तन नहीं होता अर्थात् पैसा रुपया नहीं हो जाता, और रुपया पैसा नहीं हो जाता; उसी तरह बाँधा हुआ कर्म द्रव्य, क्षेत्र काल और भावके अनुसार उदयमें आता है।

४. आत्माके अस्तित्वमें जिसे शंका होती है उसे चार्वाक कहा जाता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें तीर्थंकर आदिको एक समयका बंध होता है। मुख्यतः कदाचित् ग्यारहवें गुणस्थानकमें अकषायीको भी एक समयका बंध हो सकता है।

६. पवन पानीकी निर्मलताका भंग नहीं कर सकता; परन्तु उसे चलायमान कर सकता है उसी तरह आत्माके ज्ञानमें कुछ निर्मलता कम नहीं होती, परन्तु योगकी चलायमानता है, इसलिए रसके बिना एक समयका बंध कहा है।

७. यद्यपि कषायका रस पुण्य तथा पापरूप है तो भी उसका स्वभाव कड़वा है।

८. पुण्य भी खारापनमेंसे होता है। पुण्यका चोठाणिया रस नहीं है, क्योंकि एकांत साताका उदय नहीं है। कषायके दो भेद–प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग। कषायके बिना बंध नहीं होता।

९. आर्तध्यानका समावेश मुख्यतः कषायमें हो सकता है, प्रमादका चारित्रमोहमें, और योगका नामकर्ममें समावेश हो सकता है।

१०. श्रवण पवनकी लहरके समान है। वह आता है और चला जाता है।

११. मनन करनेसे छाप पड़ती है, और निदिध्यासन करनेसे ग्रहण होता है।

१२. अधिक श्रवण करनेसे मननशक्ति मंद होती हुई देखनेमें आती है।

१३. प्राकृतजन्य अर्थात् लौकिक वाक्य, ज्ञानीका वाक्य नहीं।

१४. आत्मा प्रत्येक समय उपयोगयुक्त होनेपर भी अवकाशकी कमी अथवा कामके बोझके

कारण उसे आत्मासंबंधी विचार करनेका वक्त नहीं मिल सकता यों कहना प्राकृतजन्य लौकिक वचन है। यदि खाने, पीने, सोने इत्यादिका वक्त मिला और काम किया वह भी आत्माके उपयोगके विना नहीं हुआ; तो फिर जो खास सुखकी आवश्यकता है, और जो मनुष्य जन्मका कर्तव्य है उसके लिए वक्त नहीं मिला, इस वचनको ज्ञानी कभी भी सच्चा नहीं मान सकता। इसका अर्थ इतना ही है कि दूसरे इंद्रिय आदि सुखके काम तो जरूरी लगे हैं, और उसके विना दुःखी होनेके डरकी कल्पना है।

आत्मिक सुखके विचारका काम किये विना अनंतकाल दुःख भोगना पड़ेगा और अनंत संसारभ्रमण करना पड़ेगा, यह बात जरूरी नहीं लगती! मतलब यह कि इस चैतन्यने कृत्रिम मान रखा है, सच्चा नहीं माना।

१५. सम्यग्दृष्टि पुरुष, अनिवार्य उदयके कारण लोकव्यवहार निर्दोषता एवं लज्जाशीलतासे करते है। प्रवृत्ति करनी चाहिए, उससे शुभाशुभ जैसा होना होगा वैसा होगा, ऐसी दृढ़ मान्यताके साथ वे ऊपर-ऊपरसे प्रवृत्ति करते हैं।

१६. दूसरे पदार्थोंपर उपयोग दें तो आत्माकी शक्तिका आविर्भाव होता है, तो सिद्धि, लब्धि आदि शंकास्पद नहीं हैं। वे प्राप्त नहीं होतीं इसका कारण यह है कि आत्मा निरावरण नहीं की जा सकती। यह सब शक्तियाँ सच्ची हैं। चैतन्यमें चमत्कार चाहिए, उसका शुद्ध रस प्रगट होना चाहिए। ऐसी सिद्धिवाले पुरुष असाताकी साता कर सकते हैं, फिर भी वे उसकी अपेक्षा नहीं करते। वे वेदन करनेमें ही निर्जरा समझते हैं।

१७. आप जीवोंमें उल्लासमान वीर्य कि पुरुषार्थ नहीं है। जहाँ वीर्य मंद पड़ा वहाँ उपाय नहीं है।

१८. जब असाताका उदय न हो तब काम कर लेना, ऐसा ज्ञानीपुरुषोंने जीवकी असामर्थ्य देखकर कहा है, कि जिससे उसका उदय आनेपर चलित न हो।

१९. सम्यग्दृष्टि पुरुषको जहाजसे कप्तानकी तरह पवन विरुद्ध होनेसे जहाजको मोड़कर रास्ता बदलना पड़ता है। उससे वे ऐसा समझते हैं कि स्वयं ग्रहण किया हुआ रास्ता सच्चा नहीं है, उसी तरह ज्ञानीपुरुष उदय-विशेषके कारण व्यवहारमें भी अंतरात्मदृष्टि नहीं चूकते।

२०. उपाधिमें उपाधि रखनी। समाधिमें समाधि रखनी। अंग्रेजोंकी तरह कामके वक्त काम और आरामके वक्त आराम। एक दूसरेको इकट्ठा नहीं कर देना चाहिए।

२१. व्यवहारमें आत्मकर्तव्य करते रहें। सुखदुःख, धनकी प्राप्ति-अप्राप्ति, यह शुभाशुभ तथा लाभांतरायके उदयपर आधार रखता है। शुभके उदयके साथ पहलेसे अशुभके उदयकी पुस्तक पढ़ी हो तो शोक नहीं होता। शुभके उदयके समय शत्रु मित्र हो जाता है, और अशुभके उदयके समय मित्र शत्रु हो जाता है। सुखदुःखका असली कारण कर्म ही है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि कोई मनुष्य कर्ज लेने आये तो उसे कर्ज चुका देनेसे सिरका बोझ कम हो जानेसे कैसा हर्ष होता है? उसी तरह पुद्गल-द्रव्यरूप शुभाशुभ कर्ज जिस कालमें उदयमें आये उस कालमें उसका सम्यक् प्रकारसे वेदन कर चुका देनेसे निर्जरा होती है और नया कर्ज नहीं होता। इसलिए ज्ञानीपुरुषको कर्मरूपी कर्जमेंसे मुक्त होनेके लिए हर्ष-विह्वलतासे तैयार रहना चाहिए; क्योंकि उसे दिये विना छुटकारा होनेवाला नहीं है।

२२. सुखदुःख जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें उदयमें आना हो उसमें इंद्र आदि भी परिवर्तन करनेके लिए शक्तिमान नहीं हैं।

२३. करणानुयोगमें ज्ञानीने अंतर्मुहूर्त्त आत्माका अप्रमत्त उपयोग माना है।

२४. करणानुयोगमें सिद्धांतका समावेश होता है।

२५. चरणानुयोगमें जो व्यवहारमें आचरणीय है उसका समावेश किया है।

२६. सर्वविरति मुनिको ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिज्ञा ज्ञानी देता है, वह चरणानुयोगकी अपेक्षासे, परन्तु करणानुयोगकी अपेक्षासे नहीं; क्योंकि करणानुयोगके अनुसार नौवें गुणस्थानकमें वेदोदयका क्षय हो सकता है, तब तक नहीं हो सकता।

●

आभ्यंतर-परिणामावलोकन

—संस्मरण-पोथी—

२२वेंसे ३४वें वर्ष पर्यन्त

श्रीमद्‌जीके कितने ही अभिप्राय वयक्रममें आ जाते हैं। उसके अतिरिक्त उनके आभ्यंतर परिणामा-वलोकन (Introspection) सम्बन्धी तीन संस्मरण-पोथियाँ (Memo-Books) प्राप्त हुई हैं, जिन्हें यहाँ देते हैं। इनमेंसे दो विदेशी गठनकी हैं और एक देशी गठनकी है। पहली दोमेंसे एककी जिल्दपर अंग्रेजी वर्ष १८९० का और दूसरीमें १८९६ का 'कैलण्डर' है। देशीमें नहीं है, विदेशी दोनोंका कद ७ × ४½ इंच है, और देशीका कद ६¾ × ४ इञ्च है। १८९० वालीमें १००, १८९६ वालीमें ११६, और देशीमें ६० पन्ने हैं। इन तीनोंमें प्रायः एक लेख भी क्रमवार नहीं है। जैसे कि १८९० वाली संस्मरण-पोथीमें लिखनेका आरम्भ, दूसरे पन्ने (तीसरे पृष्ठ) से 'सहज' इस शीर्षकके नीचेका लेख देखते हुए हुआ। इस प्रारम्भ लेखकी शैली देखते हुए वह अंग्रेजी वर्ष १८९० अथवा विक्रम संवत् १९४६ में लिखा हो ऐसा संभव है। यह प्रारंभ लेख दूसरे पन्ने—तीसरे पृष्ठमें है, जब कि प्रारम्भ लेख लिखते वक्त पहला पृष्ठ दिया जो बादमें लिखा है। इसी तरह ५१वें पृष्ठपर संवत् १९५१के पौष मासकी मितीका लेख है। उसके बाद ६२वें पृष्ठ संवत् १९५३ के फागुन वदी १२का लेख है। और ९७वें पृष्ठ संवत् १९५१ के माघ सुदी ७ का लेख है, जब कि १३० वें पृष्ठमें जो लेख है वह संवत् १९४७ का संभव है; क्योंकि उस लेखका विषय दर्शन-आलोचनारूप है। जो दर्शन-आलोचना संवत् १९४७ में सम्यग्दर्शन (देखें संस्मरण-पोथी पहलीका आंक ३१—'ओगणीसें सुडतालीसे समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे—') होनेसे पूर्व होना योग्य है। फिर १८९६ अर्थात् संवत् १९५२ वाली संस्मरण-पोथी लिखना शुरू करनेके बाद उसीमें लिखा ऐसा भी नहीं है; क्योंकि संवत् १९५२ वाली नयी संस्मरण पोथी होते हुए भी १८९० (१९४६) वाली संस्मरण-पोथीमें संवत् १९५३ का लेख है। संवत् १९५२ (१८९६) वाली संस्मरण-पोथी पूरी हो रहनेके बाद तीसरी—देशी गठनवालीका उपयोग किया है, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि १८९६ वालीमें २७ पन्ने काममें लिये हैं, और उसके बाद सारे कोरे पड़े हैं। और तीसरी देशी गठनवालीमें बहुतसे लेख हैं। जैसे संवत् १८९६ वाली संस्मरणपोथीमें संवत् १९५४ के ही लेख हैं, वैसे देशी गठनवालीमें भी है। इसी तरह १८९० वालीमें संवत् १९५३के ही लेख होंगे और उसके बादके न हो यह भी कह सकना शक्य नहीं है। और तीनों संस्मरण पोथियोंमें बीच-बीचमें बहुतसे पन्ने केवल कोरे पड़े हैं; अर्थात् यह अनुमान होता है कि जब जो मेमोबुक हाथ लगी, और खोलते ही जो पन्ना निकला उसमें कहीं-कहीं स्वनिरीक्षण अपने ही जाननेके लिए लिख डाला है। जो निजी लेख वयक्रममें हैं, और इन तीनों संस्मरण-पोथियोंके लेख स्वनिरीक्षणके लिए हैं; इसलिए हमने इन संस्मरण-पोथियोंको 'आभ्यन्तर-परिणामावलोकन' इस शीर्षकसे यहाँ प्रस्तुत किया है। इस निरीक्षणमें उनकी दशा, आत्मजागृति और आत्ममंदता, अनुभव, स्वविचारके लिए लिखे हुए प्रश्नोत्तर, अन्य जीवोंके निर्णय करनेके उद्देशसे लिखे हुए प्रश्नोत्तर, दर्शनोद्धार-योजनाएँ इत्यादि संबंधी अनेक उद्‌गार हैं, जिनमें कितनी ही निजी सांकेतिक भाषामें हैं।

आभ्यंतर-परिणामावलोकन

—संस्मरण-पोथी—

२२वेंसे ३४वें वर्ष पर्यन्त

—:०:—

९६०

संस्मरण-पोथी १

[५९] १ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १]

ॐप्रत्येक पदार्थका अत्यंत विवेक करके इस जीवको उससे व्यावृत्त करें, ऐसा निर्ग्रंथ कहते हैं।

जैसे शुद्ध स्फटिकमें अन्य रंगका प्रतिभास होनेसे उसका मूल स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता, वैसे ही शुद्ध निर्मल यह चेतन अन्य संयोगके तादात्म्यवत् अध्याससे अपने स्वरूपके लक्ष्यको नहीं पाता। यत्किंचित् पर्यायांतरसे इसी प्रकारसे जैन, वेदांत, सांख्य, योग आदि कहते हैं।

●

[५९] २

जीवके अस्तित्वका तो किसी कालमें भी संशय प्राप्त नहीं होता।

जीवकी नित्यताका त्रिकाल-अस्तित्वका किसी कालमें भी संशय प्राप्त नहीं होता।

ॐ संवत् १९७७में अहमदावादसे "श्रीमद् राजचन्द्र प्रणीत तत्त्वज्ञान" का सातवां संस्करण प्रकाशित हुआ था। उसमेंसे प्राप्त हुआ निम्नलिखित है। यह मूल हस्ताक्षरवाली संस्मरण-पोथीमें न होनेसे फुटनोटमें दिया है।

१. प्रत्येक पदार्थका अत्यन्त विवेक करके इस जीवको उससे व्यावृत्त करें।

जीवकी चेतना एवं त्रिकाल-अस्तित्वमें कभी भी संशय प्राप्त नहीं होता।

उसे किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातमें भी कभी भी संशय प्राप्त नहीं होता।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निःसंशय घटित होती है, इस विषयमें कभी भी संशय प्राप्त नहीं होता।

मोक्षपद है इस बातका कभी भी संशय नहीं होता।

●

[६४८] ३ [संस्मरण-पोथी १, पृ० २]

जीवकी व्यापकता, परिणामिता, कर्मसंबद्धता, मोक्षक्षेत्र ये किस किस प्रकारसे घटित हो सकते हैं, इसका विचार किये विना तथारूप समाधि नहीं होती। गुण और गुणीका भेद किस तरह समझमें आना योग्य है?

जीवका व्यापकता, सामान्यविशेषात्मकता, परिणामिता, लोकालोकज्ञायकता, कर्मसंबद्धता मोक्षक्षेत्र, ये पूर्वापर अविरोधसे किस तरह सिद्ध होते हैं?

एक ही जीव नामके पदार्थको भिन्न भिन्न दर्शन, संप्रदाय और मत भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते हैं। उसका कर्मसंबंध और मोक्ष भी भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते हैं, इसलिए निर्णय करना दुष्कर क्यों नहीं है?

●

---

२. जगतके जितने पदार्थ हैं, उनमेंसे चक्षुरिंद्रियसे जो देखे जाते हैं उनका विचार करनेसे इस जीवसे वे पर हैं अथवा तो वे इस जीवके नहीं हैं, इतना ही नहीं अपितु उनपर राग आदि भाव हों तो उससे वही दुःखरूप सिद्ध होते हैं। इसलिए उनसे व्यावृत्त करनेके लिए निर्ग्रन्थ कहते हैं।

३. जो पदार्थ चक्षुरिंद्रियसे देखे नहीं जाते अथवा चक्षुरिंद्रियसे जाने नहीं जा सकते, परन्तु घ्राणेन्द्रियसे जाने जा सकते हैं, वे भी इस जीवके नहीं हैं, इत्यादि।

४. इन दो इन्द्रियोंसे नहीं परन्तु जिनका बोध रसेंद्रियसे हो सकता है वे पदार्थ भी इस जीवके नहीं हैं, इत्यादि।

५. इन तीन इंद्रियोंमें नहीं परन्तु जिनका ज्ञान स्पर्शेंद्रियसे हो सकता है वे भी इस जीवके नहीं हैं, इत्यादि।

६. इन चार इंद्रियोंसे नहीं परन्तु जिनका ज्ञान कर्णेन्द्रियसे हो सकता है, वे भी इस जीवके नहीं हैं, इत्यादि।

७. इन पाँच इन्द्रियोंसहित मनसे अथवा तो किसी एक इंद्रियसहित मनसे या इन इन्द्रियोंके विना अकेले मनसे जिनका बोध हो सकता है ऐसे रूपी पदार्थ भी इस जीवके नहीं हैं, परन्तु उससे पर हैं, इत्यादि।

८. उन रूपी पदार्थोंके अतिरिक्त अरूपी पदार्थ आकाश आदि हैं, जो मनसे माने जाते हैं, वे भी आत्माके नहीं परन्तु उससे पर हैं, इत्यादि।

९. इस जगतके पदार्थोंका विचार करनेसे वे सब नहीं परन्तु उनमेंसे जिन्हें इस जीवने अपना माना है वे भी इस जीवके नहीं हैं अथवा उससे पर हैं, इत्यादि। जैसे कि—

१. कुटुम्ब और सगे-संबंधी, मित्र, शत्रु आदि मनुष्य-वर्ग।

२. नौकर-चाकर, गुलाम आदि मनुष्य-वर्ग।

[६०] ४ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ३]

सहज

जो पुरुष इस ग्रंथमें सहज नोंध करता है, उस पुरुषके लिए प्रथम सहज वही पुरुष लिखता है।

उसकी अब अंतरंगमें ऐसी दशा रहती है कि कुछके सिवाय उसने सभी संसारी इच्छाओंकी भी विस्मृति कर डाली है।

वह कुछ पा भी चुका है, और वह पूर्णका परम मुमुक्षु है, अंतिम मार्गका निःशंक अभिलाषी है।

अभी जो आवरण उसके उदयमें आये हैं, उन आवरणोंसे उसे खेद नहीं है, परंतु वस्तुभावमें होनेवाली मंदताका खेद है।

वह धर्मकी विधि, अर्थकी विधि, कामकी विधि और उसके आधारसे मोक्षकी विधिको प्रकाशित कर सकता है। इस कालमें बहुत ही थोड़े पुरुषोंको प्राप्त हुआ होगा, ऐसे क्षयोपशमवाला पुरुष है।

उसे अपनी स्मृतिके लिए गर्व नहीं है, तर्कके लिए गर्व नहीं है, तथा उसके लिए पक्षपात भी नहीं है; ऐसा होनेपर भी उसे कुछ बाह्याचार रखना पड़ता है, उसके लिए खेद है।

---

३. पशु-पक्षी आदि तिर्यंच।
४. नारकी, देवता आदि।
५. पाँचों प्रकारके एकेंद्रिय।

६. घर, जमीन, क्षेत्र आदि गाँव, जागीर आदि तथा पर्वत आदि।
७. नदी, तालाव, कुआँ, बावड़ी, समुद्र आदि।
८. हरेक प्रकारके कारखाना आदि।

१०. अब कुटुम्ब और सगेके सिवाय स्त्री, पुत्र आदि जो अति समीपके हैं अथवा जो अपनेसे उत्पन्न हुए हैं वे भी।

११. इस तरह सबको बरतरफ करनेसे अंतमें तथाकथित अपने शरीरके लिए विचार किया जाता है—

१. काया, वचन और मन ये तीन योग और इनकी क्रिया।

२. पाँच इन्द्रिय आदि।

३. सिरके बालोंसे लेकर पैरके नख तकका प्रत्येक अवयव जैसे कि——

४. सभी स्थानोंके बाल, चर्म (चमड़ी), खोपड़ी, भेजा, मांस, लहू, नाड़ी, हड्डी, सिर, कपाल, कान, आँख, नाक, मुख, जिह्वा, दांत, गला, होंट, ठोड़ी, गरदन, छाती, पीठ, पेट, रीढ़, कमर; गुदा, चूतड़, लिंग, जाँघ, घुटना, हाथ, बाहु, कलाई, कुहनी, टखना, चपनी, एड़ीके नीचेका भाग, नख इत्यादि अनेक अवयव या विभाग।

उपर्युक्तमेंसे एक भी इस जीवका नहीं है; फिर भी अपना मान बैठा है, वह सुधरनेके लिए अथवा उससे जीवको व्यावृत्त करनेके लिए मात्र मान्यताकी भूल है, वह सुधारनेसे ठीक हो सकती है। वह भूल किससे हुई? उसका विचार करनेसे पता चलता है कि वह भूल राग, द्वेष और अज्ञानसे हुई है। तो उन राग आदिको दूर करें। वे किससे दूर हों? ज्ञानसे। वह ज्ञान किस तरह प्राप्त हो?

उसका अब एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयमें ठिकाना नहीं है। वह पुरुष यद्यपि तीक्ष्ण उपयोगवाला है, तथापि उस तीक्ष्ण उपयोगको काममें लानेके लिए वह दूसरे किसी भी विषयमें प्रीति नहीं रखता।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० ४]

●

[६१] ५ [संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ ९]

एक बार वह स्वभुवनमें बैठा था। जगतमें कौन सुखी है, उसे जरा देखूँ तो सही, फिर मैं अपने लिए विचार करूँ। इसकी इस अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिए अथवा स्वयं उस संग्रहालयको देखनेके लिए बहुतसे पुरुष (आत्माएँ) और बहुतसे पदार्थ उसके पास आये।

'इसमें कोई जड पदार्थ न था।'

'कोई अकेली आत्मा देखनेमें नहीं आयी।'

मात्र कितने देहधारी थे, जो मेरी निवृत्तिके लिए आये हों ऐसी उस पुरुषको शंका हुई।

वायु, अग्नि, पानी और भूमि इनमेंसे कोई क्यों नहीं आया ?

(नेपथ्य) वे सुखका विचार भी नहीं कर सकते। वे बिचारे दुःखसे पराधीन हैं।

दो इंद्रिय जीव क्यों नहीं आये ?

(नेपथ्य) उनके लिए भी यही कारण है। इस चक्षुसे देखें तो सही। उन बिचारोंको कितना अधिक दुःख है ?

उनका कंप, उनकी थरथराहट, पराधीनता इत्यादि देखे नहीं जा सकते। वे बहुत दुःखी थे।

[संस्मरण-पोथी १, पृष्ठ १०]

(नेपथ्य) इसी चक्षुसे अब आप सारा जगत देख लें। फिर दूसरी बात करें।

अच्छी बात है। दर्शन हुआ, आनंद पाया; परन्तु फिर खेद उत्पन्न हुआ !

प्रत्यक्ष सद्गुरुकी अनन्य भक्तिकी उपासना करनेसे तथा तीन योग और आत्माका अर्पण करनेसे वह ज्ञान-प्राप्त होता है। वह प्रत्यक्षरूप सद्गुरु यदि उपस्थित हो तो क्या करें ? तो उनकी आज्ञानुसार वर्तन करें।

परम करुणाशील, जिनके प्रत्येक परमाणुसे दयाका झरना बह रहा है, ऐसे निष्कारण दयालुको अत्यंत भक्तिसहित नमस्कार करके आत्माके साथ संयुक्त हुए पदार्थोंका विचार करते हुए भी अनादिकालके देहात्म-बुद्धिके अभ्याससे जैसा चाहिए वैसा समझमें नहीं आता, तथापि किसी भी अंशमें देहसे आत्मा भिन्न है ऐसे अनिर्धारित निर्णय पर आया जा सकता है। और उसके लिए वारंवार गवेषणा की जाये तो अब तक जो प्रतीति होती है उससे विशेषरूपसे हो सकना संभव है; क्योंकि ज्यों ज्यों विचार श्रेणिकी दृढता होती जाती है त्यों त्यों विशेष प्रतीति होती जाती है।

सभी संयोगों और संबंधोंका यथाशक्ति विचार करनेसे यह तो प्रतीति होती है कि देहसे भिन्न कोई पदार्थ है।

ऐसे विचार करनेके लिए एकांत आदि जो साधन चाहिए वे प्राप्त न करनेसे विचार-श्रेणीको किसी न किसी प्रकारसे व्याघात होता है और उससे चलती हुई विचारश्रेणि टूट जाती है। ऐसी टूट-फूटी विचारश्रेणि होते हुए भी क्षयोपशमके अनुसार विचार करते हुए जड-पदार्थ (शरीर आदि) के सिवाय उसके संबंधमें कोई भी वस्तु है, निश्चित है ऐसी प्रतीति हो जाती है। आवरणके बल अथवा तो अनादिकालके देहात्मबुद्धिके अभ्याससे यह निर्णय भुला दिया जाता है, और भूलवाले रास्तेपर जाना हो जाता है।

(नेपथ्य) अब खेद क्यों करते हैं ?

मुझे दर्शन हुआ क्या वह सम्यक् था ?

"हाँ"

सम्यक् हो तो फिर चक्रवर्ती आदि दुःखी क्यों दिखायी दें।

'जो दुःखी हो वे दुःखी, और जो सुखी हो वे सुखी दिखायी दें'

चक्रवर्ती तो दुःखी नहीं हो ?

'जैसा दर्शन हुआ वैसी श्रद्धा करें। विशेष देखना हो तो चलें मेरे साथ।'

चक्रवर्तीके अंतःकरणमें प्रवेश किया।

अंतःकरण देखकर मैंने यह माना कि वह दर्शन सम्यक् था। उसका अंतःकरण बहुत दुःखी था। अनंत भयके पर्यायोंसे थरथराता था। काल आयुकी रस्सीको निगल रहा था। हड्डी-मांसमें उसकी वृत्ति थी। कंकरोंमें उसकी प्रीति थी। क्रोध, मानका वह उपासक था। बहुत दुःख-

[संस्मरण-पोथी १, पृ० ११]

अच्छा, क्या यह देवोंका दर्शन भी सम्यक् समझना ?

'निश्चय करनेके लिए इन्द्रके अंतःकरणमें प्रवेश करें।'

चले अब—

(उस इंद्रकी भव्यतासे चूक गया) वह भी परम दुःखी था। विचारा च्युत होकर किसी बीभत्स स्थलमें जन्म लेनेवाला था, इसलिए खेद कर रहा था। उसमें सम्यग्दृष्टि नामकी देवी बसी थी। वह उसके लिए खेदमें विश्रांति थी। इस महादुःखके सिवाय उसके और अनेक अव्यक्त दुःख थे।

परंतु, (नेपथ्य)-ये जड़ अकेले कि आत्माएँ अकेली जगतमें नहीं हैं क्या ? उन्होंने मेरे आमंत्रणका सन्मान नहीं किया।

'जड़ोंको ज्ञान न होनेसे आपका आमंत्रण वे विचारे कहाँसे स्वीकार करते ? सिद्ध (एकात्म-भावी) आपका आमंत्रण स्वीकार नहीं कर सकते। उसकी उन्हें कुछ परवाह नहीं।'

अरे ! इतनी अधिक बेपरवाही ! आमंत्रण तो मान्य करना ही चाहिए; आप क्या कहते हैं ?

इन्हें आमंत्रण—अनामंत्रणसे कोई संबंध नहीं है।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १२]

'वे परिपूर्ण स्वरूपसुखमें विराजमान हैं।'

यह मुझे बतायें। एकदम-बहुत जल्दीसे।

'उनका दर्शन तो बहुत दुर्लभ है। लो, यह अंजन आँजकर दर्शन प्रवेश साथमें कर देखें।

अहो ! ये बहुत सुखी हैं। इन्हें भय भी नहीं है। शोक भी नहीं। हास्य भी नहीं। वृद्धता नहीं। रोग नहीं। आधि भी नहीं, व्याधि भी नहीं, उपाधि भी नहीं, यह सब कुछ नहीं। परंतु···· अनंत-अनंत सच्चिदानंदसे वे पूर्ण हैं। हमें ऐसा होना है।

'क्रमसे हुआ जा सकेगा।'

यह क्रम-ब्रम यहाँ नहीं चलेगा। यहाँ तो तुरन्त वही पद चाहिए।

'जरा शांत हो, समता रखें, और क्रमको अंगीकार करें। नहीं तो उस पदसे युक्त होना संभव नहीं।'

"एँ, होना संभव नहीं" इस अपने वचनको वापस लें। क्रम त्वरासे बतायें, और उस पदमें तुरन्त भेजें।

'बहुतसे मनुष्य आये हैं। उन्हें यहाँ बुलायें। उनमेंसे आपको क्रम मिल सकेगा।'

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १३]

चाहा कि वे आये;—

आप मेरा आमंत्रण स्वीकार कर चले आये इसके लिए आपका उपकार मानता हूँ। आप सुखी हैं, यह बात क्या सच है ? आपका पद क्या सुखवाला माना जाता है ऐसा ?

एक वृद्ध पुरुषने कहा—

'आपका आमंत्रण स्वीकार करना कि न करना ऐसा हमें कुछ बंधन नहीं है। हम सुखी हैं कि दुःखी, यह बतानेके लिए भी हमारा यहाँ आना नहीं है। अपने पदकी व्याख्या करनेके लिए भी आना नहीं है। आपके कल्याणके लिए हमारा आगमन है।'

कृपा करके शीघ्र कहें कि आप मेरा क्या कल्याण करेंगे। और आये हुए पुरुषोंकी पहचान कराइये।

उन्होंने पहले परिचय कराया—

इस वर्गमें ४-५-६-७-८-९-१०-१२ नंबरवाले मुख्यतः मनुष्य हैं। ये सब उसी पदके आराधक योगी हैं कि जिस पदको आपने प्रिय माना है।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १४]

नं० ४ से वह पद ही सुखरूप है, और बाकीकी जगत-व्यवस्था जैसे हम मानते हैं वैसे वे मानते हैं। उस पदके लिए उनकी हार्दिक अभिलाषा है परंतु वे प्रयत्न नहीं कर सकते, क्योंकि थोड़े वक्त तक उन्हें अंतराय है।

अंतराय क्या ? करनेके लिए तत्पर हुए कि बस वह हो गया।

वृद्ध—आप जल्दी न करें। इसका समाधान अभी आपको मिल सकेगा, मिल जायेगा।

ठीक, आपकी इस बातसे मैं सम्मत होता हूँ।

वृद्ध—यह '५' नंबरवाला कुछ प्रयत्न भी करता है। बाकी सब बातोंमें नं० '४' की तरह है।

नंबर '६' सब प्रकारसे प्रयत्न करता है। परंतु प्रमत्तदशासे प्रयत्नमें मंदता आ जाती है।

नं० '७' सर्वथा अप्रमत्त-प्रयत्नवान है।

'८-९-१०' उसकी अपेक्षा क्रमसे उज्ज्वल हैं, किंतु उसी जातिके हैं। '११' नंबरवाला पतित हो जाता है इसलिए उसका यहाँ आना नहीं हुआ। दर्शन होनेके लिए मैं बारहवेंमें ही हूँ—अभी मैं उस पदको संपूर्ण देखनेवाला हूँ, परिपूर्णता पानेवाला हूँ, आयुस्थिति पूरी होनेपर आपके देखे हुए पदमें एक मुझे भी देखेंगे।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १५]

पिताजी, आप महाभाग्य है।

ऐसे अंक कितने हैं ?

वृद्ध—पहले तीन अंक आपको अनुकूल नहीं आयेंगे। ग्यारहवाँ भी वैसा ही है। '१३-१४' आपके पास आयें ऐसा उनको निमित्त नहीं रहा। '१३' यत्किंचित् आ जाये; परंतु [1]पू० क० हो तो उनका आगमन हो, नहीं तो नहीं। चौदहवेंका आगमन-कारण न पूछना, कारण नहीं है।

---

१. पूर्वकर्म।

(नेपथ्य) "आप इन सबके अंतरमें प्रवेश करें। मैं सहायक होता हूँ।"

चलें। ४ से ११+१२ तक क्रम-क्रमसे सुखकी उत्तरोत्तर बढती हुई लहरें उमड़ रही थीं। अधिक क्या कहें? मुझे वह बहुत प्रिय लगा; और यही मुझे अपना लगा।

वृद्धने मेरे मनोगत भावको जानकर कहा—यही है आपका कल्याणमार्ग। जायें तो भले और आयें तो यह समुदाय रहा।'

मैं उठकर उनमें मिल गया।

[स्वविचार भुवन, द्वार प्रथम]

●

[११३] ६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १७]

कायाकी नियमितता।
वचनकी स्याद्वादिता।
मनकी उदासीनता।
आत्माकी मुक्तता।
(यह अंतिम समझ)

●

[६४९] ७ [संस्मरण-पोथी १, पृ०, १८]

आत्मसाधन

द्रव्य—मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ।

क्षेत्र—असंख्यात निज-अवगाहना प्रमाण हूँ।

काल—अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ।

भाव—शुद्ध चैतन्य मात्र निर्विकल्प दृष्टा हूँ।

●

[६५०] ८ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १९]

वचनसंयम— वचनसंयम— वचनसंयम।
मनःसंयम— मनःसंयम— मनःसंयम।
कायसंयम— कायसंयम— कायसंयम।

कायसंयम—
इंद्रियसंक्षेपता, आसनस्थिरता।
इंद्रियस्थिरता, सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति।

वचनसंयम—
मौन, सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति।
वचनसंक्षेप, वचनगुणातिशयता।

मनःसंयम—
मनःसंक्षेपता, मनः स्थिरता।
आत्मचिंतन

× × ×

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव
संयमकारण निमित्तरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्य—संयमित देह।
क्षेत्र—निवृत्तिवाले क्षेत्रमें स्थिति-विहार।
काल—यथासूत्र काल।
भाव—यथासूत्र निवृत्तिसाधनविचार।

●

[५५४] ९ [संस्मरण-पोथी १, पृ० २१]

जो सुखको न चाहता हो वह नास्तिक, या सिद्ध या जड़ है।

●

[२४६] १० [संस्मरण-पोथी १, पृ० २५]

यही स्थिति—यही भाव और यही स्वरूप।

चाहे तो कल्पना करके दूसरी राह लें, यथार्थ अपेक्षित हो तो यह..........लें।

विभंग ज्ञान-दर्शन अन्य दर्शनमें माना गया है। इसमें मुख्य प्रवर्तकोंने जिस धर्ममार्गका बोध दिया है, उसके सम्यक् होनेके लिए स्यात् मुद्रा चाहिए।

स्यात् मुद्रा स्वरूपस्थित आत्मा है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे स्वरूपस्थित आत्मासे कही हुई शिक्षा है।

नाना प्रकारके नय, नाना प्रकारके प्रमाण, नाना प्रकारके भंगजाल, नाना प्रकारके अनुयोग, ये सब लक्षणरूप हैं। लक्ष्य एक सच्चिदानंद है।

दृष्टिविष दूर हो जानेके बाद कोई शास्त्र, कोई अक्षर, कोई कथन, कोई वचन और कोई स्थल प्रायः अहितका कारण नहीं होता।

पुनर्जन्म है, ज़रूर है, इसके लिए मैं अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ।

इस कालमें मेरा जन्म लेना मानूँ तो दुखःदायक है, और मानूँ तो सुखदायक भी है।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० २६]

अब ऐसा कोई पढ़ना नहीं रहा कि जिसे पढ़ देखें। हम जो हैं वह पाये यह जिसके संगमें रहा है उस संगकी इस कालमें न्यूनता हो गयी है।

विकराल काल !....विकराल कर्म !........विकराल आत्मा !........जैसे........परंतु ऐसे........ अब ध्यान रखें। यही कल्याण है।

●

[२४६-१] ११ [संस्मरण-पोथी १, पृ० २७]

इतना ही खोजा जाये तो सब मिलेगा; अवश्य इसमें ही है। मुझे चौकस अनुभव है। सत्य कहता हूँ। यथार्थ कहता हूँ। निःशंक मानें।

इस स्वरूपके लिए सहज सहज किसी स्थलपर लिख मारा है।

●

[९१] १२ [संस्मरण-पोथी १, पृ० २९]

मारग साचा मिल गया, छूट गये संदेह।
होता सो तो जल गया, [1]भिन्न किया निज देह॥
समज पिछें सब सरल है, बिनू समज मुशकील।
ये मुशकीली क्या कहूँ ?........................॥

---

१ मूल संस्मरण-पोथीमें चरण नहीं हैं, परंतु श्रीमद्ने स्वयं ही बादमें पूर्ति की है।

खोज पिंड ब्रह्मांडका, पत्ता तो लग जाय।
येहि ब्रह्मांडि वासना, जब जावे तब····॥
आप आपकुं भूल गया, इनसें क्या अंधेर?
समर समर अब हसत हैं, [1]नहिं भूलेंगे फेर॥
जहाँ कलपना-जलपना, तहाँ मानुं दुख छाँई।
मिटे कलपना-जलपना, तब वस्तू तिन पाई॥
[2]हे जीव! क्या इच्छत हवे? है इच्छा दुःख मूल।
जब इच्छाका नाश तब, मिटे अनादि भूल॥
ऐसी कहाँसे मति भई, आप आप है नाहिं।
आपनकुं जब भुल गये, अवर कहाँसे लाई॥
आप आप ए शोधसें, आप आप मिल जाय।
आप मिलन नय बापको,·························॥

[संस्मरण-पोथी १, पृ० ३०]

भावार्थ—मोक्षका सच्चा मार्ग प्राप्त हुआ, जिससे सभी संदेह दूर हो गये। मिथ्यात्वसे जो कर्मबंध हुआ करता था वह जलकर नष्ट हो गया और चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मसे भिन्न प्रतीत हुई।

आत्मस्वरूपका बोध हो जानेके बाद सब कुछ सरल हो जाता है अर्थात् आत्मसिद्धका मार्ग और आत्मसिद्धि दोनों एकदम स्पष्ट एवं सरल हो जाते हैं। जब तक यथार्थ बोध नहीं होता तब तक मार्गप्राप्ति कठिन है। इस कठिनताकी बात क्या कहूँ?

अपने पिंड–शरीरमें परमात्माकी खोज कर अर्थात् आन्तरिक खोजसे आत्मस्वरूपका अनुभव होगा और उस अनुभवके बढ़नेसे केवल ज्ञानमय दशा प्राप्त होगी जिससे ब्रह्मांड–समस्त विश्वका पता चल जायेगा। यह सब तभी हो सकता है कि ब्रह्मांडी-वासना—जगतकी माया दूर हो जाये।

अहो! यह जीव अपने आपको भूल गया है, इससे बढ़कर और क्या अंधेर होगा? इस आत्मभ्रांति किंवा आत्मविस्मृतिकी समझ आनेसे उसे हँसी आती है और वैसी भूल फिर न करनेका निश्चय करता है।

जब तक कल्पना और जल्पना है अर्थात् मन और वचनकी दौड़ चलती है तब तक दुःख मानता हूँ। जिसकी कल्पना-जल्पना मिट जाती है उसे वस्तुकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य कि आत्मप्राप्तिके लिए मनकी स्थिरता और वाणीका संयम अनिवार्य है।

हे जीव! अब तू किसकी इच्छा करता है? इच्छा मात्र दुःखका मूल है। जब इच्छाका नाश होगा तब आत्मभ्रांतिरूप अनादिकी भूल दूर होकर स्वरूपप्राप्ति होगी।

हे जीव! तुझे अपने आपको भूल जानेकी बुद्धि कहाँसे आयी? अपने आपको तो भूल गया परंतु देह आदि अन्यको अपना कहाँसे ले आया?

तुझे आत्मभान एवं आत्मप्राप्ति तब होगी जब तू आत्मनिष्ठा तथा आत्मश्रद्धासे अपने आपकी खोज करेगा। अर्थात् जब बहिर्मुखताकी माया छोड़कर अंतर्मुखता अपनायेगा तब आत्ममिलनसे कृतकृत्य हो जायेगा।

---

१. मूल संस्मरण-पोथीमें चरण नहीं है, परंतु श्रीमद्ने बादमें पूर्ति की है।

२. पाठान्तर—'क्या इच्छत? खोवत सबे।'

[१३५-२] १३ [संस्मरण-पोथी १, पृ-३३

एक बार वह स्वभुवनमें बैठा था। प्रकाश था;—मंदता थी।

मंत्रीने आकर उसे कहा; आप किस विचारके लिए परिश्रम उठा रहे हैं ? वह योग्य हो तो इस दीनको बताकर उपकृत करें।

०

१४ [संस्मरण-पोथी १, पृ०, ३५]

होत आसवा परिसवा, नहि इनमें संदेह।
मात्र दृष्टिकी भूल है, भूल गये गत एहि॥
रचना जिन उपदेशकी, परमोत्तम तिनु काल।
इनमें सब मत रहत हैं, करते निज संभाल॥
जिन सो ही है आतमा, अन्य होई सो कर्म।
कर्म कटे सो जिन वचन, तत्त्वज्ञानीको मर्म॥
जब जान्यो निजरूपको, तब जान्यो सब लोक।
[1]नहिं जान्यो निजरूपको, सब जान्यो सो फोक॥
एहि दिशाकी मूढ़ता, है नहिं जिनपें भाव।
जिनसें भाव बिनु कबू, नहिं छूटत दुःखदाव॥
व्यवहारसें देव जिन, निहचेसें है आप।
एहि बचनसें समज ले, जिनप्रवचनकी छाप॥
एहि नहीं है कल्पना, एही नहीं विभंग।
जब जागेंगे आतमा, तब लागेंगे रंग॥

●

भावार्थ—अंतर्मुखी ज्ञानीके लिए आस्रव भी संवररूप तथा निर्जरारूप होते हैं। यह बात निःसंदेह सत्य है। आत्मा बहिर्मुख-दृष्टिसे देह गेह आदिको अपना मान रही है, यही भूल है। अंतर्मुख होनेसे यह भूल दूर होती है, फिर कर्मोंका आस्रव और बंध दूर होकर संवर तथा निर्जरा करके मुक्त ज्ञानमयदशा प्राप्त कर जीव कृतार्थ हो जाता है।

जिनेश्वरके उपदेशकी रचना तीनों कालमें परमोत्तम है। छहों दर्शन अथवा सभी धर्म-मत अपनी अपनी संभाल करते हुए वीतरागदर्शनमें समा जाते हैं, क्योंकि वह एकांतवादी न होकर अनेकान्तवादी है।

जिन ही आत्मा है, कर्म आत्मासे भिन्न है और जिनवचन कर्मका नाशक है, यह मर्म तत्त्व-ज्ञानियोंने बताया है।

यदि निजस्वरूपको जान लिया तो सब लोकको जान लिया, और यदि आत्मस्वरूपको नहीं जाना तो सब जाना हुआ व्यर्थ है, अर्थात् आत्मज्ञानके विना दूसरा सब ज्ञान निरर्थक है।

दिशामूढ़ जीवकी यही मूर्खता है कि उसे संसारके पदार्थोंसे प्रीति है, परन्तु जिन भगवानसे प्रेम नहीं है। वीतरागसे प्रेम किये विना संसारका दुःख दूर नहीं होता।

व्यवहरनयसे जिनदेव है, और निश्चयनयसे तो अपनी आत्मा ही देव है। इस वचनसे जिनके प्रवचनके प्रभाव-महत्वको जीव समझ ले।

१. पाठांतर—'होत न्यूनसे न्यूनता,'

यह कथन मात्र कल्पना अर्थात् असत्य नहीं है, और यह विभंग-मिथ्याज्ञान भी नहीं है, अपितु नग्न सत्य है। जब आत्मा जागृत होगी अर्थात् अपने स्वरूपको पानेके लिए कटिबद्ध होकर पुरुषार्थयुक्त होगी, तभी परमपदके रंगमें रँगेगी।

●

१५

[६५२] अनुभव [संस्मरण-पोथी १, पृ० ३७]

●

[४०८-२] १६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ३९]

यह त्यागी भी नहीं; अत्यागी भी नहीं। यह रागी भी नहीं, वीतरागी भी नहीं।

अपना क्रम निश्चल करें। उसके चारों ओर निवृत्त भूमिका रखें।

यह दर्शन होता है वह क्यों वृथा जाता है? इसका विचार पुनः पुन करते हुए मूर्च्छा आती है।

संत जनोंने अपना क्रम नहीं छोड़ा है। जिनने छोड़ा है उनने परम असमाधिको पाया है।

संतपना अति अति दुर्लभ है। आनेके बाद संत मिलना दुर्लभ है। संतपनेके अभिलाषी अनेक हैं। परंतु संतपना दुर्लभ सो दुर्लभ ही है।

●

[८१] १७ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ४३]

प्रकाशभुवन

अवश्य वह सत्य है। ऐसी ही स्थिति है। आप इस ओर मुड़ें—

उन्होंने रूपकसे कहा है। भिन्न भिन्न प्रकारसे उससे बोध हुआ है, और होता है; परन्तु विभंगरूप है।

यह बोध सम्यक् है। तथापि बहुत ही सूक्ष्म और मोह दूर होनेपर ग्राह्य हो सकता है।

सम्यक् बोध भी पूर्ण स्थितिमें नहीं रहा है। तो भी जो है वह योग्य है।

यह समझकर अब योग्य मार्ग ग्रहण करें।

कारण न खोजें, निषेध न करें, कल्पना न करें। ऐसा ही है।

यह पुरुष यथार्थवक्ता था। अयथार्थ कहनेका उन्हें कोई निमित्त न था।

●

१८ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ४६]

बड़ा आश्चर्य है कि निर्विकार मनवाले मुमुक्षु जिसके चरणोंकी भक्ति, सेवा चाहते हैं वैसे पुरुष एक मृगतृष्णाके पानी जैसी,..............

●

[१४८-२] १९ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ४७]

वह दशा किस लिए आवृत हुई? और वह दशा वर्धमान क्यों न हुई?

लोक प्रसंगसे, मानेच्छासे, अजागृतिसे, स्त्री आदि परिषहोंको न जीतनेसे।

जिस क्रियासे जीवको रंग लगता है, उसकी वहीं स्थिति होती है, ऐसा जो जिनका अभिप्राय है वह सत्य है।

श्री तीर्थंकरने महामोहनीयके जो तीस स्थानक कहे हैं वे सच्चे हैं।

अनंत ज्ञानीपुरुषोंने जिसका प्रायश्चित्त नहीं बताया है, जिसके त्यागका एकांत अभिप्राय दिया है, ऐसे कामसे जो व्याकुल नहीं हुआ, वही परमात्मा है।

●

[१७४-२] २० [संस्मरण-पोथी १, पृ० ४२]

कोई ब्रह्मरसना भोगी,
कोई ब्रह्मरसना भोगी;
जाणे कोई विरला योगी,
कोई ब्रह्मरसना भोगी।

●

[४७२] २१ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ५१]

×
२ – २ – ३मा – १९५१

द्रव्य,	एक लक्ष,
क्षेत्र,	मोहमयी,
काल,	मा० व०
	८ १
भाव,	उदयभाव

द्रव्य—	एक लक्ष	उदासीन
क्षेत्र—	मोहमयी	
काल—	८—१	इच्छा
भाव—	उदयभाव	प्रारब्ध

●

[६१५] २२ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ५२]

सामान्य चेतन	सामान्य चेतन
विशेष चेतन	विशेष चेतन
निर्विशेष चेतन	(चैतन्य)

× **स्पष्टीकरण**—२–२–३ मा–१९५१ = [२ = द्वितीया, २ = कृष्णपक्ष, ३ = पौष, मा = मास, १९५१ = संवत १९५१] = पौष वदी २, १९५१

द्रव्य = धन	एक लक्ष = एक लाख
क्षेत्र = स्थान	मोहमयी = बम्बई
काल = समय	मा० व० ८–१ = एक वर्ष आठ महीने

—यह विचारणा पौष वदी २, १९५१ के दिन लिखी गयी है कि द्रव्य-मर्यादा एक लक्ष रुपयेकी करनी, बम्बईमें एक वर्ष आठ महीने निवास करना, और ऐसी वृत्ति होनेपर भी उदय भावके अनुसार प्रवृत्ति करना।

[श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई द्वारा प्रकाशित श्रीमद् राजचन्द्र (हिन्दी) पृ० ४३१ के फुट-नोटसे उद्धृत।]

स्वाभाविक अनेक आत्मा (जीव) निर्ग्रंथ।

सोपाधिक अनेक आत्मा (जीव) वेदांत।

●

[६१६] २३ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ५३]

चक्षु अप्राप्यकारी।

मन अप्राप्यकारी।

चेतनका बाह्य अगमन (गमन न होना)।

●

[६१७-६१८] २४ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ५५]

ज्ञानीपुरुषोंको समय समयमें अनंत संयमपरिणाम वर्धमान होते हैं ऐसा जो सर्वज्ञने कहा है वह सत्य है।

वह संयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे तथा ब्रह्मरसके प्रति स्थिरतासे उत्पन्न होता है।

श्री तीर्थंकर आत्माको संकोच-विकासका भाजन योगदशामें मानते हैं, यह सिद्धांत विशेषतः विचारणीय है।

●

[६५२] २५ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ५६]

ध्यान
ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान
ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान-ध्यान

●

[६५३] २६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ५७]

चिद्धातुमय, परमशांत, अडिग
एकाग्र, एकस्वभावमय
असंख्यात प्रदेशात्मक
पुरुषाकार चिदानंद-
घन उसका
ध्यान करें।

का आत्यंतिक अभाव।
प्रदेश संबंधप्राप्त
पूर्वनिष्पन्न, सत्ताप्राप्त,
उदयप्राप्त, उदीरणाप्राप्त
चार ऐसे
ना० गो० आ० वेदनीय-
का वेदन करनेसे जिसे
इनका अभाव हो गया है
ऐसे शुद्ध स्वरूप जिन
चिन्मूर्त्ति, सर्व लोकालोकभासक
चमत्कारका धाम।

●

[६२५] २७ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ५८]

विश्व अनादि है।
जीव अनादि है।
परमाणु-पुद्गल अनादि हैं।
जीव और कर्मका संबंध अनादि है।
संयोगी भावमें तादात्म्य अध्यास होनेसे जीव जन्म, मरण आदि दुःखोंका अनुभव करता है।

●

[६२६] २८ [संस्मरण-पोथी १, पृ०५९]

पाँच अस्तिकायरूप लोक अर्थात् विश्व है।
चैतन्य लक्षण जीव है।
वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवान परमाणु हैं।
वह संबंध स्वरूपसे नहीं। विभावरूप है।

●

[३४२–२] २९ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ६०]

शरीरमें आत्मभावना प्रथम होती हो तो होने देना, क्रमसे प्राणमें आत्मभावना करना,

फिर इंद्रियोंमें आत्मभावना करना, फिर संकल्प-विकल्परूप परिणाममें आत्मभावना करना; फिर स्थिर ज्ञानमें आत्मभावना करना। वहाँ सर्व प्रकारकी अन्यालंबनरहित स्थिति करना।

●

[३४२-३] ३० [संस्मरण-पोथी १, पृ० ६१]

प्राण,
वाणी,
रस। } सोहं

अनहद उसका ध्यान करना।

●

[७०१] ३१ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ६२]

संवत् १९५३ फागुन वदी १२, भौमवार

जिन	मुख्य	आचार्य
सिद्धांत	पद्धति	धर्म
शांत रस	अहिंसा	मुख्य
लिंगादि	व्यवहार	जिनमुद्रा सूचक
मतांतर	समावेश	
शांत रस	प्रवहन	
जिन	अन्यको	धर्म प्राप्ति
लोकादि स्वरूप—	संशयकी	निवृत्ति समाधान
जिन	प्रतिमा	कारण

कुछ गुहव्यवहार शांत करके, परिग्रह आदि कार्यसे निवृत्त होना। अप्रमत्त गुणस्थानकपर्यंत पहुँचना। केवल भूमिका का सहजपरिणामी ध्यान—

●

[७०-२] ३२ [संस्मरणपोथी १, पृ० ६३]

धन्य रे दिवस आ अहो,
जागी रे शांति अपूर्व रे;
दश वर्षे रे धारा उलसी,
मटयो उदय कर्मनो गर्व रे॥ धन्य०॥
ओगणीससें ने एकत्रीसे,
आव्यो अपूर्व अनुसार रे;
ओगणीससें ने बेतालीसे,
अद्भुत वैराग्य धार रे॥ धन्य०॥
ओगणीससें ने सुडतालीसे,

धन्य दिवस

भावार्थ—अहो! आजका यह दिन धन्य है, क्योंकि अपूर्व शांति प्रगट हुई है, और दस वर्ष-के बाद ज्ञान एवं वैराग्यकी धारा उल्लासपूर्वक बह रही है; क्योंकि उपाधिरूप कर्मोदयका गर्व—बल नष्ट हो गया है॥ १॥

समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे;
श्रुत अनुभव वधती दशा
निज स्वरूप अवभास्युं रे ॥ धन्य० ॥
त्यां आव्यो रे उदय कारमो,
परिग्रह कार्य प्रपंच रे;
जेम जेम ते हडसेलीए,
तेम वधे न घटे रंच रे ॥ धन्य० ॥
[संस्मरण-पोथी १, पृ० ६४]

वधतुं एम ज चालियुं,
हवे दीसे क्षीण कांई रे;
क्रमे करीने रे ते जशे,
एम भासे मनमांही रे ॥ धन्य० ॥
यथा हेतु जे चित्तनो,
सत्य धर्मनो उद्धार रे;
थशे अवश्य आ देहथी,
एम थयो निरधार रे ॥ धन्य० ॥
आवी अपूर्व वृत्ति अहो,
थशे अप्रमत्त योग रे;
केवळ लगभग भूमिका,
स्पर्शीने देह वियोग रे ॥ धन्य० ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे,
भोगववो अवशेष रे;
तेथी देह एक ज धारीने
जाशुं स्वरूप स्वदेश रे ॥ धन्य० ॥

●

वि० सं० १९३१ में सात वर्षकी उमरमें जाति स्मरणज्ञान हुआ। वि० सं० १९४२ में अद्भुत वैराग्यकी धारा प्रगट हुई।

वि० सं० १९४७ में शुद्ध सम्यग्दर्शनरूप आत्मज्ञान या अनुभव प्रकाशित हुआ, जिससे श्रुतज्ञान और अनुभवदशा दोनोंमें वृद्धि होती गई। फिर निज-स्वरूप अवभासित हुआ अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हुआ।

इतनेमें परिग्रह, व्यापार आदिके प्रपंचका भयंकर उदय हुआ। ज्यों ज्यों उसे दूर भगानेका प्रयत्न किया त्यों त्यों वह बढ़ता गया। परन्तु जरा भी कम नहीं हुआ।

इस तरह यह उदय बढ़ता ही गया; परन्तु अब कुछ क्षीण मालूम होता है। क्रमशः इसका पूर्ण क्षय हो जायेगा, ऐसा मनमें भासित हो रहा है।

वीतरागके सत्य धर्मका उद्धार करनेकी चित्तकी उत्कंठा थी। ऐसा निश्चय हुआ है कि इस देहसे अभीष्ट उद्धार अवश्य होगा।

अंतमें अपूर्व वृत्ति—अनन्य आत्मपरिणति प्रगट होकर निर्विकल्प समाधिकी श्रेणिरूप अप्रमत्त योग—एकाग्र ध्यानमग्नदशा प्राप्त होगी, और लगभग केवलभूमिकाको स्पर्श कर देह वियोग होगा अर्थात् अपूर्व समाधिमरणरूप मृत्यु-महोत्सव प्राप्त करेंगे।

पूर्व प्रारब्धरूप कर्मका भोग भोगना अवश्य बाकी है। इसलिए एक ही देह धारण करके और सभी कर्मोंका क्षय करके शुद्ध आत्मस्वरूपके स्वदेशमें जा वसेंगे अर्थात् सिद्ध हो जायेंगे।

●

[६२७] ३३ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ६७]

[1]कम्मदव्वेहि सम्मं संजोगो होई जो उ जीवस्स।
सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो॥

●

[४०६] ३४ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ७३]

श्री जिनने निम्नलिखित सम्यग्दर्शनस्वरूप जिन छः पदोंका उपदेश दिया है, आत्मार्थी जीवको उनका अतिशय विचार करना योग्य है।

आत्मा है यह **अस्तिपद**।

क्योंकि प्रमाणसे उसकी सिद्धि है।

आत्मा नित्य है यह **नित्यपद**। आत्माका जो स्वरूप है उसका किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होना संभव नहीं है, तथा उसका विनाश भी संभव नहीं है।

आत्मा कर्मका कर्ता है, यह **कर्तापद**।

आत्मा कर्मका भोक्ता है।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० ७४]

उस आत्माकी मुक्ति हो सकती है।

जिनसे मोक्ष हो सके ऐसे उपाय प्रसिद्ध हैं।

●

[५२७] ३५ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ८०]

आत्मा—	वेदांत	जैन	सांख्य	योग	नैयायिक	बौद्ध
नित्य—	,,	,,	,,	,,	,,	+
अनित्य	+	,,	+	+	+	,,
परिणामी	+	,,	+	+	+	,,
अपरिणामी	,,	,,	,,	+	+	+
साक्षी	,,	,,	,,	+	+	+
साक्षी-कर्ता	+	,,	+	,,	,,	+

●

[५२८] ३६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ८१]

सांख्य कहता है कि बुद्धि जड है। पतंजलि और वेदांत ऐसा ही कहते हैं।

जिन कहता है कि बुद्धि चेतन है।

वेदांत कहता है कि आत्मा एक ही है।

---

१. अर्थके लिए देखें व्याख्यानसार २, आंक ३०।

जिन कहता है कि आत्मा अनंत है।
जाति एक है। सांख्य भी ऐसा ही कहता है।
पतंजलि भी ऐसा ही कहता है।

× × ×

वेदांत कहता है कि यह समस्त विश्व वंध्यापुत्रवत् है।
जिन कहता है कि यह समस्त विश्व शाश्वत है।

× × ×

पतंजलि कहता है कि नित्यमुक्त ऐसा एक ईश्वर होना चाहिए।
सांख्य उसका निषेध करता है। जिन उसका निषेध करता है।

●

[४२८] ३७ [संस्मरण-पोथी, १, पृ० ८७]

श्री महावीरस्वामी जैसोंने अप्रसिद्ध पद रखकर गृहवासका वेदन किया, गृहवाससे निवृत्त होनेपर भी साढ़े बारह वर्ष दीर्घकाल तक मौन रखा। निद्रा छोड़कर विषम परिषह सहन किये, इसका क्या हेतु है?

और यह जीव इस तरह वर्तन करता है तथा इस तरह कहता है, इसका हेतु क्या है?

जो पुरुष सद्गुरुकी उपासनाके विना अपनी कल्पनासे आत्मस्वरूपका निर्धार करे वह मात्र अपने स्वच्छंदके उदयका वेदन करता है ऐसा विचार करना योग्य है।

जो जीव सत्पुरुषके गुणका विचार न करे, और अपनी कल्पनाके आश्रयसे वर्तन करे, वह जीव सहजमात्रमें भववृद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि अमर होनेके लिए जहर पीता है।

●

[४३६] ३८ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ८९]

श्री तीर्थंकरने सर्वसंगको महास्रवरूप कहा है, यह सत्य है।

ऐसी मिश्रगुणस्थानक जैसी स्थिति कब तक रखना? जो बात चित्तमें नहीं, उसे करना, और जो चित्तमें है उसमें उदास रहना ऐसा व्यवहार किस तरह हो सकता है?

वैश्यवेषसे और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटिशः विचार हुआ करते हैं।

वेष और उस वेषसंबंधी व्यवहार देखकर लोकदृष्टि वैसा माने यह सच है, और निर्ग्रंथ-भावमें रहता हुआ चित्त उस व्यवहारमें यथार्थ प्रवृत्ति न कर सके यह भी सत्य है, जिसके लिए दो प्रकारकी एक स्थितिसे प्रवृत्ति करते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और निर्ग्रंथभावसे रहें तो फिर वह व्यवहार चाहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करनी योग्य है। यदि उपेक्षा न की जाये तो निर्ग्रंभावकी हानि हुए विना न रहे।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० ९०]

उस व्यवहारका त्याग किये विना अथवा अत्यन्त अल्प किये विना निर्ग्रंथता यथार्थ नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता।

यह सर्व विभाव-योग दूर हुए विना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता।

वह विभावयोग दो प्रकारका है—एक पूर्वमें निष्पन्न किया हुआ उदयस्वरूप, और दूसरा आत्मबुद्धिसे रागसहित किया जानेवाला भावस्वरूप।

आत्मभावसे विभावसंबंधी योगकी उपेक्षा ही श्रेयभूत लगती है। नित्य वह विचारी जाती है, उस विभावरूपसे रहनेवाले आत्मभावको बहुत परिक्षीण किया है, और अभी भी वही परिणति रहती है।

उस संपूर्ण विभावयोगको निवृत्त किये विना चित्त विश्रांति प्राप्त करे ऐसा मालूम नहीं होता, और अभी उस कारणसे विशेष क्लेशका वेदन करना पड़ता है, क्योंकि उदय विभावक्रियाका है और इच्छा आत्मभावमें स्थिति करनेकी है।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० ९१]

फिर भी ऐसा रहता है कि यदि उदयकी विशेषकाल तक प्रवृत्ति रहे तो आत्मभाव विशेष चंचल परिणामको प्राप्त होगा; क्योंकि आत्मभावके विशेष संधान करनेका अवकाश उदयके प्रवृत्तिके कारण प्राप्त नहीं हो सके, और इसलिए वह आत्मभाव कुछ भी अजागृतावस्थाको प्राप्त हो जायें।

जो आत्मभाव उत्पन्न हुआ है, उस आत्मभावपर यदि विशेष ध्यान दिया जाये तो अल्प कालमें उसकी विशेष वृद्धि हो जाये, और विशेष जागृतावस्था उत्पन्न हो, और थोड़े समयमें हित-कारी उग्र आत्मदशा प्रगट हो, और यदि उदयकी स्थितिके अनुसार उदयका काल रहने देनेका विचार करनेमें आये तो अब आत्मशिथिलता होनेका प्रसंग आयेगा, ऐसा लगता है; क्योंकि दीर्घ-कालका आत्मभाव होनेसे अब तक चाहे जैसा उदयकाल होनेपर भी वह आत्मभाव नष्ट नहीं हुआ, तो भी कुछ कुछ उसकी अजागृतावस्था होने देनेका वक्त आया है; ऐसा होनेपर भी अब केवल उदयपर ध्यान दिया जायेगा तो शिथिलभाव उत्पन्न होगा।

[संस्मरण पोथी १, पृ० ९२]

ज्ञानीपुरुष उदयवश देहादि धर्मकी निवृत्ति करते हैं। इस तरह प्रवृत्ति की हो तो आत्मभाव नष्ट नहीं होना चाहिए। इसलिए इस बातको ध्यानमें रखकर उदयका वेदन करना योग्य है ऐसा विचार भी अब योग्य नहीं, क्योंकि ज्ञानके तारतम्यकी अपेक्षा उदयबल बढ़ता हुआ देखनेमें आये तो जरूर वहाँ ज्ञानीको भी जागृतदशा करना योग्य है, ऐसा श्री सर्वज्ञने कहा है।

अत्यंत दुषमकाल है इस कारण और हतपुण्य लोगोंने भरतक्षेत्रको घेरा है इस कारण, परम सत्संग, सत्संग या सरल परिणामी जीवोंका समागम भी दुर्लभ है, ऐसा समझकर जैसे अल्प कालमें सावधान हुआ जाये, वैसे करना योग्य है।

●

[४३७] ३९ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ९३]

मौनदशा धारण करनी ?

व्यवहारका उदय ऐसा है कि वह धारण की हुई दशा लोगोंके लिए कषायका निमित्त हो वैसे व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं होती।

तब क्या उस व्यवहारको निवृत्त करना ?

यह भी विचार करनेसे होना कठिन लगता है, क्योंकि वैसी कुछ स्थितिका वेदन करनेका चित्त रहा करता है। फिर चाहे वह शिथिलतासे, उदयसे या परेच्छासे या सर्वज्ञदृष्ट होनेसे हो। ऐसा होनेपर भी अल्पकालमें इस व्यवहारका संक्षेप करनेका चित्त है।

इस व्यवहारका संक्षेप किस प्रकारसे किया जा सकेगा ?

क्योंकि उसका विस्तार विशेषरूपसे देखनेमें आता है। व्यापाररूपसे, कुटुंबप्रतिबंधसे, युवावस्थाप्रतिबंधसे, दयास्वरूपसे, विकारस्वरूपसे, उदयस्वरूपसे, इत्यादि कारणोंसे यह व्यवहार विस्ताररूपसे मालूम होता है।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० ९४]

मैं ऐसा जानता हूँ कि अनंतकालसे अप्राप्तवत् आत्मस्वरूप केवलज्ञान—केवल दर्शनस्वरूपसे अंतर्मुहूर्तमें उत्पन्न किया है, तो फिर वर्ष—छः मासके कालमें इतना यह व्यवहार क्यों निवृत्त न हो सके ? मात्र जागृतिके उपयोगांतरसे उसकी स्थिति है, और उस उपयोगके बलका नित्य विचार करनेसे अल्प कालमें यह व्यवहार निवृत्त हो सकने योग्य है। तो भी इसकी किस तरह निवृत्ति करनी, यह अभी विशेषरूपसे मुझे विचार करना योग्य है ऐसा मानता हूँ, क्योंकि वीर्यके विषयमें कुछ भी मंद दशा रहती है। उस मंद दशाका हेतु क्या है ?

उदयबलसे प्राप्त हुआ परिचय मात्र परिचय है, यह कहनेमें कोई बाधा है ? उस परिचयमें विशेष अरुचि रहती है, यह होनेपर भी वह परिचय करना पड़ा है। यह परिचयका दोष नहीं कहा जा सकता, परन्तु निज दोष कहा जा सकता है। अरुचि होनेसे इच्छारूप न कहकर उदयरूप दोष कहा है।

●

[४३८] ४० [संस्मरण-पोथी १, पृ० ९६]

बहुत विचार करके नीचेका समाधान होता है।

एकांत द्रव्य, एकांत क्षेत्र, एकांत काल और एकांत भावरूप संयमका आराधन किये विना चित्तकी शांति न हो ऐसा लगता है। निश्चय रहता है।

उस योगका अभी कुछ दूर होना संभव है, क्योंकि उदयबल देखते हुए उसके निवृत्त होनेमें कुछ विशेष समय लगेगा।

●

[४७७] ४१ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ९७]

माघ सुदी ७ शनिवार विक्रम संवत् १९५१ के बाद डेढ़ वर्षसे अधिक स्थिति नहीं।

और उतने कालमें उसके वाद जीवनकाल किस तरह भोगना इसका विचार किया जायेगा।

●

[४३९] ४२ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ९८]

[1]अवि अप्पणो वि देहंमि नायरंति ममाइयं ॥

●

[४४०] ४३ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १००]

काम, मान और उतावली इन तीनका विशेष संयम करना योग्य है।

●

[४०१] ४४ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १०१]

हे जीव ! असारभूत लगनेवाले इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त !

१. (तत्त्वज्ञानी) अपनी देहमें भी ममत्व नहीं करते।

उस व्यवसायके करनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दिखायी देता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त !

यद्यपि श्री सर्वज्ञने ऐसा कहा है कि चौदहवें गुणस्थानकमें रहनेवाला जीव भी प्रारब्धका वेदन किये विना मुक्त नहीं हो सकता, तो भी तू उस उदयका आश्रयरूप होनेसे निज दोष जानकर उसका अत्यंत तीव्रतासे विचार करके उसे निवृत्त हो, निवृत्त !

केवल मात्र प्रारब्ध हो और अन्य कर्मदशा न रहती हो तो वह प्रारब्ध सहज ही निवृत्त हो जाता है, ऐसा परम पुरुषने स्वीकार किया है, परंतु वह केवल प्रारब्ध तब कहा जा सकता है जब प्राणांतपर्यंत निष्ठाभेददृष्टि न हो, और तुझे सभी प्रसंगोंमें ऐसा होता है, ऐसा जब तक संपूर्ण निश्चय न हो तब तक यह श्रेयस्कर है कि उसमें त्यागबुद्धि रखनी, इस बातका विचार करके हे जीव ! अब तू अल्पकालमें निवृत्त हो, निवृत्त !

●

[४४२] ४५ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १०२]

हे जीव ! अब तू संगनिवृत्तरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर !

सर्वसंगनिवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका अवकाश देखनेमें न आये तो अंश-संगनिवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर !

जिस ज्ञानदशामें त्यागात्याग कुछ भी संभव नहीं उस ज्ञानदशाकी जिसमें सिद्धि है ऐसा तू सर्वसंगत्यागदशाका अल्पकालमें वेदन करेगा तो संपूर्ण जगतके प्रसंगमें रहे तो भी वह बाधरूप न हो। इस प्रकार वर्तन करनेपर भी निवृत्ति ही सर्वज्ञने प्रशस्त कही है, क्योंकि ऋषभ आदि सर्व परम पुरुषोंने अंतमें ऐसा ही किया है।

●

[५०१] ४६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १०३]

सं० १९५१ के वैशाख सुदी ५ सोमके सायंकालसे प्रत्याख्यान।

सं० १९५१ के वैशाख सुदी १४ भौमवारसे।

●

[४०८-३] ४७ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १०५]

क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल होते हुए क्या देर ?

●

[४९३] ४८ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १०६]

"[1]जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी,
तेम ज जीव स्वभाव रे।
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो,
प्रबळ कषाय अभाव रे॥"

●

१. अर्थके लिए देखें आंक ५८४

[१४७-३-१] ४९ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १०८]

वीतरागदर्शन

उद्देशप्रकरण
सर्वज्ञमीमांसा
षड्दर्शन-अवलोकन
वीतराग-अभिप्राय-विचार
व्यवहारप्रकरण
मुनिधर्म
आगारधर्म
मतमतांतर-निराकरण
उपसंहार

●

[१४७-३-२] ५० [संस्मरण-पोथी १, पृ० ११०]

नवतत्त्वविवेचन
गुणस्थानकविवेचन
कर्मप्रकृतिविवेचन
विचारपद्धति
श्रवणादिविवेचन
बोधबीजसंपत्ति
जीवाजीवविभक्ति
शुद्धात्मपदभावना

●

[१४७-३-३] ५१ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १११]

अंग
उपांग
मूल
छेद
आशयप्रकाशिता टीका
 व्यवहार हेतु
 परमार्थ हेतु
 परमार्थ गौणताकी प्रसिद्धि
 व्यवहारविस्तारका पर्यवसान
 अनेकांतदृष्टि हेतु
 स्वगतमतांतरनिवृत्तिप्रयत्न

उपक्रम उपसंहार अविसंधि
लोकवर्णन स्थूलत्व हेतु
वर्तमानकालमें आत्मसाधनभूमिका
वीतरागदर्शन-व्याख्याका अनुक्रम

●

[१४७-३-४] ५२ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ११३]

मूल

लोकसंस्थान ?
धर्म–अधर्म अस्तिकायरूप द्रव्य ?
स्वाभाविक अभव्यत्व ?
अनादि-अनंत सिद्धि ?
अनादि-अनंतका ज्ञान किस तरह ?
आत्मा संकोच-विकाससे ?
सिद्धि ऊर्ध्वगमन-चेतन, खंडवत् क्यों नहीं ?
केवलज्ञानमें लोकालोक-ज्ञातृत्व किस तरह ?
लोकस्थितिमर्यादा हेतु ?
शाश्वतवस्तुलक्षण ?

उत्तर

उस उस स्थानवर्ती सूर्य चंद्र आदि वस्तु,
अथवा नियमित गतिहेतु ?
दुषम-सुषमादि काल ?
मनुष्य–उच्चत्वादि प्रमाण ?
अग्निकायादिका निमित्तयोगसे एकदम उत्पन्न होना ?
एक सिद्ध वहाँ अनंत सिद्ध अवगाहना ?

●

[५९९] ५३ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ११४]

हेतु अवक्तव्य ?
एकमें पर्यवसान किस तरह हो सकता है ?
अथवा नहीं होता ?
व्यवहार रचना की है, ऐसा किसी हेतुसे सिद्ध होता है ?

●

[६००] ५४ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ११५]

स्वस्थिति—आत्मदशाके संबंधमें विचार।
तथा उसका पर्यवसान ?

उसके बाद लोकोपकार प्रवृत्ति ?
लोकोपकारप्रवृत्तिका नियम।
वर्तमानमें (अभी) किस तरह प्रवृत्ति करना उचित है ?

●

[४१९-२] ५५ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ११७]

आत्मपरिणामकी विशेष स्थिरता होनेके लिए वाणी और कायाका संयम उपयोगपूर्वक करना योग्य है।

●

[६०१] ५६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० ११८]

तीनों कालोंमें जो वस्तु जात्यंतर न हो उसे श्री जिन द्रव्य कहते हैं।
कोई भी द्रव्य पर-परिणामसे परिणमन न करे। स्वत्वका त्याग न कर सके।
प्रत्येक द्रव्य (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे) स्वपरिणामी है।
नियत अनादि मर्यादारूपसे रहता है।
जो चेतन है वह कभी अचेतन नहीं होता; जो अचेतन है वह कभी चेतन नहीं होता।

●

[६०२] ५७ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १२०]

हे योग !

●

[६१३-२] ५८ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १२१

एक चैतन्यमें यह सब किस तरह घटता है ?

●

[४०८-४] ५९ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १२२

यदि इस जीवने वे विभावपरिणाम क्षीण न किये तो इसी भवमें वह प्रत्यक्ष दुःखका वेदन करेगा।

●

[६०४] ६० [संस्मरण पोथी १, पृ० १२४]

जिस जिस प्रकारसे आत्माका चिंतन किया हो उस उस प्रकारसे वह प्रतिभासित होती है।

विषयार्त्ततासे जिस जीवकी विचारशक्ति मूढ हो गयी है उसे आत्माकी नित्यता भासित नहीं होती, प्रायः ऐसा दिखायी देता है, वैसा होता है, यह यथार्थ है; क्योंकि अनित्य विषयमें आत्मबुद्धि होनेसे अपनी भी अनित्यता भासित होती है।

विचारवानको आत्मा विचारवान लगती हैं। शून्यरूपसे चिन्तन करनेवालेको आत्मा शून्य लगती है, अनित्यरुपसे चिंतन करनेवालेको आत्मा अनित्य लगती है, नित्यरूपसे चिन्तन करनेवालेको आत्मा नित्य लगती हैं।

चेतनकी उत्पत्तिके कुछ भी संयोग दिखायी नहीं देते, इसलिए चेतन अनुत्पन्न है। उस चेतनके विनष्ट होनेका कोई अनुभव नहीं होता, इसलिए अविनाशी है—नित्य अनुभवस्वरूप होनेसे नित्य है।

समय समयमें परिणामांतरको प्राप्त होनेसे अनित्य है।
स्वस्वरूपका त्याग करनेके अयोग्य होनेसे मूल द्रव्य है।

●

[६०४] ६१ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १२६]

सबकी अपेक्षा वीतरागके वचनको संपूर्ण प्रीतिका स्थान कहना योग्य है, क्योंकि जहाँ राग आदि दोषोंका संपूर्ण क्षय होता है वहाँ संपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होना योग्य है ऐसा नियम है।

श्री जिनमें सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता होना संभव है, क्योंकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस किसी पुरुषमें जितने अंशमें वीतरागताका संभव है उतने अंशमें उस पुरुषका वाक्य मानने योग्य है।

सांख्य आदि दर्शनोंमें बंध एवं मोक्षकी जो जो व्याख्याएँ बतायी हैं उन सबसे बलवान प्रमाणसिद्ध व्याख्या श्री वीतरागने कही है, ऐसा जानता हूँ।

शंका—जिस जिनने द्वैतका निरूपण किया है, आत्माको खंड द्रव्यवत् कहा है, कर्ता-भोक्ता कहा है, और निर्विकल्प समाधिके अंतरायमें मुख्य कारण हो ऐसी पदार्थकी व्याख्या की है, उस जिनकी शिक्षा प्रबल प्रमाणसिद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? केवल अद्वैत-और—

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १२७]

सहजमें निर्विकल्प समाधिके कारणभूत वेदांत आदि मार्गकी, उसकी अपेक्षा अवश्य विशेष प्रमाणसिद्धता संभव है।

उत्तर—एक बार जैसे आप कहते हैं वैसे यदि मान भी लें, परंतु सर्व दर्शनकी शिक्षाकी अपेक्षा जिनकथित बंध-मोक्षके स्वरूपकी शिक्षा जितनी अविकल प्रतिभासित होती है उतनी दूसरे दर्शनोंकी प्रदिभासित नहीं होती। और जो अविकल शिक्षा है वही प्रमाणसिद्ध है।

शंका—यदि आप ऐसा समझते हैं तो किसी तरह निर्णयका समय नहीं आ सकता; क्योंकि सब दर्शनोंमें, जिस जिस दर्शनमें जिसकी स्थिति है उस उस दर्शनके लिए वह अविकलता मानता है।

उत्तर—यदि ऐसा हो तो उससे अविकलता सिद्ध नहीं होती, जिसकी प्रमाणसे अविकलता हो वही अविकल सिद्ध होता है।

प्रश्न—जिस प्रमाणसे आप जिनकी शिक्षाको अविकल मानते हैं उसे आप कहें, और जिस तरह वेदांत आदिकी विकलता आपको संभव मालूम होती है, उसे भी कहें।

●

[६०५] ६२ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १३०]

अनेक प्रकारके दुःख तथा दुःखी प्राणी प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं, तथा जगतकी विचित्र रचना देखनेमें आती है, यह सब होनेका क्या हेतु है? तथा उस दुःखका मूल स्वरूप क्या है? और उसकी निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है? तथा जगतकी विचित्र रचनाका आंतरिक स्वरूप क्या है? इत्यादि प्रकारमें जिसे विचारदशा उत्पन्न हुई है ऐसे मुमुक्षु पुरुषने, पूर्व पुरुषोंने उपर्युक्त विचारों संबंधी जो कुछ समाधान किया था, अथवा माना था, उस विचारके समाधानके प्रति भी यथाशक्ति आलोचना की, उस आलोचनाके करते हुए विविध प्रकारके मतमतांतर तथा अभिप्रायसंबंधी यथा-शक्ति विशेष विचार किया, तथा नाना प्रकारके रामानुज आदि सम्प्रदायोंका विचार किया; तथा

वेदांत आदि दर्शनका विचार किया। उस आलोचनामें अनेक प्रकारसे उस दर्शनके स्वरूपका मंथन किया, और प्रसंग प्रसंगपर मंथनकी योग्यताको प्राप्त हुए जैनदर्शनके संबंधमें अनेक प्रकारसे जो मंथन हुआ, उस मंथनसे उस दर्शनके सिद्ध होनेके लिए, जो पूर्वापर विरोध जैसे मालूम होते हैं वे निम्नलिखित कारण दिखायी दिये।

●

[६०६] ६३ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १३२]

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय अरूपी होनेपर भी रूपी पदार्थको सामर्थ्य देते हैं, और ये तीन द्रव्य स्वभावपरिणामी कहे हैं, तो ये अरूपी होनेपर रूपीको कैसे सहायक हो सकते हैं।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एकक्षेत्रावगाही हैं, और उनका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, फिर भी उनमें, गतिप्राप्त वस्तुके प्रति स्थिति सहायकतारूपसे और स्थितिप्राप्त वस्तुके प्रति गतिसहायकतारूपसे विरोध किसलिए न आये?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक आत्मा ये तीन समान असंख्यातप्रदेशी हैं, इसका कोई दूसरा रहस्य है?

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायकी अवगाहना अमुक अमूर्ताकारसे है, ऐसा होनेमें कोई रहस्य है?

लोकसंस्थानके सदैव एक स्वरूपसे रहनेमें कोई रहस्य है?

एक तारा भी घट-बढ़ नहीं होता, ऐसी अनादि-स्थिति किस हेतुसे मानना?

शाश्वतताकी व्याख्या क्या? आत्मा कि परमाणुको शाश्वत माननेमें कदाचित् मूल द्रव्यत्व कारण है; परन्तु तारा, चंद्र, विमान आदिमें वैसा क्या कारण है?

●

[६००] ६४ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १३३]

सिद्ध आत्मा लोकालोकप्रकाशक है, परन्तु लोकालोकव्यापक नहीं है, व्यापक तो स्वावगाहनाप्रमाण है। जिस मनुष्य-देहसे सिद्धिको प्राप्त की उसका तीसरा भाग कम वह प्रदेश घन है। अर्थात् आत्मद्रव्य लोकालोकव्यापक नहीं परन्तु लोकालोकप्रकाशक अर्थात् लोकालोकज्ञायक है। आत्मा लोकालोक प्रति नहीं जाती, और लोकालोक कुछ आत्मामें आता नहीं, सब अपनी-अपनी अवगाहनामें स्वसत्तामें स्थित हैं, फिर भी आत्माको उसका ज्ञानदर्शन किस तरह होता है?

यहाँ यदि यह दृष्टांत दिया जाये कि जैसे दर्पणमें वस्तु प्रतिबिंबित होती है वैसे ही आत्मामें भी लोकालोक प्रकाशित होता है, प्रतिबिंबित होता है, तो यह समाधान भी अविरोधी दिखायी नहीं देता, क्योंकि दर्पणमें तो विस्रसापरिणामी पुद्गलरश्मिसे वस्तु प्रतिबिंबित होती है।

आत्माका अगुरुलघु धर्म है, उस धर्मको देखते हुए आत्मा सब पदार्थोंको जानती है; क्योंकि सब द्रव्योंमें अगुरुलघु गुण समान है, ऐसा कहा जाता है, वहाँ अगुरुलघुका अर्थ क्या समझना?

●

[५७२] ६५ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १३६]

आहारकी जय,
आसनकी जय,

निद्राकी जय,

वाक्संयम,

जिनोपदिष्ट आत्मध्यान।

जिनोपदिष्ट आत्मध्यान किस तरह ?

ज्ञानप्रमाण ध्यान हो सकता है, इसलिए ज्ञान-तारतम्यता चाहिए।

क्या विचार करते हुए, क्या मानते हुए, क्या दशा होते हुए चौथा गुणस्थानक कहा जाये ?

किससे चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानकमें आये ?

●

[६०८] ६६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १४८]

वर्तमानकालकी तरह जगत् सर्व काल है।

वह पूर्वकालमें न हो तो वर्तमानकालमें उसका अस्तित्व न हो।

वह वर्तमानकालमें है तो भविष्यकालमें वह अत्यंत विनष्ट नहीं हो।

पदार्थ मात्र परिणामी होनेसे यह जगत् पर्यायांतर दिखायी देता है; परन्तु मूलरूपसे इसकी सदा विद्यमानता है।

●

[६०९] ६७ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १५०]

जो वस्तु समयमात्रके लिए है, वह सर्व काल है।

जो भाव है वह है, जो नहीं है वह नहीं है।

दो प्रकारका पदार्थस्वभाव विभागपूर्वक स्पष्ट दिखायी देता है—जडस्वभाव और चेतन-स्वभाव।

●

[६१०] ६८ [संस्मरण-पोथी १. पृ० १५२]

गुणातिशयता क्या है ?

उसका आराधन कैसे किया जाये ?

केवलज्ञानमें अतिशयता क्या है ?

तीर्थंकरमें अतिशयता क्या है ? विशेष हेतु क्या ?

यदि जिन सम्मत केवलज्ञान लोकालोकज्ञायक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियाएँ किस तरह हो सकती हैं ?

वर्तमानमें उसकी इस क्षेत्रमें अप्राप्तिका हेतु क्या है ?

●

[६११] ६९ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १५४]

मति,

श्रुत,

अवधि,

मनःपर्याय,

परमावधि,

केवल,

●

[६१२] ७० [संस्मरण-पोथी १, पृ० १५५]

परमावधिज्ञान उत्पन्न होनेके बाद केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह रहस्य अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

अनादि-अनंत कालका, अनंत अलोकका गणितसे अतीत अथवा असंख्यातसे पर ऐसे जीव समूह, परमाणु-समूह अनंत होनेपर भी अनंतताका साक्षात्कार हो वह गणितातीता होनेपर किस तरह साक्षात् अनंतता मालूम हो ? इस विरोधका परिहार उपर्युक्त रहस्यसे होने योग्य समझमें आता है।

और केवलज्ञान निर्विकल्प है, उसमें उपयोगका प्रयोग नहीं करना पड़ता। सहज उपयोगसे वह ज्ञान है। यह रहस्य भी अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

क्योंकि प्रथम सिद्ध कौन है ? प्रथम जीवपर्याय कौनसा है ? प्रथम परमाणु-पर्याय क्या है ? यह केवलज्ञान गोचर है परन्तु अनादि ही मालूम होता है; अर्थात् केवलज्ञान उसके आदिको नहीं पाता, और केवलज्ञानसे कुछ छिपा हुआ नहीं है, ये दो बातें परस्पर विरोधी हैं, इसके समाधान-का रास्ता परमावधिकी अनुप्रेक्षासे तथा सहज उपयोगकी अनुप्रेक्षासे समझमें आने योग्य दिखायी देता है।

●

[६१३] ७१ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १५७]

कुछ भी है ?
क्या है ?
किस प्रकारसे है ?
जानने योग्य है ?
जाननेका फल क्या है ?
बंधका हेतु क्या है ?
पुद्गलनिमित्त बंध या जीवके दोषसे बंध ?

जिस प्रकारसे मानते हैं उस प्रकारसे बंध दूर नहीं किया जा सकता ऐसा सिद्ध होता है। इसलिए मोक्षपदकी हानि होती है। उसका नास्तित्व ठहरता है।

अमूर्तता कुछ वस्तुता कि अवस्तुता ?
अमूर्तता यदि वस्तुता तो कुछ महत्त्ववान है या नहीं ?

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १५८]

मूर्त पुद्गल और अमूर्त जीवको संयोग कैसे घटित हो ?

धर्म, अधर्म और जीव द्रव्यको क्षेत्रव्यापिता जिस प्रकारसे जिन कहते हैं, तदनुसार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वाभावीकी तरह सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि मध्यम-परिणामिता है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये वस्तुएँ द्रव्यरूपसे एक जाति और गुणरूपसे भिन्न जाति ऐसा मानना योग्य है, अथवा द्रव्यता भी भिन्न भिन्न मानने योग्य है ?

●

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १५९]

द्रव्यका क्या अर्थ है ? गुणपर्यायके विना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

केवलज्ञान सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका ज्ञायक ठहरे तो सर्व वस्तु नियत मर्यादामें आ जाये, अनंतता न ठहरे, क्योंकि अनंतता-अनादिता समझी नहीं जाती, अर्थात् केवलज्ञानमें वे किस तरह प्रतिभासित हों ? उसका विचार संगत नहीं होता।

●

[६१४] ७२ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १६२]

जिसे जैनदर्शन सर्वप्रकाशता कहता है, उसे वेदांत सर्वव्यापकता कहता है।

दृष्ट वस्तुसे अदृष्ट वस्तुका विचार अनुसंधान करने योग्य है।

जिनके अभिप्रायसे आत्माको माननेसे यहाँ लिखे हुए प्रसंगोंके बारेमें अधिक विचार करें—

१. असंख्यात प्रदेशका मूल परिमाण।

२. संकोच–विकास हो सके ऐसी आत्मा मानी है ? वह संकोच-विकास क्या अरूपीमें होने योग्य है ? तथा किस प्रकारसे होने योग्य है।

३. निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

४. सर्व द्रव्य, क्षेत्र आदिकी प्रकाशकतारूप केवलज्ञान, स्वभावी आत्मा है, अथवा स्वस्वरूपमें अवस्थित निजज्ञानमय केवलज्ञान है ?

५. आत्मामें योगसे विपरिणाम है ? स्वभावसे विपरिणाम है ? विपरिणाम आत्मकी मूल सत्ता है ? संयोगी सत्ता है ? उस सत्ताका कौनसा द्रव्य मूल कारण है ?

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १६३]

६. चेतन हीनाधिक अवस्था प्राप्त करे, इसमें कुछ विशेष कारण है ? स्वस्वभावका ? पुद्गल-संयोगका या उससे व्यतिरिक्त ?

७. जिस तरह मोक्षपदमें आत्मता प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मानें तो लोकव्यापक-प्रमाण आत्मा न होनेका क्या कारण ?

८. ज्ञान गुण और आत्मा गुणी इस तथ्यको घटाते हुए आत्मा कथंचित् ज्ञानव्यतिरिक्त अपेक्षासे मानी जाये ? जडत्व भावसे या अन्य गुणकी अपेक्षासे ?

९. मध्यम परिणामवाली वस्तुकी नित्यता किस तरह संभव है ?

१०. शुद्ध चेतनमें अनेककी संख्याका भेद किस लिए घटित होता है।

११.

●

[१४७–२] ७३ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १६५]

जिनसे मार्गका प्रवर्तन हुआ है, ऐसे महान् पुरुषके विचार, बल, निर्भयता आदि गुण भी महान थे।

एक राज्यके प्राप्त करनेमें जो पराक्रम अपेक्षित है उसकी अपेक्षा अपूर्व अभिप्रायसहित धर्मसंततिका प्रवर्तन करनेमें विशेष पराक्रम अपेक्षित है।

थोड़े समय पहले तथारूप शक्ति मुझमें मालूम होती थी, उसमें अभी विकलता देखनेमें आती है, उसका हेतु क्या होना चाहिए यह विचार करने योग्य है।

दर्शनकी रीतिसे इस कालमें धर्मका प्रवर्तन हो, इससे जीवोंका कल्याण है अथवा संप्रदायकी रीतिसे धर्मका प्रवर्तन हो तो जीवोंका कल्याण है, यह बात विचारणीय है।

संप्रदायकी रीतिसे वह मार्ग बहुतसे जीवोंको ग्राह्य हो, दर्शनकी रीतिसे वह विरले जीवोंको ग्राह्य हो।

यदि जिनाभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाये, तो वह संप्रदायके प्रकारसे निरूपित होना विशेष असंभव है। क्योंकि उसकी रचनाका सांप्रदायिकस्वरूप होना कठिन है।

दर्शनकी अपेक्षासे किसी जीवके लिए उपकारी हो इतना विरोध आता है।

●

[१४७-२-२] ७४ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १६६]

जो कोई महान पुरुष हुए हैं वे पहलेसे स्वस्वरूप (निजशक्ति) समझ सकते थे, और भावी महत्कार्यके बीजको पहलेसे अव्यक्तरूपमें बोते रहते थे अथवा स्वाचरण अविरोधी-सा रखते थे।

यहाँ—मुझमें वह प्रकार विशेष विरोधमें पड़ा हो ऐसा दिखायी देता है। उस विरोधके कारण भी यहाँ लिखे हैं—

१. अनिर्णयसे—

२. संसारीकी रीति जैसा विशेष व्यवहार रहनेसे।

३. ब्रह्मचर्यका धारण करना।

●

[६५४] ७५ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १६७]

सोहं (महापुरुषोंने आश्चर्यकारक गवेषणा की है।)

कल्पित परिणतिसे विरत होना जीवके लिए इतना अधिक कठिन हो पड़ा है, इसका हेतु क्या होना चाहिए?

आत्माके ध्यानका मुख्य प्रकार कौनसा कहा जा सकता है?

उस ध्यानका स्वरूप किस तरह है?

आत्माका स्वरूप किस तरह है?

केवलज्ञान जिनागममें प्ररूपित है, वह यथायोग्य है अथवा वेदांतमें प्ररूपित है, वह यथायोग्य है?

●

[६५५] ७६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १६८]

प्रेरणापूर्वक स्पष्ट गमनागमन क्रिया आत्माके असंख्यातप्रदेशप्रमाणत्वके लिए विशेष विचारणीय है।

प्रश्न—परमाणु एकप्रदेशात्मक, आकाश अनंतप्रदेशात्मक माननेमें जो हेतु है, वह हेतु आत्माके असंख्यातप्रदेशत्वके लिए यथातथ्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि मध्यम परिणामी वस्तु अनुत्पन्न देखनेमें नहीं आती।

उत्तर—

●

[६५६] ७७ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १६९]

अमूर्तत्वकी व्याख्या क्या ?

अनंतत्वकी व्याख्या क्या ?

आकाशका अवगाहक-धर्मत्व किस प्रकारसे है ?

मूर्तामूर्तका बंध आज नहीं होता तो अनादिसे कैसे हो सकता है ? वस्तु स्वभाव इस प्रकार अन्यथा कैसे माना जा सकता है ?

क्रोध आदि भाव जीवमें परिणामीरूपसे हैं या विवर्तरूपसे हैं ?

यदि परिणामीरूपसे कहें तो स्वाभाविक धर्म हो जायें, स्वाभाविक धर्मका दूर होना कहीं भी अनुभवमें नहीं आता ।

यदि विवर्तरूपसे समझें तो जिस प्रकारसे जिन साक्षात् बंध कहते हैं. उस तरह माननेमें विरोध आना संभव है ।

●

[६५७-१] ७८ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १७०]

जिनका अभिमत केवलज्ञान और वेदांतका अभिमत ब्रह्म इन दोनोंमें क्या भेद है ?

●

[६५७-२] ७९ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १७१]

जिनके अभिमतसे ।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी, (?) संकोच-विकासका भाजन, अरूपी, लोकप्रमाण प्रदेशात्मक ।

●

[६५८] ८० [संस्मरण-पोथी १, पृ० १७१]

जिन—

मध्यम परिमाणका नित्यत्व, क्रोध आदिका पारिणामिकत्व (?) आत्मामें कैसे घटित हो ? कर्मबंधका हेतु आत्मा है ? या पुद्गल है ? या दोनों हैं ? अथवा इससे भी कोई अन्य प्रकार है ? मुक्तिमें आत्मघन ? द्रव्यका गुणसे अतिरिक्तत्व क्या है ? सब गुण मिलकर एक द्रव्य, या उसके बिना द्रव्यका कुछ दूसरा विशेष स्वरूप है ? सर्व द्रव्यका वस्तुत्व, गुणको निकाल कर विचार करें तो वह एक है कि नहीं ? आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है यों कहनेसे आत्माका कथंचित् ज्ञान-रहित होना ठीक है कि नहीं ? यदि ज्ञानरहित आत्मत्वका स्वीकार करें तो वह क्या जड हो जाये ? चारित्र, वीर्य आदि गुण कहें तो उनकी ज्ञानसे भिन्नता होनेसे वे जड ठहरे, इसका समाधान किस प्रकारसे घटित हो ? अभव्यत्व पारिणामिकभावसे किस लिए घटित हो ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और जीवको द्रव्य-दृष्टिसे देखें तो एक वस्तु है या नहीं ? द्रव्यत्व क्या है ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशके स्वरूपका विशेष प्रतिपादन किस तरह हो

सकता है ? लोक असंख्यातप्रदेशी और द्वीप समुद्र असंख्यातों है, इत्यादि विरोधका समाधान किस तरह है ? आत्मामें पारिणामिकता ? मुक्तिमें सब पदार्थोंका प्रतिभास होना ? अनादि-अनंतका ज्ञान किस तरह यहाँ तक हो सकता है ?

●

[६५९] ८१ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १७३]

वेदांत—

एक आत्मा, अनादि-माया और बंध-मोक्षका प्रतिपादन, यह आप कहते हैं, परंतु यह घटित नहीं हो सकता।

आनंद और चैतन्यमें श्री कपिलदेवजीने विरोध कहा है, इसका समाधान क्या है ? यथा-योग्य समाधान वेदांतमें देखनेमें नहीं आता।

आत्माको नाना माने विना बंध एवं मोक्ष हो ही नहीं सकते। वे तो हैं। ऐसा होनेपर भी उन्हें कल्पित कहनेसे उपदेश आदि कार्य करनेयोग्य नहीं ठहरते।

●

[६९०–३] ८२ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १७४]

जैनमार्ग

१. लोकसंस्थान।
२. धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य।
३. अरूपित्व।
४. सुषम-दुषम आदिकाल।
५. उस उस कालमें भारत आदिकी स्थिति, मनुष्यकी ऊँचाई आदिका प्रमाण।
६. निगोद सूक्ष्म।
७. दो प्रकारके जीव—भव्य और अभव्य।
८. विभावदशा, पारिणामिक भावसे।
९. प्रदेश और समय उनका व्यावहारिक और पारमार्थिक कुछ स्वरूप।
१०. गुण-समुदायसे भिन्न कुछ द्रव्यत्व।
११. प्रदेश समुदायका वस्तुत्व।
१२. रूप, रस, गंध, स्पर्शसे भिन्न ऐसा कुछ भी परमाणुत्व।
१३. प्रदेशका संकोच-विकास।
१४. उससे घनत्व या कृशत्व।
१५. अस्पर्शगति।
१६. एक समयमें यहाँ और सिद्धक्षेत्रमें अस्तित्व, अथवा उसी समयमें लोकांतरगमन।
१७. सिद्धसंबंधी अवगाह।

१८. अवधि, मनःपर्याय और केवलकी व्यावहारिक-पारमार्थिक कुछ व्याख्या;–जीवकी अपेक्षा तथा दृश्य पदार्थकी अपेक्षासे।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १७५]

'मति-श्रुतकी व्याख्या—उस प्रकारसे।'

१९. केवलज्ञानकी दूसरी कोई व्याख्या।

२०. क्षेत्रप्रमाणकी दूसरी कोई व्याख्या।

२१. समस्त विश्वका एक अद्वैत तत्त्वपर विचार।

२२. केवलज्ञानके विना दूसरे किसी ज्ञानसे जीवस्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण।

२३. विभावका उपादान कारण।

२४. और तथाप्रकारके समाधानके योग्य कोई प्रकार।

२५. इस कालमें दस बोलोंकी व्यवच्छेदता, उसका अन्य कुछ भी परमार्थ।

२६. बीजभूत और संपूर्ण यों केवलज्ञान दो प्रकारसे।

२७. वीर्य आदि आत्मगुण माने हैं, उनमें चेतनता।

२८. ज्ञानसे भिन्न ऐसा आत्मत्व।

२९. वर्तमानकालमें जीवका स्पष्ट अनुभव होनेके ध्यानके मुख्य प्रकार।

३०. उनमें भी सर्वोत्कृष्ट मुख्य प्रकार।

३१. अतिशयका स्वरूप।

३२. लब्धि (कितनी ही) अद्वैततत्त्व माननेसे सिद्ध हो ऐसी मान्य है।

[संस्मरण-पोथी १, पृ० १७९]

३३. लोकदर्शनका सुगम मार्ग—वर्तमानकालमें कुछ भी।

३४. देहांतदर्शनका वर्तमानकालमें सुगम मार्ग।

३५. सिद्धत्वपर्याय सादि-अनंत, और मोक्ष अनादि-अनंत०।

३६. परिणामी पदार्थ, निरंतर स्वाकारपरिणामी हो तो भी अव्यवस्थित परिणामित्व अनादिसे हो, वह केवलज्ञानमें भासमान पदार्थमें किस तरह घटमान ?

●

[६९०–४] ८३ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १८०]

१. कर्मव्यवस्था।

२. सर्वज्ञता

३. पारिणामिकता।

४. नानाप्रकारके विचार और समाधान।

५. अन्यसे न्यून पराभवता।

६. जहाँ जहाँ अन्य विकल है वहाँ वहाँ अविकल यह, जहाँ विकल दिखायी दे वहाँ अन्यकी क्वचित् अविकलता—नहीं तो नहीं।

●

[५७०] ८४ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १८१]

मोहमयी-क्षेत्रसंबंधी उपाधिका परित्याग करनेमें आठ महीने और दस दिन बाकी है, और यह परित्याग हो सकने योग्य है।

दूसरे क्षेत्रमें उपाधि (व्यापार) करनेके अभिप्रायसे मोहमयी-क्षेत्रकी उपाधिका त्याग करनेका विचार रहता है, ऐसा नहीं है।

परन्तु जब तक सर्वसंगपरित्यागरूप योग निरावरण न हो तब तक जो गृहाश्रम रहे उस गृहाश्रममें काल व्यतीत करनेका विचार कर्तव्य है। क्षेत्रका विचार कर्तव्य है। जिस व्यवहारमें रहना उस व्यवहारका विचार कर्तव्य है; क्योंकि पूर्वापर अविरोधता नहीं तो रहना कठिन है।

●

[५७१] ८५ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १८२]

भू :— ब्रह्म
स्थापना :— ध्यान
मुख :— योगबल
ब्रह्मग्रहण। निर्ग्रंथ आदि संप्रदाय।
ध्यान। निरूपण।
योगबल। भू, स्थापना, मुख।
सर्वदर्शन अविरोध।
स्वायु-स्थिति।
आत्मबल।

●

[५०२-२] ८६ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १८३]

[1]सो धम्मो जत्थ दया दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो।
सो हु गुरू जो नाणी आरंभपरिग्गहा विरओ॥

●

[४५९] ८७ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १८७]

अकिंचनतासे विचरते हुए एकांत मौनसे जिनसदृश ध्यानसे तन्मयात्मस्वरूप ऐसा कब होऊँगा।

●

[४६०] ८८ [संस्मरण-पोथी १, पृ० १९५]

एक वार विक्षेप शांत हुए विना अति समीप आ सकने योग्य अपूर्व संयम प्रगट नहीं होगा। कैसे, कहाँ स्थिति करें?

●

संस्मरणपोथी—२

[४४६-२] १ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ३]

राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हुए वह स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और पाने योग्य स्थान है।

●

१. जहाँ दया है वहाँ धर्म है, जिसके अठारह दोष नहीं वह देव है, तथा जो ज्ञानी और आरंभपरिग्रहसे विरत है वह गुरु है।

[४४६-३] २ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ५]

सर्वज्ञपदका ध्यान करें।

●

[७३९] ३ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ७]

शुद्ध चैतन्य
अनंत आत्मद्रव्य
केवलज्ञान स्वरूप
शक्तिरूपसे
वह
जिसे संपूर्ण व्यक्त हुआ है, तथा व्यक्त होनेका
जिन पुरुषोंने मार्ग पाया है उन पुरुषोंको ।
अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार।

●

[६९६] ४ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ९]

नमो जिणाणं जिदभवाणं ।

जिनतत्त्वसंक्षेप।

अनंत अवकाश है।
उसमें जड-चेतनात्मक विश्व रहा है।
विश्वमर्यादा दो अमूर्त द्रव्योंसे है,
जिनकी संज्ञा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय है।
जीव और परमाणु पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं।
सर्व द्रव्य द्रव्यत्वसे शाश्वत हैं।
अनंत जीव हैं।
अनंत अनंत परमाणु पुद्गल हैं।
धर्मास्तिकाय एक है।
अधर्मास्तिकाय एक है।
आकाशास्तिकाय एक है।
काल द्रव्य है।
विश्वप्रमाण क्षेत्रावगाह कर सके ऐसा एक-एक जीव है।

●

[४२२-२] ५ [संस्मरण-पोथी २, पृ० १३]

नमो जिणाणं जिदभवाणं ।

जिसकी प्रत्यक्ष दशा ही बोधरूप है, उस महापुरुषको धन्य है।

जिस मतभेदसे यह जीव ग्रस्त है, वही मतभेद ही उसके स्वरूपका मुख्य आवरण है।

वीतराग पुरुषके समागमके विना, उपासनाके विना, इस जीवको मुमुक्षुता कैसे उत्पन्न

हो ? सम्यग्ज्ञान कहाँसे हो ? सम्यग्दर्शन कहाँसे हो ? सम्यक्चारित्र कहाँसे हो ? क्योंकि ये तीनों वस्तुएँ अन्य स्थानमें नहीं होतीं।

वीतरागपुरुषके अभाव जैसा वर्तमानकाल है।

हे मुमुक्षु ! वीतरागपद वारंवार विचार करने योग्य है, उपासना करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है।

●

[६६१] ६ [संस्मरण-पोथी २, पृ० १५]

जीवके बंधनके मुख्य हेतु दो—

राग और द्वेष

रागके अभावसे द्वेषका अभाव होता है।

रागकी मुख्यता है।

रागके कारण ही संयोगमें आत्मा तन्मयवृत्तिमान है।

वही कर्म मुख्यरूपसे है।

ज्यों ज्यों रागद्वेष मंद, त्यों त्यों कर्मबंध मंद और ज्यों ज्यों रागद्वेष तीव्र, त्यों त्यों कर्मबंध तीव्र। जहाँ रागद्वेषका अभाव वहाँ कर्मबंधका सांपरायिक अभाव।

रागद्वेष होनेके मुख्य कारण—

मिथ्यात्व अर्थात्

असम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञानसे सम्यग्दर्शन होता है।

उससे असम्यग्दर्शनकी निवृत्ति होती है।

उस जीवको सम्यक्चारित्र प्रगट होता है,

जो वीतरागदशा है।

संपूर्ण वीतरागदशा जिसे रहती है उसे चरमशरीरी जानते हैं।

●

[४५५-२] ७ [संस्मरण-पोथी २, पृ० १७]

हे जीव ! स्थिर दृष्टिसे तू अंतरंगमें देख, तो सर्व परद्रव्यसे ऐसा तेरा स्वरूप तुझे परम प्रसिद्ध अनुभवमें आयेगा।

हे जीव ! असम्यग्दर्शनके कारण वह स्वरूप तुझे भासित नहीं होता। उस स्वरूपमें तुझे शंका है, व्यामोह और भय है।

सम्यग्दर्शनका योग प्राप्त करनेसे उस अभासन आदिकी निवृत्ति होगी।

हे सम्यग्दर्शनी ! सम्यक्चारित्र ही सम्यग्दर्शनका फल घटित होता है, इसलिए उसमें अप्रमत्त हो।

जो प्रमत्तभाव उत्पन्न करता है वह तुझे कर्मबंधकी सुप्रतीतिका हेतु है।

हे सम्यक्चारित्री ! अब शिथिलता योग्य नहीं। बहुत अंतराय था, वह निवृत्त हुआ तो अब निरंतराय पदमें शिथिलता किस लिए करता है ?

●

[५५५] ८ [संस्मरण-पोथी २, पृ० २१]

दुःखका अभाव करना सब जीव चाहते हैं।

दुःखका आत्यंतिक अभाव कैसे हो ? वह ज्ञात न होनेसे जिससे दुःख उत्पन्न हो उस मार्ग-

को दुःखसे छुड़ानेका उपाय जीव समझता है।

जन्म, जरा, मरण मुख्यरूपसे दुःख हैं। उसका बीज कर्म है। कर्मका बीज रागद्वेष है, अथवा इस प्रकार पाँच कारण हैं—

मिथ्यात्व
अविरति
प्रमाद
कषाय
योग

पहले कारणका अभाव होनेपर दूसरेका अभाव, फिर तीसरेका, फिर चौथेका, और अंतमें पाँचवें कारणका यों अभाव होनेका क्रम है।

मिथ्यात्व मुख्य मोह है।
अविरति गौण मोह है।

प्रमाद और कषायका अविरतिमें अंतर्भाव हो सकता है। योग सहचारीरूपसे उत्पन्न होता है। चारों नष्ट हो जानेके बाद भी पूर्व-हेतुसे योग हो सकता है।

●

[८३३-२] ९ [संस्मरण-पोथी २, पृ० २५]

हे मुनियो ! जब तक केवल समवस्थानरूप सहज स्थिति स्वभाविक न हो तब तक आप ध्यान और स्वाध्यायमें लीन रहें।

जीव केवल स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हो वहाँ कुछ करना बाकी नहीं रहा।

जहाँ जीवके परिणाम वर्धमान, हीयमान हुआ करते हैं वहाँ ध्यान कर्तव्य है। अर्थात् ध्यान-लीनतासे सर्व बाह्य द्रव्यके परिचयसे विराम पाकर निजस्वरूपके लक्ष्यमें रहना उचित है।

उदयके धक्केसे वह ध्यान जब जब छूट जाये तब तब उसका अनुसंधान त्वरासे करना।

बीचके अवकाशमें स्वाध्यायमें लीनता करनी। सर्व पर-द्रव्यमें एक समय भी उपयोग संग न प्राप्त करे ऐसी दशाका जीव सेवन करे तब केवलज्ञान उत्पन्न हो।

●

[६८९] १० [संस्मरण-पोथी २, पृ० २७]

एकांत आत्मवृत्ति।
एकांत आत्मा।
केवल एक आत्मा।
केवल एक आत्मा ही।
केवल मात्र आत्मा।
केवल मात्र आत्मा ही।
आत्मा ही।
शुद्धात्मा ही।
सहजात्मा ही।
निर्विकल्प,शब्दातीत सहज स्वरूप आत्मा ही।

●

[७६८] ११ [संस्मरण-पोथी २, पृ० २९]

७-१२-५४*

३१-११-२२

यों काल बीतने देना योग्य नहीं। प्रत्येक समयमें आत्मोपयोगसे उपकारी बनाकर निवृत्त होने देना योग्य है।

अहो इस देहकी रचना ! अहो चेतन ! अहो उसका सामर्थ्य ! अहो ज्ञानी ! अहो उसकी गवेषणा ! अहो उनका ध्यान ! अहो उनकी समाधि ! अहो उनका संयम ! अहो उनका अप्रमत्त भाव ! अहो उनकी परम जागृति ! अहो उनका वीतराग स्वभाव ! अहो उनका निरावरण ज्ञान ! अहो उनके योगकी शांति ! अहो उनके वचन योगका उदय !

हे आत्मन् । यह सब तुझे सुप्रतीत होनेपर भी प्रमत्तभाव क्यों ? मंद प्रयत्न क्यों ? जघन्य मंद जागृति क्यों ? शिथिलता क्यों ? आकुलता क्यों ? अंतरायका हेतु क्या ?

अप्रमत्त हो, अप्रमत्त हो।

परम जागृत स्वभावका सेवन कर, परम जागृत स्वभावका सेवन कर।

●

[७६९] १२ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ३०]

तीव्र वैराग्य, परम आर्जव, बाह्याभ्यंतरत्याग।

आहारकी जय।

आसनकी जय।

निद्राकी जय।

योगकी जय।

आरंभ-परिग्रह विरति।

ब्रह्मचर्यमें प्रतिनिवास।

एकांतवास।

अष्टांगयोग।

सर्वज्ञध्यान।

आत्म ईहा।

आत्मोपयोग।

मूल आत्मोपयोग।

अप्रमत्त उपयोग।

केवल उपयोग।

केवल आत्मा।

अचिंत्य सिद्धस्वरूप।

●

* संवत १९५४, १२वाँ मास आसोज सुदी ७; ३१वाँ वर्ष ११वाँ मास, २२वाँ दिन। [जन्म-तिथि सं० १९२४, कार्तिक सुदी १५ होनेसे सं० १९५४ आसोज सुदी ७ को ३१वाँ वर्ष, ११वाँ मास और २२वाँ दिन आता है।]

[७७०] ⁂१३ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ३१]

जिनचैतन्यप्रतिमा ।
सर्वांगसंयम ।
एकांत स्थिर संयम ।
एकांत शुद्ध संयम ।
केवल बाह्यभाव निरपेक्षता ।

आत्मतत्त्वविचार ।
जगततत्त्वविचार ।
जिनदर्शनतत्त्वविचार ।
अन्य दर्शनतत्त्वविचार । } समाधान

धर्मसुगमता ।
लोकानुग्रह । } पद्धति

यथास्थित शुद्ध सनातन
सर्वोत्कृष्ट जयवंत
धर्मका उदय } वृत्ति

•

[७७१] १४ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ३२]

स्वपर परमोपकारक परमार्थमय सत्यधर्म जयवंत रहे ।
आश्चर्यकारक भेद पड़ गये हैं ।
खंडित ।
संपूर्ण करनेका साधन दुर्गम दिखायी देता है ।
उस प्रभावमें महान अंतराय है ।
देश, काल आदि बहुत प्रतिकूल हैं ।
वीतरागोंका मत लोकप्रतिकूल हो गया है ।

⁂ इस योजनाका उद्देश्य यह मालूम होता है कि 'एकांत स्थिर संयम', 'एकांत शुद्ध संयम' और 'केवल बाह्यभाव निरपेक्षता' पूर्वक 'सर्वांगसंयम' प्राप्तकर, उसके द्वारा 'जिनचैतन्यप्रतिमारूप' होकर, अर्थात् अडोल आत्मावस्था पाकर जगतके जीवोंके कल्याणके लिए अर्थात् मार्गके पुनरुद्धारके लिए प्रवृत्ति करनी चाहिए, । यहाँ जो 'वृत्ति,' 'पद्धति' और 'समाधान' शब्द आये हैं, सो उनमें 'वृत्ति क्या है ?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'यथास्थित शुद्ध सनातन सर्वोत्कृष्ट जयवंत धर्मका उदय करना' यह वृत्ति है । उसे 'किस पद्धतिसे करना चाहिए ?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि जिससे लोगोंको 'धर्मसुगमता हो और लोकानुग्रह भी हो ।' इसके बाद 'इस वृत्ति और पद्धतिका परिणाम क्या होगा ?' इसके समाधान' में कहा गया है कि 'आत्मतत्त्व-विचार, जगततत्त्व-विचार, जिनदर्शनतत्त्व-विचारके और अन्य दर्शनतत्त्व-विचारके संबंधमें संसारके जीवोंका समाधान करना ।

इसी संस्मरण-पोथीके आंक १८ में जो कहा गया है कि "परानुग्रह परम कारुण्यवृत्तिकी अपेक्षा भी प्रथम चैतन्य जिनप्रतिमा हो । चैतन्य जिनप्रतिमा हो ।"—इस वाक्यसे भी यह बात अधिक स्पष्ट होती हैं ।

यहाँ यह स्पष्टीकरण श्रीमद् राजचंद्रकी गुजराती आवृत्तिके संशोधक श्री मनसुखभाई रवजीभाई मेहताके नोटके आधारसे लिखा गया है ।

[श्री परमश्रुतप्रभावक-मंडल, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'श्रीमद् राजचंद्र' (हिन्दी) के पृष्ठ ७२९ के फुटनोटसे उद्धृत ।]

रूढिसे जो लोग उसे मानते हैं उनके ध्यानमें भी वह सुप्रतीत मालूम नहीं होता। अथवा अन्यमतको वीतरागोंका मत समझ कर प्रवृत्ति करते रहते हैं।

वीतरागोंके मतको यथार्थ समझनेकी उनमें योग्यताकी वहुत कमी है।

दृष्टिरागका प्रवल राज्य चलता है।

वेषादि व्यवहारमें बड़ी विडंवना कर मोक्षमार्ग को अंतराय कर वैठे हैं।

तुच्छ पामर पुरुष विराधकवृत्तिकी धनी अग्रभागमें रहते हैं।

किंचित्सत्य वाहरआते हुए भी उन्हें प्राणघाततुल्य दुःख लगता हो ऐसा दिखायी देता है।

•

[७७२] १५ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ३४]

तब आप किसलिए उस धर्मका उद्धार चाहते हैं?

परम कारुण्य-स्वभावसे।

उस सद्धर्मके प्रति परमभक्तिसे।

•

५४६] १५ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ३५]

एवंभूत-दृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर।
ऋजुसूत्र-दृष्टिसे एवंभूत स्थिति कर।
नैगम-दृष्टिसे एवंभूत प्राप्ति कर।
एवंभूत-दृष्टिसे नैगम विशुद्ध कर।
संग्रह-दृष्टिसे एवंभूत हो।
एवंभूत-दृष्टिसे संग्रह विशुद्ध कर।
व्यवहार-दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा।
एवंभूत-दृष्टिसे व्यवहारसे विनिवृत्त कर।
शब्द-दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा।
एवंभूत-दृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर।
समभिरूढ-दृष्टिसे एवंभूत अवलोकन कर।
एवंभूत-दृष्टिसे समभिरूढ स्थिति कर।
एवंभूत-दृष्टिसे एवंभूत हो।
एवंभूत-स्थितिसे एवंभूत-दृष्टि शांत कर।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

•

[६९९] १७ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ३७]

मैं असंग शुद्धचेतन हूँ।
वचनातीत निर्विकल्प

एकांत शुद्ध
अनुभवस्वरूप हूँ।
मैं परम शुद्ध, अखंड चिद्धातु हूँ।
अचिद्धातुके संयोगरसका यह आभास तो देखें !
आश्चर्यवत्, आश्चर्यरूप, घटना है।
कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नहीं है।
स्थिति भी ऐसी ही है।

●

[७७३] १८ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ३९]

परानुग्रह परम कारुण्यवृत्तिकी अपेक्षा भी प्रथम चैतन्य जिनप्रतिमा हो।
चैतन्य जिनप्रतिमा हो।

वैसा काल है ?
उस विषयमें निर्विकल्प हो।
वैसा क्षेत्रयोग है ?
खोज।
वैसा पराक्रम है ?
अप्रमत्त शूरवीर हो।
उतना आयुबल है ?
क्या लिखना ? क्या कहना ?
अंतर्मुख उपयोग करके देख।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

●

[७७५] १९ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ४१]

हे काम ! हे मान ! हे संग-उदय !
हे वचनवर्गणा ! हे मोह ! हे मोहदया !
हे शिथिलता ! आप किस लिए अंतराय करते हैं ?
परम अनुग्रह करके अब अनुकूल हो जायें ! अनुकूल हो जायें !

●

[७७४] २० [संस्मरण-पोथी २, पृ० ४५]

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो।

इस अनादि-अनंत संसारमें अनंतानंत जीव तेरे आश्रयके बिना अनंतानंत दुःखका अनुभव करते हैं।

तेरे परमानुग्रहसे स्वस्वरूपमें रुचि हुई। परम वीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ। कृतकृत्य होनेका मार्ग अपनाया।

हे जिन वीतराग ! आपको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। आपने इस पामरपर अनंतानंत उपकार किये हैं।

हे कुंद कुंद आदि आचार्यो ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकार भूत हुए हैं। इसके लिए मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

हे श्री सोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ, उसके लिए तुझे नमस्कार हो।

●

[७७६] २१ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ४७]

जैसे भगवान जिनने निरूपण किया है वैसे ही सर्व पदार्थका स्वरूप है।

भगवान जिनका उपदिष्ट आत्माका समाधिमार्ग श्री गुरुके अनुग्रहसे जानकर, परम प्रयत्नसे उसकी उपासना करें।

●

[६६२] २२ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ४९]

बंधविहाण विमुक्कं, वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं।
[2]सिरिवीर जिणं वंदिअ, कम्मविभागं समासओ वुच्छं।
कीरई जिएण हेऊहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं॥
[3]कम्मदव्वेहिं सम्मं, संजोगो होई जो ऊ जीवस्स।
सो बंधो नायव्वो, तस्स विओगो भवे मोक्खो॥

●

[४५७] २३ [संस्मरण-पोथी २, पृ० ५१]

केवल समवस्थित शुद्ध चेतन

मोक्ष

उस स्वभावका अनुसंधान वह

मोक्षमार्ग

प्रतीतिरूपमें वह मार्ग जहाँसे शुरू होता है वहाँ **सम्यग्दर्शन**।

देश आचरणरूप		वह	पंचम गुणस्थानक।
सर्व आचरणरूप		वह	षष्ठ गुणस्थानक।
अप्रमत्तरूपसे उस आचरणमें स्थिति		वह	सप्त ,,
अपूर्व आत्मजागृति		वह	अष्टम ,,
सत्तागत स्थूल कषाय बलपूर्वक स्वरूपस्थिति		वह	नवम ,,
सत्तागत सूक्ष्म	,, ,,		दशम ,,
उपशांत	,, ,,		एकादशम ,,
क्षीण	,, ,,		द्वादशम ,,

---

१ यह सम्पूर्ण गाथा इस प्रकार है—बंधविहाण विमुक्कं, वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं। गई आईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं। अर्थात् कर्मबंधकी रचनासे रहित श्री वर्धमान जिनको नमस्कार करके गति और चौदह मार्गणाओं द्वारा संक्षेपसे बंधस्वामित्वको कहूँगा।

२ श्र वीर जिनको नमस्कार करके संक्षेपसे कर्मविपाक नामक ग्रन्थको कहूँगा। जो जीवसे किसी हेतु द्वारा किया जाता है, उस कर्म कहते हैं।

३ अर्थके लिए देखें आंक व्याख्यानसार–२ का आंक ३०।

संस्मरण-पोथी—३

[५८२] १ [संस्मरण-पोथी ३; पृ० ३]

ॐ नमः

सर्वज्ञ जिन वीतराग

× × ×

सर्वज्ञ है।

रागद्वेषका आत्यंतिक क्षय हो सकता है।
ज्ञानका प्रतिबंधक रागद्वेष है।
ज्ञान, जीवका स्वत्वभूत धर्म है।
जीव, एक अखंड संपूर्ण द्रव्य होनेसे उसका ज्ञानसामर्थ्य संपूर्ण है।

●

[५८३] २ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ७]

सर्वज्ञपद वारंवार श्रवण करने योग्य, पठन करने योग्य, विचार करने योग्य, ध्यान करने योग्य और स्वानुभावसे सिद्ध करने योग्य है।

●

[५८४] ३ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ९]

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
उपशममूल धर्म

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
दयामूल धर्म

सर्वज्ञ देव
निर्ग्रंथ गुरु
सिद्धांतमूल धर्म

× × ×

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
जिनाज्ञामूल धर्म

× × ×

सर्वज्ञका स्वरूप
निर्ग्रंथका स्वरूप
धर्मका स्वरूप

× × ×

सम्यक् क्रियावाद

●

[५८५] ४ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ११]

ॐ नमः

प्रदेश
समय
परमाणु }

द्रव्य
गुण
पर्याय }

जड }
चेचन }

[६९५] ५ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० १३]

ॐ नमः

मूल द्रव्य शाश्वत।
मूल द्रव्यः—जीव, अजीव।
× × ×
पर्यायः—अशाश्वत।
अनादि नित्य पर्यायः—मेरु आदि।

[६९७–१] ६ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० १५]

ॐ नमः

सब जीव सुख चाहते हैं।
दुःख सबको अप्रिय है।
दुःखसे मुक्त होना सब जीव चाहते हैं।
उसका वास्तविक स्वरूप समझमें न आनेसे वह दुःख नष्ट नहीं होता।
उस दुःखके आत्यंतिक अभावका नाम मोक्ष कहते हैं।
अत्यंत वीतराग हुए विना आत्यंतिक मोक्ष नहीं होता।
सम्यग्ज्ञानके विना वीतराग नहीं हुआ जा सकता।
सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान असम्यक् कहा जाता है।
वस्तुकी जिस स्वभावसे स्थिति है, उस स्वभावसे उस वस्तुकी स्थिति समझमें आनेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

[संस्मरण-पोथी ३ पृ० १६]

सम्यग्ज्ञानदर्शनसे प्रतीत हुए आत्मभावसे आचरण करना चारित्र है।
इन तीनोंकी एकतासे मोक्ष होता है।
जीव स्वाभाविक है।
परमाणु स्वाभाविक है।
जीव अनंत हैं।
परमाणु अनंत हैं
जीव और पुद्गलका संयोग अनादि है।
जब तक जीवका पुद्गल-संबंध है, तब तक सकर्म जीव कहा जाता है।
भावकर्मका कर्ता जीव है।
भावकर्मका दूसरा नाम विभाव कहा जाता है।
भावकर्मके हेतुसे जीव पुद्गलको ग्रहण करता है।
उससे तैजस आदि शरीर और औदारिक आदि शरीरका योग होता है।

[संस्मरण-पोथी ३, पृ० १७]

भावकर्मसे विमुख हो तो निजभाव परिणामी हो।

सम्यग्दर्शनके विना वस्तुतः जीव भावकर्मसे विमुख नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन होनेका मुख्य हेतु जिनवचनसे तत्त्वार्थ प्रतीति होना है।

●

[५४७] ७ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० १९]

मैं केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप सहज निज अनुभवस्वरूप हूँ।

व्यवहार दृष्टिसे मात्र इस वचनका वक्ता हूँ।

परमार्थसे उस वचनसे व्यंजित मूल अर्थरूप हूँ।

आपसे जगत भिन्न है, अभिन्न है, भिन्नाभिन्न है ?

भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न, ऐसा अवकाश स्वरूपमें नहीं है।

व्यवहारदृष्टिसे उसका निरूपण करते हैं।

--जगत मेरेमें भासमान होनेसे अभिन्न है, परन्तु जगत जगतस्वरूपसे है, मैं स्वस्वरूपसे हूँ, इसलिए जगत मुझसे सर्वथा भिन्न है। इन दोनों दृष्टियोंसे जगत मुझसे भिन्नाभिन्न है।

ॐ शुद्ध निर्विकल्प-चैतन्य।

●

[७५५] ८ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० २३]

ॐ नमः

केवल ज्ञान—

एक ज्ञान।

सर्व अन्य भावोंके संसर्गसे रहित एकांत शुद्धज्ञान।

सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सर्व प्रकारसे एक समयमें ज्ञान।

उस केवलज्ञानका हम ध्यान हैं

निजस्वभावरूप है।

स्वतत्त्वभूत है।

निरावरण है।

अभेद है।

निर्विकल्प है।

सर्व भावोंका उत्कृष्ट प्रकाशक है।

●

[७५६] ९ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० २४]

मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ,

ऐसा सम्यक् प्रतीत होता है।

वैसा होनेके हेतु सुप्रतीत हैं।

सर्व इन्द्रियोंका संयम कर, सर्व द्रव्यसे निजस्वरूपको व्यावृत्त कर, योगको अचलकर, उपयोगसे उपयोगकी एकता करनेसे केवलज्ञान होता है।

●

१० [संस्मरण-पोथी ३, पृ० २७]

आकाश वाणी

तप करें, तप करें; शुद्ध चैतन्यका ध्यान करें, शुद्ध चैतन्यका ध्यान करें।

●

[८५८] ११ [संस्मरण-पोथी ३, प्र० २९]

मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ।

असंख्यात प्रदेशात्मक निजावगाहना प्रमाण हूँ।

अजन्मा, अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ

शुद्ध चैतन्यस्वरूपके मात्र निर्विकल्प हूँ।

●
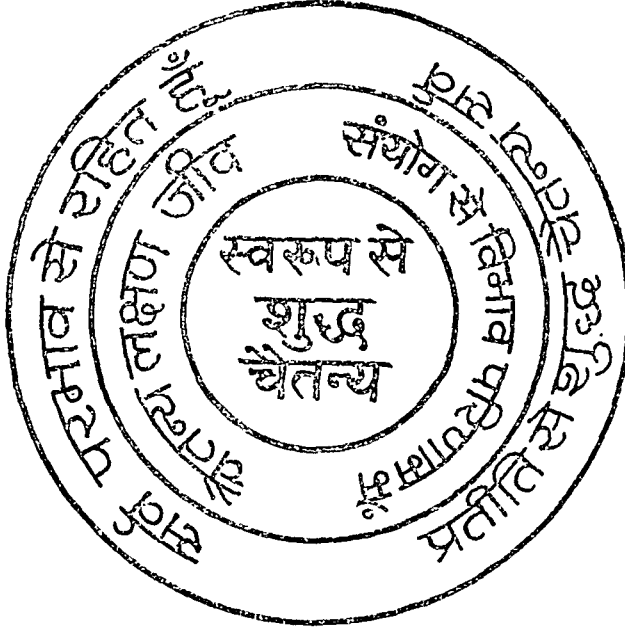
[६९०-२] १२ [संस्मरण-पोथी ३, प्र० ३१]

शुद्ध चैतन्य।

शुद्ध चैतन्य। शुद्ध चैतन्य।

× × ×

सद्भावकी प्रतीति-सम्यग्दर्शन।

× × ×

शुद्धात्मपद।

× × ×

ज्ञानकी सीमा कौनसी ?

निरावरण ज्ञानकी स्थिति क्या ?

अद्वैत एकांतसे ?

ध्यान और अध्ययन ?

उ० अप०

●

[७७७-१] १३ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ३५]

ठाणांगसूत्रमें निम्नलिखित सूत्र क्या उपकार होनेके लिए लिखा, इसका विचार करें।

[1]एगे समणे भगवं महावीरे इमीसेणं ऊसप्पिणीए चउवीसं तित्थयराणं चरमे तित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे सव्वदुःखप्पहीणे।

●

[७७३] १४ संस्मरण-पोथी ३, पृ० ३७]

आभ्यंतर भान अवधूत,

विदेहवत्,

जिनकल्पीवत्,

सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भानसहित, अवधूतवत्, विदेहवत्, जिनकल्पीवत् विचरनेवाले पुरुष भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं।

०

[७९२] १५ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ३९]

प्रवृत्तिके कार्योंसे विरति।

संग और स्नेहपाशको तोड़ना (अतिशय विषम होते हुए भी तोड़ना, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है।)

आशंका—जो स्नेह रखता है, उसके प्रति ऐसी क्रूर-दृष्टिसे वर्तन करना, क्या यह कृतघ्नता अथवा निर्दयता नहीं है?

समाधान—

●

[८३४-२] १६ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ४०]

स्वरूपबोध।

योग निरोध।

सर्वधर्म स्वाधीनता।

धर्ममूर्तिता।

सर्वप्रदेश संपूर्ण गुणात्मकता।

सर्वांग संयम।

लोकपर निष्कारण अनुग्रह।

●

[८१५] १७ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ४३]

ॐ नमः

सर्वज्ञ—वीतरागदेव।

(सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सर्व प्रकारसे ज्ञाता, रागद्वेषादि सर्व विभावोंको जिसने क्षीण किया है वह ईश्वर है।)

वह पद मनुष्यदेहमें संप्राप्त होने योग्य है।

जो संम्पूर्ण वीतराग हो वह संपूर्ण सर्वज्ञ होता है।

× × ×

संपूर्ण वीतराग हुआ जा सकता है, ऐसे हेतु सुप्रतीत हैं।

●

---

१. श्रमण भगवान महावीर एक है। वे इस अवसर्पिणी-कालमें चौवीस तीर्थंकरोंमें अंतिम तीर्थंकर हैं; वे सिद्ध हैं बुद्ध हैं, मुक्त हैं, परिनिर्वृत है, और जिनके सब दुःख क्षीण हो गये हैं।

[७९०] १८ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ४५]

प्रत्यक्ष निज अनुभवस्वरूप हूँ, इसमें संशय नहीं है।

उस अनुभवमें जो विशेष संबंधी न्यूनाधिकता होती है, वह यदि दूर हो जाये तो केवल अखंडाकार स्वानुभव स्थिति रहे।

अप्रमत्त उपयोगसे वैसा हो सकता है।

अप्रमत्त उपयोग होनेके हेतु सुप्रतीत हैं। उस तरह वर्तन किया जाता है, वह प्रत्यक्ष सुप्रतीत है।

अविच्छिन्न वैसी धारा रहे तो अद्भुत अनंत ज्ञानस्वरूप अनुभव सुस्पष्ट समवस्थित रहे—

[८१३] १९ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ४७]

सर्व चारित्र वशीभूत करनेके लिए, सर्व प्रमाण दूर करनेके लिए, आत्मामें अखंड वृत्ति रहनेके लिए, मोक्षसंबंधी सर्व प्रकारके साधनोंकी जय करनेके लिए 'ब्रह्मचर्य' अद्भुत अनुपम सहायकारी है, अथवा मूलभूत है।

[७८७] २० [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ४९]

ॐ नमः

संयम

[७८६–२] २१ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ५१]

जागृत सत्ता।
ज्ञायक सत्ता।
आत्म स्वरूप।

[७८६–३] २२ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ५०]

सर्वज्ञोपदिष्ट आत्माको सद्गुरुकी कृपासे जानकर निरंतर उसके ध्यानके लिए विचरना, संयम और तपपूर्वक—

[७८६–४] २३ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ५२]

अहो ! सर्वोत्कृष्ट शांत रसमय सन्मार्ग—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसको जिसने सुप्रतीत कराया ऐसे परमकृपालु सद्गुरुदेव—

इस विश्वमें सर्वकाल आप जयवंत रहें।

[६९७–२] २४ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ५४]

ॐ नमः

विश्व अनादि है।

आकाश सर्व व्यापक है।

उसमें लोक स्थित है।

जड-चेतनात्मक लोक संपूर्ण भरपूर है।
धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये जड द्रव्य हैं।
जीव द्रव्य चेतन है।
धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अमूर्त्त द्रव्य हैं।
वस्तुतः काल औपचारिक द्रव्य है।
धर्म, अधर्म, आकाश एक एक द्रव्य हैं।
काल, पुद्गल और जीव अनंत द्रव्य हैं।

[संस्मरण-पोथी ३, पृ० ५५]

द्रव्य गुणपर्यायात्मक है।

●

[६३३-३] २५ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ५७]

परम गुणमय चारित्र (बलवान असंगादि स्वभाव) चाहिए।
परम निर्दोष श्रुत।
परम प्रतीति।
परम पराक्रम।
परम इंद्रियजय।

× × ×

१. मूलका विशेषत्व।
२. मार्गके आरंभसे अनंतपर्यंतकी अद्भुत संकलना।
३. निर्विवाद—
४. मुनिधर्मप्रकाश।
५. गृहस्थधर्मप्रकाश।
६. निर्ग्रंथ परिभाषानिधि—
७. श्रुतसमुद्र प्रवेशमार्ग।

●

[८००] २६ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ५८]

स्वपर-उपकारका महान कार्य अब कर ले! त्वरासे कर ले!
अप्रमत्त हो—अप्रमत्त हो।
क्या कालका क्षणवारका भी भरोसा आर्य पुरुषोंने किया है?
हे प्रमाद! अब तू जा, जा।
हे ब्रह्मचर्य! अब तू प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।
हे व्यवहारोदय! अब प्रबलतासे उदय आकर भी तू शांत हो, शांत।
हे दीर्घसूत्रता! सुविचारका, धैर्यका, गंभीरताका परिणाम तू क्यों होने देना चाहती है?
हे बोधबीज! तू अत्यंत हस्तामलकवत् वर्तन कर, वर्तन कर।
हे ज्ञान! तू दुर्गमको भी अब सुगम स्वभावमें ला दे।

[संस्मरण-पोथी ३, पृ० ५९]

हे चारित्र ! परम अनुग्रह कर, परम अनुग्रह कर।

हे योग ! आप स्थिर होवें, स्थिर होवें।

हे ध्यान ! तू निजस्वभावाकार हो, निजस्वभावाकार हो ?

हे व्यग्रता ! तू जाती रह, जाती रह।

हे अल्प कि मध्य अल्प कषाय ! अब आप उपशांत होवें, क्षीण होवें। हमें आपके प्रति कोई रुचि नहीं रही।

हे सर्वज्ञपद ! यथार्थ सुप्रतीतरूपसे तू हृदयावेश कर, हृदयावेश कर।

हे असंग निर्ग्रंथपद ! तू स्वाभाविक व्यवहाररूप हो।

हे परम करुणामय सर्व परमहितके मूल वीतरागधर्म ! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।

हे आत्मन् ! तू निजस्वभावाकार वृत्तिमें ही अभिमुख हो। अभिमुख हो। ॐ

[संस्मरण-पोथी ३, पृ० ६१]

हे वचनसमिति ! हे काय-अचपलता ! हे एकांतवास और असंगता ! आप भी प्रसन्न होवें, प्रसन्न होवें।

खलबली करती हुई जो आभ्यंतर वर्गणा है या तो उसका आभ्यंतर ही वेदन कर लेना, या तो उसे स्वच्छपुट देकर उपशांत कर देना।

जैसे निःस्पृहता बलवान वैसे ध्यान बलवान हो सकता है, कार्य बलवान हो सकता है।

●

[७८१] २७ [संस्मरण-पोथी ३, पृ० ६३]

[1]इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं विज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति तहा तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसियामो तहा सुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति।

●

[८७२] २८

शरीरसंबंधी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ।

× × ×

ज्ञानियोंका सनातन सन्मार्ग जयवंत रहे !

फागुन वदी १३, सोम, सं० १९५७

●

१. भावार्थ—यह ही निर्ग्रंथ-प्रवचन सत्य, अनुत्तर—श्रेष्ठ, सर्वज्ञका, प्रतिपूर्णसंशुद्ध—सर्वथा संशुद्ध, न्याययुक्त, शल्यको काटनेवाला, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, विज्ञानमार्ग, निर्वाणमार्ग, अवितथ—सत्य, असंदिग्ध और सर्व दुःख नाशक है। उसकी आज्ञासे उस प्रकारसे चलें, रहें, बैठें, करवट बदलें, खायें, बोलें, गुरु आदिके सामने खड़े होवें और उठें कि प्राण-भूत-जीव-सत्त्वोंकी हिंसा न हो। ऐसे संयमका आचरण हो।

[७८२] २९

द्वि० आ० शु० १ १९५४

ॐ नमः

सर्व विकल्पका, तर्कका त्याग करके

मनका
वचनका
कायाका
इंद्रियका
आहारका
निद्राका } जय करके

निर्विकल्परूपसे अंतर्मुखवृत्ति करके आत्मध्यान करना। मात्र निर्बाध अनुभवस्वरूपमें लीनता होने देना, दूसरी चिन्तना न करना। जो जो तर्क आदि उठें उन्हें विस्तृत न करते हुए उपशमन करना।

●

३०

वीतरागदर्शन संक्षेप

मंगलाचरण—शुद्ध पदको नमस्कार।

भूमिका—मोक्ष प्रयोजन।

उस दुःखके मिटनेके लिए भिन्न भिन्न मतोंका पृथक्करण कर देखते हुए उनमें वीतराग दर्शन पूर्ण और अविरुद्ध है, ऐसा सामान्य कथन।

उस दर्शनका विशेष स्वरूप।

उसकी जीवको अप्राप्ति तथा प्राप्तिसे अनास्था होनेके कारण।

मोक्षाभिलाषी जीव उस दर्शनकी कैसे उपासना करे।

आस्था—उस आस्थाके प्रकार और हेतु।
विचार—उस विचारके प्रकार और हेतु।
विशुद्धि—उस विशुद्धिके प्रकार और हेतु।
मध्यस्थ रहनेके स्थान—उसके कारण।
शंकाके स्थान—उसके कारण।
पतित होनेके स्थान—उसके कारण।

उपसंहार।

आस्था—

पदार्थ का अचिंत्यत्व, बुद्धिमें व्यामोह, कालदोष ...

श्रीमद् राजचन्द्र ग्रंथ
समाप्त

परिशिष्ट १

पत्रोंके सम्बन्धमें विशेष जानकारी

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
१					
२	१				
३					
४					
५					
६	१३९		मोरबी		
७	१४०		मुंबई		
८	१४१		,,		
९					
१०					
११					
१२					
१३					
१४			जेतपुर		का० सु० १५, १९४१
१५	८१६-८३६				
१६					
१७	८				
१८		रवजीभाई देवराज	ववाणिया		१९४२
१९					
२०					
२१					
२२	९		मुंबई		कार्तिक १९४३
२३	१०				
२४	११				
२५	८				
२६		चत्रभुज वेचर	ववाणिया		१९४३
२७		,,	मुंबई		१९४३
२८		,,	,,		१९४३ सोम
२९		,,	,,		का० सु० ५, १९४४
३०	१२	,,	,,	जेतपर	पौ० व० १०, १९४४

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
३१	१३		ववाणिया		प्र० चै० सु० ११॥ रवि १९४४
३२	१४		,,		आ० व० ३, बुध १९४४
३३	१६		,,		आ० व० ४ शुक्र १९४४
३४	१५		,,		श्रा० व० १३ सोम १९४४
३५	१७		,,		श्रा० व० ३०, १९४४
३६	४७	जूठाभाई ऊजमसी	मुंबई	कलोल	भा० व० १ शनि १९४४
३७	४८	,, ,,	,,	अहमदाबाद	आसोज व० २ गुरु १९४४
३८	१८				१९४४
३९	१९				१९४४
४०	२०		मुंबई		१९४४
४१	२१	जूठाभाई ऊजमसी	भरुच	अहमदाबाद	मग० सु० ३, गुरु १९४५
४२	२२	,, ,,	,,	,,	मग० सु० १२, १९४५
४३	२३	,, ,,	मुंबई	,,	मग० व० ७ भौम १९४५
४४	२४	,, ,,	,,	,,	मग० व० १२ शनि १९४५
४५		,, ,,	,,	,,	मग० व० ३०, १९४५
४६	२५	,, ,,	,,	,,	मग० १९४५
४७	२६	(खीमजी देवजी)	ववाणिया	मुंबई	माघ सु० १४ बुध १९४५
४८	२७		ववाणिया		मा० १९४५
४९	२८	जूठाभाई ऊजमसी	,,	अहमदाबाद	माघ व० ७, शुक्र १९४५
५०	२९		,,		माघ व० ७, शुक्र १९४५
५१	३०		,,		माघ व० ७, शुक्र १९४५
५२	३१	(खीमजी देवजी)	,,	मुंबई	माघ व० १०, सोम १९४५
५३		जूठाभाई ऊजमसी	,,	अहमदावाद	फा० सु० ६, गुरु १९४५
५४	३२		,,		फा० सु० ९, रवि १९४५
५५	३३		,,		फा० सु० ९, रवि १९४५
५६		जूठाभाई ऊजमसी	मोरबी	अहमदावाद	चै० सु० ११, बुध १९४५
५७	३४	,,	,,		चै० व० ९, १९४५
५८	३५	खीमजी देवजी (दयालजी)	,,	मुंवई	चैत्र व० १०, १९४५
५९	३६(१-२)	जूठाभाई ऊजमसी	ववाणिया	अहमदावाद	वै० सु० १, १९४५
६०	३७		ववाणिया		वैशाख १९४५
६१	३८	मनसुखराम सूर्यराम	,,		वै० सु० ६, सोम १९४५
६२	३९	खीमजो देवजी (दयालजी)	,,	मुंवई	वै० सु० १२, १९४५
६३	८७४-१०		,,		वै० व० १३, १९४५
६४	४०	मनसुखराम सूर्यराम	,,		ज्ये० सु० ४, रवि १९४५
६५		जूठाभाई ऊजमसी	मोरवी		ज्ये० सु० १० सोम १९४५

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
६६	४१	मनसुखराम सूर्यराम	अहमदाबाद		ज्ये० व० १२, मंगल १९४५
६७	८७४-१२	खीमजी देवचंद	वढवाणकॅम्प	मुंबई	आ० सु० ८, शनि १९४५
६८	४२	मनसुखराम सूर्यराम	बजाणा		आ० सु० १५, शुक्र १९४५
६९	४३	जूठाभाई ऊजमसी	ववाणिया		आ० व० १२, बुध १९४५
७०	८७४-६		भरुच		श्रा० सु० १, रवि १९४५
७१	४४	मनसुखराम सूर्यराम	,,		श्रा० सु० ३, बुध १९४५
७२	४५	खीमजी देवजी	,,	मुंबई	श्रा० सु० १०, १९४५
७३		जूठाभाई ऊजमसी	मुंबई	अहमदाबाद	श्रा० व० ७, शनि १९४५
७४		(जूठाभाई ऊजमसी)	ववाणिया	(अहमदाबाद)	भा० सु० २, १९४५
७५	४६	जूठाभाई ऊजमसी	मुंबई	अहमदाबाद	भा० व० ४, शुक्र १९४५
७६	४९		मुंबई		आसोज व० १०, शनि १९४५
७७	५०				१९४५
७८	५१				१९४५
७९	५२				१९४५
८०	५३				१९४५
८१	५४				१९४५
८२	५५				१९४५
८३	५६	मनसुखराम सूर्यराम			१९४५
८४	५७				१९४६
८५	५८		मुंबई		१९४६
८६	८७४-१६				१९४६
८७	६२	मनसुखराम सूर्यराम	मुंबई		का० सु० ७, गुरु १९४६
८८	६३		,,		कार्तिक १९४६
८९	६४		,,		का० सु० १५, १९४६
९०	६५		,,		कार्तिक १९४६
९१	६८		,,		कार्तिक १९४६
९२	६९		,,		,, १९४६
९३	७०		,,		,, १९४६
९४	७२	जूठाभाई ऊजमसी	,,		मग० सु० ९, रवि १९४६
९५	७४		,,		पौष १९४६
९६	७५		,,		पौ० सु० ३, बुध १९४६
९७	७६		,,		पौ० सु० ३, १९४६
९८		शाह चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	मुंबई	अहमदाबाद	पौ० व० ९, १९४६
९९	७७		मुंबई		पौष १९४६

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया- वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
१००	७८		मुंबई		पौष १९४६
१०१	७९		,,		,, ,,
१०२					
१०३	८२		मुंबई		माघ १९४६
१०४	८३	चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	,,		माघ व० २, १९४६
१०५	८०		,,	अहमदाबाद	फा० सु० ६, १९४६
१०६	८४	चीमनलाल महासुख (जूठाभाई)	,,	अहमदाबाद	फा० सु० ८, १९४६
१०७	८५		,,		फा० व० १, १९४६
१०८	८६		,,		फागुन १९४६
१०९					
११०					
१११	८७		मुंबई		फागुन ११४६
११२	८८		,,		चैत्र १९४६
११३	९३		,,		वै० व० १२, १९४६
११४		जूठाभाई ऊजमसीभाई	मोरबी	अहमदाबाद	आ० सु० ४, १९४६
११५	१०२	अंबालाल, त्रिभोवन आदि	मुंबई	खंभात	आ० सु० ५, १९४६
११६	१०१		,,		वै० सु० ३, १९४६
११७	१०१ (२--३--४)		,,		आ० सु० १०, १९४६
११८	१०३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० सु० १५, १९४६
११९	१०५	त्रिभोवनदास माणेकचंद	,,	,,	आ० व० ७, १९४६
१२०	१०७	मनसुखराम सूर्यराम	,,		आ० व० ३०, १९४६
१२१	१०८	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आपाढ़ १९४६
१२२	१०९	,,	,,	,,	,, ,,
१२३	११०		,,		,, ,,
१२४	१११	खीमजी देवजी	ववाणिया	मुंबई	श्रा० व० ५, १९४६
१२५	११२	,,	,,	,,	श्रा० व० १३, १९४६
१२६	११३	मनसुखराम सूर्यराम	ववाणिया		प्र० भा० सु० ३, १९४६
१२७	११४	खीमजी देवजी	,,	मुंबई	प्र० भा० सु० ४, १९४६
१२८	११५	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	प्र० भा० सु० ६, १९४६
१२९	११६	चत्रभुज वेचर	,,	जेतपर	प्र० भा० सु० ७, १९४६
१३०	११७	खीमजी देवजी	,,	मुंबई	प्र० भा० सु० ११, १९४६
१३१	११८	अंबालाल लालचंद	जेतपर	खंभात	प्र० भा० व० ५, १९४६
१३२	११९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	प्र० भा० व० १३, १९४६

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति
१३३	१२०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	द्वि० भा० सु० २, १९४६
१३४	१२१	त्रिभोवन, अंबालाल	,,	खंभात	द्वि० भा० सु० ८, १९४६
१३५	१२२	,, ,,	,,	,,	द्वि० भा० सु० १४, १९४६
१३६	१२३	खीमजी देवजी	,,	मुंबई	द्वि० भा० सु० १४, १९४६
१३७	१२४-१	त्रिभोवन माणेकचंद	मोरबी	खंभात	द्वि० भा० व० ४, १९४६
१३८	१२४-२	अंबालाल लालचंद	,,	,,	द्वि० भा० व० ६, १९४६
१३९	१२५	,, ,,	,,	,,	द्वि० भा० व० ७, १९४६
१४०	१२४-३	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	,,	द्वि० भा० व० ८, १९४६
१४१	१२६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	द्वि० भा० व० १२, १९४६
१४२	१२८	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	द्वि० भा० व० १३, १९४६
१४३	१२७	खीमजी देवजी	,,	मुंबई	द्वि० भा० व० १३, १९४६
१४४	१२९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	द्वि० भा० व० ३०, १९४६
१४५	८७४-५	खीमजी देवजी	,,	मुंबई	आसो० सु० २, १९४६
१४६	१३०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आसो० सु० ५, १९४६
१४७	१३१	खीमजी देवजी	,,	मुंबई	आसो० सु० ६, १९४६
१४८	१३२-२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आसो० सु० १०, १९४६
१४९	१३२-३		,,		आसो० सु० १०, १९४६
१५०	१३३		,,		आसोज, १९४६
१५१	१३४				आसोज, १९४६
१५२	१३६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	आसो० सु० ११, १९४६
१५३	१३७	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	खंभात	आसो० सु० १२, १९४६
१५४	१३८		मोरबी		आसोज, १९४६
१५५	१४२		मुंबई		१९४६
१५६	१४३		मुंबई		१९४६
१५७	६६, ८७४-२२				
१५८					
१५९					
१६०					
१६१					
१६२					
१६३					
१६४					
१६५	१४४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	मोरबी	का० सु० ५, १९४७
१६६	१४५	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,	खंभात	का० सु० ६, १९४७
१६७		त्रिभोवन तथा अंबालाल			का० सु० १२, १९४७

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
१६८.	१४६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	मोरबी	का० सु० १३, १९४७
१६९		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० १३, १९४७
१७०	१४७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		का० सु० १८, १९४७
१७१	१५०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० १४, १९४७
१७२	१४९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	,,	का० सु० १४, १९४७
१७३	१५१	त्रिभोवन आदि	,,	,,	का० व० ३, १९४७
१७४	१५२	अंबालाल लालचंद	,,	,,	का० व० ५, १९४७
१७५		अंबालाल लालचंद	,,	,,	का० व० ८, १९४७
१७६	१५४-१५३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	का० व० ९, १९४७
१७७	१५६	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	का० व० १४, १९४७
१७८	१५६	अंबालाल लालचंद	,,	,,	का० व० ३०, १९४७
१७९	१४८-१		,,		कार्तिक १९४७
१८०	१५७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		मगसिर सु० ४, १९४७
१८१	१५८	छोटालाल माणेकचंद	मुंबई	खंभात	मगसिर सु० ९ १९४७
१८२	१५९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	मग० सु० १३, १९४७
१८३	१६०		,,		मग० सु० १४, १९४७
१८४		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० सु० १५, १९४७
१८५		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	मग० व० ७, १९४७
१८६		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० व० १०, १९४७
१८७	१६१-१६२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		मग० व० ३०, १९४७
१८८		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	पौष सु० २, १९४७
१८९	१६३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	पौष सु० ५, १९४७
१९०		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	पौष सु० ९, १९४७
१९१	१६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	पौष सु० १०, १९४७
१९२	१६५	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	पौष सु० १४, १९४७
१९३	१६६	,, ,,	,,	,,	पौष व० २, १९४७
१९४	१६७	मुनिश्री लल्लुजी	,,		पौष, १९४७
१९५	१६८		,,		पौष, १९४७
१९६	१६९	मुनिश्री लल्लुजी	,,		माघ सु० ७, १९४७
१९७	१७०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		माघ सु० ९, १९४७
१९८	१७१	मुनिश्री लल्लुजी	,,	,,	माघ सु० ११, १९४७
१९९	१७२	(अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ सु० ११, १९४७
२००	१७३-१	मणीलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	माघ सु०, १९४७
२०१	१७४-१७५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		माघ व० ३, १९४७
२०२		चत्रभुज वेचर	,,		माघ व० ३, १९४७

अङ्क	प०श्रु०प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
२०३		अंबालाल लालचंद	मुंबई		माघ व० ४, १९४७
२०४	१७८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	माघ व० ७, १९४७
२०५	१७६	,, ,,	,,	,,	माघ व० ११, १९४७
२०६	१७७	,, ,,	,,	,,	माघ व० १३, १९४७
२०७	१७९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	,,	माघ व० ३०, १९४७
२०८	१८०		,,		माघ व० ३०, १९४७
२०९					
२१०	१८२	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई	मोरबी	माघ व० ३०, १९४७
२११	१८१	(अंबालाल लालचंद)	,,	खंभात	माघ व० ३०, १९४७
२१२	१८३	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	,,	माघ व० १९४७
२१३	१८४	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई)	,,		फा० सु० ४, १९४७
२१४	१८५	सोभाग्यभाई लल्लुलाई	,,	मोरबी	फा० सु० ५, १९४७
२१५	१८६	,, ,,	,,	,,	फा० सु० ८, १९४७
२१६					
२१७	१७३-२ ३३८-२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		माघ सुदी, १९४७
२१८	१८७	,, ,,	,,	मोरबी	फा० सु० १३, १९४७
२१९	१८८	,, ,,	,,		फा० व० १, १९४७
२२०	१९१	,, ,,	,,	मोरबी	फा० व० ३, १९४७
२२१	१८९-१९०	,, ,,	,,	,,	फा० व० ८, १९४७
२२२	१९२	,, ,,	,,	,,	फा० व० ११, १९४७
२२३	१९३	,, ,,	,,	,,	फा० व० १४, १९४७
२२४			,,		फा० व० २, १९४७
२२५		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	फा० व० ३, १९४७
२२६	१९४	छोटालाल माणेकचंद	,,	खंभात	फागुन, १९४७
२२७			,,	,,	फागुन, १९४७
२२८			,,	,,	फागुन, १९४७
२२९	१९५		,,		फागुन, १९४७
२३०	१९६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र सु० ४, १९४७
२३१	१९७	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ७, १९४७
२३२	१९८	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	चैत्र सु० ९, १९४७
२३३	१९९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र सु० १०, १९४७
२३४	२००	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० १०, १९४७
२३५	२०१	,, ,,	,,		चैत्र सु० १४, १९४७
२३६	२०२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चैत्र सु० १५, १९४७

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
२३७		त्रिभोवन माणेकचंद	मुंबई		चैत्र व० २, १९४७
२३८	२०३	,, ,,	,,		चैत्र व० ३, १९४७
२३९	२०४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र व० ७, १९४७
२४०		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चैत्र व० ९, १९४७
२४१	२०५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र व० १४, १९४७
२४२	२०६	(अंबालाल लालचंद)	,,		चैत्र, १९४७
२४३			,,		वै० सु० २, १९४७
२४४	२०७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० सु० ७, १९४७
२४५		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वै० सु० १३, १९४७
२४६	२०८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० व० ३, १९४७
२४७	२०९	,, ,,	,,	,,	वै० व० ८, १९४७
२४८	२१०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वै० व० ८, १९४७
२४९	२११		,,		जे० सु० ७, १९४७
२५०	२१२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		जे० सु० १५, १९४७
२५१	२१३	,, ,,	,,	मोरबी	जे० व० ६, १९४७
२५२	२१४		,,		जे० सु०, १९४७
२५३	२१५	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० सु० १, १९४७
२५४	२१६	(खंभातके मुमुक्षुओंपर)	,,	,,	आ० सु० ८, १९४७
२५५	२१७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आ० सु० १३, १९४७
२५६		,, ,,	,,	मोरबी	आ० व० २, १९४७
२५७	२१८	,, ,,	,,	,,	आ० व० ४, १९४७
२५८	२१९	,, ,,	,,		आषाढ़, १९४७
२५९	२२०	,, ,,	,,		श्रा० सु० ११, १९४७
२६०	२२१	,, ,,	,,	मोरबी	श्रा० सु० ९, १९४७
२६१	२२२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रा० सु० ९, १९४७
२६२	२२३	ऊगरीबहेन	,,	कलोल	श्रा० सु० १९४७
२६३		खीमजी देवजी	राळज	मुंबई	भा० सु० ८, १९४७
२६४	२२४		,,		भा० सु० ८, १९४७
२६५	२२५		,,		भा० सु० ८, १९४७
२६६	२२६				भा० सु० ८, १९४७
२६७	२२७ (१)		राळज		भाद्रपद, १९४७
२६८	२२८		,,		भाद्रपद, १९४७
२६९		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	मोरबी	भा० व. ३, १९४७
२७०	२२९		,,		भा० व० ४, १९४७
२७१	२३०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	भा० व० ४, १९४७

अङ्क प० श्रु० प्र०	द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
२७२	२३१	कुंवरजी मगनलाल	ववाणिया	कलोल	भा० व० ४, १९४७
२७३	२३२	खीमजी देवजी	,,	मुंबई	भा० व० ५, १९४७
२७४	२३३		,,		भा० व० ५, १९४७
२७५	२३४	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई)	,,		भा० व० ५, १९४७
२७६		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	भा० व० ७, १९४७
२७७	२३५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	भा० व० ७, १९४७
२७८	२३६	,, ,,	,,		भा० व० १०, १९४७
२७९	२३७	मगनलाल खीमचंद	,,	लींबडी	भा० व० ११, १९४७
२८०	२३८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		भा० व० १२, १९४७
२८१		खीमजी देवजी	,,	मुंबई	भा० व० १३, १९४७
२८२	२३९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		भा० व० १४, १९४७
२८३		,, ,,	,,		भा० व० ३०, १९४७
२८४	२४०		,,		आसो० सु० ६, १९४७
२८५	२४१	(अंबालाल लालचंद)	,,		आसो० सु० ७, १९४७
२८६	२४२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	आसो० सु०, १९४७
२८७	२४३	,, ,,	,,	अंजार	आसो० व० १, १९४७
२८८	२४४	,, ,,	,,	,,	आसो० व० ५, १९४७
२८९	२४५–१	,, ,,	,,		आसो० व० १०, १९४७
२९०	२४५–२				
२९१	२४७	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आसो० व० १२, १९४७
२९२	८७४–११		,,		आसो० व० १२, १९४७
२९३	२४८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	आसो० व० १३, १९४७
२९४	२४९		मुंबई		१९४७
२९५	२५०		,,		१९४७
२९६	२५१		,,		१९४७
२९७	२५२		,,		१९४७
२९८	२५३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	का० सु० ४, १९४८
२९९	२५४		,,		का० सु० ७, १९४८
३००		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० ८, १९४८
३०१	२५६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	ववाणिया	अंजार	का० सु० ८, १९४८
३०२		,, ,,	,,	मोरबी	का० सु० १३, १९४८
३०३		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० १३, १९४८
३०४	२५७	सोभाग्यभाई लल्लूभाई	,,	मोरबी	का० सु० १९४८
३०५	२५५	त्रिभोवन माणेकचंद	,,		का० व० १, १९४८
३०६		अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	का० व० ७, १९४८

अङ्क प० श्रु० प्र०	द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
३०७	२५८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	आणंद	मोरबी	मगसिर सु० २, १९४८
३०८	२५९	,, ,,	मुंबई	सायला	मग० सु० १४, १९४८
३०९	२६०	,, ,,	,,	,,	मग० व० ३०, १९४८
३१०	२६१	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	पौष सु० ३, १९४८
३११			,,		पौष सु० ३, १९४८
३१२	२६२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	पौष सु० ५, १९४८
३१३	२६३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		पौष सु० ७, १९४८
३१४			,,		पौष सु० ११, १९४८
३१५	२६४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	पौष सु० ११, १९४८
३१६	२६५	,, ,,	,,	,,	पौष व० ३, १९४८
३१७	२६६	,, ,,	,,	,,	पौष व० ९, १९४८
३१८	२६७–२	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	पौष व० १३, १९४८
३१९	२६८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	माघ सु० ५, १९४८
३२०	२६९	,, ,,	,,	,,	माघ सु० १३, १९४८
३२१	२७०	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ व० २, १९४८
३२२	२७०–२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	रविवार, १९४८
३२३	२७०–३	,, ,,	,,	,,	माघ व० २, १९४८
३२४	२७१	,, ,,	,,	,,	माघ व० ४, १९४८
३२५	२७२	,, ,,	,,	,,	माघ व० ९, १९४८
३२६	२७४	,, ,,	,,	,,	माघ व० ११, १९४८
३२७	२७५	,, ,,	,,	,,	माघ व० १४, १९४८
३२८	२७६	,, ,,	,,	,,	माघ व० ३०, १९४८
३२९	२७७	,, ,,	,,	,,	माघ वदी, १९४८
३३०	२७८	किसनदास आदि	,,	खंभात	माघ, १९४८
३३१	२७९		,,		माघ, १९४८
३३२	२८०–१	अंबालाल लालचंद	मुंबई	खंभात	फा० सु० ४, १९४८
३३३	२८०–२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	फा० सु० ४, १९४८
३३४	२८१	,, ,,	,,	,,	फा० सु० १०, १९४८
३३५	२८२–१	,, ,,	,,	,,	फा० सु० १०, १९४८
३३६	२८२–२	कुंवरजी मगनलाल	,,	,,	फा० सु० ११, १९४८
३३७	२८३		,,		फा० सु० ११॥, १९४८
३३८	२८४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	फा० सु० १३, १९४८
३३९	२८५		,,		फा० सु० १४, १९४८
३४०	२८६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	फा० सु० १५, १९४८
३४१	२८७	,, ,,	,,	,,	फा० व० ४, १९४८

अङ्क	प०श्रु०प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
३४२	२८८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	मोरबी	फा० व० ६, १९४८
३४३		,, ,,	,,	,,	फा० व० ७, १९४८
३४४	२८९–१	,, ,,	,,	,,	फा० व० १०, १९४८
३४५	२८९–२				फा० व० ११, १९४८
३४६	२८९-१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	मोरबी	फा० व० १४, १९४८
३४७	२९०	,, ,,	,,	,,	फा० व० ३०, १९४८
३४८	२९१	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० २, १९४८
३४९	२९१	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ४, १९४८
३५०	२९१	,, ,,	,,		चैत्र सु० ६, १९४८
३५१	२६७	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	चैत्र सु० ९, १९४८
३५२	२९२	चत्रभुज बेचर	,,	जेतपुर	चैत्र सु० ९, १९४८
३५३	२९३-१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चैत्र सु० १२, १९४८
३५४	२९३-२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र सु० १३, १९४८
३५५	२९३-३	,, ,,	,,	,,	चैत्र व० १, १९४८
३५६	२९४	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चैत्र व० १, १९४८
३५७	२९५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र व० ५, १९४८
३५८	२९६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चैत्र व० ५, १९४८
३५९		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र व० ८, १९४८
३६०	२९७	,, ,,	,,	,,	चैत्र व० १२, १९४८
३६१	२९८-१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	मोरबी	वै० सु० ३, १९४८
३६२	२९८-२	,, ,,	,,	,,	वै० सु० ४, १९४८
३६३	२९९	,, ,,	,,	,,	वै० सु० ५, १९४८
३६४		,, ,,	,,	,,	वै० सु० ९, १९४८
३६५		,, ,,	,,	,,	वै० सु० ११, १९४८
३६६	३००	,, ,,	,,	,,	वै० सु० १२, १९४८
३६७		,, ,,	,,	,,	वै० व० १, १९४८
३६८	३०१	,, ,,	,,	,,	वै० व० ६, १९४८
३६९		,, ,,	,,	,,	वै० व० ९, १९४८
३७०		,, ,,	,,	,,	वै० व० ११, १९४८
३७१	३०२	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	वै० व० १३, १९४८
३७२		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० व० १४, १९४८
३७३	३०३	धारसीभाई तथा नवलचंदभाई	,,	,,	वै० व० १४, १९४८
३७४	३०४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	,,	वैशाख, १९४८
३७५	३०५	मुनिश्री लल्लुजी	,,		वैशाख, १९४८
३७६	३०६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वैशाख व० १९४८

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
३७७	३०७		मुंबई		वैशाख, १९४८
३७८	३०८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	जेठ सु०, १०, १९४८
३७९	३०९	,, ,,	,,	,,	जेठ व०, ३०, १९४८
३८०	३१०	(मुनिश्री लल्लुजी ?)	,,		जेठ १९४८
३८१	३१०-१	,, ,,			
३८२	३१०-३	,, ,,			
३८३	३११		मुंबई		जेठ, १९४८
३८४	३१२	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		आ० सु० ९, १९४८
३८५	३१३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आषाढ़, १९४८
३८६	३१४		,,		आ० व० ३०, १९४८
३८७	३१५		,,		श्रा० सु० १९४८
३८८	३१६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		श्रा० सु० ४, १९४८
३८९	३७८–२, ३१७		,,		श्रा० सु० १०, १९४८
३९०	३१८-१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		श्रा० सु० १०, १९४८
३९१	३१८-२	अंबालाल लालचंद	मुंबई	खंभात	श्रा० सु० १०, १९४८
३९२	३१८-३		,,		श्रा० सु० १०, १९४८
३९३	३१९	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		श्रा० सु० १०, १९४८
३९४	३२०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		श्रा० व० १०, १९४८
३९५	३२१		,,		श्रा० व० १९४८
३९६	३२२		,,		श्रा० व० १९४८
३९७	३२३	त्रिभोवन माणेकचंद आदि	,,	खंभात	श्रा० व० ११, १९४८
३९८	३२४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० व० १४, १९४८
३९९	३२५	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रावण १९४८
४००	३२६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		श्रा० व० १९४८
४०१	३२७	मणीलाल रायचंद गांधी	,,	बोटाद	भा० सु० १, १९४८
४०२	३२८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	भा० सु० ७, १९४८
४०३	३२९		,,		भा० सु० १०, १९४८
४०४	३३०	कृष्णदास आदि	,,	खंभात	भा० सु० १०, १९४८
४०५	३३१	मनसुख देवसी	,,	लींबडी	भा० सु० १०, १९४८
४०६	३३२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	भा० सु० १२, १९४८
४०७	३३३	मणीलाल रायचंद गांधी	,,	भावनगर	भा० व० ३, १९४८
४०८	३३४		,,		भा० व० ८, १९४८
४०९	३३५		,,		आसोज सु० ११, १९४८
४१०	३३६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० सु० ७, १९४८
४११	३३७	,, ,,	,,	,,	आसो० सु० १०, १९४८

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
४१२	३३८-१		मुंबई		आसो० व० ६, १९४८
४१३	३३९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	आसो० व० ८, १९४८
४१४	३४०		,,		आसोज, १९४८
४१५	३४१		,,		आसोज, १९४८
४१६	३४२		,,		आसोज, १९४८
४१७	३४३		,,		आसोज, १९४८
४१८	३४४		,,		१९४८
४१९	३४५		,,		१९४८
४२०	३४६		,,		१९४८
४२१	३४७		,,		आसोज, १९४८
४२२	३४८		मुंबई		का० सु० १९४९
४२३	३४९	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	का० व० ९, १९४९
४२४	३३७-३५०	कृष्णदास	,,	खंभात	का० व० १२, १९४९
४२५	३५१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		मग० व० ९, १९४९
४२६	३५२		,,		मग० व० १३, १९४९
४२७	३५३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ सु० ९, १९४९
४२८		अंबालाल लालचंद	,,	,,	माघ व० ४, १९४९
४२९	३५४		,,		माघ व० ११, १९४९
४३०	३५५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		माघ व० ३०, १९४९
४३१	२७३	,, ,,	,,		फा० सु० ७, १९४९
४३२	३५६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	फा० सु० ७, १९४९
४३३	३५७-१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		फा० सु० १४, १९४९
४३४		,, ,,	,,	मोरबी	फा० व० ९, १९४९
४३५	३५७-२		,,		फा० व० ३०, १९४९
४३६	३५८-१		,,		चै० सु० १, १९४९
४३७	३५८-२		,,		
४३८	३५८-३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चै० सु० १, १९४९
४३९	३५९	,, ,,	,,	सायला	चै० सु० ६, १९४९
४४०	३६०-१	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	चै० सु० ९, १९४९
४४१	३६०-२	मनसुख देवसी	,,	लींबडी	चै० सु० ९, १९४९
४४२	३६१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	चैत्र व० १, १९४९
४४३	३६२	,, ,,	,,	,,	चै० व० ८, १९४९
४४४	३६३	,, ,,	,,	,,	चै० व० ३०, १९४९
४४५	३६४	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चै० व० ३०, १९४९
४४६	३६५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	वै० व० ६, १९४९

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
४४७	३६६		मुंबई		वै० व० ८, १९४९
४४८	३६७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		वै० व० ९, १९४९
४४९	३६८	कृष्णदास (आठ पत्रोंका पत्र)	,,	खंभात	जेठ सु० ११, १९४९
४५०	३६९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		जेठ सु० १५, १९४९
४५१		अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	प्र० आ० सु० ९, १९४९
४५२		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	प्र० आ० सु० १२, १९४९
४५३	३७०	,, ,,	,,	,,	प्र० आ० व० ३, १९४९
४५४	३७१	अंबालाल आदि मुमुक्षु	मुंबई	खंभात	प्र० आ० व० ४, १९४९
४५५	३७२	अंबालाल लालचंद	,,		प्र० आ० व० १३, १९४९
४५६	३७३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	प्र० आ० व० १४, १९४९
४५७	३७४		,,		द्वि० आ० सु० ६, १९४९
४५८		त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	द्वि० आ० सु० १२, १९४९
४५९	३७५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		द्वि० आ० व० ६, १९४९
४६०	३७६	कुंवरजीभाई तथा झगरीबहेन	,,	कलोल	द्वि० आ० व० १०, १९४९
४६१	३७७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० सु० ४, १९४९
४६२	३७८-१		,,		श्रा० सु० ५, १९४९
४६३	३७९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० सु० १५, १९४९
४६४		,, ,,	,,	,,	श्रा० व० ४, १९४९
४६५	३८०	,, ,,	,,	,,	श्रा० व० ५, १९४९
४६६	३८१		पेटलाद		भा० सु० ६, १९४९
४६७	३८२	(त्रिभोवन माणेकचंद ?)	खंभात		भाद्रपद, १९४९
४६८	३८३		मुंबई		भाद्रपद, १९४९
४६९	३८४		,,		भा० व० ३०, १९४९
४७०	३८५	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	आसोज सु० १, १९४९
४७१	३८६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० सु० ५, १९४९
४७२	३८७	सोभाग्यभाई तथा डुंगरसीभाई	,,	,,	आसो० सु० ९, १९४९
४७३	३८८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आसो० व० ३, १९४९
४७४	३८९	,, ,,	,,	सायला	आसो० व० , १९४९
४७५	३९०	,, ,,	,,	मोरबी	आसो० व० १२, १९४९
४७६	३९२-३		,,		आसोज, १९४९
४७७	३९३		,,		का० सु० ९, १९५०
४७८		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० १३, १९५०

परिशिष्ट १

अङ्क प० श्रु० प्र०	द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिति
४७९	३९४	अंबालाल लालचंद	मुंबई	खंभात	मगसिर सु० ३, १९५०
४८०		,, ,,	,,	,,	पौष सु० ५, १९५०
४८१		,, ,,	,,	,,	पौष व० १, १९५०
४८२	३९५	,, ,,	,,	,,	पौष व० १४, १९५०
४८३	३९६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	अंजार	माघ व० ४, १९५०
४८४	३९७	,, ,,	,,	,,	माघ व० ८, १९५०
४८५	३९८	,, ,,	,,	,,	फा० सु० ४, १९५०
४८६	३९९	,, ,,	,,	,,	फा० सु० ११, १९५०
४८७	४००	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	फा० सु० ११, १९५०
४८८	४०१	,, ,,	,,	,,	फा० व० १०, १२५०
४८९	४०२	,, ,,	,,	,,	फा० व० ११, १९५०
४९०	४०३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		फा० व० ११, १९५०
४९१	४०४		,,		फागुन, १९५०
४९२	४०५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फागुन, १९५०
४९३	४०६	मुनिश्री लल्लुजी	,,		फागुन, १९५०
४९४	४०७	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		चैत्र सु० १९५०
४९५	४०८-१	त्रिभोवन मागेकचंद	,,		चैत्र व० ११, १९५०
४९६	४०९		,,		चैत्र व० १४, १९५०
४९७	११०		,,		चैत्र व० १४, १९५०
४९८	४११	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	वै० सु० १, १९५०
४९९	४१२		,,		वै० सु० ९, १९५०
५००	४१३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	वै० सु० ९, १९५०
५०१	४१४	,, ,,	,,	,,	वै० सु० ७, १९५०
५०२	८७४-१८	मुनिश्री लल्लुजो तथा देवकरणजी	,,	,,	फा० सु० ६, १९५३
५०३	४१५	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वै० व० ३०, १९५०
५०४	४१६		,,		दैशाख, १९५०
५०५					
५०६	४१८		,,		वैशाख, १९५०
५०७		अंबालाल लालचंक	.,	खंभात	जेठ सु० ११, १९५०
५०८	४१९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		जेठ सु० १४, १९५०
५०९	४२०-१	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई	सूरत	आ० सु० ६, १९५०
५१०	४२१	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	आ० सु० ६, १९५०
५११	४२२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	आ० सु० ६, १९५०
५१२	४२३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	आ० सु० १५, १९५

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
५१३	४२४	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई	सूरत	श्रा० सु० ११, १९५०
५१४	४२५		,,		श्रा० सु० १४, १९५०
५१५	४२६	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रा० सु० १४, १९५०
५१६	४२७	केशवलाल नथु	,,	लींबडी	श्रा० व० १, १९५०
५१७	४२९	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रा० व० ७, १९५०
५१८	४३०	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	श्रा० व० ९, १९५०
५१९	४३१-१	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,		श्रा० व० ९, १९५०
५२०	४३२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० व० ३०, १९५०
५२१	६९१		,,		श्रावण, १९५०
५२२	४३३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	भा० सु० ३, १९५०
५२३	४३५-१ + ४३४ + ३३५-२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई तथा डुंगरसीभाई	,,	सायला	भा० सु० ४, १९५०
५२४		अंबालाल लालचंद आदि मुमुक्षु	,,	खंभात	भा० सु० ८, १९५०
५२५	४४३		,,		भा० सु० १०, १९५०
५२६	४४४	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	भा० व० ५, १९५०
५२७		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	भा० व० १२, १९५०
५२८	४४५		,,		आसोज सु० ११, १९५०
५२९	४४६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० व० ३, १९५०
५३०	४४७	मोहनलाल करमचंद गाँधी (महात्मा गाँधीजी	,,	डरबन	आसो० व० ६, १९५०
५३१		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	आसो० व० ३०, १९५०
५३२		,, ,,	,,	,,	आसो० व० ३०, १९५०
५३३	४४८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	अंजार	का० सु० १, १९५१
५३४	४४९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	का० सु० ३, १९५१
५३५	४५०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० ३, १९५१
५३६	४५१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० ४, १९५१
५३७	४५३-४५२	अंबालाल आदि मुमुक्षु	,,	,,	का० सु० ७, १९५१
५३८	४५४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० ९, १९५१
५३९	४५५		,,		का० सु० १४, १९५१
५४०		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० १४, १९५१
५४१	४५८		,,		१९५१
५४२	४६१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० सु० १५, १९५१
५४३	४६२	कुंवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	कार्तिक १९५१
५४४	४६३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	का० व० १३, १९५१

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
५४५		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	अंजार	मगसिर व० १, १९५१
५४६	४६४		,,		मग० व० ६, ,,
५४७	४६५		,,		मग० व० ८, ,,
५४८	४६६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		मग० व० ९, ,,
५४९	८७४-१९	,, ,,	,,		
५५०	४६७	,, ,,	,,		मग० व० ११, ,,
५५१	४६८	,, ,,	,,	सायला	मगसिर, ,,
५५२	४६९	,, ,,	,,	,,	मगसिर, ,,
५५३	४७०	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	पौष सु० १, ,,
५५४		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	अंजार	पौष सु० १०, ,,
५५५	४७१	,, ,,	,,	मोरबी	पौष सु० १०, ,,
५५६		,, ,,	,,	,,	पौष व० २, ,,
५५७	४७३-२	,, ,,	,,	,,	पौष व० ९, ,,
५५८	४७३-१	खीमजी देवजी	,,	लींबडी	पौष व० १०, ,,
५५९	८७४-९	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	पौष व० ३०, ,,
५६०	४७४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		पौष, ,,
५६१	४७५	कुंवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	माघ० सु० २, ,,
५६२	४७६		,,	,,	माघ सु० ३, ,,
५६३	४७८	कुंवरजी आणंदजी	,,	,,	माघ सु० ८, ,,
५६४		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	मोरबी	माघ सु० ८, ,,
५६५	४७९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	फा० सु० १२, ,,
५६६	४८०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० सु० १३, ,,
५६७	४८१	,, ,,	,,	,,	फा० सु० १५, ,,
५६८	७५०-२	,, ,,	,,	,,	फागुन, ,,
५६९	५०३	,, ,,	,,	,,	फा० व० ३, ,,
५७०	४८२	मोहनलाल करमचंद गांधी (महात्मा गांधीजी)	,,	डरबन	फा० व० ५, ,,
५७१	४८३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० व० ५, ,,
५७२	४८४	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	फा० व० ७, ,,
५७३	४८५	मुनिश्री लल्लुजी	,,		फा० व० ११, ,,
५७४	४८६		,,		फागुन, ,,
५७५	४८७		,,		फागुन, ,,
५७६	४८८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	चैत्र सु० ६, ,,
५७७	४८९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	चै० सु० १३, ,,
५७८	८७४-३		,,		चै० सु० १४, ,,

अङ्क प० श्रु० प्र०	द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
५७९		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	सायला	चै० सु० १५, १९५१
५८०		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चै० व० ५, ,,
५८१	४९०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		चै० व० ८, ,,
५८२	४९१	कुंवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	चै० व० ८, ,,
५८३	४९२		,,		चै० व० ११, ,,
५८४	८७४-२		,,		चै० व० ११, ,,
५८५	४९३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई तथा डुंगरसी	,,		चै० व० ११, ,,
५८६	४९४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		चै० व० १२, ,,
५८७	४९५		,,		चै० व० १२, ,,
५८८	४९६	मुनिश्री लल्लुजी	,,		चै० व० १२, ,,
५८९	४९७	,, ,,	,,		चै० व० १३, ,,
५९०	४९८		,,		चै० व० १४, ,,
५९१	४९९		,,		चैत्र, ,,
५९२	५०४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	वै० सु० ,,
५९३	५०५		,,		वै० सु० १५, ,,
५९४	५०६		,,		वै० सु० १५, ,,
५९५	५०७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	वै० व० ७, ,,
५९६	५०८		,,		वै० व० ७, ,,
५९७	५०९		,,		वै० व० ७, ,,
५९८	५१०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	वै० व० १०, ,,
५९९	५११	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	वै० व० १४, ,,
६००	५१२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	जेठ सु० २, ,,
६०१	५१३	,, ,,	,,	,,	जेठ सु० १०, ,,
६०२	५१४	मुनिश्री लल्लुजी	,,		जेठ सु० १०, ,,
६०३	५१९-१		,,		जेठ सु० १०, ,,
६०४		अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	जेठ सु० १२, ,,
६०५	५१६	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	जेठ व० २, ,,
६०६	५१७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	जेठ व० ५, ,,
६०७	६१९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खंभात	जेठ व० ७, ,,
६०८	५१५	कुंवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	जेठ व० १०, ,,
६०९	५१८	केशवलाल नथुभाई	,,	लींबडी	जेठ, ,,
६१०	५२०	मगनलाल खीमचन्द	,,	लींबडी	आ० सु० १, ,,
६११	५२१		,,		आ० सु० १, ,,
६१२	५२२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आ० सु० १, ,,

अङ्क	प०श्रु०प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
६१३	५२३	(त्रिभोवनभाई ?)	मुंबई		आ० सु० ११,	१९५१
६१४						
६१५	५२४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई	सायला	आ० सु० १३,	,,
६१६	५२५	अंबालाल तथा त्रिभोवनभाई	,,	खंभात	आ० व०,	,,
६१७	५२६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आ० व० ७,	,,
६१८	५२९	,, ,,	,,	,,	आ० व० ११,	,,
६१९	५३०	,, ,,	,,	,,	आ० व० १४,	,,
६२०	५३१	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	आ० व० ३०,	,,
६२१	६२३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० व० ३०,	,,
६२२	५३२	(त्रिभोवनभाई आदि ?)	,,	,,	आ० व० ३०,	,,
६२३		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० सु० २,	,,
६२४		मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	श्रा० सु० ३,	,,
६२५	५३३		ववाणिया		श्रा० सु० १०,	,,
६२६	५३४	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	श्रा० सु० १२,	,,
६२७	५३५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	श्रा० सु० १५,	,,
६२८	५३६	,, ,,	,,	,,	श्रा० व० ६,	,,
६२९	५३७	,, ,, तथा डुंगरसी		,,	श्रा० व० ११,	,,
६३०	५३८	,, ,,	,,	,,	श्रा० व० १२,	,,
६३१	५३९	(सोभाग्यभाई लल्लुभाई ?)	,,	,,	श्रा० व० १४,	,,
६३२	५४०	अंबालाल लालचंद	ववाणिया	खंभात	श्रा० व० १४,	,,
६३३		मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	श्रा० व० १४,	,,
६३४		चत्रभुज बेचर	,,	जेतपर	भा० सु० ७,	,,
६३५		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	भा० सु० ७,	,,
६३६	५४१	कुंवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	भा० सु० ९,	,,
६३७	५४२	खीमचंद लखमीचंद	,,	लींबडी	भा० सु० ९,	,,
६३८	५४३	धारसीभाई कुशलचंद	राणपुर	मोरवी	भा० व० १३,	,,
६३९	५४४		,,		आसोज सु० २,	,,
६४०	५४९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	मुंबई		आसो० सु० ११,	,,
६४१	५४८	,, ,,	,,		आसो० सु० १२,	,,
६४२	५५०	,, ,,	,,		आसो० सु० १३,	,,
६४३	५५१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आसो० सु० १३,	,,
६४४	५५२	,, ,,	,,	,,	आसो० व० ३,	,,
६४५	५५३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० व० ११,	,,
६४६	५५६		,,		आसोज,	,,
६४७	५५७		,,		आसोज,	,,

अङ्क प०श्रु०प्र०	द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
६४८	५५८		मुंबई		आसोज, १९५१
६४९	५५९		,,		आसोज, ,,
६५०	५६०		,,		आसोज, ,,
६५१	५६१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		कार्तिक, १९५२
६५२	५६२	मुनिश्री लल्लुजी	,,	सूरत	का० सु० ३, ,,
६५३	५६३-१	,, ,,	,,	,,	का० सु० १३, ,,
६५४	५६३-२	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	का० सु० १३, ,,
६५५	५६३-३	,, ,,	,,	,,	का० व० ८, ,,
६५६	५६४	,, ,,	,,	,,	मगसिर सु० १०, ,,
६५७	५६५	मुनिश्री लल्लुजी	,,	कठोर	मग० सु० १०, ,,
६५८	५६६	,, ,,	,,	,,	पौष सु० ६, ,,
६५९	५६७	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	पौष सु० ६, ,,
६६०	५६८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	पौष सु० ६, ,,
६६१	५६९	मुनिश्री लल्लुजी	,,	कठोर	पौष सु० ८, ,,
६६२	५७३		,,		पौष व० ,,
६६३	५७४		,,		पौष, ,,
६६४	५७५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	पौष व० २, ,,
६६५	५७६		,,		पौष व० ९, ,,
६६६	५७७	खीमचन्द लखमीचन्द	,,	लींबडी	पौष व० १२, ,,
६६७	५७८	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	पौष व० १२, ,,
६६८	५७९	,, ,,	,,	,,	माघ सु० ४, ,,
६६९		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	माघ व० ११, ,,
६७०	५८०		,,		फा० सु० १, ,,
६७१		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० सु० ३, ,,
६७२	५८१	,, ,,	,,	,,	फा० सु० १०, ,,
६७३	५८६	मुनिश्री लल्लुजी	,,		फा० सु० १०, ,,
६७४	५८७	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० व० ३, ,,
६७५		अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	फा० व० ५, ,,
६७६		सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० व० ९, ,,
६७७	५८८	कुंवरजी आणंदजी	,,	भावनगर	चैत्र सु० १, ,,
६७८	५८९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	चैत्र सु० २, ,,
६७९	५९०	,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ११, ,,
६८०			,,		चैत्र सु० १३, ,,
६८१		कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	चैत्र व० १, ,,
६८२		अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	चैत्र व० १, ,,

अङ्क	प०श्रु०प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
६८३	५९१		मुंबई		चैत्र व० ७, १९५२
६८४	५९२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	चैत्र व० १४, ,,
६८५		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	चैत्र व० १४, ,,
६८६		सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगामं	चैत्र व० १४, ,,
६८७	५९३	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	वै० सु० १, ,,
६८८		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वै० सु० ६, ,,
६८९	५९४	माणेकचंद आदि	ववाणिया	,,	वै० व० ६, ,,
६९०	५९५	छोटालाल माणेकचंद	मुंबई	,,	द्वि० जे० सु० २, ,,
६९१	५९६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	द्वि० जे० व० ६, ,,
६९२	६२९	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	द्वि० जे० व० ,,
६९३	५९७	केशवलाल नथुभाई	,,	लीबंडी	आषाढ़ सु० २, ,,
६९४	५९८	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आ० सु० २, ,,
६९५	६२०		,,		आ० सु० ५, ,,
६९६	६२१	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,		आ० व० ८, ,,
६९७	६२२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० व० ८, ,,
६९८	६२४	धारसीभाई कुशलचंद	,,	मोरबी	श्रा० सु० ५, ,,
६९९	६२८		,,		श्रावण, ,,
७००	६३०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	काविठा		श्रा० व० ,,
७०१	६३१	धारसीभाई कुशलचंद	राळज	मोरबी	श्रा० व० १३, ,,
७०२	६३२	अनूपचंद मलुकचंद	,,	भरुच	श्रा० व० १४, ,,
७०३	६३३	धारसीभाई कुशलचंद	,,	मोरबी	भा० सु० ८, ,,
७०४	६३३	,, ,,	,,	,,	भा० सु० ८, ,,
७०५	८७४-४	खीमचंद लक्ष्मीचंद	वडवा (स्तंभतीर्थ)	लींबडी	भा० सु० ११, ,,
७०६	६३४	केशवलाल नथुभाई	,,	,,	भा० सु० ११, ,,
७०७	६३५	,, ,,	,,	,,	भा० सु० ११, ,,
७०८	६३६	अंबालाल, त्रिभोवन आदि	राळज	खंभात	भाद्रपद, ,,
७०९	६३७		,,		भाद्रपद, ,,
७१०	६३८		वडवा		भा० सु० १५ ,,
७११	६४०		राळज		भाद्रपद, ,,
७१२	६३९		आणंद		भा० व० १२, ,,
७१३	६४१		,,		आसोज, ,,
७१४	६४२				सं० ,,
७१५	६४५		आणंद		आसो० सु० १, ,,
७१६	६४६	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खंभात	आसो० सु० २, ,,
७१७	६४७	मोहनलाल करमचंद गांधी	,,	डरवन	आसो० सु० ३, ,,

अङ्क	प०श्रु०प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
७१८	६६०	सोभाग्यभाई लल्लुभाई आदि	नडियाद		आसो० व० १, १९५२
७१९	६६३	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी आदि	,,	खंभात	आसो० व० १०, ,,
७२०	६६४	रवजीभाई पंचाणजी	,,	ववाणिया	आसो व० १२, ,,
७२१	६६५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	आसो० व० ३०, ,,
७२२	६६६	,, ,,	ववाणिया	,,	का० सु० १०, १९५३
७२३	६६७		,,		का० सु० ११, ,,
७२४	६६८		,,		कार्तिक, ,,
७२५	६६९	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० व० २, ,,
७२६	६७०	,, ,,	,,	,,	का० व० ३०, ,,
७२७	६७१	धारसीभाई कुशलचंद	,,	मोरबी	मगसिर सु० १, ,,
७२८	६७२	त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	मग० सु० ६, ,,
७२९	६७३	कुंवरजी आणंदजी	ववाणिया	भावनगर	मग० सु० १० ,,
७३०	६७४	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० सु० १२, ,,
७३१	६७५	मनसुखभाई देवसीभाई	,,	लींबडी	मग० सु० १२, ,,
७३२	६७६	मुनिश्री लल्लुजी आदि	,,	वसो	मग० व० ११, ,,
७३३	६७७	सुखलाख छगनलाल	,,	वीरमगाम	मग० व० ११ ,,
७३४		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० व० ११, ,,
७३५	६७८	मनसुखभाई देवसीभाई	,,	लींबडी	पौष सु० १०, ,,
७३६	६७९	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	पौष सु० ११, ,,
७३७	६८०	झवेरभाई भगवानभाई	,,	काविठा	पौष व० ४, ,,
७३८	४५६		,,		सं० ,,
७३९	६८१	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	नडियाद	माघ सु० ९, ,,
७४०	६८२	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ सु० ९, ,,
७४१	६८२	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	माघ सु० १०, ,,
७४२	६८३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	माघ व० ४, ,,
७४३	६८४	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	माघ व० ४, ,,
७४४	६८५	त्रिभोवन माणेकचंद	ववाणिया	खंभात	माघ व० १२, ,,
७४५	६८६	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	फा० सु० २, ,,
७४६	६८७		,,		फा० सु० २, ,,
७४७		मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	फा० सु० २, ,,
७४८	६८६-२	रेवाशंकरभाई जगजीवनभाई	,,	मुंबई	फा० सु० ४, ,,

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती	
*७४९-५०२	८७४-१८	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी आदि	ववाणिया		फा० सु० ६,	१९५३
*७५०	६८८	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	फा० व० ११,	,,
७५१	६८९	सोभाग्यभाई लल्लुजी	,,	सायला	फा० व० ११,	,,
७५२	६९०	धारसीभाई कुशलचांद तथा नवलचंद डोसा	,,	मोरबी	फा० व० ११,	,,
७५३	६९२		,,			,,
७५४	६९३					,,
७५५	६९३-१-२					,,
७५६	६९४-३					,,
७५७	६९४-४					
७५८	६९४-५					,,
७५९	६९४-६					,,
७६०	६९४-७					,,
७६१	६९४-८					,,
७६२	६९४-९					,,
७६३	६९४-१०					,,
७६४	६९४-११					,,
७६५	६९४-१२					,,
७६६	७००					,,
७६७	७०३	मुनिश्री लल्लुजी	ववाणिया	खंभात	चैत्र सु० ३,	,,
७६८	७०४-१	केशवलाल नथुभाई	,,	भावनगर	चैत्र सु० ४,	,,
७६९	७०४-२		,,		चैत्र सु० ४,	,,
७७०	७०४-३		,,		चैत्र सु० ४,	,,
७७१	७०५	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	सायला	चैत्र सु० ५,	,,
७७२	७०७		,,		चैत्र सु० १०,	,,
७७३	७०८		,,		चैत्र सु० १५,	,,
७७४	८७४-२४					
७७५	७०३-७०९	मुनिश्री लल्लुजी तथा मुनि देवकरणजी	ववाणिया	खंभात	चैत्र व० ५,	,,
७७६	७१०		सायला		वै० सु० १५,	,,
७७७	७११	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	वै० व० १२,	,,

* तिथिके अनुसार पत्रांक ७४९ और ७५० का उपरोक्त क्रम ही उचित है।

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
७७८	७१२	अंबालाल लालचंद	ईडर	खंभात	वै० व० १२, १९५३
७७९	७१३-४-५	सोभागयभाई लल्लुभाई (काव्य-पत्र)	मुंबई	सायला	जे० सु० ,,
७८०	७१४	सोभाग्यभाई लल्लुभाई	,,	,,	जे० सु० ८, ,,
७८१	७१५	,, ,,	,,	,,	जे० व० ६, ,,
७८२	७१६	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	,,	जे० व० १२, ,,
७८३	७१७	,, ,,	,,	,,	आषाढ़ सु० ४, ,,
७८४	७१८	वणारणी तळसीभाई	,,	वढवाण	आ० सु० ४, ,,
७८५	७१९	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	आ० व० १, ,,
७८६	७२०	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	आ० व० १, ,,
७८७		(मुनिश्री लल्लुजी ?)	,,		आ० व० १, ,,
७८८	७२१	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	आ० व० ११, ,,
७८९		त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	आ० व० १४, ,,
७९०	७२२	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	श्रा० सु० ३, ,,
७९१	७२३	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रा० सु० १५, ,,
७९२	७२४	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई	खेडा	श्रा० सु० १५, ,,
७९३	७२५	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	श्रा० सु० १५, ,,
७९४		मणीलाल सोभाग्यभाई	,,	,,	श्रा० व० १, ,,
७९५	७२६	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	श्रा० व० ८, ,,
७९६			,,		श्रा० व० ८, ,,
७९७		त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	श्रा० व० ८, ,,
७९८	७२७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	श्रा० व० १०, ,,
७९९	७२८	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	श्रा० व० १२, ,,
८००	७२९	मगनलाल खीमचंद	,,	लींबडी	श्रा० व० १२, ,,
८०१	७३०	रवजीभाई पंचाणभाई	,,	ववाणिया	भा० सु० ६, ,,
८०२	७३१	केशवलाल नथुभाई	,,	वीरमगाम	भा० सु० ९, ,,
८०३		सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	भा० सु० ९, ,,
८०४		मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	भा० सु० ९, ,,
८०५		त्रिभोवन माणेकचंद	,,	खंभात	भा० सु० ९, ,,
८०६	७३२	डुंगर आदि मुमुक्षु	,,	सायला	भा० व० ८, ,,
८०७	७३३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	भा० व० ३०, ,,
८०८	७३४–१	,, ,,	,,	,,	आसोज सु० ८, ,,
८०९	७३४–२		,,		आसोज सु० ८, ,,
८१०	७३४–३	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	आसोज सु० ८, ,,
८११	७३५	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	आसोज सु० ८, ,,

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
८१२	७३६	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	मुंबई	सायला	आसोज सु० ८, १९५३
८१३	७३७	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	आसोज व० ७, ,,
८१४	७३८	,, ,,	,,	,,	आसोज व० १४, ,,
८१५	७४०	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेडा	का० व० १, १९५४
८१६	७४१	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	का० व० ५, ,,
८१७	७४२	मुनदास प्रभुदास	,,	सुणाव	का० व० १२ ,,
८१८	७४३	मुनिश्री लल्लुजी	,,	वसो	मगसिर सु० ५, ,,
८१९	७४४	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	मग० सु० ५, ,,
८२०	७४५	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	मग० सु० ५, ,,
८२१	७४६	,, ,,	,,	,,	पौष सु० ३, ,,
८२२		अंबालाल लालचंद	आणंद	खंभात	पौष व० ११, ,,
८२३	७४७	त्रंबकलाल सोभाग्यभाई	,,	सायला	पौष व० १३, ,,
८२४	७४८	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी		माघ सु० ४, ,,
८२५	७४९	झवेरचंदभाई तथा रतनचंदभाई	,,	काविठा	माघ सु० ४, ,,
८२६	७५०-१	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	माघ सु० ४, ,,
८२७	७५१	खीमजी देवजी	ववाणिया	मुंबई	माघ व० ४, ,,
८२८	८२८-२	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई	वसो	माघ व० ३०, ,,
८२९	७५२	अंबालाल लालचंद	मोरबी	खंभात	माघ व० ३०, ,,
८३०		,, ,,	,,	,,	चैत्र व० १२, ,,
८३१	७५४	मुनिश्री लल्लुजी आदि	,,	सोजीत्रा	चैत्र व० १२, ,,
८३२	७५९	केशवलाल नथुभाई	ववाणिया	लींबडी	ज्येष्ठ, ,,
८३३	७६०	डुंगरभाई कलाभाई	,,	सायला	ज्ये० सु० १, ,,
८३४	७६१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	ज्ये० सु० ६, ,,
८३५	७६२	रायचंद मनजी देसाई	,,	ववाणिया	ज्ये० व० ४, ,,
८३६	७५३-२				
८३७	७५३-३				सं० ,,
८३८	७६३	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई	खेडा	ज्ये० व० १४, ,,
८३९	७६४	(अंबालाल लालचंद ?)	,,		आ० सु० ११, ,,
८४०	७६५		,,		श्रा० सु० १५, ,,
८४१			,,		श्रा० व० ४, ,,
८४२	७६६	रायचंद मनजी देसाई	काविठा	ववाणिया	श्रा० व० १२, ,,
८४३	७६७		वसो		प्र० आसो० सु० ६, ,,
८४४	७७२-२				आसोज, ,
८४५					आसोज, ,,

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
८४६	७८१		वनक्षेत्र उत्तरसंडा		प्र० आसो० व० ९, १९५४
८४७		झवेरभाई भगवानदास	खेडा	काविठा	द्वि० आसो० सु० ६, ,,
८४८		रेवाशंकर जगजीवन	,,	मुंबई	द्वि० आसो० सु० ९, ,,
८४९	७८४		,,		द्वि० आ० व०, ,,
८५०	७८५-२				आसोज, ,,
८५१	८३२-१		मुंबई		का० सु० १४, १९५५
८५२	७८०-३		,,		मग० सु० ३, ,,
८५३	७८७	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	मग० सु० १४, ,,
८५४	७८७-१	(पोपटलाल मोहकमचंद ?)	,,		मग० सु० १५, ,,
८५५	७८७-२		,,		मग० सु० १५, ,,
८५६	७८८	सुखलाल छगनलाल	ईडर	वीरमगाम	मग० व० ४, ,,
८५७	७८९	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	मग० व० ३०, ,,
८५८	८३२-२		,,		पौष, ,,
८५९	७९१	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	पौष सु० १५, ,,
८६०	७९४	छगनलाल नानजी	मोरबी	लींबडी	फा० सु० १, ,,
८६१	७९४-२	पोपटलाल मोहकमचंद	,,	अहमदाबाद	फा० सु० १, ,,
८६२	७९४-२		,,		फा० सु० १, ,,
८६३	७९५	नगीनदास धरमचन्द	ववाणिया	अहमदाबाद	फा० व० १०, ,,
८६४	७९६	मुनिश्री लल्लुजी (देवकरणजी)	,,	अंजार	फा० व० ३०, ,,
८६५	७९७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	खेरालु	चैत्र सु० १, ,,
८६६	७९८	धारसीभाई कुशलचन्द	,,	मोरबी	चैत्र सु० ५, ,,
८६७	७९९	मुनिश्री देवकरणजी	,,	ध्रांगध्रा	चैत्र व० २, ,,
८६८		घेलाभाई केशवलाल (मुनिश्री लल्लुजी)	,,	प्रांतिज	चैत्र व० २, ,,
८६९	८०३-१	वाडीलाल मोतीलाल खुखारी	मोरबी	अहमदाबाद	चैत्र व० ९, ,,
८७०		मुनिश्री लल्लुजी	,,		वै० सु० ६, ,,
८७१	८१०	मुनिश्री लल्लुजी	मोरबी	खंभात	वै० सु० ७, १९५५
८७२	८११	मनसुख देवसी	ववाणिया	लींबडी	वै० सु० ७, ,,
८७३	८१२	मुनिश्री लल्लुजी	ईडर		वै० व० ६, ,,
८७४	८१४	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	वै० व० १०, ,,
८७५	८१७	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई		जेठ, ,,
८७६	८१८	,, ,,	,,	खेडा	जेठ सु० ११, ,,
८७७	८१९	मनसुखलाल कीरतचंद	,,	मोरबी	जेठ व० २, ,,
८७८	८२०	पोपटलाल मोहकमचंद	अहमदाबाद		जे० व० ७, ,,
८७९	८२१-१-२	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	आषाढ़ सु० ८, ,,

अङ्क	प०श्रु०प्र० द्वितीयावृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
८८०	८२१-३	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई	नडियाद	आषाढ़ सु० ८, १९५५
८८१		,, ,,	,,	,,	आषाढ़ व० ६, ,,
८८२	८२२	मनसुखलाल कीरतचंद	,,	अहमदाबाद	आषाढ़ व० ८, ,,
८८३	८२३	मगनलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	आषाढ़ व० ८, ,,
८८४	८७४-१४				
८८५	८२४	मनसुख देवसी	मुंबई		श्रा० सु० ३, ,,
८८६	८२५	अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	श्रा० सु० ७, ,,
८८७	८२६	धारसीभाई कुशलचंद	,,	मोरबी	श्रा० व० ३०, ,,
८८८	८२७-१	मनसुखलाल कीरतचंद	,,	अहमदाबाद	भा० सु० ५, ,,
८८९	८२७-२	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	भा० सु० ५, ,,
८९०		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	भा० सु० ५, ,,
८९१		वणारसीदास तलसीभाई	,,		भा० सु० ५, ,,
८९२		झवेरचंदभाई तथा रतनचंदभाई	,,	काविठा	भा० सु० ५, ,,
८९३	८२७-३	छगनभाई नानजीभाई	,,	लींबडी	भा० सु० ५, ,,
८९४	८२८-२	मुनिश्री लल्लुजी	,,	वसो	भा० सु० ५, ,,
८९५	८२८-१	मनसुखलाल कीरतचंद	,,		आसोज, ,,
८९६	८२९-२	मुनिश्री लल्लुजी	,,		कार्तिक, १९५६
८९७	८२९-१	मनसुखलाल कीरतचंद	,,	वांकानेर	का० सु० ५, ,,
८९८	८३०	झवेरचंदभाई तथा रतनचंदभाई	,,	काविठा	का० सु० ५, ,,
८९९		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	का० सु० ५, ,,
९००	८३१	मुनिश्री लल्लुजी	,,		का० सु० ५, ,,
९०१	८३३-१	,, ,,	,,		का० सु० १५, ,,
९०२	८३६		,,		का० व० ११, ,,
९०३	८३६-५		,,		का० व० ११, ,,
९०४	८३६-६		,,		का० व० ११, ,,
९०५	८३८		,,		पौष व० १२, ,,
९०६		हेमचंद कुशलचंद	,,	खंभात	माघ व० १०, ,,
९०७		अंबालाल लालचंद	,,	,,	माघ व० ११, ,,
९०८		,, ,,	,,	,,	माघ व० १४, ,,
९०९		,, ,,	धर्मपुर	,,	चैत्र सु० ८, ,,
९१०		,, ,,	,,	,,	चैत्र सु० ११, ,,
९११	८३१-१	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	चैत्र सु० १३, ,,
९१२	८३९	,, ,,	,,		चैत्र व० १, ,,
९१३	८४०-१	वनमालीभाई उमेदराम	,,	गोधावी	चैत्र व० ४, ,,
९१४	८४०-२	मुनिश्री लल्लुजी	,,		चैत्र व० ५, ,,

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
९१५	८४०-३	मुनिश्री लल्लुजी	धर्मपुर		चैत्र व० ६, १९५६
९१६		,, ,,	,,		चैत्र व० १३, ,,
९१७	८४१	मुनिश्री लल्लुजी	अहमदाबाद		वै० सु० ६, ,,
९१८	८४४		ववाणिया		वैशाख, ,,
९१९	८४५	अंबालाल लालचन्द	,,		वै० व० ८, ,,
९२०		सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	वै० व० ८, ,,
९२१	८४६	मनसुखलाल कीरतचन्द	,,	मोरबी	वै० व० ९, ,,
९२२		मुनिश्री लल्लुजी	,,	साणंद	वै० व० ९, ,,
९२३		अंबालाल लालचंद	,,	खंभात	वै० व० ९, ,,
९२४	८४७	मुनिश्री लल्लुजी	,,	वसो	वै० व० १३, ,,
९२५	८४८-१	,, ,,	,,		वै० व० ३०, ,,
९२६	८४८-२	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	वै० व० ३०, ,,
९२७	८४८-३	कुंवरजी मगनलाल	,,	कलोल	वै० व० ३०, ,,
९२८	८४९		,,		जेठ सु० ११, ,,
९२९	८५०	मुनिश्री लल्लुजी	,,	वसो	जेठ सु० १३, ,,
९३०	८५०-२	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	जेठ सु० १३. ,,
९३१	८५१	चत्रभुज बेचर	,,	मोरबी	जेठ व० ९, ,,
९३२	८५२	सुखलाल छगनलाल	,,	वीरमगाम	जेठ व० १०, ,,
९३३	८७४-१७				
९३४	८५३-१	मनसुखलाल कीरतचन्द	,,	मोरबी	जे० व० ३०, ,,
९३५	८५३-२-३	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	जेठ व० ३०, ,,
९३६	८५४		,,		जेठ व० ३०, ,,
९३७	८५५-१	मुनिश्री लल्लुजी	,,	नडियाद	आषाढ़ सु० १, ,,
९३८	८५५-२	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	आषाढ़ सु० १, ,,
९३९	८५६-१	सुखलाल छगनलाल	मोरबी	वीरमगाम	आषाढ़ व० ९, ,,
९४०	८५६-२	मुनिश्री लल्लुजी	,,		आषाढ़ व० ९, ,,
९४१	८५८	मुनदास प्रभुदास	,,	सुणाव	श्रा० व० ४, ,,
९४२	८५९	अंबालाल लालचन्द	,,	खंभात	श्रा० व० ५, ,,
९४३	८६१	,, ,,	,,	,,	श्रा० व० ७, ,,
९४४	८६२	त्रिभोवन माणेकचन्द	,,	,,	श्रा० व० १०, ,,
९४५	८६३		,,		श्रा० व० १०, ,,
९४६	८६५-२				
९४७	८६६		वढवाण केम्प		का० सु० ५, १९५७
९४८	८६९	मुनिश्री लल्लुजी	मुंबई-शिव		मगसिर व० ८, ,,
९४९			तिथ्थल-वलसाड		पौष व० १०, ,,

अङ्क	प० श्रु० प्र० द्वितीया-वृत्तिका अङ्क	किनके प्रति	किस स्थानसे	कहाँ	मिती
९५०	८७०	मुनिश्री लल्लुजी	वढवाण केम्प		फा० सु० ६, १९५७
९५१	८७१		राजकोट		फा० व० ३, ,,
९५२	८७२	सुखलाल छगनलाल	,,		फा० व० १३, ,,
९५३	८७३	,, ,,	,,		चैत्र सु० २, ,,
९५४	८७४		,,		चैत्र सु० ९, ,,
९५५		रेवाशंकर जगजीवन	मोरबी	मुंबई	चैत्र सु० ११॥, ,,

परिशिष्ट २

पत्रांका विवरण

नाम	पत्रांक
अनुपचंद मलुकचंद	७०२.
अंबालाल लालचंद	११५–११८–१२१–१२२–१२८–१३१–१३८–१३९–१४६–
,,	१४८–१६९–१७१–१७४–१७५–१७८–१८४–१८६–१८८–
,,	१९०–१९२–१९३–१९९–२०३–२११–२२५–२३६–२४०–
,,	२४२–२४५–२४८–२५३–२५४–२६१–२७१–२७६–२८५–
,,	२९१–३००–३०३–३०६–३१२–३२१–३३२–३५३–३५६–
,,	३५८–३७६–३९१–३९९–४२७–४२८–४३२–४४५–४५१–
,,	४५४–४५५–४७८–४७९–४८०–४८१–४८२–४८७–४८८–
,,	४८९–५०३–५०७–५१५–५१७–५२२–५२४–५३६–५३७–
,,	५७२–५८०–६०४–६१६–६२१–६३२–६३५–६४३–६४४–
,,	६५४–६५५–६५६–६५९–६६७–६६८–६७५–६८२–६८५–
,,	६८८–६९२–६९७–७०८–७३०–७३४–७४०–७४२–७४९–
,,	७७८–७८५–७९१–८१०–८१३–८१४–८१६–८१९–८२२–
,,	८२९–८३०–८३४–८३९–८५७–८५९–८८६–८९९–९०७–
,,	९०८–९०९–९१०–९१९–९२३–९३५–९३८–९४२–९४३.
ऊगरी बहेन	२६२.
कुंवरजी आणंदजी	५६१–५६३–५८२–६०८–६३६–६७७–७२९.
कुंवरजी मगनलाल	३१८–३३६–३५१–३७१–४६०–९२७.
कृष्णदास	३३०–४०४–४२४–४४९.
खीमजी देवजी	४७–५२–५८–६२–६७–७२–१२४–१२५–१२७–१३०–
,,	१३६–१४३–१४५–१४७–२६३–२८१–५५८–८२७.
खीमजी लक्ष्मीचंद	६३७–६६६.
घेलाभाई केशवलाल	८६८.
चत्रभुज बेचर	२६–२७–२८–२९–३०–१२९–२०२–३५२–६३४–९३१.
चीमनलाल महासुख जूठाभाई	९८–१०४–१०६.
छगनलाल नानजी	८६०.
छोटालाल माणेकचंद	१८१–२२६–६९०.
जूठाभाई ऊजमसी	३६–३७–४१–४२–४३–४४–४५–४६–४९–५३–५६–५७–
,,	५९–६५–६९–७३–७४–७५–९४–११४.
झवेरभाई भगवानदास	७३७–८२५–८४७–८९२–८९८.
डुंगरसी कलाभाई (गोसलिया)	८०६.

परिशिष्ट—३

अवतरणोंकी वर्णानुक्रम-सूचि

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
एक कहे सेवीए विविध किरिया करी, फल अनेकांत लोचन न देखे । फल अनेकांत किरिया करी बापडा, रडवडे चार गतिमांहि लेखे ॥	[आनंदघन चोवीशी-अनंतजिन स्तवन]	८०५-२४
एक देखिये जानिये, (रमि रहिये इकठौर । समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥)	[समयसार नाटक जीवद्वार २० पृ० ५० पं० बनारसीदास जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, मुंबई]	३१५–२०
एक परिनामके न करता दरव दोई, दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है । एक करतूति दोई दर्व कबहूं न करै । दोई करतूति एक दर्व न करतु है । जीव पुद्गल एक खेत अवगाही दोउ, अपनें अपनें रूप, कोउ न टरतु है । जड़ परिनामनिको, करता है पुद्गल, चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है ॥	[समयसार-नाटक-कर्ताकर्म-क्रियाद्वार १० पृ० ९४]	३६१-२२, ६९२-११
एगं जाणई सो⋯⋯⋯ **एगे समणे भगवं महावीरे इमीए** **ओसप्पिणीए चउव्वीसाए तित्थयराणं** **चरिमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे (जाव)** **सव्वदुक्खप्प हीणे ।**	[ठाणांगसूत्र ५३ पृ० १५, आगमोदय समिति]	९४७-१
एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे, तेनुं मन न चढे बीजे भामे रे । थाय कृष्णनो लेश प्रसंग रे, तेने न गमे संसारनो संग रे ॥१॥ हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे, मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे, मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे, ओधा जीवनदोरी अमारी रे ॥२॥	[उद्धवगीता क ८८-७, ८७-७ मुक्तानंदस्वामी]	२८६-२६
[मिगचारियं चरिस्सामि] एवं पुत्ता जहासुखं, **[अम्मापिऊहिं अणुण्णाओ जहाइ उवहिं तओ]**	[उत्तराध्ययन-१९-८५]	१५६-३
(तूठो तूठो रे मुज साहिब जगतनो तूठो) ए श्रीपाळनो रास करंतां ज्ञान अमृतरस वूठ्यो (वूठो) रे ॥मुज०	[श्रीपालरास खंड ४ पृ० १८५ विनयविजय यशोविजयजी]	५३८-१३

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
ऐसा भाव निहार नित, कीजे ज्ञान विचार । मिटे न ज्ञान विचार बिन, अंतर-भाव-विकार ।।	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१९१-५
कम्मदव्वेहिं सम्मं संजोगो होइ जो उ जीवस्स । सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो ।।	[आचारांग अ० ७. १. निर्युक्ति गा० २६०]	८९६-५, ९१७-५
करना फकीरी क्या दिलगीरी सदा मगन मन रहेनाजी ।	[कबीरजी]	२९८-१७
कर्ता मटे तो छूटे कर्म, ए छे महा भजननो मर्म, जो तुं जीव तो कर्ता हरि, जो तुं शिव तो वस्तु खरी, तुं छो जीव ने तुं छो नाथ, एम कही अखे झटक्या हाथ ।।	[अखाजी, अक्षय भगत कवि]	३५०-१३
काल ज्ञानादिक थकी, लही आगम अनुमान । गुरु किरपा करी करत हूँ, शुचि स्वरोदयज्ञान ।।	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१८९-७
किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहुं विलिज्जंति । तह तह पयट्टिअव्वं, एसा आणा जिणिंदाणम् ।।	[उपदेशरहस्य, यशोविजयजी]	४१५-५
कीचसौ कनक जाकै, नीचसौ नरेसपद, मीचसी मिताई, गरुवाई जाकै गारसी । जहरसी जोग जाति, कहरसी करामाति ; हहरसी हौस, पुद्गल छवि छारसी । जालसौ जगबिलास; भालसौ भुवनवास ; कालसौ कुटुंबकाज, लोकलाज लारसी । सीठसौ सुखसु जानै, बीठसौ बखत मानै; ऐसी जाकी रीति ताहि, बंदत बनारसी ।।	[समयसार-नाटक बंधद्वार १९ पृ२३४-५]	६७३-२५
गुरुणो छंदाणुवत्तगा	[सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कंध द्वितीय अध्ययन उद्देश २, गाथा ३२]	६१०-११
गुरु गणधर गुणधर अधिक प्रचुर परंपर और । व्रत तपधर तनु नगनतर वंदौ वृष सिरमौर ।।	[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-पं०जयचंद्रकृत अनुवादका मंगलाचरण]	९३३-३१,८९१-१८
घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन मत मदिराके पान सें मतवारा समजै न ।	समयसार-नाटक,ग्रंथ- समाप्ति और अंतिम प्रशस्ति ।]	८७४-३०
चरमावर्त हो चरम करण तथा रे, भव परिणति परिपाक । दोष टळे वळी दृष्टि खूले भली रे, प्रापति प्रवचन वाक ।।१।। परिचय पातिक घातिक साधुशुं रे, अकुशल अपचय चेत । ग्रंथ अध्यातम श्रवण, मनन करी रे, परिशीलन नयहेत ।।२।। मुग्ध सुगम करी सेवन लेखवे रे, सेवन अगम अनुप । देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनंदघन रसरूप ।।३।।	[आनंदघन-चोवीशी-संभवजिन स्तवन]	८२२-३०
चलइ सो बंधे	[?]	८८३-१

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे । तिम भवि सहज गुणे होवे, उत्तम निमित्त संजोगी रे ।।	[आठ-योगदृष्टिकी सज्झाय, प्रथमदृष्टि-गा.१३ यशोविजयजी]	७५८-१६
चित्रसारो न्यारी, परजंक न्यारौ, सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी, ईहाँ जूठी मेरी थपना । अतीत अवस्था सैन, निद्रावाहि कोऊ पै न, विद्यमान पलक न, यामैं अब छपना । स्वास औ सुपन दोउ, निद्राकी अलंग बुझे, सूझै सब अंग लखि, आतम दरपना । त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाव त्यागि, भालै दृष्टि खोलिकै, संभालै रूप अपना ।।	[समयसार-नाटक निर्जराद्वार १५ पृ. १७६-७]	६९१-२७
चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे ।	[आनंदघन चोवोशी-नमिना- थजिन स्तवन]	७६२-३५
जं णं जं णं दिसं इच्छइ तं णं तं णं दिसं अप्पडिबद्धे	[आचारांग ?]	२५४-३५
जबहीतैं चेतन विभावसों उलटि आपु; समै पाई अपनो सुभाव गहि लीनो है । तबहीं तैं जो जो लेने जोग सो सो सब लीनो है, जो जो त्याग जोग सो सो सब छांडि दीनो है । लेवकों न रही ठौर, त्यागीवेकों नाही और, बाकी कहा उबर्योजु, कारज नवीनो है । संगत्यागी, अंगत्यागी वचनतरंगत्यागी, मनत्यागी, बुद्धित्यागी, आपा शुद्ध कीनो है ।।	[समयसार-नाटक सर्वविशुद्धद्वार १०९ पृ० ३७७-८]	३६७-२१
जारिस सिद्धसहावो तारिस सहावो सव्वजीवाणं । **तम्हा सिद्धंतरुई कायव्वा भव्वजीवेहिं ।।**	[सिद्धप्राभृत]	६५७-३३
जिन थई जिनने जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे । भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवेरे ।।	[आनंदघन चोवीशी- नमिनाथजिन स्तवन ३६१	९६१-६, ३९३-३०, ३९१-२५
जिनपूजा रे ते निजपूजना (रे प्रगटे अन्वय शक्ति । परमानन्द विलासी अनुभवे रे, देवचन्द्र पद व्यक्ति ।।)	[वासुपूज्यजिन-स्तवन-देवचन्द्रजी]	६५८-१
जीव तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे । चित्त तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ।।	[दयाराम, पद-३४ पृ. १२८ भक्तिनीति काव्यसंग्रह]	४३१-३३
जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा, पुग्गलाधार नहीं तास रंगी । परतणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता, वस्तुधर्मे कदा न परसंगी ।।	[सुमतिजिन-स्तवन-देवचन्द्रजी]	३९४-६
जूवा आमिष मदिरा दारी, आहे (खे) टक चोरी परनारी । एंई सप्त व्यसन दुःखदाई दुरितमूल दूरगतिके भाई ।।	[समयसार-नाटक-साध्य साधकद्वार २७ पृ. ४४४	७७३-१६

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
ऐसा भाव निहार नित, कीजे ज्ञान विचार । मिटे न ज्ञान विचार बिन, अंतर-भाव-विकार ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१९१-५
कम्मदव्वेहिं सम्मं संजोगो होइ जो उ जीवस्स । सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्तो ॥	[आचारांग अ० ७. १. निर्युक्ति गा० २६०]	८९६-५, ९१७-५
करना फकीरी क्या दिलगीरी सदा मगन मन रहेनाजी ।	[कबीरजी]	२९८-१७
कर्ता मटे तो छूटे कर्म, ए छे महा भजननो मर्म, जो तुं जीव तो कर्ता हरि, जो तुं शिव तो वस्तु खरी, तुं छो जीव ने तुं छो नाथ, एम कही अखे झटक्या हाथ ॥	[अखाजी, अक्षय भगत कवि]	३५०-१३
काल ज्ञानादिक थकी, लही आगम अनुमान । गुरु किरपा करी कहत हूँ, शुचि स्वरोदयज्ञान ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१८९-७
किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहुं विलिज्जंति । तह तह पयट्टिअव्वं, एसा आणा जिणिंदाणम् ॥	[उपदेशरहस्य, यशोविजयजी]	४१५-५
कीचसौ कनक जाकै, नीचसौ नरेसपद, मीचसी मिताई, गरुवाई जाकै गारसी । जहरसी जोग जाति, कहरसी करामाति ; हहरसी हौस, पुद्गल छवि छारसी । जालसौ जगविलास; भालसौ भुवनवास ; कालसौ कुटुंबकाज, लोकलाज लारसी । सीठसौ सुजसु जानै, बीठसौ बखत मानै; ऐसी जाकी रीति ताहि, बंदत बनारसी ॥	[समयसार-नाटक बंधद्वार १९ पृ२३४-५]	६७३-२५
गुरुणो छंदाणुवत्तगा	[सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कंध द्वितीय अध्ययन उद्देश २, गाथा ३२]	६१०-११
गुरु गणधर गुणधर अधिक प्रचुर परंपर और । व्रत तपधर तनु नगनतर वंदौ वृष सिरमौर ॥	[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-पं०जयचंद्रकृत अनुवादका मंगलाचरण]	९३३-३१, ८९१-१८
घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन मत मदिराके पान सें मतवारा समजै न ।	समयसार-नाटक, ग्रंथ- समाप्ति और अंतिम प्रशस्ति ।]	८७४-३०
चरमावर्त हो चरम करण तथा रे, भव परिणति परिपाक । दोष टळे वळी दृष्टि खूले भली रे, प्रापति प्रवचन वाक ॥१॥ परिचय पातिक घातिक साधुशुं रे, अकुशल अपचय चेत । ग्रंथ अध्यातम श्रवण, मनन करी रे, परिशीलन नयहेत ॥२॥ मुगध सुगम करी सेवन लेखवे रे, सेवन अगम अनुप । देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनंदघन रसरूप ॥३॥	[आनंदघन-चोवीशी-संभवजिन स्तवन]	८२२-३०
चलइ सो बंधे	[?]	८८३-१

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे। तिम भवि सहज गुणे होवे, उत्तम निमित्त संजोगी रे ॥	[आठ-योगदृष्टिकी सज्झाय, प्रथमदृष्टि-गा.१३ यशोविजयजी]	७५८-१६
चित्रसारी न्यारी, परजंक न्यारौ, सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी, ईहाँ जूठी मेरी थपना। अतीत अवस्था सैन, निद्रावाहि कोऊ पै न, विद्यमान पलक न, यामैं अब छपना। स्वास औ सुपन दोउ, निद्राकी अलंग बुझे, सूझै सब अंग लखि, आतम दरपना। त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाव त्यागि, भालै दृष्टि खोलिकै, संभालै रूप अपना ॥	[समयसार-नाटक निर्जराद्वार १५ पृ. १७६-७]	६९१-२७
चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे।	[आनंदघन चोवीशी-नमिनाथजिन स्तवन]	७६२-३५
जं णं जं णं दिसं इच्छइ तं णं तं णं दिसं अप्पडिबद्धे	[आचारांग ?]	२५४-३५
जबहीतैं चेतन विभावसों उलटि आपु; समै पाई अपनो सुभाव गहि लीनो है। तबहीं तैं जो जो लेने जोग सो सो सब लीनो है, जो जो त्याग जोग सो सो सब छांडि दीनो है। लेवकों न रही ठौर, त्यागीवेकों नाही और, बाकी कहा उबर्योजु, कारज नवीनो है। संगत्यागी, अंगत्यागी वचनतरंगत्यागी, मनत्यागी, बुद्धित्यागी, आपा शुद्ध कीनो है ॥	[समयसार-नाटक सर्वविशुद्धद्वार १०९ पृ० ३७७-८]	३६७-२१
जारिस सिद्धसहावो तारिस सहावो सव्वजीवाणं। तम्हा सिद्धंतरुई कायव्वा भव्वजीवेहिं ॥	[सिद्धप्राभृत]	६५७-३३
जिन थई जिनने जे आराधे, ते सही जिनवर होवे रे। भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवेरे ॥	[आनंदघन चोवीशी- नमिनाथजिन स्तवन ३६१	९६१-६, ३९३-३०, ३९१-२५
जिनपूजा रे ते निजपूजना (रे प्रगटे अन्वय शक्ति। परमानन्द विलासी अनुभवे रे, देवचन्द्र पद व्यक्ति ॥)	[वासुपूज्यजिन-स्तवन-देवचन्द्रजी]	६५८-१
जीव तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे। चित्त तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ॥	[दयाराम, पद-३४ पृ. १२८ भक्तिनीति काव्यसंग्रह]	४३१-३३
जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा, पुग्गलाधार नहीं तास रंगी। परतणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता, वस्तुधर्मे कदा न परसंगी ॥	[सुमतिजिन-स्तवन-देवचन्द्रजी]	३९४-६
जूवा आमिष मदिरा दारी, आहे (खे) टक चोरी परनारी। ऐई सप्त व्यसन दुःखदाई दुरितमूल दूरगतिके भाई ॥	[समयसार-नाटक-साध्य साधकद्वार २७ पृ. ४४४	७७३-१६

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो । असुद्धं तेसि परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो ॥ जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो । सुद्धं तेसि परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥	[सूत्रकृतांग १-८-२२,२३ पृ ४२]	७७२-१७
जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥	[आचारांग १-३-८-१२२]	२१९-३१
जे (ये) जाणइ अरिहंते दव्वगुणपज्जवेहि य सो जाणइ नियअप्पं मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥	[प्रवचनसार १-८०, पृ १०१ कुन्दकुन्दाचार्य]	६५७-८
जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजळ त्रैलोक; जीव्युं धन्य तेहनु। दासी आशा पिशाची थई रही, काम क्रोध ते केदी लोक; जीव्युं० दीसे खातां पीतां बोलतां, नित्ये छे निरंजन निराकार; ,, जाणे संत सलूणा तेहने, जेने होय छेल्लो अवतार; ,, जगपावनकर ते अवतर्या, अन्य मात उदरनो भार; ,, तेने चौद लोकमां विचरतां अंतराय कोईए नव थाय; ,, रिद्धि सिद्धि ते दासीओ थई रही, ब्रह्मानंद हृदे न समाय॥,,	[मनहरपद-मनोहरदासकृत]	७२६-३१
जे पुमान परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ जो अपनो धन विवहरै, सो धनपति धर्मज्ञ ॥	[समयसार नाटक मोक्षद्वार १८ पृ. २८६]	८८६-९
जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी, तेमज जीवस्वभाव रे; ते जिनवीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे ॥	[नयरहस्य श्री सीमंधरजिन-स्तवन २-१७ यशोविजय]	९२१-२९ ५२७-२२, ५२७-२७
जैसें कंचुकत्यागसें, विनसत नहीं भुजंग । देहत्यागसें, जीव पण, तैसें रहत अभंग ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१९१-१५
जैसें मृग मत्त वृषादित्यकी तपति मांही; तृषावंत मृषाजल कारण अटतु है । तैसें भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि, ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है । आगे कों धुक्त धाई, पीछे बछरा चवाई जैसें नैन हीन नर जेवरी वटतु है । तैसें मूढ चेतन सुकृत करतूति करै । रोवत हसत फल खोवत खटतु है ॥	[समयसार-नाटक बंधद्वार २, पृ २४२]	४१४-१५
जैसौ निरभेद रूप निहचै अतीत हुतो, तैसौ निरभेद अब, भेदकौ न गहैगौ ! दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान, पायौ निज थान फिर बाहरि न बहैगौ कबहूं कदापि अपनौ सुभाव त्यागि करि, राग रस राचिकै न परवस्तु गहैगौ		

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ याहि भांति आगम अनंत काल रहैगो ॥	[समयसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०८ पृ.३७६-७]	६९२-२
(यो)जोगा पयडिपदेसा [ठिदि अणुभागा कसायदो होंति]	[द्रव्यसंग्रह-३४]	८८४-१०
जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू । लद्धूणय एयत्तं तदा हु तं तस्स निच्चयं झाणं ॥	[द्रव्यसंग्रह ५६]	९२१-१९
जंगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणीए, समीप रहे पण शरी-रनो नहि संग जो, एकांते वसवुं रे एक ज आसने, भूल पड़े तो पड़े भजनमां भंग जो, ओधवजी अबला तें साधन शुं करे ?	[ओधवजीनो संदेशो गरबी ३-३ रघुनाथदास]	५३८-२७
जं संमं ति पासहा तं मोणं ति पासहा (जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा)	[आचारांग १-५-३]	६१६-२६
(ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणो जइ वि होइ नित्थयरो।) णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥	[षट्प्राभृतादि संग्रह-सूत्रप्राभृत २३-कुंदकुदाचार्य]	८८६-२०
णमो जहट्ठियवत्थुवाईणं ।	[?]	१८८-१९
तरतम योगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार, पंथडो०	[आनन्दघन चोवीशी-अजितनाथ स्तवन]	९६१-६
तहारुवाणं समणाणं	[भगवती]	६६४-१८
(यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।) तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।	[ईशावास्य उपनिषद ७]	३०५-२६
ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहीए रे । समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहीए रे ॥	[आनंदघन चोवीशी-नमिनाथजिन स्तवन]	६५३-२, ७४७-१३
दर्शन सकळना नय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे । हितकरी जनने संजीवनी, चारो तेह चरावे रे ॥	[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय-यशोविजयजी]	३५९-५
दर्शन जे थयां जूजवां, ते ओघ नजरने फेरे रे, दृष्टि थिरादिक तेहमां, (भेद थिरादिक दृष्टिमां) समकितदृष्टिने हेरे रे ॥	[आठ योगदृष्टिको सज्झाय-यशोविजयजी]	३५९-८
दुःखसुखरूप करमफळ जाणो, निश्चय एक आनंदो रे । चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे ॥	[आनंदघन चोवीशी-वासुपूज्यजिन स्तवन]	३६६-५
देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥	[आप्तमीमांसा १-समंतभद्र]	७६९-२७, ८८४-२२
देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि । यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः ॥	[दृग्दृश्यविवेक, गा० ३० पृ-४३ शंकराचार्य]	३१६-२८
दुर्वळ देह ने मास उपवासी जो छे मायारंग रे । तोपण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजुं अंग रे ॥	[?]	७९४-११

अवतरण	स्थल	पृष्ट-पंक्ति
वंधविहाण विमुक्कं वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं । (गईआईसुं वुच्छं समासओ बंधसामित्तं ॥)	[कर्मग्रंथ तीसरा १- देवेन्द्रसूरि]	९४२-१२
भीसणनरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुयगईए । पत्तोसि तिव्वदुःखं भावहि जिणभावणा जीव ।	[षट् प्राभृतादि संग्रह- भावप्राभृत८]	७३८-८
भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयं । शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥	[भर्तृहरिशतक-वैराग्यशतक ३४- भर्तृहरि]	१३३-२२
मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत । तेम श्रुत धर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत ॥	(आठ योगदृष्टिकी सज्झाय-६- यशोविजयजी]	३९२-२५, ३९३-११, ३९३-२९, ३९४-२ ।
मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु । थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह । परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ॥	[द्रव्यसंग्रह ४९-५०]	७२१-११
मारुं गायुं गाशे, ते झाझा गोदा खाशे । समजीने गाशे ते वहेलो वैकुंठ जाशे ॥	[नरसिंह मेहता]	७६४-२७

मारे काम क्रोध सब, लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्रिहु कतल करी, कियो रजपूतो है,
मार्यो महा मत्त मन, मारे अहंकार मीर, मारे मद मछर हु, ऐसो रन रूतो है ।
मारी आशातृष्णा पुनि, पापिनी, सापिनी दोउ, सबको संहार करि, निज पद पहूतो है,
सुंदर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर, वैरि सब मारिके निचिंत होई सूतो है ॥
[सुन्दरविलास शूरातन अंग २१-११ सुन्दरदासजी] ५६६-१०, ५६७-३१

अवतरण	स्थल	पृष्ट-पंक्ति
मेरा मेरा मत करे, तेरा नहिं है कोय । चिदानंद परिवार का, मेला है दिन दोय ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानन्दजी]	१९१-१
मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥	[तत्त्वार्थसूत्र टीका]	७१७-२९, ७७०-८ ७७८-१, ८८४-३४
योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे । नवपद तेम ज जाणजो, आतमराम छे साखी रे ॥	[श्रीपालरास चतुर्थखंड विनय- विजय-यशोविजयजी]	३८७-२, ५६२-२३
योगनां बीज इहां ग्रहे, जिनवर शुद्ध प्रणामो रे । भावाचारज सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे ॥	[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय १-८ यशोविजयजी]	३५९-११

रविकै उद्योत अस्त होत दिन दिन प्रति, अंजुलीकै जीवन ज्यौं, जीवन घटतु है;
कालकै ग्रसत छिन-छिन, होत इन तन आरेकै, चलत मानो काठसो कटतु है ।
एते परि मूरख न खोजै परमारथको, स्वारथके हेतु भ्रम भारत ठगतु है;
लगी फिरै लोगनिसौं, पग्यौ परै जोगनिसौं, विषैरस भोगनिसौं, नेकु न हटतु है ॥
[समयसार-नाटक, बंधद्वार २६] ४१८-३

अवतरण	स्थल	पृष्ट-पंक्ति
बंधविहाण विमुक्कं वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं । (गईआईसुं वुच्छं समासओ बंधसामित्तं ॥)	[कर्मग्रंथ तीसरा १- देवेन्द्रसूरि]	९४२-१२
भीसणनरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुयगईए । पत्तोसि तिव्वदुःखं भावहि जिणभावणा जीव ।	[षट् प्राभृतादि संग्रह- भावप्राभृत८]	७३८-८
भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयं । शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥	[भर्तृहरिशतक-वैराग्यशतक ३४- भर्तृहरि]	१३३-२२
मन महिलानुं रे वहाला उपरे, बीजां काम करंत । तेम श्रुत धर्मे रे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत ॥	(आठ योगदृष्टिकी सज्झाय-६- यशोविजयजी]	३९२-२५, ३९३-११, ३९३-२९, ३९४-२ ।
मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु । थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह । परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ॥	[द्रव्यसंग्रह ४९-५०]	७२१-११
मारुं गायुं गाशे, ते झाझा गोदा खाशे । समजीने गाशे ते वहेलो वैकुंठ जाशे ॥	[नरसिंह मेहता]	७६४-२७
मारे काम क्रोध सब, लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्रिहु कतल करी, कियो रजपूतो है, मार्यो महा मत्त मन, मारे अहंकार मीर, मारे मद मछर हु, ऐसो रन रूतो है । मारी आशातृष्णा पुनि, पापिनी, सापिनी दोउ, सबको संहार करि, निज पद पहूतो है, सुंदर कहत ऐसो, साधु कोउ शूरवीर, वैरि सब मारिके निंचित होई सूतो है ॥	[सुन्दरविलास शूरातन अंग २१-११ सुन्दरदासजी]	५६६-१०, ५६७-३१
मेरा मेरा मत करे, तेरा नहिं है कोय । चिदानंद परिवार का, मेला है दिन दोय ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानन्दजी]	१९१-१
मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥	[तत्त्वार्थसूत्र टीका]	७१७-२९, ७७०-८ ७७८-१, ८८४-३४
योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे । नवपद तेम ज जाणजो, आतमराम छे साखी रे ॥	[श्रीपालरास चतुर्थखंड विनय- विजय-यशोविजयजी]	३८७-२, ५६२-२३
योगनां बीज इहां ग्रहे, जिनवर शुद्ध प्रणामो रे । भावाचारज सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे ॥	[आठ योगदृष्टिकी सज्झाय १-८ यशोविजयजी]	३५९-११
रविकै उद्योत अस्त होत दिन दिन प्रति, अंजुलीकै जीवन ज्यौं, जीवन घटतु है; कालकै ग्रसत छिन-छिन, होत इन तन आरेकै, चलत मानो काठसौ कटतु है । एते परि मूरख न खोजै परमारथको, स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठगतु है; लगौ फिरै लोगनिसौं, पग्यौ परै जोगनिसौं, विषैरस भोगनिसौं, नेकु न हटतु है ॥	[समयसार-नाटक, बंधद्वार २६]	४९८-३

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
रूपातीत व्यतीतमल, पूर्णानंदी इश, चिदानंद ताकुं नमत, विनय सहित निज शीस।	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१८८-२१
रांडी रुए, मांडी रुए, पण सात भरतारवाळी तो मोढुंज न उघाडे।	[लोकोवित]	५३९-३
लेवेकों न रही ठोर, त्यागिवेकों नाहि और। बाकी कहा उबर्योजु, कारज नवीनो है॥	[स० वि० १०९.]	३६७-२६
पुरिमा उज्जुजडा उ] वंक (वक्क) जडा य पच्छिमा। **मज्झिमा उजुपन्नाओ तेण धम्मो दुहाकओ]**	[उत्तराध्ययनसूत्र-२३-२६]	८८-१४
व्यवहारनी झाळ पांदडे पांदडे परजळी।	[?]	५३४-७
श्रद्धा ज्ञान लह्यां छे तो पण, जो नवि जाय पमायो रे, वंध्य तरु उपम ते पामे, संयम ठाण जो नायो रे। गायो रे गायो, भले वीर जगतगुरु गायो॥	[संयमश्रेणी स्तवन ४-३ पं० उत्तमविजयजी]	५६२-५
सकल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगुण आतमरामी रे, मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निष्कामी रे,	[आनंदघनचोवीशी, श्रेयांसनाथजिन स्तवन]	६५२-२१, ६९७-७
सत्यं परं धीमहि	[श्रीमद् भागवत स्कंध १२, अ० १३ श्लो० १९]	३५६-१९
समता, रमता, ऊरधता, ज्ञायकता सुखभास, वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास।	[समयसार नाटक उत्थानिका २६]	४२३-३४, ४२५-२४, ४२७-३
[कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए। **एवं मणुयाण जीवियं] समयं गोयम मा पमायए॥**	[उत्तराध्ययनसूत्र १०-२]	८५-१०
संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे। **काव्यामृतरसास्वाद आलापः सज्जनैः सह॥**	[पंचतंत्र]	३६-७
सिरिवीरजिणं वंदिअ कम्मविवागं समासओ वुच्छं। **कीरई जिएण हेउहिं जेणं तो भण्णए कम्मं॥**	[प्रथम कर्मग्रन्थ-देवेन्द्रसूरि]	९४२-१२
[हांसीमैं विषाद बसै विद्यामैं विवाद बसै, कायामैं मरन गुरु वर्तनमैं हीनता, सुचिमैं गिलानी बसैं प्रापतिमैं हानि बसै, जैमैं हारि सुंदर दसामैं छवि छीनता, रोग बसै भोगमैं, संजोगमैं वियोग बसै, गुनगै गरब बसै सेवामांहि दीनता, और जगरीति जेतीं गर्भित असाता सेती,] सुखकी सहेली है अकेली उदासीनता	[समयसार नाटक]	२२५-३०
सुखना सिंधु श्री सहजानंदजी, जगजीवन के जगवंदजी, शरणागतना सदा सुखकंदजी, परम स्नेही छो (!) परमानंदजी	[धीरजाख्यान १–निष्कुलानंद]	३३३-३
सुहजोगं पडुच्चं अणारंभी, असुहजोगं पडुच्चं आयारंभी, परारंभी, तदुभयारंभी	[भगवतीजी]	२५१-१२
[जोई द्रिग ग्यान चरनातममें वैठि ठौर, भयौ निरदौर पर वस्तुकौं न परसै,] शुद्धता विचारे ध्यावै शुद्धतामें केली करे, शुद्धतामें थिर व्है अमृतधारा वरसै,		

अवतरण	स्थल	पृष्ठ-पंक्ति
[त्यागि तन कष्ट व्है सपष्ट अष्ट करमकौ, करि थान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै, सोतौ विकलप विजई अलपकाल मांहि, त्यागी भौ विधान निरवान पद परसै]	[समयसार नाटक पृ० ३८२]	३६७-१३, ४४७-२५
सो धम्मो जथ्थ दया दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो । सोहु गुरु जो नाणी आरंभपरिग्गहा थिरओ ॥	[?]	९३४-२२
संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं दट्ठुं, भयं बालिसेणं अलंभो । एगंतदुक्खे जरिएव लोए, सक्कम्मणा विप्परियासुवेइ ॥	[सूत्रकृतांग १-७ ११]	४५४-१४
स्वरका उदय पिछानिये, अति थिरता चित्तधार, ताथी शुभाशुभ कीजिये, भावि वस्तु विचार ॥	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१८९-१९
हम परदेशी पंखी साधु, आ रे देशके नाहीं रे ।	[?]	३५१-१३
हिंसा रहिए धम्मो अट्ठारस दोस विवज्जिए देवे । निग्गंथे पवयणं सद्दहणं होई सम्मत्तं ॥	[षट् प्राभृतादि संग्रह मोक्षप्राभृत-९०]	६६६-१२
[नलिनीदलगतजलवत्तरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलं ।] क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका ॥	[मोहमुद्गर-शंकराचार्य]	१५९-२६
क्षायोपशमिक असंख्य क्षायक एक अनन्य	[अध्यात्मगीता १-६ देवचन्द्रजी]	७४३-२२
ज्ञान रवि वैराग्य जस, हिरदे चंद समान, तास निकट कहो क्यों रहे, मिथ्यातम दुःख जान ।	[स्वरोदयज्ञान-चिदानंदजी]	१९१-९

परिशिष्ट--४

आत्मसिद्धिशास्त्र-वर्णानुक्रमणिका

परिशिष्ट ५

विशिष्ट शब्दार्थ

अ

अकर्मभूमि—भोगभूमि। असि, मसि, कृषि आदि षट्कर्मरहित भोगभूमि; मोक्षके अयोग्य क्षेत्र।

अकाल—असमय।

अगुरुलघु—गुरुता और लघुतारहित ऐसा पदार्थका स्वभाव।

अगोप्य—प्रगट।

अचित्त—जीव रहित।

अचेतन—जड़ पदार्थ।

अज्ञान—मिथ्यात्व सहित ज्ञान।

अज्ञान परिषह—सत्पुरुषका योग मिलने पर भी जीवको अज्ञानकी निवृत्ति करनेका साहस न होता हो, उलझन आ पड़ती हो कि इतना पुरुषार्थ करते हुए भी ज्ञान प्रगट क्यों नहीं होता इस प्रकारका भाव।

अठारह दोष—पाँच प्रकारके अन्तराय (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य), हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा और काम। (मोक्षमाला)

अणु—सूक्ष्म, अल्प; पुद्गलका छोटेसे छोटा भाग।

अणुव्रत—अल्पव्रत; जिन व्रतोंको श्रावक धारण करते हैं।

अतिक्रम—मर्यादाका उलंघन।

अतिचार—दोष (व्रतको मलिन करे ऐसा व्रतभंगकी इच्छा विना लगनेवाला दोष)।

अदत्तादान—बिना दिये हुए वस्तुका ग्रहण करना। चोरी।

अद्वैत—एक ही वस्तु। एक आत्मा या ब्रह्मके बिना जगतमें दूसरा कुछ नहीं है ऐसी मान्यता।

अधर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें उदासीन कारण, छह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य।

अधिकरण क्रिया—तलवार आदि हिंसक साधनोंके आरंभ-समारंभके निमित्तसे होनेवाला कर्मबन्धन (अंक ५२२)।

अधिष्ठान—हरि भगवान; जिसमेंसे वस्तु उत्पन्न हुई, जिसमें वह स्थिर रही और जिसमें वह लयको प्राप्त हुई। (अंक २२०)

अद्धासमय—कालका छोटेसे छोटा अंश; वस्तुके परिवर्तनमें निमित्तरूप एक द्रव्य।

अध्यात्म—आत्मा सम्बन्धी।

अध्यात्ममार्ग—यथार्थ समझमें आनेपर परभावसे आत्यंतिक निवृत्ति करना यह अध्यात्ममार्ग है। (अंक ९१८)

अध्यात्मशास्त्र—जिन शास्त्रोंमें आत्माका कथन है। 'निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेह अध्यातम लहीए रे।'—श्री आनन्दघनजी।

अध्यास—भ्रान्ति; भ्रान्त धारणा; मिथ्या ज्ञान; कल्पना।

अनगार—मुनि; साधु; घर रहित।

अनन्यभाव—उत्कृष्ट भाव; शुद्ध भाव।

अनन्य शरण—जिसके समान अन्य शरण नहीं है।

अनभिसंधि—कषायसे वीर्यकी प्रवर्तना।

अनंतकाय—जिसमें अनन्त जीव हों ऐसे शरीरवाले, कंदमूलादि।

अनंत चारित्र—मोहनीयकर्मके अभावमें आत्मस्थिरतारूप दशा।

अनंतज्ञान—केवलज्ञान।

अनंत दर्शन—केवलदर्शन।

अनंतराशि—अपार राशि।

अनाकार—आकारका अभाव।

अनाचार—पाप; दुराचार; व्रतभंग।

अनाथता—निराधारता; अशरणता।

अनादि—जिसकी आदि न हो।

अनारंभ—सावद्य व्यापार रहित।

अनारंभी—पाप न करनेवाला।

अनिमेष—स्थिर दृष्टि; निमेषरहित टकटकीके साथ

अनुकम्पा—दुःखी जीवोंपर करुणा।

अनुग्रह—दया, उपकार; कृपा।

अनुपचरित—अनुभवमें आने योग्य विशेष संम्बंधसहित (व्यवहार)। (अंक ४९३)

अनुप्रेक्षा—वारंवार चिन्तन करना; विचारणा; भावना। स्वाध्यायका एक प्रकार।

अनुभव—प्रत्यक्षज्ञान; वेदन। "वस्तु विचारत ध्यावते मन पावे विश्राम, रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम।"–श्री बनारसीदास

अनुष्ठान—धार्मिक आधार, क्रिया।

अनेकांत—अनंतधर्मात्मक वस्तुकी स्वीकृति; जो केवल एक दृष्टिरूप न हो।

अनेकांतवाद—सापेक्षरूपसे एक पदार्थके अनेक धर्मोंमेंसे अमुक धर्मको कहनेवाली वचनपद्धति।

अन्योक्ति—वह अलंकार जिसमें अर्थसाधर्म्यके अनुसार वर्णित वस्तुओंके अलावा दूसरी वस्तुओंपर घटाया जाय। कटाक्षरूप वचन।

अन्योन्य—परस्पर।

अन्वय—एकके सद्भावमें दूसरेका अवश्य होना परस्पर सम्बन्ध।

अपकर्ष घटना। कम होना।

अप्काय—पानी ही जिसका शरीर है ऐसे जीव।

अपरिग्रहव्रत—परिग्रहत्यागकी प्रतिज्ञा।

अपवर्ग—मोक्ष।

अपवाद—नियमोंमें छूट; निन्दा।

अपरिच्छेद—यथार्थ; सम्पूर्ण।

अपरिणामी—जो परिणमनको प्राप्त न हो।

अपलक्षण—दोष।

अपेक्षा—इच्छा; अभिलाषा।

अप्रतिबद्ध—आसक्तिरहित।

अप्रमत्त गुणस्थान—सातवाँ गुणस्थान। अप्रमत्तरूपसे आचरणमें स्थिति। (पृ० ९४२)

अप्रमादी—आत्मदशामें जागृति रखनेवाला।

अबंध परिणाम—जिन परिणामोंसे बंध न हो। रागद्वेषरहित परिणाम।

अभक्ष्य—न खानेयोग्य।

अभयदान—रक्षण देना; जीवोंको बचाना।

अभव्य—जिसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति न हो सके ऐसा जीव।

अभाव—क्षय; जिसका अस्तित्व न हो।

अभिधेय—प्रतिपादन करनेयोग्य।

अभिनिवेश—आसक्ति; आग्रह; हठ। (अंज ६७७ लौकिक अभिनिवेश)

अभिमत—सम्मत।

अभिवंदन—नमस्कार।

अभिसंधिवीर्य—बुद्धि या आशयपूर्वक की गई क्रियाके रूपमें परिणमनेवाला वीर्य; आत्माकी प्रेरणासे वीर्यका प्रवर्तन। वीर्यका एक प्रकार।

अभ्यंतर—भीतरका।

अभ्यंतरमोहिनी—वासना; राग-द्वेष। (पुष्पमाला-६६)

अभ्यास—मुहावरा; टेव; पुनः पुनः अनुशीलन।

अमर—देव; आत्मा।

अमाप—असीम; अपरिमित।

अमूर्तिक—जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं हैं। निराकार।

अयोग—योगका अभाव; मन, वचन, कायारूप योगका अभाव; सत्पुरुषके साथ संयोगका नहीं होना।

अराग—रागरहित दशा।

अरिहंत—केवली भगवान।

अरूपी—जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पुद्गलके गुण न हों।

अर्थपर्याय—प्रदेशवत्व गुणके सिवाय अन्य समस्त गुणोंकी अवस्था। (देखें जैनसिद्धांतप्रवेशिका)

अर्थांतर—दूसरा आशय या तात्पर्य।

अर्धदग्ध—अधूरे ज्ञानवाला। ज्ञानी जैसा समझदार भी नहीं और नही अज्ञानी जैसा जिज्ञासु।

अर्हंत—देखें अरिहंत।

अलौकिक—लोकोत्तर; अद्भुत; अपूर्व; असाधारण; दिव्य।

अल्पज्ञ—कम समझा। तुच्छ बुद्धिका। थोड़ा ज्ञान रखनेवाला।

अल्पभाषी—कम बोलनेवाला।

अवगत—ज्ञात; जाना हुआ।

अवगाह—व्याप्त होनेका भाव।

अवगाहन—अध्ययन; प्रवेश; मथन; लीन होकर विचारना।

अवग्रह—आरंभका मतिज्ञान। मतिज्ञानका भेद। (देखें जैनसिद्धांतप्रवेशिका)

अवधान—एक समयमें अनेक कार्योंमें उपयोग देकर स्मरणशक्ति तथा एकाग्रताकी अद्भुतता बताना। (पत्रांक १८)

अवधिज्ञान—जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादासहित रूपी पदार्थको जाने।

अवबोध—ज्ञान।

अवर्णवाद—निन्दा।

अवसर्पिणीकाल—उतरता हुआ काल, जिसमें जीवोंकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जाय। दस कोड़ाकोडीसागरका यह काल होता है।

अवाच्य—न कहने योग्य। जो न कहा जा सके।

अविवेक—विचारशून्यता; सत्यासत्यको न समझना।

अव्याबाध—बाधा, पीडारहित।

अशरीरी—जिसे शरीरभावका अभाव हो गया है। आत्ममग्न।

अशोच्याकेवली—केवली आदिके निकट धर्मको सुने बिना (अशोच्या = अश्रुत्वा) जो केवलज्ञान पावे। (पत्रांक ५४२)

अशौच—मलिनता।

अश्रद्धा—अविश्वास।

अष्टमभक्त—तीन उपवास।

अष्टावक्र—एक ऋषिका नाम। जनक राजाको ज्ञान देनेवाले।

अष्टांगयोग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग।

असाता—दुःख।

असंग—मूर्च्छाका अभाव; पर द्रव्यसे मुक्त; परिग्रहरहित।

असंगता—आत्मार्थके सिवाय संगप्रसंगमें नहीं पड़ना (पत्रांक ४३०, ६०९)।

असंयतिपूजा—जिसे ज्ञानपूर्वक संयम न हो उसकी पूजा।

असंयम—उपयोगमें भूल होना। (उपदेशछाया)

अस्त—छिपा हुआ; तिरोहित; अदृश्य; नष्ट; डूबा हुआ।

असिपत्रवन—नरकका एक वन, जिसके पत्ते शरीर पर गिरनेसे तलवारकी भाँति अंगोंको छेद देते हैं।

अस्ति—सत्ता; विद्यमानता; होनेका भाव।

अस्तित्व—मौजूदगी; सत्ताका भाव।

अहंता—अहंकार; गर्व।

अहंभाव—मैं-पनेका भाव; अभिमान।

अंतरंग—अन्दरका।

अंतरात्मा—सम्यग्दृष्टि; ज्ञानी आत्मा।

अंतराय—विघ्न; बाधा।

अंतर्ज्ञान—स्वाभाविक ज्ञान; आत्मिक ज्ञान।

अंतर्दशा—आत्माकी दशा।

अंतर्दृष्टि—आत्मदृष्टि; ज्ञानचक्षु।

अंतर्धान—लोप; छिपाव।

अंतर्मुख—आत्मचिन्तन; जिसका लक्ष अंदरकी ओर हो।

अंतर्मुहूर्त—एक मुहूर्तके भीतरका काल (एक

मुहूर्त=दो घड़ी, ४८ मिनिट)। एक मुहूर्त-से कम समय।

अंतर्लापिका—ऐसी काव्यरचना कि जिसके अक्षरोंको अमुक प्रकारसे लगानेपर किसीका नाम या दूसरा अर्थ निकले।

अंतर्वृत्ति—अंदरका वर्तन; आत्मामें वृत्ति।

अंतःकरण—मन; चित्त; अंदरकी इन्द्रिय।

अंतःपुर—महलके भीतर स्त्रियोंके रहनेकी जगह रानिवास।

आ

आकाशद्रव्य—जीवादि समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेवाला एक द्रव्य।

आकांक्षा मोहनीय—मिथ्यात्वमोहनीयका एक प्रकार, सांसारिक सुखकी इच्छा करना।

आक्रोश—क्रोध करना; गाली देना; निन्दा; आक्षेप।

आगम—धर्मशास्त्र; ज्ञानीपुरुषोंके वचन।

आगमन—आना, प्राप्ति।

आगार—घर, व्रतोंमें छूटछाट।

आग्रह—इच्छानुसार करने-करानेकी वृत्ति, हठ, दृढ़ मान्यता।

आचरण—व्यवहार, वर्ताव।

आचार्य—जो साधुओंको दीक्षा, शिक्षा देकर चारित्रका पालन कराते हैं।

आज्ञा—आदेश, अनुमति, हुक्म।

आज्ञा-आराधक—आज्ञानुसार चलनेवाला।

आज्ञाधार—आज्ञापूर्वक आचरण। (आ० सिद्धि दोहा-३५)

आठ समिति—तीन गुप्ति और पाँच समिति।

आतापनयोग—धूपमें बैठकर या खड़े रहकर ध्यान करना।

आत्मवाद—आत्माको बतानेवाला, आत्मस्वरूपको कहनेवाला।

आत्मवीर्य—आत्माकी शक्ति।

आत्मसंयम—आत्माको वशमें करना।

आत्मश्लाघा—अपनी प्रशंसा।

आत्मा—ज्ञानदर्शनमय अविनाशी पदार्थ।

आत्मार्थी—आत्माकी इच्छावाला।"कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष, भवे खेद, प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास।" (आत्मसिद्धि दोहा-३८)

आत्मानुभव—आत्माका साक्षात्कार।

आत्यंतिक—पूर्णरूपसे; अत्यंतरूपसे; सम्पूर्ण।

आदिपुरुष—परमात्मा।

आदेश—आज्ञा।

आधार—सहारा; आश्रय।

आधि—मानसिक व्यथा; चिंता।

आधुनिक—वर्तमान समयका; नवीन; अर्वाचीन।

आनंदघन—आनंदसे परिपूर्ण; श्री लाभानन्दजी मुनिका दूसरा नाम।

आप्त—जिसके विश्वासपर मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति की जा सके।
(पत्रांक ७७७) सर्व पदार्थोंको जानकर उनके स्वरूपका सत्यार्थ प्रगट करनेवाला। (उपदेशछाया)

आम्नाय—सम्प्रदाय; परम्परा; परिपाटी।

आरंभ—किसी भी क्रियाकी तैयारी; हिंसाका काम।

आराधना—पूजा; उपासना; साधना।

आराध्य—आराधना करने योग्य।

आर्त्त—पीड़ित।

आर्त्तध्यान—किसी भी पर पदार्थमें इच्छाकी प्रवृत्ति है और किसी भी पर पदार्थके वियोगकी चिन्ता है, उसे श्री जिन आर्त्तध्यान कहते हैं। (पत्रांक ५५१)

आर्य—उत्तम। (आर्य शब्दसे जिनेश्वर, मुमुक्षु और आर्यदेशमें रहनेवालेको सम्बोधित किया जाता है)

आर्य आचार—मुख्यतः दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोंका आचरण करना। (पत्रांक ७१७)

आर्यदेश—उत्तम देश। जहाँ आत्मा आदि तत्त्वोंकी विचारणा हो सके, आत्मोन्नति हो सके ऐसी अनुकूलतावाला देश।

आर्य विचार—मुख्यतः आत्माका अस्तित्व; नित्यत्व, वर्तमानकाल तक उस स्वरूपका अज्ञान तथा उस अज्ञान और अभानके कारणोंका विचार। (पत्रांक ७१७)

आलेखन—लिपिबद्ध करना; चित्रादि बनाना।

आवरण—परदा; विघ्न।

आवश्यक—अवश्य करने योग्य कार्य या नियम। संयमीके योग्य क्रिया।

आविर्भाव—प्रगट; उत्पत्ति।

आशंका मोहनीय—जो स्वयंको समझमें न आवे; सत्य जानते हुए भी उसके प्रति यथार्थ भाव (रुचि) न प्रगटे। (उपदेशछाया)

आशुप्रज्ञ—जिसकी बुद्धि तत्काल काम करे। विचक्षण।

आश्रम—विश्रामका स्थान; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त इन जीवन-विभागोंमेंसे कोई भी एक।

आसक्त—अनुरक्त; लीन; लिप्त; मोहित; मुग्ध।

आसक्ति—गाढ़ मोह; लीनता।

आस्तिक्य–जिनका परम माहात्म्य है ऐसे निस्पृही पुरुषोंके वचनमें ही तल्लीनता।(पत्रांक १३५)

आस्रव—ज्ञानावरणादि कर्मोंका आना।

आस्रवभावना—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव हैं, वे रोकने या टालने-योग्य हैं ऐसा चिंतन करना। (भावनाबोध)

इ

इतिहास—भूतकालका वृत्तान्त।

इष्टदेव—जिनके प्रति श्रद्धा जम गई हो ऐसे आराध्यदेव।

इष्टसिद्धि—इच्छित कार्यकी सिद्धि।

इन्द्र—स्वर्गका अधिपति; देवोंका स्वामी।

इन्द्राणी—इन्द्रकी पत्नी।

इन्द्रियगम्य—जो इन्द्रियसे जाना जाय।

इन्द्रियनिग्रह—इन्द्रियोंको वश करना।

ई

ईर्यापथिकी क्रिया—कषायरहित पुरुषकी क्रिया; चलनेकी क्रिया।

ईर्यासमिति—दूसरे जीवोंकी रक्षाके लिए चार हाथ जमीन आगे देखकर ज्ञानीकी आज्ञानुसार चलना।

ईश्वर—जिसमें ज्ञानादि ऐश्वर्य है। ईश्वर शुद्ध स्वभाव—(आत्मसिद्धि दोहा ७७)

ईश्वरेच्छा—प्रारब्ध; कर्मोदय; उपचारसे ईश्वरकी इच्छा, आज्ञा।

ईषत्प्राग्भारा—आठवीं पृथ्वी; सिद्धशिला।

उ

उच्चगोत्र—लोकमान्य कुल।

उजागर—आत्मजागृतिरूप दशा।

उत्कट—प्रबल; तीव्र।

उत्कर्ष—समृद्धि; श्रेष्ठता; उत्तमता। हर्ष; अहंकार।

उत्तरोत्तर—आगे-आगे; क्रमशः; अधिक-अधिक।

उत्पाद—उत्पत्ति।

उत्सर्पिणीकाल—चढ़ते हुए छह कालचक्र पूरे हों, उतना समय। दस कोड़ाकोडी सागरका चढ़ता हुआ काल। जिसमें आयु, वैभव, बल आदि बढ़ते जावें ऐसा काल-प्रवाह।

उत्सूत्रप्ररूपणा—आगमविरुद्ध कथन।

उदक पेढाल—सूत्रकृताङ्ग नामक दूसरे अंगमें इस नामका एक अध्ययन है।

उदय—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको लेकर कर्म जो अपनी शक्ति दिखाते हैं उसे कर्मका उदय कहते हैं। स्थिति पूर्ण होनेपर कर्मफलका प्रगट होना।

उदासीनता—समभाव; वैराग्य; मध्यस्थता।

उदीरणा—स्थिति पूरी किये बिना ही कर्मोंका फल (तपादिके कारणसे) उदयमें आवे उसे उदीरणा कहते हैं।

उपयोग—चैतन्य परिणति; जिससे पदार्थका बोध हो।

उपशमभाव—कर्मोंके शांत होनेसे उत्पन्न हुआ भाव।

उपशमश्रेणी—जिसमें चारित्र-मोहनीय कर्मकी

२१ प्रकृतियोंका उपशम किया जाय। (जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)

उपाधि—जंजाल।

उपाध्याय—जो साधु शास्त्रोंका अध्ययन करावें।

उपाश्रय—साधु-साध्वियोंका आश्रयस्थान।

उपेक्षा—अनादर; तिरस्कार; विरक्ति; उदासीनता।

ऊ

ऊर्ध्वगति—ऊँची गति।

ऊर्ध्वप्रचय—पदार्थमें धर्मका उद्‌भव होना, क्षण-क्षणमें होनेवाली अवस्था।

ऊर्ध्वलोक—स्वर्ग; मोक्ष।

ऊहापोह—तर्क-वितर्क; सोच-विचार।

ऋ

ऋषभदेव—जैनोंके आदि तीर्थंकर।

ऋषि—जो बहुत ऋद्धियोंके धारी हों। ऋषिके चार भेद हैं:—१ राज०, २ ब्रह्म०, ३ देव०, ४ परम०। राजर्षि=ऋद्धिवाले, ब्रह्मर्षि =अक्षीण महान ऋद्धिवाले, देवर्षि= आकाशगामी मुनिदेव, परमर्षि=केवलज्ञानी।

ए

एकनिष्ठा—एक ही वस्तुके प्रति पूर्ण श्रद्धा।

एकाकी—अकेला।

एकान्तवाद—वस्तुको एक धर्मस्वरूप मानना।

ओ

ओघसंज्ञा—जिस क्रियाको करते हुए जीव लोककी, सूत्रकी या गुरुके वचनकी अपेक्षा नहीं रखता, आत्माके अध्यवसाय रहित कुछ क्रियादि किया करे। (अध्यात्मसार)

औ

औदयिकभाव—कर्मके उदयसे होनेवाला भाव; कर्म बँधें ऐसा भाव। कर्मके उदयके साथ सम्बंध रखनेवाला जीवका विकारी भाव।

औदारिक शरीर—स्थूल शरीर। मनुष्य और तिर्यंचोंको यह शरीर होता है।

क

कदाग्रह—दुराग्रह; खोटी मान्यताकी दृढ़ता। इन्द्रियोंके निग्रहका न होना कुलधर्मका आग्रह, मान-श्लाघाकी कामना और अमध्यस्थता, यह कदाग्रह है। (उपदेशछाया-९)

कपिल—सांख्यमतके प्रवर्तक।

करुणा—दया; दूसरेके दुःख या पीड़ा-निवारणकी इच्छा।

कर्म—जिससे आत्माको आवरण हो, अथवा वैसी क्रिया।

कर्मादानी धंधा—पंद्रह प्रकारके कर्मादानी व्यापार। श्रावक (सद्‌गृहस्थ) को न करने कराने योग्य कार्य; कर्मोंके आनेका मार्ग।

कर्मप्रकृति—कर्मोंके भेद।

कर्मभूमि—जहाँ मनुष्य व्यापारादिके द्वारा आजीविका चलाते हैं; मोक्षके योग्य क्षेत्र।

कलुष—पाप; मल।

कल्पकाल—बीस कोडाकोडी सागरका काल, जिसमें एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणीका काल होता है।

कल्पना—जिससे किसी कार्यकी सिद्धि न हो ऐसे विचार; मनकी तरंग।

कल्याण—मंगल; सत्पुरुषकी आज्ञानुसार चलना।

कषाय—जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र तथा यथाख्यात-चारित्ररूप परिणामोंका घात करे अर्थात् न होने दे। (गो० जीवकांड) जो आत्माको कषे अर्थात् दुःख दे उसे कषाय कहते हैं। कषायके चार भेद हैं:—अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। जिन परिणामोंसे संसारकी वृद्धि हो वह कषाय है। (उपदेशछाया)

कषायाध्यवसायस्थान—कषायके अंश, कि जो कर्मोंकी स्थितिमें कारण हैं।

काकतालीयन्याय—कौएका ताड़ पर बैठना और अचानक ताड़वृक्षका गिर जाना इसी

प्रकार संयोगवश किसी कार्यका अचानक सिद्ध हो जाना।

कामना—इच्छा; अभिलाषा।

कामिनी—स्त्री।

कायोत्सर्ग—शरीरका ममत्व छोड़कर आत्माके सन्मुख होना; आत्मध्यान करना। छह आवश्यकोंमेंसे एक आवश्यक।

कार्मणशरीर—ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप शरीर।

कार्मणवर्गणा—अनंत परमाणुओंका स्कन्ध, जो कार्मणशरीररूप परिणमे।
(जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)
"मन वचन काया ने, कर्मनी वर्गणा"
(अपूर्व अवसर गा० १७)

कालक्षेप—समय गँवाना; समय खोना।

कालधर्म—समयके योग्य धर्म; मरण।

कालाणु—निश्चय कालद्रव्य।

कुगुरु—मिथ्या वेषधारी आत्मज्ञानरहित ऐसे जो गुरु बन बैठे हैं।

कुपात्र—अयोग्य; किसी विषयका अनधिकारी; वह जिसे दान देना शास्त्रमें निषिद्ध है।

कूटस्थ—अटल; अचल।

कृत्रिम—नकली; बनावटी, बनाया हुआ।

केवलज्ञान—मात्र ज्ञान; केवल स्वभाव परिणामी ज्ञान। (संस्मरण-पोथी) तथा देखें आत्मसिद्धि-दोहा ११३

कैवल्य कमला—केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी।

कौतुक—आश्चर्य; कुतूहल।

कंखा—इच्छा; आकांक्षा।

कंखामोहनीय—तप आदि करके परलोकके सुखकी अभिलाषा करनी। कर्म तथा कर्मके फलमें तन्मय होना अथवा अन्य धर्मोंकी इच्छा करनी (पंचाध्यायी)

कंचन—स्वर्ण; सोना।

क्रियाजड—जो मात्र बाह्यक्रियामें अनुरक्त हो रहे हैं, जिनका अंतर कुछ भिदा नहीं है और जो ज्ञानमार्गका निषेध किया करते हैं। (आत्मसिद्धि, दोहा ४)

क्रीडा-विलास—भोगविलास।

क्षण—समय या कालका छोटा भाग।

क्षपक—कर्मक्षय करनेवाला साधु; जैन तपस्वी।

क्षपकश्रेणी—जिसमें चारित्रमोहनीयकर्मकी २१ प्रकृतियोंका क्षय किया जाय ऐसी क्षण-क्षणमें चढ़ती हुई दशा।

क्षमा—चित्तकी एक प्रकारकी वृत्ति जिससे मनुष्य दूसरे द्वारा पहुँचाया हुआ कष्ट सह लेता है और उसके प्रतिकार या दंडकी अभिलाषा नहीं करता। क्रोध न करना। माफी देना।

क्षमापना—भूलकी माफी माँगना।

क्षायिकचारित्र—मोहनीयकर्मके क्षयसे जो चारित्र (आत्मस्थिरता) उत्पन्न हो।

क्षायिकभाव—कर्मके नाशसे जो भाव उत्पन्न हो जैसे कि केवलदर्शन, केवलज्ञान।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके अभावमें जो आत्मप्रतीति, अनुभव उत्पन्न हो।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—जो मोहनीयकर्मके क्षय और उपशमसे हो ऐसी आत्मश्रद्धा।

क्षीणकषाय—(क्षीणमोह) बारहवाँ गुणस्थान, जो मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षय होनेसे यथाख्यातचारित्रके धारक मुनिको होता है।

ख

खल—दुष्ट।

खंती दंती प्रव्रज्या—जिस दीक्षामें क्षमा तथा इन्द्रियनिग्रह है।

ग

गच्छ—समुदाय; गण; संघ; साधुसमुदाय; एक आचार्यका परिवार।

गजसुकुमार—श्रीकृष्ण वासुदेवके छोटे भाई। देखें 'मोक्षमाला' पाठ ४३।

गणधर—तीर्थंकरके मुख्य शिष्य। साधुसमुदाय-

को लेकर पृथ्वीमंडलपर विचरनेवाले समर्थ साधु।

गणितानुयोग—जिन शास्त्रोंमें लोकका माप तथा स्वर्ग, नरक आदिकी लंबाई आदिका एवं कर्मके बंध आदिका वर्णन किया गया हो। (व्याख्यानसार १७३)

गतभव—पूर्वभव; पूर्वजन्म।

गतशोक—शोकरहित।

गति अगति—गमनागमन; जाना आना।

गुमान—अहंकार; अभिमान।

गुणनिष्पन्न—जिसे गुण प्राप्त हुए हैं।

गुणस्थान—मोह और योगके निमित्तसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्थाविशेषको गुणस्थान कहते हैं। (गोम्मटसार, जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)। गुणोंकी प्रगटता वह गुणस्थान।

गुरुता—बड़प्पन; महत्त्व; गुरुपन।

गोकुलचरित्र—श्री मनसुखराम सूर्यरामका लिखा हुआ श्री गोकुलजी झालाका जीवनचरित्र

गौतम—भगवान महावीरके प्रधान शिष्य, गणधर। इनका दूसरा नाम इन्द्रभूति था।

ग्रंथ—पुस्तक; शास्त्र; बाह्य, अभ्यंतर परिग्रह; गाँठ। (आत्मसिद्धि, दोहा १००)

ग्रंथि—रागद्वेषकी निबिड गाँठ। मिथ्यात्वकी गाँठ।

ग्रंथि-भेद—जड़ और चेतनका भेद करना। मिथ्यात्वकी गाँठका टूटना।

गृहस्थी—श्रावक; गृहवासी; घरमें रहनेवाला।

घ

घटपरिचय—हृदयकी पहिचान।

घटाटोप—बादलोंके समान चारों ओरसे घेर लेनेवाला दल या समूह। चारों ओरसे आच्छादित झुंड।

घनघातीकर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतराय, ये चार कर्म। आत्माके मूल गुणोंको आवरण करनेवाले होनेसे इन्हें घनघातीकर्म कहते हैं।

घनरज्जु—जिसकी लंबाई, चौड़ाई और मोटाई समान हो, उस प्रकार रज्जुका परिमाण करना वह। मध्यलोक पूर्वसे पश्चिम एक रज्जुप्रमाण है, उतना ही लम्बा, चौड़ा और ऊँचा लोकका विभाग।

घनवात—घनोदधि अथवा विमान आदिको आधारभूत एक प्रकारकी कठिन वायु।

घनवातवलय—वलयाकारसे रही हुई घनवायु। घट पवनका वातावरण।

च

चक्ररत्न—चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक।

चक्रवर्ती—सम्राट; भरत आदि क्षेत्रके छह खंडोंका अधिपति।

चक्षुदर्शन—आँखसे दिखनेवाली वस्तुका प्रथम जो सामान्य बोध हो। नेत्रइन्द्रियसे होनेवाला दर्शन।

चक्षुदर्शनावरण—दर्शनावरणीकर्मकी एक ऐसी प्रकृति कि जिसके उदयमें जीवको चक्षुदर्शन (आँखसे होनेवाला सामान्य बोध) न हो।

चतुर्गति—चार गति। देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति तथा नरकगति।

चतुष्पाद—पशु; चार पैरोंवाला प्राणी।

चयविचय—जाना आना।

चयोपचय—जाना जाना, परन्तु प्रसंगवशात् आना जाना; गमनागमन। आदमीके जाने आनेमें यह लागू नहीं होता, श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्मक्रियामें लागू होता है।

चरणानुयोग—जिन शास्त्रोंमें मुनि तथा श्रावकके आचारका कथन हो। (व्याख्यानसार १७३)

चरमशरीर—अंतिम शरीर, कि जिस शरीरसे मोक्षप्राप्ति हो।

चर्मरत्न—चक्रवर्तीका एक रत्न, कि जिसे पानीमें बिछानेसे जमीनकी भाँति उस पर

गमन किया जाता है, घरकी तरह उस पर रहा जा सकता है।

चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त।

चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

चार वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

चारित्र—अशुभ कार्योंका त्याग करके शुभमेंह प्रवृत्ति करना वह व्यवहार चारित्र है, आत्म स्वरूपमें रमणता और उसीमें स्थिरता-या निश्चयचारित्र है।

चार्वाक—नास्तिक मत; जो, जीव, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग, मोक्ष नहीं हैं ऐसा मानते हैं दिखाई दे उतना ही माननेवाले।

चित्—ज्ञानस्वरूप आत्मा।

चूवा—सुगंधित पदार्थ; एक प्रकारका चंदन।

चूर्णि—महात्माकृत भिन्न-भिन्न पदकी व्याख्या (सर्व विद्वानोंके मदको चूरे वह चूर्णि।)

चैतन्य—ज्ञानदर्शनमय जीव।

चैतन्य घन—ज्ञानादि गुणोंसे भरपूर।

चौठाणिया रस—चतुर्थस्थानरूप रस। पुण्य पापरूप प्रकृतियोंमें तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अतितीव्रतमरूप रस पापमें कटु, कटुतर, कटुतम और अत्यंत कटुतम तथा पुण्यमें मधुर मधुरतर, मधुरतम और अत्यंत मधुरतम; इस प्रकार चार रसोंमें चतुर्थस्थानरूप रस। नीम और इक्षुरसके दृष्टांतसे। (देखें शतकनामा पंचम कर्मग्रन्थ गाथा ६३ प्रकरणरत्नाकरके भाग ४ में पृ० ६५२) प्रस्तुत ग्रन्थके पृ० ८९६ पर व्याख्यानसार २-३० में 'पुण्यका चोठाणिया रस नहीं है' अर्थात् चतुर्थस्थानरूप श्रेष्ठ पुण्य (अत्यंत तीव्रतम-एकान्त साता) का उदय नहीं है।

चौदह पूर्व—उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यानुवादपूर्व अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रपाद, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व, त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व, ये चौदह पूर्व कहे जाते हैं। (गोम्मटसार, जीवकांड)

चौदहपूर्वधारी—चौदह पूर्वके ज्ञाता। श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी चौदह पूर्वके ज्ञाता थे।

चौभंगी—चार भेदरूप कथन।

चौविहार—रात्रिमें चार प्रकारके आहारका त्याग। (१) खाद्य—जिससे पेट भरे, जैसे-रोटी आदि, (२) स्वाद्य—स्वाद लेनेयोग्य जैसे कि इलायची, सुपारी। (३) लेह्य—चाटने योग्य पदार्थ, जैसे-रबड़ी, मलाई। (४) पेय—पीने योग्य, जैसे पानी, दूध इत्यादि।

चौवीसदंडक—१ नरक, १० असुरकुमार, १ पृथ्वीकाय, १ जलकाय, १ अग्निकाय, १वायुकाय, १ वनस्पतिकाय, १ तिर्यंच, १ द्वीन्द्रिय, १ तेइन्द्रिय, १ चतुरिन्द्रिय, १ मनुष्य १ व्यंतर, १ ज्योतिषीदेव, और १ वैमानिकदेव, इस प्रकार २४ दंडक हैं।

च्यवन—देहका त्याग; एक देहको छोड़कर अन्य देहमें जाना।

छ

छट्ठछट्ठ—दो उपवास करके पारणा करे, और फिर दो उपवास करे, इस प्रकारके क्रमसे चलना।

छद्मस्थ—आवरणसहित जीव; जिसे केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है।

छह काय—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय।

छह खंड—इस भरतक्षेत्रके छह खंड हैं, जिनमें १ आर्यखंड और ५ म्लेच्छखंड हैं।

छह पर्याप्ति—आहार, शरीर, इंद्रिय, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन। (विशेष स्पष्टीकरणके लिए देखें गोम्मटसार जीवकांड अथवा जैनसिद्धांतप्रवेशिका)

छंद—अभिप्राय; इच्छा; मनमाना आचरण।

ज

जघन्यकर्मस्थिति—कर्मकी कमसे कम स्थिति ।

जड़ता—अज्ञानता; मूर्खता; जड़पन ।

जंजालमोहिनी—संसारकी उपाधि ।

जातिवृद्धता—जातिकी अपेक्षासे श्रेष्ठता, उत्तमता ।

जिज्ञासा—तत्त्वको जाननेकी इच्छा । 'जिज्ञासु' के लिए देखें आत्मसिद्धि दोहा १०८, पृ० ६३४ ।

जिन—रागद्वेषको जीतनेवाले ।

जिनकल्प—उत्कृष्ट आचार पालनेवाले साधु—जिनकल्पीकी व्यवहारविधि; एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिए निश्चित किया हुआ जिनमार्ग या नियम । (पृष्ट ८९१ व्याख्यानसार)

जिनकल्पी—उत्तम आचार पालनेवाला साधु ।

जिनधर्म—जिनभगवानका कहा हुआ धर्म । वीतरागद्वारा उपदिष्ट मोक्षका मार्ग ।

जिनमुद्रा—वीतरागताकी आकृति । जिनमुद्रा दो प्रकारकी हैं—कायोत्सर्ग और पद्मासन । देखें पृष्ठ ८८० (व्याख्यानसार)

जिनेन्द्र—तीर्थंकर भगवान ।

जीव—आत्मा; जीवपदार्थ ।

जीवराशि—जीवोंका समुदाय ।

जीवास्तिकाय—ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा । वह आत्मा असंख्यातप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहा जाता है ।

जोगानल—ध्यानरूपी अग्नि ।

ज्ञात—विदित; अवगत; जाना हुआ ।

ज्ञातपुत्र—भगवान महावीर; ज्ञात नामक क्षत्रिय वंशके ।

ज्ञाता—जाननेवाला; आत्मा; प्रथमानुयोगके सूत्रका नाम ।

ज्ञान—जिसके द्वारा पदार्थ जाने जायें । आत्माका गुण । ज्ञान आत्माका धर्म है ।

ज्ञानधारा—ज्ञानका प्रवाह ।

ज्ञानवृद्ध—जो ज्ञानमें विशेष हैं ।

ज्ञानाक्षेपकवंत—सम्यग्दृष्टि आत्मा; ज्ञानप्रिय; विक्षेपरहित विचार-ज्ञानवाला । देखें पत्रांक ३९५, पृ० ३९५ ।

ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ ।

त

तत्त्व—रहस्य; सार; सत्पदार्थ; वस्तु; परमार्थ यथास्थित वस्तु ।

तत्त्वज्ञान—तत्त्वसम्बंधी ज्ञान ।

तत्त्वनिष्ठा—तत्त्वोंकी श्रद्धा ।

तत्पर—तैयार; उद्यत; सज्ज; एकध्यानरूप ।

तदाकार—उसीके आकारका; तन्मय; लीन ।

तद्रूप—किसी भी पदार्थमें लीनता ।

तनय—पुत्र ।

तप—इन्द्रियदमन; तपस्या; इच्छाका निरोध; तपके अनशन आदि बारह भेद हैं ।

तम—अंधकार ।

तमतमप्रभा—सातवाँ नरक । (तमतमा-गाढ़ अंधकाररूप)

तंतहारक—वादविवादको नाश करनेवाले ।

तादात्म्य—एकता; लीनता ।

तारतम्य—न्यूनाधिकता; एक दूसरेकी तुलनामें कमीवेशीका विचार ।

तिरोभाव—छिपाव; ढँकाव ।

तिर्यक्प्रचय—पदार्थके प्रदेशोंका संचय; बहुप्रदेशीपन ।

तीर्थ—धर्म; तिरनेका स्थान; शासन; साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप संघसमुदाय; गंगा, जमुना आदि लौकिक तीर्थ हैं ।

तीर्थंकर—धर्मके उपदेष्टा; जिनके चार घनघातीकर्म नष्ट हुए हैं, तीर्थंकर नामकर्मकी प्रकृतिका जिन्हें उदय है । धर्मतीर्थके स्थापक ।

तीन मनोरथ—(१) आरंभ-परिग्रहका त्याग, (२) पाँच महाव्रतोंका धारण, (३) मरणकालमें आलोचनापूर्वक समाधिमरणकी प्राप्ति ।

तीन समकित—(१) उपशम समकित, (२) क्षायोपशमिक समकित, (३) क्षायिक समकित; अथवा (१) आप्तपुरुषके वचनकी प्रतीतिरूप आज्ञाकी अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंदनिरोधपूर्वक आप्तपुरुषकी भक्तिरूप, यह समकितका पहला प्रकार है। (२) परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशरूप प्रतीति यह समकितका दूसरा प्रकार है। (३) निर्विकल्प परमार्थ अनुभव यह समकितका तीसरा प्रकार है। (पत्रांक ७५१)

तीव्रज्ञानदशा—सर्व विभावसे उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्यायका सहजरूपसे आश्रय। (देखें पत्रांक ५७२, पृष्ट ५२२)

तीव्रमुमुक्षुता—प्रतिक्षण संसारसे छूटनेकी भावना; अनन्य प्रेमसे मोक्षके मार्गमें प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना। (देखें पत्रांक २५४, पृष्ठ ३३१)।

तुष्टमान—प्रसन्न; राजी; खुश।

त्रस—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको त्रस कहते हैं।

त्रिदंड—मनदंड, वचनदंड, कायदंड।

त्रिपद—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य; अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र।

त्रिराशि—मुक्तजीव, त्रसजीव और स्थावरजीव; अथवा जीव, अजीव और दोनोंके संयोगरूप अवस्था।

त्रेसठशलाकापुरुष—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, ९ बलभद्र; इस प्रकार ६३ उत्तम पुरुष माने गये हैं :

दम—इन्द्रियोंको वश करना।

दश अपवाद—इन दश अपवादोंको आश्चर्य भी कहते हैं। (१) तीर्थंकर पर उपसर्ग, (२) तीर्थंकरका गर्भहरण, (३) स्त्री-तीर्थंकर, (४) अभावित परिषद्, (५) कृष्णका अपरकंका नगरीमें जाना, (६) चंद्र तथा सूर्यका विमानसहित भ० महावीरकी परिषद्में आना, (७) हरिवर्षके मनुष्यसे हरिवंशकी उत्पत्ति, (८) चमरोत्पात, (९) १ समयमें १०८ सिद्ध, (१०) असंयतिपूजा; ये दश अपवाद हैं। (ठाणांगसूत्र)

दश बोलविच्छेद—श्री जम्बूस्वामीके निर्वाणके बाद इन दश वस्तुओंका विच्छेद हुआ—(१) मनःपर्यवज्ञान, (२) परमावधिज्ञान, (३) पुलाकलब्धि, (४) आहारक शरीर, (५) क्षपकश्रेणी, (६) उपशमश्रेणी, (७) जिनकल्प, (८) तीन संयम—परिहारविशुद्धि संयम सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यातचारित्र, (९) केवलज्ञान, (१०) मोक्षगमन (प्रवचनसारोद्धार)।

दशविधि यतिधर्म—उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्म।

दशविधि वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वो आदि दस प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना वह दस प्रकारका वैयावृत्य तप है। (देखें मोक्षशास्त्र अ० ९, सूत्र २४)

दर्शन—जगतके किसी भी पदार्थका रसगंधादि भेदरहित निराकार प्रतिबिम्बित होना, उसका अस्तित्व ज्ञात होना, निर्विकल्परूपसे 'कुछ है' ऐसा दर्पणकी झलककी भाँति पदार्थका भास होना, यह दर्शन है; विकल्प होनेपर 'ज्ञान' होता है।

दर्शन परिषह—परमार्थ प्राप्त होनेके विषयमें किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता। (पत्रांक ३३०)

दर्शनमोहनीय—जिसके उदयसे जीवको निजस्वरूपका भाव न हो, तत्त्वरुचि न हो।

दिशामूढ—अनजान; दिशाको भूला हुआ।

दीर्घशंका—शौचादि क्रिया।

दुरंत—जिसका पार पाना कठिन है, तथा जिसका परिणाम खराब है।

दुरिच्छा—खोटी इच्छा।

दुर्धर—कठिनतासे धारण करनेयोग्य; प्रबल; प्रचंड।

दुर्लभ—कठिनतासे प्राप्त होने योग्य।

दुर्लभबोधि—सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्तिकी दुर्लभता।

दुषमकाल (कलियुग)—पंचमकाल। वर्तमानमें पंचमकाल चल रहा है, अन्य दर्शनकारोंने इसे ही कलियुग कहा है। जिनागममें इस कालकी 'दुषम' संज्ञा कही है। (पत्रांक ४२२)

दृष्टिराग—धर्मका ध्येय भूलकर व्यक्तिगत राग करना।

देखतभूली—दर्शनमोह; देहाध्यास; पदार्थको देखते ही उस पर रागादि भाव करना। (पत्रांक ६४१)

देह-अवगाहना—देह जितने क्षेत्रको घेरे; देह-प्रमाण क्षेत्र।

दोगुंदकदेव—तीव्र विषयाभिलाषी देव।

दोरंगी—दो रंगवाला; चंचल।

द्रव्य—गुण-पर्यायके समूहको द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणादिरूप कर्मपरमाणुओंको द्रव्यकर्म कहते हैं। वे मुख्यरूपसे आठ हैं।

द्रव्यमोक्ष—आठ कर्मोंसे सर्वथा छूट जाना।

द्रव्यलिंग—सम्यग्दर्शनरहित मात्र बाह्य साधुवेश।

द्रव्यानुयोग—जिन शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे जीवादि छह द्रव्य और सात तत्त्वोंका कथन हो। (देखें व्याख्यानसार १७३)

द्रव्यार्थिकनय—जो वचन वस्तुकी मूलस्थितिको कहे; शुद्ध स्वरूपको कहनेवाला; द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय।

ध

धर्म—जो प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम आत्मसुख दे। (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

धर्मकथानुयोग—जिन शास्त्रोंमें तीर्थकरादि महापुरुषोंके जीवनचरित्र हों। (व्याख्यानसार १७३)

धर्मद—धर्मको देनेवाला।

धर्मध्यान—धर्ममें चित्तकी लीनता। यह धर्मध्यान चार प्रकारसे है: आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। (विशेषके लिए देखें मोक्षमाला पाठ ७४, ७५, ७६)

धर्मास्तिकाय—एक द्रव्य; जो गतिपरिणत जीव तथा पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायभूत हो, जैसे पानी मछलियोंको चलनेमें सहायक है। (द्रव्यसंग्रह)

धुवेइ वा—(ध्रौव्य) वस्तुमें किसी प्रकारसे परिणमन होते हुए भी वस्तुका कायम रहना। (मोक्षमाला, पाठ ८७, ८८, ८९)

न

नपुंसकवेद—जिस कषायके उदयसे स्त्री तथा पुरुष दोनोंमें रमण करनेकी इच्छा हो।

नमस्कारमंत्र—नवकार मंत्र।

नय—वस्तुके एक देश (अंश) को ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। जैन शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे दो नयोंका वर्णन है: द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। इन नयोंमें सब नयोंका समावेश हो जाता है।

नरकगति—जिस गतिमें जीवोंको अत्यंत दुःख है। नरक सात हैं: रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा (तमतमप्रभा)। (देखें—तत्त्वार्थसूत्र)

नरगति—मनुष्यगति।

नव अनुदिश—दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें ऊर्ध्वलोकमें नव ग्रैवेयकके ऊपर नौ विमान और माने हैं जिन्हें नव अनुदिश कहते हैं। इनमें सम्यग्दृष्टि जीव ही जन्म लेते हैं, तथा वहाँसे निकलकर उत्कृष्ट दो भव धारण करके मोक्ष जाते हैं।

नवकारमंत्र—जैनोंका अत्यंत मान्य महामंत्र—"नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं।" (मोक्षमाला पाठ ३५)

नवकेवललब्धि—चार घातिया कर्मोंके क्षय होने से केवली भगवानको नौ विशेष गुण प्रगट

होते हैं:—अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, अनंतउपभोग, अनंतवीर्य। (देखें सर्वार्थसिद्धि अ० २)

नवग्रैवेयक—स्वर्गोंके ऊपर नवग्रैवेयकोंकी रचना है, वहाँ सभी अहमिन्द्र होते हैं। उन विमानोंके नाम इस प्रकार हैं:—सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध, यशोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, प्रीतिकर। (त्रिलोकसार)

नवतत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। (मोक्षमाला पाठ ९३)

नवनिधि—चक्रवर्ती नवनिधिके स्वामी होते हैं। उन नवनिधियोंके नाम इस प्रकार हैं:—कालनिधि, महाकालनिधि, पांडुनिधि, माणवकनिधि, शंखनिधि, नैसर्पनिधि, पद्मनिधि, पिंगलनिधि और रत्ननिधि।

नव नोकषाय—अल्प कषायको नोकषाय कहते हैं। उसके नौ भेद इस प्रकार है:—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

नवपद—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप।

नाभिनंदन—नाभिराजाके पुत्र, भगवान ऋषभदेव।

नारायण—परमात्मा; श्रीकृष्ण।

नास्ति—अभाव।

नास्तिक—आत्मा आदि पदार्थोंको नहीं माननेवाला।

निकाचित कर्म—जिन कर्मोंमें संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि द्वारा परिवर्तन न हो, निश्चित समयपर ही उदयमें आकर फल दें।

निगोद—एक शरीरमें अनंत जीव हों ऐसी अनंतकायरूप अवस्था।

निज छंद—अपनी इच्छानुसार चलना।

निदान—धर्मकार्यके फलमें आगामी भवमें सांसारिक सुखकी अभिलाषा करना; कारण।

निदिध्यासन—अखंड चिन्तन।

निबंधन—बंधन; बाँधा हुआ।

नियति—नियम; भाग्य; होनी; जो अवश्य होकर रहे।

निरंजन—कर्म-कालिमारहित।

निरुपक्रम आयुष्य—जो आयु बीचमें टूटे नहीं; निकाचित आयु।
(पृ० ८७३, ८७८)

निर्ग्रन्थ—साधु; जिसकी मोहकी गाँठ टूटी है।

निर्ग्रन्थिनी—साध्वी।

निर्जरा—आत्मासे कर्मोंका आंशिकरूपमें क्षय होना।

निर्युक्ति—शब्दके साथ अर्थको जोड़नेवाली; टीका।

निर्वाण—आत्माकी शुद्ध अवस्था; मोक्ष।

निर्विकल्प—निराकार दर्शनोपयोग; उपयोगकी स्थिरता; विकल्पोंका अभाव।

निर्विचिकित्सा—सम्यग्दर्शनका तीसरा अंग; महात्माओंके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि न करना।

निर्वेद—संसारसे वैराग्यका होना।

निर्वेदनी कथा—जिस कथामें वैराग्यरसकी प्रधानता हो।

निश्चयनय—शुद्ध वस्तुको प्रतिपादन करनेवाला ज्ञान।

निहार—मल-त्याग; शौचक्रिया।

नेकी—भलाई; उपकार; ईमानदारी।

नेपथ्य—पर्देके पीछेका स्थान; अंतर।

नैष्ठिक—निष्ठावान; श्रद्धावान; दृढ़।

नौतम—नवीन (नवतम)

प

पतंग—एक प्रकारका वृक्ष, जिसकी लकड़ीमेंसे लाल कच्चा रंग निकलता है; एक प्रकारका चंदन; आकाशमें उड़ाई जानेवाली कागजकी पतंग।

पतित—पापी; अधोदशावाला।
पदस्थ—ध्यानका एक भेद, जिसमें अरिहंतादि परमेष्ठियोंका चिन्तन किया जाता है।
पद्मवन—कमलवन।
पद्मासन—एक प्रकारका आसन।
परधर्म—अन्य मत। पुद्गलादि द्रव्योंका धर्म आत्माके लिए परधर्म है।
परभाव—परद्रव्यका भाव।
परमधाम—उत्तम स्थान।
परमपद—मोक्ष; शुद्ध आत्मस्वभाव।
परम सत्—आत्मा; परमज्ञान; सर्वात्मा। (पत्रांक २०६)
परम सत्संग—अपनेसे ऊँची दशावाले महात्माओंका समागम।
परमाणु—पुद्गलका छोटेसे छोटा भाग।
परमार्थ सम्यक्त्व—जिस पदार्थको तीर्थंकरने 'आत्मा' कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो, उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो। (पत्रांक ४३१)
परमार्थ संयम—निश्चयसंयम; स्वस्वरूपमें स्थिति। (पत्रांक ६६४)
परमावगाढ सम्यक्त्व—केवलज्ञानीका सम्यक्त्व परमावगाढ सम्यक्त्व है।
परसमय—समय अर्थात् आत्मा, उसे भूलकर दूसरे पदार्थोंमें वृत्तिका जाना या लीन होना।
पराभक्ति—उत्तम भक्ति; ज्ञानीपुरुषके सर्व चरित्रमें ऐक्यभावका लक्ष होनेसे उसके हृदयमें विराजमान परमात्माका ऐक्यभाव। (पत्रांक २२३)
परिग्रह—वस्तुपर ममता; मूर्छाभाव।
परिवर्तन—घुमाव; फेरा, हेरफेर; रूपान्तर।
पर्यटन—परिभ्रमण।
पर्याय—पदार्थकी बदलती हुई अवस्था। प्रत्येक वस्तु पर्यायवाली है अर्थात् उसमें परिणमन होता ही रहता है।
पर्यायवृद्धता—उमरमें बड़ाई; दीक्षामें बड़ा।
पर्यालोचन—एक वस्तुको दूसरी तरहसे विचारना।
पर्युषण—जैनोंका एक महान पर्व।
पल—२४ सैकंड प्रमाण समय; ६० विपल।
पंथ—सम्प्रदाय, मत, मार्ग।
पंद्रह भेदसे सिद्ध—तीर्थ, अतीर्थ, तीर्थंकर, अतीर्थंकर, स्वयंबुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित, स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग, नपुंसकलिंग, अन्यलिंग, जैनलिंग, गृहस्थलिंग, एक, अनेक। (पृ० ८७६, व्याख्यानसार)
पादप—वृक्ष।
पादाम्बुज—चरणकमल।
पार्थिवपाक—सत्तासे उत्पन्न।
पार्श्वनाथ—तेईसवें तीर्थंकर।
पिशुन—चुगलखोर, इधरकी उधर लगानेवाला।
पुण्यानुबंधी—जो पुण्योदय आगे-आगे पुण्यका कारण होता जाय।
पुद्गल—वह अचेतन पदार्थ, जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श हो।
पुरंदर—इन्द्र।
पुरंदरी चाप—इन्द्रधनुष।
पुराणपुरुष—परमात्मा, सनातन पुरुष। आत्मा ही सनातन है।
पुरुषवेद—जिस कषायके उदयमें स्त्रीसंभोगकी इच्छा हो।
पुलाकलब्धि—जिस लब्धिके बलसे जीव चक्रवर्तीके सैन्यका भी नाश कर सके।
पूर्णकामता—कृतकृत्यता।
पूर्व-पश्चात्—आगे-पीछे।
पूर्वानुपूर्व—पूर्व-क्रमानुसार।
पूर्वापर अविरोध—आगे-पीछे जिसमें विरोध न हो।
प्रकृतिबंध—मोहादिजनक तथा ज्ञानादि घातक स्वभाववाले कार्माण पुद्गलस्कंधोंका आत्मासे सम्बंध होनेको प्रकृतिबंध कहते हैं। (जैनसिद्धांतप्रवेशिका)
प्रज्ञा—बुद्धि।

प्रज्ञापना—प्ररूपणा, निरूपण ।
प्रज्ञापनीयता—जतानेयोग्य वर्णन ।
प्रतिक्रमण—हुए दोषोंका पश्चात्ताप करके पीछे हटना ।
प्रतिपल—प्रतिक्षण, हर समय ।
प्रतिबंध—परवस्तुओंमें मोह, रुकावट, विघ्न, बाधा ।
प्रतिश्रोती—स्वीकारनेवाला ।
प्रत्याख्यान—वस्तुका त्याग करना । (विशेष देखें मोक्षमाला पाठ ३१, पृ० ६७)
प्रत्येकबुद्ध—किसी वस्तुका निमित्त पाकर जिसे बोध हुआ हो, जैसे—करकंडु आदि पुरुष ।
प्रत्येकशरीर—हरेक जीवका अलग-अलग शरीर
प्रभुत्व—स्वामीपन, बड़ाई, महत्व ।
प्रदेश—आकाशके जितने भागको एक अविभागी पुद्गलपरमाणु रोके । उसमें अनेक परमाणुओंको स्थान देनेका सामर्थ्य होता है ।
प्रदेशबंध—बँधनेवाले कर्मोंकी संख्याके निर्णयको प्रदेशबंध कहते हैं, अर्थात् आत्माके साथ कितने कर्मपरमाणु बँधे हैं इसका निर्णय ।
प्रदेशसंहारविसर्प—शरीरके कारण आत्माके प्रदेशोंका संकुचित होना और फैलना ।
प्रदेशोदय—कर्मोंका प्रदेशोंमें उदय होना, रस दिये बिना ही खिर जाना ।
प्रमाण—सम्यग्यज्ञान, वस्तुको सम्पूर्णरूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान ।
प्रमाणाबाधित—प्रमाणसे विचारते हुए जिसमें विरोध न आये ।
प्रमाद—धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य और कषाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं । (मोक्षमाला पाठ ५०, पृ. ८५)
प्रमोद—अंशमात्र भी किसीका गुण देखकर उल्लासपूर्वक रोमांचित होना । (पत्रांक ६२, पृ. २१८)

ब

बारह अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृत्दशांग, अनुत्तरौपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ।
बारह गुण—अरिहंत भगवानके १२ गुण हैं:—(१)वचनातिशय, (२) ज्ञानातिशय, (३)अपायापगमातिशय, (४)पूजातिशय, (५)अशोकवृक्ष,(६)कुसुमवृष्टि(७)दिव्यध्वनि, (८)चामर,(९)आसन, (१०)भामंडल,(११) भेरी, (१२)छत्र । इनमें चार अतिशय और आठ प्रातिहार्य कहे जाते हैं ।
बारह तप—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिसंक्षेप रसपरित्याग, विविध शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ।
बारह व्रत—श्रावकके बारह व्रत हैं:—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ये पांच अणुव्रत कहे जाते हैं । दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत हैं । सामायिक प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग 'ये चार शिक्षा व्रत हैं
बालजीव—अज्ञानी आत्मा ।
बाह्यपरिग्रह—बहारके वे पदार्थ जिनमें जीव मोह करता है, इसके दस भेद हैं:—क्षेत्र, घर, चांदी, सोना, धन (गाय भैंस आदि पशु), धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन ।
बाह्यभाव—लौकिकभाव, संसारभाव ।
बीजज्ञान—सम्यग्दर्शन ।
बीजरुचि सम्यक्त्व—परमार्थसम्यक्त्ववान पुरुषमें निष्काम श्रद्धा । (पत्रांक ४३१)
बोधबीज—सम्यग्दर्शन ।
ब्रह्मचर्य—आत्मामें रमणता; स्त्रीमात्रका त्याग ।
ब्रह्मरस—आत्म-अनुभव ।
ब्रह्मविद्या—आत्मज्ञान ।
ब्रह्मांड—सम्पूर्ण विश्व ।
ब्राह्मीवेदना—आत्मासम्बंधी वेदना; आंतरिक पीड़ा ।

भ

भक्ति—वीतरागी पुरुषोंके गुणोंमें लीनता ।

उनके गुण गाना, स्तुति करना आदि क्रियारूप भक्ति है।

भद्रभरण—सज्जन पुरुषोंको पोषण देनेवाले।

भद्रिकता—सरलता; उत्तमता।

भय—एक मनोविकार जो आपत्ति या अनिष्टकी आशंकासे मनमें उत्पन्न होता है; डर।

भयभंजन—भयको टालनेवाले।

भयसंज्ञा—जिस प्रकृतिसे जीवको भय लगा करे।

भरत—ऋषभदेवके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती।

भर्तृहरि—एक महान योगी हो गये हैं।

भवनपति—एक प्रकारके देव। भवनोंमें रहते हैं इसलिए भवनपति कहे जाते हैं।

भवभ्रमण—संसारमें परिभ्रमण।

भवस्थिति—संसारमें रहनेकी मर्यादा।

भवितव्यता—प्रारब्ध; भाग्य; होनहार।

भव्य—मोक्ष पानेकी योग्यतावाला।

भामिनी—स्त्री।

भाव—परिणाम, गुण, पदार्थ, अभिप्राय।

भाव आस्रव—आत्माके जिन भावोंसे कर्मोंका आगमन हो ऐसे रागद्वेषादि परिणाम।

भावनय—जो नय भावको ग्रहण करे।

भावनिद्रा—मिथ्यात्व, रागद्वेषादि परिणाम।

भावशून्य—भावरहित, बिना भावके।

भावश्रुत—श्रवणके द्वारा जिस ज्ञानकी उत्पत्ति हो।

भावसमाधि—आत्मकी स्वस्थता।

भाष्य—विस्तारवाली टीका, किसी गूढ़ विषयका विस्तृत विवेचन।

भिन्नभाव—भिन्नता, अलगाव, भेद।

भेदज्ञान—जड़ चेतनका ज्ञान, स्वपर-विवेक।

भ्रांति—मिथ्याज्ञान, असदारोप, भ्रम, संशय।

म

मतार्थी—"नहि कषाय उपशांतता, नहि अंतर वैराग्य। सरळपणुं न मध्यस्थता ए मतार्थी दुर्भाग्य॥" देखें आत्मसिद्धि दोहा ३२, पृ० ६१६

मतिज्ञान—इन्द्रिय तथा मनके निमित्तसे जो ज्ञान हो।

मध्यमा वाचा—मध्यम वाणी, बहुत जोरसे भी नहीं और बहुत धीरेसे भी नहीं ऐसा वाणीका उच्चारण।

मध्यस्थता—उदासीनता, तटस्थता, रागद्वेषरहितता।

मनःपर्ययज्ञान—जो द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादासहित दूसरेके मनमें स्थित विकारी भावको स्पष्ट जाने।

महा आरंभ—अतिशय आरंभ, अर्थात् अत्यंत हिंसक व्यापारादि कार्य।

महाप्रतिमा—अभिग्रहविशेष।

महामिथ्यात्व—गाढ़ विपरीतता, अत्यंत अज्ञान कि जिसके उदयमें सदुपदेश भी जीवको न रुचे।

महाविदेह—क्षेत्रविशेष, जहाँसे जीव सदैव मोक्षको पा सकें।

महाव्रत—जिन व्रतोंको साधु स्वीकारते हैं।

मंत्र—गुप्त रहस्यपूर्ण बात, वे अक्षर, शब्द या वाक्य, जिनका इष्टसिद्धिके लिए जाप किया जाता है।

माया—भ्रांति, कपट।

मायिकसुख—संसारका कल्पित सुख।

मार्गानुसारी—'आत्मज्ञानी पुरुषकी निष्काम भक्ति निराबाधरूपसे प्राप्त हो ऐसे गुण जिस जीवमें हों वह मार्गानुसारी है ऐसा जिन कहते हैं' (पत्रांक ४३१)

मिताहारी—थोड़ा-परिमित भोजन करनेवाला।

मिथ्यादृष्टि—आत्मभावसे रहित।

मिथ्या वासना—खोटे धर्मको सच्चा मानना, धर्मके नाम पर सांसारिक इच्छाओंका पोषण (पत्रांक १९९)

मिश्रगुणस्थान—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जीवके न तो केवल सम्यक्त्व-परिणाम होते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं ऐसी भूमिकाका नाम मिश्रगुणस्थान है।

मुक्तिशिला—सिद्धस्थानके नीचे रही हुई ४५ लाख योजनप्रमाण सिद्धशिला ।

मुनि—जिसे अवधि, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान हो । (पृष्ठ ८९५)

मुमुक्षु—मोक्षकी इच्छावाला, संसारसे छूटनेकी अभिलाषावाला ।

मुमुक्षुता—सर्व प्रकारकी मोहासक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षका ही यत्न करना । (पत्रांक २५४)

मुँहपत्ती—मुँहके आगे रखनेका कपड़ेका टुकड़ा ।

मूर्च्छाभाव—परपदार्थके प्रति आसक्ति ।

मूढदृष्टि—अज्ञानभाव, सद्असद्के विवेकसे शून्य मान्यता ।

मेधावी—बुद्धिमान, तीव्र प्रज्ञावंत ।

मेषोन्मेष—आँखका खुलना-मिचना ।

मैत्री—सर्व जगतसे निर्वैरबुद्धि । (पत्रांक ५७)

मोक्ष—सर्वकर्मरहित आत्माकी शुद्ध अवस्था । आत्मासे कर्मोंका सर्वथा छूट जाना ।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी एकता यह मोक्षमार्ग है । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।' (तत्त्वार्थसूत्र)

मोक्षसुख—अलौकिक सुख, अनुपमेय अकथ्य आत्मानंद । (देखें मोक्षमाला, पाठ ७३)

मोह—जो आत्माको पागल बना दे, स्व व परका भान भुला दे, परपदार्थमें एकत्वबुद्धि ।

मोहनीयकर्म—आठ कर्मोंमेंसे एक कर्म, जिसके प्रभावसे जीव स्वरूपको भूलता है ।

मोहमयी—मुंबई; बम्बई ।

य

यति—ध्यानमें स्थिर होकर श्रेणी चढ़नेवाला । (पृ० ८९५)

यथार्थ—वास्तविक ।

यशनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे यश फैले ,

यावज्जीवन—जब तक जीवन रहे; जन्म-मरण ।

युगलिया—भोगभूमिके जीव ।

योग—मन वचन कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका चंचल होना; मोक्षके साथ आत्माका जुड़ना; मोक्षके कारणोंकी प्राप्ति; ध्यान

योगक्षेम—जो वस्तु न हो उसकी प्राप्ति और जो हो उसका रक्षण; कुशलमंगल ।

योगदशा—ध्यानदशा ।

योगदृष्टिसमुच्चय—योगका एक ग्रन्थ ।

योगबिन्दु—श्रीहरिभद्राचार्यका योगसम्बन्धी ग्रन्थ ।

योगवासिष्ठ—वैराग्यपोषक एक ग्रन्थका नाम ।

योगस्फुरित—ध्यानदशासे प्रगटित ।

योगानुयोग—योग आ मिलनेसे; संयोगवशात् ।

योगीन्द्र—योगियोंमें उत्तम ।

योनि—उत्पत्तिस्थान ।

र

रहनेमी—भगवान नेमिनाथका भाई ।

राजसीवृत्ति—रजोगुणवाली वृत्ति; खाना-पीना और मजा करना, पुद्गलानंदी भाव ।

राजेमती—भगवान नेमिनाथकी मुख्य शिष्या ।

रुचकप्रदेश—मेरुके मध्यभागमें आठ रुचकप्रदेश माने गये हैं कि जहाँसे दिशाओंका प्रारम्भ होता है । आत्माके भी आठ रुचकप्रदेश हैं, जिन्हें अबंध कहा गया है । (विशेषके लिए देखें पत्रांक १३९)

रूपी—जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श हो उसे रूपी पदार्थ कहते हैं ।

रौद्र—विकराल; भयानक ।

रौद्रध्यान—दुष्ट अभिप्रायवाला ध्यान । इसके चार भेद हैं:—हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी और विषयसंरक्षणानंदी, अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रहमें आनंद मानना । यह ध्यान नरकगतिका कारण हैं ।

ल

लब्धि—वीर्यांतरायकर्मके क्षय या क्षयोपशमसे प्राप्त होनेवाली शक्ति; आत्माके चैतन्यगुणकी क्षयोपशमहेतुक प्रगटता ।

लब्धिवाक्य—अक्षर कम होते हुए भी जिस वाक्यमें बहुत अर्थ समाया हुआ है, चमत्कारी वाक्य ।

लावण्य—अत्यन्त सुन्दरता ।

लिंगदेहजन्यज्ञान—अमुक चिन्ह या साधनके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ज्ञान ।

लेश्या—कषायसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति । जीवके कृष्ण आदि द्रव्यकी तरह भासमान परिणाम । पत्रांक ७५२)

लोक—सब द्रव्योंको आधार देनेवाला ।

लोकभावना—चौदह राजूप्रमाण लोकस्वरूपका चिन्तन ।

लोकसंज्ञा—शुद्धका अन्वेषण करनेसे तीर्थका उच्छेद होना संभव है, ऐसा कहकर लोक प्रवृत्तिमें आदर तथा श्रद्धा रखते हुए वैसा प्रवर्तन किये जाना, यह लोकसंज्ञा है । (अध्यात्मसार)

लोकस्थिति—लोकरचना ।

लोकाग्र—सिद्धालय ।

लौकिक अभिनिवेश—द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिकमान, कुल जाति आदि सम्बन्धी मोह (पत्रांक ६७७)

लौकिकदृष्टि—संसारवासी जीवों जैसी दृष्टि । इस लोक अथवा संसारसे सम्बंधित दृष्टि ।

व

वक्रता—टेढ़ापन, असरलता ।

वर्गणा—समान अविभागप्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्म परमाणुको वर्ग कहते हैं और ऐसे वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं । (जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)

वंचनाबुद्धि—सत्संग, सद्गुरू आदिमें सच्चे आत्मभावसे माहात्म्यबुद्धिका नहीं होना, और अपनी आत्माको अज्ञानता ही निरंतर चली आई है इसलिए उसकी अल्पज्ञता, लघुता विचारकर अमाहात्म्यबुद्धिका नहीं होना । विशेषके लिए देखें पत्रांक ५२६)

वाचाज्ञान—कहनेमात्र ज्ञान, परंतु आत्मामें जिसका परिणमन नहीं हुआ है । (देखें आत्मसिद्धि, दोहा १४०)

वारांगना—वेश्या ।

वाल्मीकि—आदि कवि और रामायणके रचयिता ।

वासना—मिथ्या विचार या इच्छा, संस्कार ।

विकथा—खोटी कथा, संसारकी कथा । इसके चार भेद हैं:—स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा और राजकथा ।

विगमे वा—व्यय, नाश होना । (मोक्षमाला, पाठ ८७,८८,८९)

विचारदशा—'विचारवानके चित्तमें संसार कारागृह है, समस्त लोक दुःखसे आर्त्त है, भयाकुल है, रागद्वेषके प्राप्त फलसे जलता है ।' ऐसे विचार जिस दशामें उत्पन्न हों वह विचारदशा । (पत्रांक ५३७)

विचिकित्सा—जुगुप्सा, ग्लानि, संदेह ।

विच्छेद—बीचसे क्रम टूटना, नाश, वियोग ।

विदेही दशा—देहके होते हुए भी जो अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें रहता है ऐसे पुरुषकी दशा वह विदेहीदशा । जैसे श्रीमद् राजचन्द्र स्वयं विदेहीदशावाले थे ।

विपरिणाम—परिवर्तन, रूपांतर, विपरीत परिणाम—फल ।

विपर्यास—विपरीत, मिथ्या ।

विभंगज्ञान—मिथ्यात्वसहित अवधिज्ञान, कुअवधिज्ञान ।

विभाव—रागद्वेषादि भाव, विशेष भाव, आत्मा स्वभावकी अपेक्षा आगे जाकर 'विशेषभाव' से परिणमे वह विभाव । (व्याख्यानसार २०५, पृ० ८६७)

विरोधाभास—दो बातोंमें दीख पड़नेवाला विरोध, मात्र विरोधका आभास ।

विवेक—सत्यासत्यको उनके स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है । (मोक्षमाला, पाठ ५१)

विषयमूर्च्छा—पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति ।

विसर्जन—परित्याग, छोड़ना।
विस्रसापरिणाम—सहज परिणाम।
वीतराग—जिसने सांसारिक वस्तुओं तथा सुखों-के प्रति राग अथवा आसक्ति बिलकुल छोड़ दी है। सर्वज्ञ, केवली भगवान।
वीर—भ० महावीर, बलवान।
वीर्य—शक्ति, बल, पराक्रम, सामर्थ्य।
वीर्यांतरायकर्म—आत्मशक्तिमें बाधक कर्मका प्रकार।
वृंद—समूह।
वृत्ति—परिणति, परिणाम, स्वभाव, प्रकृति।
वेद—नोकषायके उदयसे उत्पन्न हुई जीवके मैथुन करनेकी अभिलाषाको भाववेद कहते हैं और नामकर्मके उदयसे आविर्भूत जीवके चिह्नविशेषको द्रव्यवेद कहते हैं। इस वेदके तीन भेद हैं, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। (जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)
वेदनीयकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीव साता या असाता भोगे, सुखदुःखकी सामग्री प्राप्त हो।
वेदान्त—वेदोंके अंतिम भाग (उपनिषद् तथा आरण्यक आदि) जिसमें आत्मा, ईश्वर, जगत आदिका विवेचन है, छह दर्शनोंमेंसे एक, जिसका उत्तरमीमांसामें समावेश है। (विशेष देखें पत्रांक ७११)
वैराग्य—गृहकुटुंबादि भावमें अनासक्तबुद्धि होना। (पत्रांक ५०६)
व्यतिरेक—साध्यके अभावमें साधनका अभाव, जैसे अग्निके अभावमें धूमका अभाव, भेद, भिन्नता।
व्यवच्छेद—पृथकता, विभाग, खण्ड।
व्यवहार—सामान्य बरताव।
व्यवहार आग्रह—बाह्य क्रियाका आग्रह।
व्यवहारनय—जो अभेद वस्तुको भेदरूपसे ग्रहण करे।
व्यवहारशुद्धि—आचारशुद्धि, शुद्ध आचरण, जो संसारप्रवृत्ति इस लोक और परलोकमें सुखका कारण हो उसका नाम व्यवहारशुद्धि है। (पत्रांक ४८)
व्यवहारसंयम—परमार्थसंयमके कारणभूत अन्य निमित्तोंके ग्रहण करनेको 'व्यवहारसंयम' कहा है। (पत्रांक ६६४)
व्यसन—बुरी लत; खराब आदत। सामान्यरूप-से व्यसनके सात प्रकार हैं : जुआ, मांस, मदिरा, वेश्यागमन, शिकार, चोरी और परस्त्रीका सेवन। ये सातों व्यसन अवश्य त्यागने योग्य हैं।
व्यंजनपर्याय—वस्तुके प्रदेशवत्व गुणकी अवस्था (जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)
व्यास—महाभारत और पुराणोंके रचयिता।

श

शतक—सौका समुदाय।
शतावधान—एक साथ सौ बातोंपर ध्यान देना (प्रकारके लिए देखें पृ० १६१)
शर्वरी—रात्रि।
शंकर—महादेव; सुख देनेवाला।
शाल्मलीवृक्ष—नरकके एक वृक्षका नाम।
शास्त्र—वीतरागी पुरुषोंके वचन। धर्मग्रन्थ।
शास्त्रावधान—शास्त्रमें चित्तकी एकाग्रता।
शिक्षाबोध—न्यायनीतिका उपदेश; अच्छी शिक्षा
शिथिलकर्म—जो कर्म विचार आदिसे दूर किया जा सके।
शुक्लध्यान—जीवोंके शुद्ध परिणामोंसे जो ध्यान होता है।
शुद्धोपयोग—रागद्वेषरहित आत्माकी परिणति।
शुभ उपयोग—मंदकषायरूप भाव। वीतरागपु-रुषोंकी भक्ति, जीवदया, दान, संयम आदि रूप भाव।
शुभद्रव्य—जिस पदार्थके निमित्तसे आत्मामें अच्छे—प्रशस्तभाव हो।
शुष्कज्ञानी—जिसे भेदज्ञान न हो, कथनमात्र अध्यात्मवादी। (विशेष देखें आत्मसिद्धि दोहा ५, ६)
शैलेशीकरण—पर्वतोंमें बड़ा जो मेरु उसके

समान निश्चल, अचल। (व्याख्यानसार)

श्रमण—साधु; मुनि।

श्रमणोपासक—श्रावक; वीतरागमार्गका उपासक गृहस्थ।

श्रावक—ज्ञानीके वचनोंको सुननेवाला। (विशेष देखें पृष्ठ ८३४ उपदेशछाया)

श्रुतज्ञान—मतिज्ञानसे सम्बंध लिये हुए किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे—'घट' शब्द सुननेके अनंतर उत्पन्न हुआ कंबुग्रीवादिरूप घटका ज्ञान। (जैनसिद्धान्तप्रवेशिका)

श्रेणिक—भ० महावीरके समयमें मगधदेशका एक प्रतापशाली राजा, भ० महावीरका परम भक्त।

श्रेणी—लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यग्‌दिशामें क्रमसे रेखाबद्ध रचनावाले प्रदेशोंकी पंक्ति, जहाँ चारित्रमोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका क्रमसे उपशम तथा क्षय किया जाय ऐसी आत्माकी उत्तरोत्तर वर्द्धमान होती हुई दशा।

श्रेयिकसुख—मोक्ष सुख।

श्वासोच्छ्वास—साँस लेना और छोड़ना।

ष

षट्‌पद—आत्मा है, वह नित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्षका उपाय है। (पत्रांक ४९३)

षट् सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, और श्रद्धा, ये वेदान्तमें षट् सम्पत्ति मानी गई हैं।

षड्‌दर्शन—(१) बौद्ध, (२) नैयायिक, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) मीमांसक, और (६) चार्वाक। (पत्रांक ७११)

षड्‌द्रव्य—जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

स

सकाम—इच्छासहित।

सकामनिर्जरा—उदयकाल प्राप्त होनेसे पहले आत्माके पुरुषार्थ द्वारा जो कर्म आत्मासे अलग हो जायें वह सकामनिर्जरा है, इसे अविपाक निर्जरा भी कहते हैं।

सजीवनमूर्ति—देहधारी महात्मा।

सत्पुरुषार्थ—आत्माको कर्मबंधनसे मुक्त कर सके ऐसा प्रयत्न।

सत्‌मूर्ति—ज्ञानीपुरुष।

सत्संग—जो सत्यका रंग चढ़ाये वह सत्संग है। (मोक्षमाला पाठ २४), सन्मार्गमें अपनी जैसी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोंका संग। (पत्रांक २४९)

सनातन—शाश्वत, अत्यंत प्राचीन, अनादिकालसे चला आया हुआ।

सप्तदशविधि संयम—सत्रह प्रकारका संयम। हिंसादि पाँच पाप, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रिय, चार कषाय तथा मन-वचन-कायरूप तीन दण्डका निग्रह।

समकित—सम्यग्दर्शन। (पत्रांक ७१५ मूलमार्ग ७)

समदर्शिता—पदार्थमें इष्टानिष्ट-बुद्धिरहितता, इच्छारहितता और ममत्वरहितता। (विशेष देखें पत्रांक ८३७ पृ० ७१८) शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावोंके प्रति समता। (आत्मसिद्धि दोहा १०, पृ. ६११)

समय—कालका सूक्ष्मतम विभाग।

समवायसम्बंध—अभेद सम्बंध।

समश्रेणी—समभावकी चालू रहनेवाली परिणती।

समस्वभावी—समान स्वभाववाले।

समाधिमरण—समतापूर्वक देहत्याग।

समिति—सावधानीपूर्वक गमनादि क्रियाओंमें प्रवर्तन। (पत्रांक ७६७ पृ० ६८४ तथा पृ० ८८७ व्याख्यानसार)

समुद्‌घात—मूल शरीरको छोड़े बिना आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना। समुद्‌घातके सात भेद हैं:—वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणांतिक, तैजस, आहारक और केवलीसमुद्‌घात।

संज्वलनकषाय—यथाख्यातचारित्रको रोकने-

वाली अधिकसे अधिक पन्द्रह दिनकी स्थिति-वाली कषाय।

संज्ञा—ज्ञानविशेष, कुछ भी आगे-पीछेकी चिंतन-शक्तिविशेष अथवा स्मृति। (पत्रांक ७५२ पृ० ६५६)

संयति—संयममें प्रयत्न करनेवाला।

संयम—इन्द्रियों तथा मनको वश रखकर पृथ्वी आदि छहकायके जीवोंकी रक्षा करना, आत्माकी अभेद चिंतना, सर्वभावसे विराम पानेरूप। (विशेष देखें पत्रांक ६६४, ७६७, ८६६)

संयमश्रेणी—संयमके गुणकी श्रेणी।

संवत्सरी—वर्षसम्बंधी, वार्षिक उत्सव।

संवर—आते हुए कर्मोंका रुकना, कर्मोंके आनेके द्वार बंध कर देना।

संवृत—संवरसहित, आस्रवका निरोध करनेवाला।

संवेग—वैराग्यभाव, मोक्षकी अभिलाषा, धर्म और धर्मके फलमें प्रीति। (देखें पत्रांक १३५ और पृ० ८२०) उपदेशछाया)

संसार—चार गतिरूप परिभ्रमण।

संसारानुप्रेक्षा—संसार अपार दुःखरूप है उसमें यह जीव अनादिकालसे भटक रहा है, ऐसा विचार करना।

संसाराभिरुचि—संसारके प्रति तीव्र आसक्ति।

संस्थान—आकार।

संहनन—शरीरमें हाड़ों आदिका बंधनविशेष—गठन।

साखी—ज्ञानसम्बंधी दोहे या पद्य।

सातावेदनीय—जिस कर्मके उदयसे जीवको सुखकी सामग्री मिले।

साधु—जो आत्मदशाको साधे, सज्जन, सामान्यतः गृहवासका त्यागी, मूलगुणोंका धारक (पृ० ८९५ व्याख्यानसार)

सामायिक—समभावका लाभ, मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे हिंसादि पाँच पापोंका त्याग करना, दो घड़ी तक समता—भावमें रहना।

सिद्ध—आठ कर्मोंसे रहित शुद्धात्मा, निकल परमात्मा, सिद्ध परमेष्ठी।

सिद्धांतबोध—पदार्थका जो सिद्ध हुआ स्वरूप है, ज्ञानीपुरुषोंने निष्कर्षसे जिस प्रकारसे अन्तमें पदार्थको जाना है, वह जिस प्रकारसे वाणी द्वारा कहा जा सके उस प्रकार बताया है, ऐसा जो बोध है वह 'सिद्धान्तबोध' है। (पत्रांक ५०६, पृ० ४६९)

सिद्धि—कार्य पूर्ण होना, सफलता, निश्चय, निर्णय, प्रमाणित होना, मुक्ति, योगकी अष्ट सिद्धियाँ मानी गई हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व।

सिद्धिमोह—सिद्धियाँ प्राप्त करने और चमत्कार दिखानेका लालच।

सुखाभास—कल्पित सुख, सुख नहीं होनेपर भी सुख जैसा लगना।

सुधर्मस्वामी—भ० महावीरके एक गणधर, इनके रचे हुए आगम वर्तमानमें विद्यमान हैं।

सुधारस—मुखमें झरनेवाला एक प्रकारका रस, जिसे आत्मस्थिरताका साधन माना है, अनुभवरस।

सुलभबोधि—जिसे सहजमें सम्यग्दर्शन हो सके ऐसा जीव।

सोपक्रम आयुष्य—शिथिल, जिसे एकदम भोग लिया जाये। (पृ० ८७३, ८७८ व्याख्यानसार)

स्कंध—दो अथवा दोसे अधिक परमाणुओंके समूहको स्कंध कहते हैं।

स्त्रीवेद कर्म—जिस कर्मके उदयसे पुरुषसंयोगकी इच्छा हो।

स्थविरकल्प—जो साधु वृद्ध हो गये हैं उनके लिए शास्त्रमर्यादासे वर्तन करनेका बाँधा हुआ—निश्चित किया हुआ मार्ग या नियम। (पृ० ८९१ व्याख्यानसार)

स्थितप्रज्ञदशा—मनमें रही हुई सर्व वासनाओंको जीव छोड़ दे और अन्तरात्मामें ही संतुष्ट रहकर आत्मस्थिरता पाये ऐसी दशा। (गीता अ०२)

स्थितिबंध—कर्मकी कालमर्यादा।

स्थितिस्थापकदशा—वीतरागदशा, मूलस्थितिमें फिरसे आ जाना।

स्यात्पद—कथंचित्, किसी एक प्रकारसे। उभय-नय विरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके० (देखें समयसार कलश–४)

स्याद्वाद—प्रत्येक वस्तु अनेकांत अर्थात् अनेक धर्मसहित होती है, वस्तुके उन धर्मोंको लक्षमें रखते हुए वर्तमानमें पदार्थके किसी एक धर्मको कहना स्याद्वाद या अनेकांतवाद है।

स्व उपयोग—आत्माका उपयोग।

स्वच्छंद—अपनी इच्छानुसार चलना, परमार्थका मार्ग छोड़कर वाणी कहता है. यही अपनी चतुराई, और इसीको स्वच्छंद कहा है। (पृ० ७९६ उपदेशछाया)

स्वद्रव्य—अनंतगुणपर्यायरूप अपनी आत्मा ही स्वद्रव्य है। (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिए देखें पृष्ठ ९०७, आभ्यंतरपरिणामावलोकन क्रम ७)

स्वधर्म—आत्माका धर्म, वस्तुका अपना स्वभाव।

स्वसमय—अपने स्वभावमें परिणमनरूप अवस्था। (देखें पृ० ६८२, ६८३)

स्वात्मानुभव—स्वसंवेदन, अपनी आत्माका अनुभव, एक सम्यक् उपयोग हो तो स्वयंको अनुभव होवे कि कैसी अनुभवदशा प्रगट होती है। (पृ० ८२९ उपदेशछाया)

ह

हस्तामलकवत्—हाथमें लिये हुए आँवलेकी तरह, स्पष्ट।

हावभाव—शृंगारयुक्त चेष्टा।

हुंडावसर्पिणीकाल—अनेक कल्पोंके बाद आनेवाला भयंकर काल, जिसमें धर्मकी विशेष हानि होकर मिथ्या धर्मोंका प्रचार होता है।

परिशिष्ट ६

सूची—१

विशेष नाम

(यहाँ पृष्ठांक दिये गये हैं। कोष्ठक ( ) में दिये गये पृष्ठांक फुटनोटके सूचक हैं।)

सूची—२

ग्रंथ-नाम

सूची–३

स्थान